कैलासलोक का १८ वाँ सोपान

गौडपादीयकारिकासहिता

अथर्ववेदीयमाण्डूक्योपनिषद्

हरिब्रह्मटीकाद्वयसंवलितशांकरभाष्यसमेता

प्रकाशक:
परमाध्यक्षः श्रीकैलास-आश्रमः
ऋषिकेश (उ० प्र०)

कृपया यह ग्रन्थ नीचे निर्देशित तिथि के पूर्व अथवा उक्त तिथि तक वापस कर दें। विलम्ब से लौटाने पर प्रतिदिन दस पैसे विलम्ब शुल्क देना होगा।

पदवाक्यप्रमाणपारावारीण श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य अनन्तश्रीविभूषित जगद्गुरु
आद्यशङ्करभगवत्पादाचार्य प्रस्थानत्रयीभाष्यकर्ता

कैलासलोक का २४ वाँ सोपान

गौडपादीयकारिकासहिता

अथर्ववेदीयमाण्डूक्योपनिषद्

गोविन्दप्रसादिन्याख्यटिप्पण्या-आनन्दगिरिटीकया

शाङ्करभाष्य-विद्यानन्दीमिताक्षरा

हिन्दीव्याख्या च

संवलितशाङ्करभाष्ययुता

टिप्पणकारः

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रोत्रियब्रह्मनिष्ठविद्यावाचस्पति

महामण्डलेश्वर अनन्तश्रीस्वामिविष्णुदेवानन्दगिरिजी महाराजः

[सन् १६७२

प्रथम संस्करण १०००]

अपनी पूज्य माताजी की पुण्यस्मृति में—फलोदी निवासी श्रेष्ठी
श्रीमान् त्रिलोकचन्द्रजी मूँदड़े ने प्रकाशित करवाया ।

श्रीशङ्कराचार्य जयन्ती
सं० २०२६

मूल्यम् ९) रु०

सं० लि०
स्वामी पञ्चाननगिरिः

परिवेषकः
लोकेशानन्द शास्त्री

पुस्तक प्राप्ति स्थान—

१—मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, दिल्ली, पटना ।
२—विद्यावारिधिपुस्तकालय, हरिद्वार ।
३—दक्षिणामूर्त्ति संस्कृत महाविद्यालय, मिश्रपोखरा, वाराणसी ।
४—कैलास आश्रम, ऋषिकेश (उ० प्र०)

मुद्रक—
गीताधर्म प्रेस,
मिश्रपोखरा, वाराणसी

ब्रह्माद्वैतहिमाद्रिजौपनिषदज्ञानैकमन्दाकिनी,
धारासारमहाप्रसारनिवहैः सद्भूतसन्तापहृत् ।
आस्येन्दुस्रवदमृतप्रवचनैः सम्मोषिताशेषहृत्,
स्वामी वेदविदांवरो बिजयते श्रीविष्णुदेवो गुरुः ॥
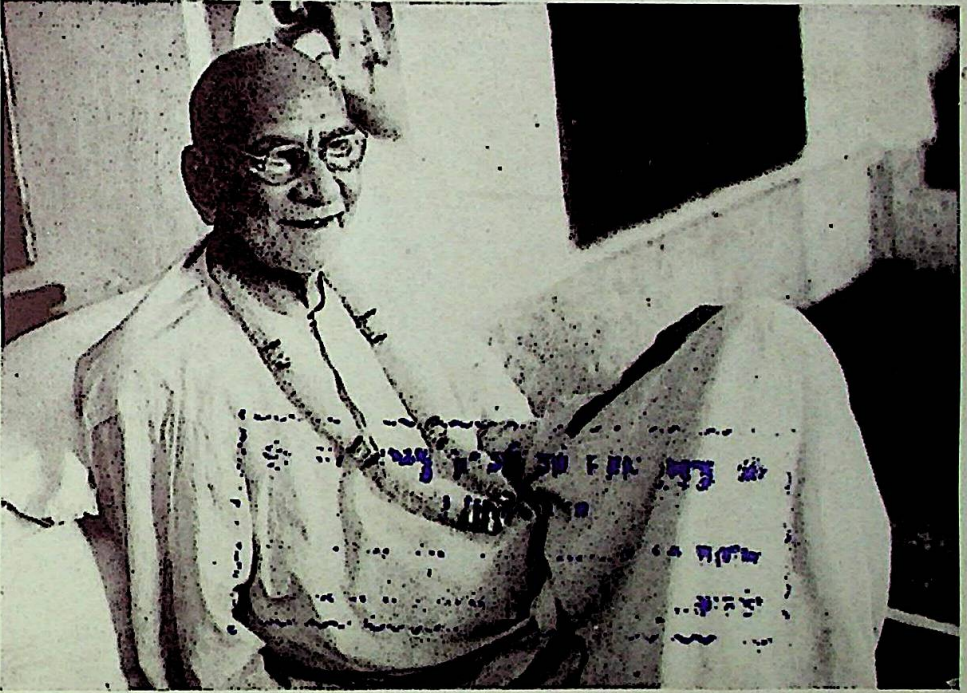
टिप्पणकार

श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य विद्यावाचस्पति
श्री १००८ स्वामी विष्णुदेवानन्द गिरिजी
महाराज, महामण्डलेश्वर, कैलासाश्रम, ऋषिकेश ।

परिवेषकीय

इस विश्व का मायामय व्यामोह दुरन्त है। प्राणी मृगमरिचिकामय पद, प्रतिष्ठा, अधिकार ऐश्वर्य आदि के पीछे केवल अशान्ति एवं तन्मूलक दुरितराशि का ही संग्रह करता जाता है। यत्र-तत्र भटकते पक्षी के लिए जैसे एकमात्र भूमि ही विश्रामस्थल है, वैसे ही नानायोनियों में भटकते अज्ञानी जीव के लिए भी एकमात्र करुणासिन्धु भगवान् ही विश्रामस्थल हैं। परन्तु; निम्बकीट की भाँति दुरभ्यस्त जीवों को अमृततुल्य ब्रह्मसुखानुभूति का यह मधुर पथ कटु ही प्रतीत होता है। अतः उसकी बुद्धि सतत विचलित ही होती रहती है। ऐसी दशा में माता-पिता से भी विशेष हितकारिणी तथा निष्पक्ष एवं निष्कण्टक मार्ग दिखलाने वाली श्रुति ही शरण्य है।

पृष्ठभूमि

प्रस्तुत माण्डूक्य उपनिषद् की विशेषता यही है कि "ईयं कैवल्यमुक्तिस्तु केनोपायेन सिध्यति माण्डूक्या मेकलं मुमुक्षुणां विमुक्तये" इस मुक्तिकोपनिषद् के वचनानुसार अकेला ही माण्डूक्य उपनिषद् कैवल्यमुक्ति में मुख्य स्थान रखता है। इसके अध्ययन अध्यापन की शैली कैसी होनी चाहिए इसे देखना हो तो हिमालय के प्रांगण में माँ गङ्गा जी की गोद में श्री कैलास आश्रम के पाठनकार्य को देखिए। यह आश्रम आचार्य शङ्कर के द्वारा स्थापित केवलाद्वैत सम्प्रदाय का अति प्राचीन ब्रह्मविद्यापीठ रहा है। दशनामी संन्यासियों एवं ब्रह्मचारियों का दार्शनिक पठन-पाठन यहाँ की विशेषता रहा है। हमारे पूज्यपाद महाराज श्री महामण्डलेश्वर जी महाराज ने देखा कि इस अध्ययन की प्रणाली की गंभीरता, अलौकिकता अब केवल हस्तलिखित पुस्तकों में ही न रहे अपितु सर्वसाधारण तथा सभी मुमुक्षुओं के पास भी जाए तथा आश्रम के बड़े महाराज विधावाचस्पति अनन्त श्री विभूषित महामण्डलेश्वर स्वामी विष्णुदेवानन्दजी महाराज का प्रसाद सबको मिले, अतः महाराज श्री (वर्तमान महामण्डलेश्वर जी) के प्रस्तुत प्रयास की सुदृढ़ पृष्ठभूमि प्रस्तुत ग्रन्थ रहा।

भगवान् गौडपादाचार्य का जीवन-वृत्त

श्री भगवत्पूज्यपाद गौडपादाचार्य श्री भगवत्पूज्यपाद भाष्यकार श्री शङ्कराचार्य जी महाराज के परमगुरु थे। श्री भगवत्पूज्यपाद भगवान् भाष्यकार ने परमगुरुदेव जी का निर्मित इसी ग्रन्थ में अपने भाष्य के अन्त में परमगुरुत्वेन नमस्कार किया है—"यस्तं पूज्यभिपूज्यं परमगुं पादपातैर्नतोऽस्मि"। ब्रह्मसूत्रभाष्य में भी वे अत्यादर से नाम लेते हैं—"वेदान्तार्थ सम्प्रदायविद्भिराचार्यैः"।

भगवान् गौडपादाचार्य जी के शिष्य श्री भगवान् गोविन्दपादाचार्य जी तथा गोविन्दपादाचार्य जी के भगवत्पूज्यपाद शिष्य श्री शङ्कराचार्य जी थे। हमारी (दशनाम संन्यासियों की) गुरु-परम्परा की नामावली इस प्रकार हैं—

"नारायणं पद्मभवं वशिष्ठं शक्तिं च तत्पुत्रपराशरं च,
व्यासं शुकं गौडपदं महान्तं गोविन्दयोगीन्द्रमथास्य शिष्यम्।
श्री शङ्कराचार्यमथास्य पद्मपादं च हस्तामलकं च शिष्यम्,
तत्तोटकं वार्तिककारमन्यानस्मद्गुरुं सन्ततमानतोऽस्मि॥

इस परम्परा में भगवान् वेदव्यास तथा अवधूत शिरोमणि भगवान् शुकाचार्य के बाद भगवान् गौडपाचार्य का नाम आया है। भगवान् व्यास तथा अवधूत शिरोमणि शुकाचार्य जी द्वापरयुग के अन्त में हुए और भगवान् गौडपादाचार्य तो कलियुग में हुए, इस प्रकार गुरु शिष्यों के काल में महत् अन्तर कैसा? परन्तु यह शंका निर्मूल है क्योंकि

अवधूत शिरोमणि भगवान् शुकाचार्य चिरंजीवी हैं, ऐसे महापुरुष योग्य अधिकारियों की खोज करते रहते हैं क्योंकि ज्ञान की दिव्य परम्परा को जीवित रखने के लिए ही इनका अवतार होता है। अतः कलियुग में तप करते हुए भगवान् गौडपादाचार्य जी को इन्होंने देखा और दिव्य देह धारण करके दीक्षित किया। इस समय एक छोटा सा दृष्टान्त याद आ रहा है—तोता सदा आम के पेड़ों पर पके आमों की खोज करता है, जब तक आम हरा (कच्चा) है तब तक वह उसकी ओर देखता तक नहीं, परन्तु जब वह पककर मधुर हो जाता है तब आम उसे निमन्त्रण देने नहीं जाता अपितु वह स्वयं आकार उसका उपभोग करता है, यही दृष्टान्त यहाँ चरितार्थ होता है।

श्री भगवान् आनन्दगिरि के मतानुसार भगवान् गौडपादाचार्य जी द्वापर के अन्त में हुए थे। उस समय बदरिकाश्रम में कठोर तपस्या करके भगवान् नारायण से वर प्राप्त करके कलियुग के वातारण को न देखने के उद्देश्य से वह गुफा में समाधिस्थ हो बैठ गये। आगे चलकर जब भगवान् शंकर ने भाष्यकार के रूप में अवतार लिया और वे भगवान् गौडपादाचार्य के पास गये तब उन्होंने अपनी कृति प्रस्तुत कारिका आचार्यपाद के हाथों में दी।

संन्यासियों के परम्परानुसार भगवान् गौडपादाचार्य के जन्मकाल के विषय में कोई वैमत्य नहीं है परन्तु आधुनिक इतिहासकारों में थोड़ा मतभेद दीखता है। वे इनका काल ईसापूर्ण आठवीं सती से लेकर ईसवी सन् की सातवीं सती तक निश्चित करते हैं, परन्तु बहुत से विद्वान् जैसे श्री दास गुप्ता, श्री राधाकृष्णन्, श्री विल्वल्कर, म. म. श्री गो. ना. क. आदि इन्हें आठवीं शताब्दी को मानते हैं। अस्तु, इनके मुख्य ग्रन्थ हैं—(१) माण्डूक्योपनिषत्कारिका (२) सांख्यकारिका भाष्य (३) नृसिंहोत्तरतापन्युपनिषद् व्याख्या (४) श्री दुर्गासप्तसती टीका (५) सुभगोदयः (६) श्री विद्यारत्नसूत्रम्।

इनमें माण्डूक्य-कारिका मुख्य कृति है। अस्तु इस ग्रन्थ की क्या विशेषता है यह सब महाराज श्री ने प्रस्तावना में दे दी है, अतः यहाँ अनधिकार चेष्टा नहीं करता हूँ। यह ग्रन्थ प्रत्येक ज्ञानपिपासु के लिए अति उपयोगी है इसलिए पाठकगण इससे पूर्ण लाभ उठावें।

स्वनामधन्य महाराज श्री के दृढ़ संकल्प, बहुजनहिताय प्रयत्न तथा ज्ञान के लिए विद्यादान की विमल एवं निःस्वार्थ उदार भावना के फलस्वरूप आज ज्ञानगूढ़ग्रन्थों का भी सर्वसुलभ उपयोगी प्रकाशन हमें लाभान्वित कर रहा है। इस कारण पूरा विद्वत् समाज आज महाराज श्री के स्तुत्य प्रयासों का ऋणी है।

लोकेशानन्द शास्त्री

प्रस्तावना

दिशन्तु शं मे गुरुपादपांशवः

पुरुष की इच्छा के विषय को पुरुषार्थ कहते हैं। यों तो पुरुष असंख्य हैं, उनकी इच्छायें अनन्त हैं और उन इच्छाओं के विषय भी अनन्त हैं, फिर भी इन्हें धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष इन चार भागों में विभक्त किया गया है। इनमें पहले के तीन पुरुषार्थ कालपाकर नष्ट होते हुए प्रत्यक्ष प्रमाण से देखे गये हैं एवं श्रुति भी इन्हें अनित्य बतलाती हैं। इसके विपरीत आत्मस्वरूपस्थितिरूप मोक्ष नित्य है। इस मोक्ष का नित्यत्व श्रुति एवं विद्वानों के अनुव से सिद्ध है। 'ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति' 'न स पुनरावर्तते' इत्यादि श्रुतिओं ने मोक्ष को नित्य कहा है। विद्वानों के अनुभव ने भी मोक्ष को नित्य बतलाया है। अतः मोक्ष ही परमपुरुषार्थ है।

कारण सहित दुःखों की अत्यन्तिक निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति मोक्ष का स्वरूप है। वास्तव में इसी पुरुषार्थ के लिये पुरुष धर्म-अर्थ एवं काम को भी चाहता है। इसलिये मुख्यतः मोक्ष ही पुरुषार्थ है। इसी को पाकर साधक कृतकृत्य और प्राप्त प्राप्तव्य हो जाता है। ऐसे मोक्ष की प्राप्ति ब्रह्मज्ञान से होती है और ब्रह्मज्ञान वेदान्त विचार से होता है।

वेदान्त वेद के शिरोभाग उपनिषद् को कहते हैं। वेद सनातन हैं, जो सनातन परमात्मा से श्वास-निःश्वास की भाँति प्रादुर्भूत हुआ है। कर्म-उपासना तथा ज्ञान इन तीन काण्डों में वेद विभक्त है। ज्ञानकाण्ड को ही उपनिषद् या वेदान्त कहते हैं। निष्काम यानी परमेश्वरानुग्र की कामना से वेद विहित कर्म एवं उपासना के अनुष्ठान द्वारा क्रमशः अन्तःकरण के मल और विक्षेप के निवृत हो जाने पर विवेक, वैराग्य शमादि षट् सम्पत्ति तथा मोक्षभिलाषा रूप साधन चतुष्टय प्राप्त होते हैं। ऐसे साधन चतुष्टय सम्पन्न पुरुष वेदान्त श्रवण का मुख्य अधिकारी माना गया है। इस बात को 'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा' इस सूत्र में सूत्रकार तथा भाष्यकार ने स्पष्ट किया है। उक्त अधिकारी को आचार्य के मुख से महावाक्य के श्रवण मात्र से ब्रह्मात्मैक्य बोध हो जाता है। तदनन्तर वह आत्मस्थिति रूप को जीवन काल में ही प्राप्त कर लेता है। ऐसे जीवन्मुक्तपुरुष की सम्पूर्ण चेष्टा प्रारब्धानुसार लोकहितार्थ हुआ करती है। श्रीनारायण से लेकर भगवत्पाद श्री शङ्कराचार्य एवं वर्तमान तत्त्वनिष्ठ आचार्यों का व्यवहार भी इसी कोटि में आ जाता है। समय समय पर वैदिक सिद्धान्तों की स्थापना के लिये सर्वान्तर्यामी सदाशिव का अविर्भाव भी होता रहता है।

वेद एवं वैदिक सिद्धान्त अनादि है और अनन्त काल तक चलता रहेगा, किन्तु कभी कभी इसके सम्प्रदाय परम्परा का विच्छेद किसी अंश में होता देखा गया है। ऐसी परिस्थिति में ही अवतारी पुरुष की आवश्यकता होती है। वे आधिकारिक पुरुष अवैदिक सिद्धान्त का उन्मूलन कर वैदिक सिद्धान्त की पुनः स्थापना करते हैं। महर्षि वेदव्यास, गौडपादाचार्य तथा भगवान् शङ्कराचार्य जी का कार्य इस विषय में अधिक महत्त्वपूर्ण है। एक ने वेद में निहित सिद्धान्तों में भ्रान्त लोगों के लिये सूत्रों की रचना की, दूसरे ने वेदरूप क्षीराब्धि के नवनीत निकालकर कारिकाओं की रचना की और तीसरे ने उक्त सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण कर इसका अमृत रूप दिया। अतः अमृतकाम मानव समाज इनका ऋणी है।

वेद के सभी ११८० शाखायें हैं। जिनमें संहिताभाग के केवल ११ शाखायें सम्प्रति उपलब्ध हैं। वेद के प्रत्येक शाखाओं की एक एक उपनिषद् मानी गयी है। इस समय संहिता एवं ब्राह्मणभाग के सभी २२० उपनिषद उपलब्ध हैं जो विश्व की अनेक भाषाओं में छप चुकी हैं। औपनिषद सिद्धान्त सर्वोत्कृष्ट है। इसे विश्व के सभी निष्पक्ष विचारक मानते हैं। इतना ही नहीं, वे यह भी मानते हैं कि उपनिषदों का वास्तविक सिद्धान्त श्रीमदाद्यशङ्कराचार्य जी के वाङ्मय में अधिक विस्पष्ट हुआ है। आचार्य शङ्कर को परिस्फुरित अद्वैतवाद का विस्पष्ट संकेत माण्डूक्योपनिषद् की गौड़पादीयकारिका से प्राप्त हुआ है।

जिन प्रारम्भ के ईशादिदश उपनिषदों पर भगवत्पाद जगद्गुरु श्री शङ्कराचार्य जी का भाष्य है। उनमें से माण्डूक्योपनिषद् कलेवर में सबसे छोटी है। इसमें केवल १२ मन्त्र हैं यह अथर्ववेदीय ब्राह्मण भाग की है। इसमें प्रणव की चार मात्राओं के साथ आत्मा के चार पादों का अभेद बतलाया गया है। उत्तम अधिकारी माण्डूक्योपनिषद् ही मोक्ष प्राप्ति के लिये पर्याप्त है। इसपर भगवान् गौड़ पादाचार्य की कारिकाएँ विशुद्ध अद्वैतवाद एवं अजातवाद के प्रतिपादक हैं जो आगस, वैतथ्य, अद्वैत और अलात शान्ति नामक चार प्रकरण में विभक्त हैं। आगम प्रधान होने से प्रथम प्रकरण का नाम अगम है। द्वितीय प्रकरण में अकाट्य युक्तियों के द्वारा जगन्मिथ्यात्वका प्रतिपादन होने से वैतथ्य नाम रखा गया है। जगन्मिथ्यात्व निश्चय कराने के बाद तृतीय प्रकरण में अद्वैत का प्रतिपादन युक्ति एवं प्रमाण से किया गया है। इसीलिये तृतीय का नाम अद्वैत प्रकरण रखा गया है। विपक्षियों के परस्पर वैमत्य होने के कारण इन सभी के मत दुष्ट हैं। इस प्रकार इनके परस्पर विप्रति पत्ति से अजातवाद का ही समर्थन होता है। साथ ही द्वैत की उत्पत्ति स्पन्दयुक्त अलात में चक्र प्रतीति के समान भ्रान्तिमात्र मानी गयी है। इन बातों का प्रतिपादन चतुर्थ प्रकरण में होने के कारण इसका अलातशान्ति रखा गया है। इसके कुछ श्लोकों को देखने से कुछ अपरिपक्व विचारवाले लोगों को इसमें बोधदर्शन होने की भ्रान्ति हो जाती है। जो अविचारित रमणीय है तथा 'नैतद्बुद्धेन भाषितम्' इत्यादि वाक्य से खण्डित भी है। अतः माण्डूक्योपनिषद् के उक्त चारों प्रकरणों में विशुद्ध रूप से अजातवाद यानी वैदिक केवलाद्वैतवादका ही समर्थन होता है।

सकारिका माण्डूक्योपनिषद् के ऊपर श्री जगद्गुरु आद्य शङ्कराचार्य का प्रसन्न एवं गम्भीर भाष्य है। शाङ्कर भाष्य के गाम्भीर्य को आनन्द गिरि टीका के विना कोई समझ नहीं सकता है। अतएव सम्प्रदाय परम्परा के अनुसार शाङ्कर भाष्य पठन पाठन का क्रम आज भी बना हुआ है। माण्डूक्यकारिका के शाङ्करभाष्य की आनन्दगिरि टीका में एक विशेषता है कि इसमें मूलकारिका का विस्पष्ट अर्थ टीकाकार पहले कर लेते हैं तत्पश्चात् उसके भाष्य पर विचार करते हैं। आनन्दगिरि टीका सहित शाङ्कर भाष्य के जितने प्रकाशन उपलब्ध हैं। उनमें आनन्द आश्रम का प्रकाशन सबसे अच्छा माना गया है क्योंकि इसमें अनेक पाठ भेद दिये गये हैं।

श्री कैलास आश्रम का परिचय

ऋषिकेशस्थ श्री कैलास आश्रम का अध्ययन क्रम आज भी विशुद्ध शाङ्कर सम्प्रदायानुसार ही बना हुआ है। जो इस युग में अन्यत्र अत्यन्त दुर्लभ है। वर्तमान परीक्षा क्रम ने सम्प्रदाय क्रम के ऊपर बहुत ही कुठाराघात किया है। सम्प्रति अधिकतर परीक्षार्थी तो शाङ्करभाष्य पढ़ते भी नहीं हैं। पढनेवालों में भी अधिकतर वाचयामास करते है। वहाँ पर सम्प्रदाय परम्परा का अत्यन्ताभाव दीखता है। अध्यापक एवं परीक्षार्थी आद्यन्त में शान्ति पाठ भी नहीं करते। ऐसी परिस्थिति में सम्प्रदाय परम्परा का उच्छेद होना स्वाभाविक है। अतः इस घोर अन्धकारमय युग में श्री कैलास आश्रम

की शाङ्कर सम्प्रदायानुसार पठन-पाठन परम्परा अत्यन्त गौरव का विषय बनी हुई है। यह आश्रम ब्रह्मविद्या पीठ है। इस आश्रम की संस्थापना के पूर्व से लेकर अद्यावधि ब्रह्मविद्या का अध्ययन क्रम अजस्र गति से चल रहा है। इस आश्रम के संस्थापक अनन्त श्री स्वामी धनराज गिरि जी महाराज अपने समय के सर्वमान्य ब्रह्मविद्या के आचार्य थे। जिनकी सन्निधि में विश्व विख्यात स्वामी विवेकानन्दजी उनके गुरुभ्राता स्वामी अभेदानन्दजी तथा स्वामी रामतीर्थ जी ने भी वेदान्त का अध्ययन किया था। आपके सैकड़ोंयति शिष्यों में से श्री स्वामी गोविन्दानन्द गिरि जी महाराज प्रस्थान त्रयी के अत्यधिक प्रौढ़ विद्वान् थे। आपके समकालीन श्री स्वामी प्रकाशारन्दपुरीजी महाराज बृहत् प्रस्थान त्रयी के सर्व मान्य विद्वान् थे। इन तीनों महानुभावों का वैदुष्य एवं ब्रह्मनिष्ठा का स्मारक इनका जीवनवृत्त तथा क्रियाकलाप है। श्री स्वामी धनराजगिरि जी महाराज का अन्तिम उपदेश सभी कल्याणाभिलाषी पुरुष के स्मरणीय है। श्री स्वामी प्रकाशानन्द पुरीजी महाराज के शिव नीराजन आदि अनेक स्तोत्र इनकी काव्य रचना का ज्वलन्त उदाहरण है, जो प्रकाशित हो चुके हैं। ब्रह्मसूत्र शाङ्करभाष्य की न्याय निर्णय टीका के मङ्गल श्लोक का व्याख्यान तथा चित्सुखी के महाविद्या अनुमान का परिष्कार अप्रकाशित है। इन्हें विद्यानिधि की उपाधि प्राप्त थी। इनको यतिमण्डल एवं भक्तमण्डल नीलकण्ठ महाराज नाम से सम्बोधित करते थे। अतएव इनका उपनाम नीलकण्ठ महाराज हो गया था। श्री स्वामी गोविन्दानन्न गिरि जी महाराज व्याकरण के भी प्रौढ़ विद्वान् थे। आपने श्री कैलास आश्रम के संस्थापक श्री स्वामी धनराज गिरि जी महाराज से संन्यास दीक्षा ग्रहण कर आद्योपान्त समग्र वेदान्त शास्त्र का अध्ययन किया था। आपमें ग्रन्थ को अक्षरशः लगाने तथा ऊहापोह करने की अनुपम शक्ति थी। जिसका दिग्दर्शन आपके अधीत पुस्तकों को देखने से मिलता है। आपने प्रस्थान-त्रयी एवं अनेक अन्य ग्रंथों पर भी टिप्पणी लिख रखी है तथा पाठ शुद्ध किया है। जिसके आधार पर अक्षरशः एवं तात्पर्यतः ग्रन्थ का आशय समझना अत्यन्त सुगम हो गया है। तबसे प्रस्थानत्रयी के ऊपर टिप्पणी अध्ययन की परम्परा चल पड़ी है। आपके शिष्यों में से श्री स्वामी विष्णु देवानन्द गिरिजी महाराज सर्वश्रेष्ठ हैं। जिन्होंने आपकी सन्निधि में प्रस्थानत्रयी का तथा नीलकण्ठ महाराज जी से बृहत् प्रस्थानत्रयी का विधिवत् अध्ययन किया है। अतः श्री स्वामी विष्णु देवानन्द गिरि जी महाराज को दोनों ही आचार्यों का प्रसाद प्राप्त हो गया है। इन्हें अपने गुरुदेव से विद्या वाचस्पति की उपाधि प्राप्त थी। इनको दर्शनशास्त्र, काव्य के अतिरिक्त संगीत का पूर्णतया अभ्यास था। परमेश्वर प्रदत्त सुमधुर कण्ठ से संगीत एवं श्लोक उच्चारण सुनकर पत्थर हृदय व्यक्ति के चित्त में भी परमेश्वरानुराग जाग जाता था। घण्टों तक आपके पास से उठने की इच्छा नहीं होती थी। अपने गुरुदेव से प्राप्त टिप्पणी का संशोधन कर अपनी पुस्तकों में आपने अंकित किया है। तब से दो प्रकार की टिप्पणी उपलब्ध हो गयी। पहली टिप्पणी की भाँति आपसे परिष्कृत टिप्पणी में दुरुक्ति या पुन-रुक्ति नहीं रह गयी। टिप्पणी के अतिरिक्त आपने वेदान्त रत्नाकर, अद्वैत मुक्तावली, आचार्य द्वय-स्मृति पद्यमय रचना तथा वैराग्यपञ्चक की कुञ्चिका व्याख्या गद्य में भी की है जो प्रकाशित हो चुकी हैं। बृहदारण्यक शाङ्कर भाष्य पर आपने क्रोड पत्र लिखा है। जो सम्प्रति अमुद्रित है।

❀ प्रस्तुतप्रकाशन की विशेषता ❀

'आचार्याद्वेव विदिता विद्या साधिष्ठा भवति' आचार्य परम्परा से अवगत विद्या ही श्रेष्ठ होती है। तदनुसार श्री कैलास आश्रम पीठ की विद्या आचार्य परम्परा से प्राप्त है। इस पीठ से ब्रह्मविद्या प्राप्तकर अनेक विद्वान् महात्मा संन्यासी समाज के विशिष्ट पद को समलंकृत कर रहे हैं। परम्परा से प्राप्त टिप्पणी आश्रम में धरोहर के रूप में पड़ी थी। उत्तरोत्तर टिप्पणी लेखन की परम्परा भी अवरुद्ध सी होती जा रही थी। ऐसी परिस्थिति में पूर्वजों से प्राप्त कहीं यह थाती नष्ट न हो जाय। अतः यह

आवश्यक था कि इसे प्रकाश में लाया जावे। जिससे हजारों जनमानस में नूतन आलोक का संचार हो तथा उक्त धरोहर भी चिरकाल तक सुरक्षित रहे। इसीलिये दि० २१-७-१९६६ ई० में इस कैलास पीठ पर आसीन होते ही हमारे अन्तःकरण में उक्त भाव जाग्रत हुआ। तत्पश्चात् हमने गुरुजनों से अनुमति एवं आशीर्वाद प्राप्तकर इस काम के लिये निश्चय कर लिया। सर्वप्रथम सटिप्पण माण्डूक्योपनिषद् कारिका सहित शाङ्करभाष्य का प्रकाशन ही आवश्यक जान पड़ा, क्योंकि 'माण्डूक्यमेकमेवालं मुमुक्षूणां विमुक्तये' के अनुसार मोक्षाभिलाषियों को मोक्ष के लिये केवल एक माण्डूक्योपनिषद् ही पर्याप्त है। इस उपनिषद् के मूलमन्त्र, कारिका, भाष्य तथा आनन्दगिरि टीका के उपर आवश्यकतानुसार टिप्पणी महाराजश्री की लिखी हुई थी। जिसकी शुद्धपाण्डुलिपि एवं प्रेस कापी करने में अत्यधिक परिश्रम करना पड़ा है। स्थल संकेत तथा अतिसूक्ष्म अक्षरों को पढ़ने में गुरु कृपा से प्राप्त दिव्यदृष्टि से काम लिया गया है। इस काम में हमारे प्रिय श्री स्वामी पञ्चानन्दगिरि जी का सहयोग श्लाघनीय रहा है। इसीलिये आश्रम सञ्चालन, स्वाध्याय, प्रवचन एवं धर्मप्रचार कार्य में अत्यन्त व्यस्त रहने पर भी अति शीघ्र ही हम पाठकों के सामने उपस्थित करसके हैं। इस काम को हमने फलोदी निवासी भक्तों के आमन्त्रण पर फलोदी, राजस्थान जाकर १९७० के नवम्बर में प्रारम्भ किया था। फलोदी के भक्तमण्डल को इसके प्रकाशन का श्रेय मिले, ऐसी भावना थी। अतः तत्रस्थानीय पण्डितप्रवर श्री रामलालजी श्रीमाली की शुभसम्मति से इसके प्रकाशन में आर्थिक सहयोग श्रेष्ठी श्री त्रिलोकचन्दजी मूँदड़े ने सहर्ष दिया है। इसके सम्पादन एवं शोध्यपत्र संशोधन में सबसे अधिक श्रम करना पड़ा है। प्रत्येक पृष्ठ के ऊपर भाग में मूल ग्रन्थ उसका भाष्य तथा आनन्दगिरि टीका एवं इन तीनों की टिप्पणी उसी पृष्ठ में रखे गये हैं। जिससे अन्य संस्करणों की भाँति पाठकों को इसमें अनावश्यक असुविधा न हो। इस कार्य में हमारे प्रिय अन्तेवासी श्री लोकेशानन्द जी शास्त्री तथा श्री उमेशानन्द जी शास्त्री एम० ए०एल० एल० बी० का परिश्रम सर्वाधिक प्रशंसनीय रहा है। हम इन सभी सज्जनों की मङ्गल कामना करते हैं। सर्वान्तर्यामी परमेश्वर इन्हें सदा ऐसे ही माङ्गलिक कार्य में प्रवृत्त कर श्रेय एवं प्रेय का भागी बनावें।

इन सभी बातों के बावजूद भी संस्कृत भाषा से अनभिज्ञ हिन्दी भाषा भाषियों के लिये इसमें प्रवेश द्वार अवरुद्ध ही था। हमारा इस ओर ध्यान भी नहीं था, किन्तु भगवत्प्रेरणा से श्री लोकेशानन्दजी शास्त्री तथा श्री उमेशानन्दजी की अनेकशः प्रार्थना के वाद इसके शाङ्करभाष्य की हिन्दी व्याख्या हमें लिखनी पड़ी है। यह शाङ्करभाष्य के अन्य हिन्दी अनुवाद के समान नहीं है, क्योंकि स्वल्पाक्षर में यह निबन्ध होता हुआ भी इसके प्रत्येक शब्दार्थ के साथ भावार्थ की अभिव्यक्ति पर ध्यान रखा गया है। इसमें हम कहाँ तक सफल हो पाये हैं, इसे तो पाठक ही बतला सकते हैं। इन सभी कारणों से यह प्रकाशन अभूतपूर्व है क्योंकि हिन्दी, संस्कृत टीका द्वय से युक्त सटिप्पण शाङ्करभाष्य सहित किसी भी उपनिषद् का प्रकाशन अब तक हुआ नहीं था। आशा है पाठकगण इससे अवश्य लाभ उठायेंगे।

ध्यान देने योग्य बातें

इसके पाठ करते समय ध्यातव्य बात यह है कि इसमें मूलमन्त्र या कारिका ऊपर के भाग में दिये गये हैं। इनका हिन्दी अनुवाद मूल के ठीक नीचे भाग में दिया गया है। तत्पश्चात् शाङ्करभाष्य और भाष्य के नीचे हिन्दी व्याख्या विद्यानन्दी मिताक्षरा है। उसके बाद आनन्दगिरि संस्कृत टीका है। सबसे नीचे भाग में गोविन्द प्रसादिनी टिप्पणी है। यह टिप्पण मूल, कारिका, शाङ्करभाष्य तथा आनन्दगिरि टीका के ऊपर भी है। उनका स्पष्ट सम्बन्ध अंकों के द्वारा कराया गया है। इसमें टिप्पण दो प्रकार के हैं। कुछ टिप्पण प्रतीक देकर उनके शब्दार्थ तथा भावार्थ के रूप में लिखे गये हैं और

कुछ टिप्पण मूलग्रन्थ को लगाने के लिये अवतरण के रूप में हैं। दोनों ही प्रकार के टिप्पण अत्यन्त मनन करने के बाद लिखे गये हैं और ये सम्प्रदाय पुरःसर अध्ययन करने के बाद लिखे जाने से अत्यन्त उपयोगी हैं। यदि प्रस्तुत संस्करण से वेदान्तानुरागी संस्कृत एवं हिन्दी भाषा प्रेमियों को यथेष्ट लाभ हुआ, तो हम इसी प्रकार अन्य उपनिषदों को भी प्रकाश में लाने का यथासम्भव प्रयत्न करेंगे।

अन्त में हम पाठकों से पुनः कह देना चाहते हैं कि अत्यन्त परिश्रम करने के बाद भी इसके सम्पादनादि में त्रुटि रह गयी हो, तो इनका संकेत यथासमय करने पर द्वितीय संस्करण में दूर करने का प्रयत्न किया जायगा। इत्यों शम्।

वैसाख पुरुषोत्तम मास
वि० २०२९ शु० ८

भगवत्पादीयः
महामण्डलेश्वर स्वामी विद्यानन्दगिरि
कैलास आश्रम, ऋषिकेश

स्वामी भागवतानन्द महामण्डलेश्वर काव्य, सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, वेद-वेदान्ततीर्थ मीमांसाभूषण दर्शनाचार्य। मणकीवाला संन्यास आश्रम गोमतीपुर, अहमदाबाद—२

संमति-पत्र

भारत के उत्तराखण्ड हिमालयप्रदेशस्थ सुप्रसिद्धतीर्थ 'ऋषिकेश' में विद्वान संन्यासियों का चिरन्तन 'कैलास आश्रम है। यहाँ से परम्परापूर्वक ब्रह्मविद्या वेदान्त का पठन पाठन उपदेश आदि द्वारा प्रचार प्रसार होता आया है।

उक्त आश्रम के वर्तमान महामण्डलेश्वर श्रीमान् स्वामी विद्यानन्द जी महाराज हैं। आप सर्व शास्त्रों के पारङ्गत विद्वान् हैं।

आपके द्वारा लिखित परम्परागत ब्रह्मवेत्ता उच्चकोटि के विद्वानों की परम रहस्यमय टिप्पणियों के सहित 'माण्डूक्य उपनिषद' प्रकाशित हो रहा है। ये टिप्पणियाँ आजतक अन्यत्र प्रकाशित नहीं हुई हैं।

यह प्रकाशन जिज्ञासु जनता का तो परम उपकारक है ही परन्तु इसमें विद्वानों के लिये भी बहुत ज्ञान का विषय है।

'माण्डूक्य मेकं मेवालं मुमुक्षु विमुक्तये' मुक्तिकोपनिषद् २६।१ यह वैदिक सूक्ति इसके महत्व की प्रकाशिका है।

एक 'माण्डूक्य उपनिषद्' ही ओङ्कार विशदतम वर्णन करने वाली होने से मुमुक्षु जनों की मुक्ति के लिये पर्याप्त है।

आशा है इस ग्रन्थरत्न में जिज्ञासु जनता लाभ उठायेगी।

———

शुभ सम्मति

कस्यापि शास्त्रस्यारम्भे को हेतुरित्यत्र भवतीदमेवोत्तरं वरं यन्निःशंसयेष्टप्रवृत्तिरेव । अत एवोक्तमभियुक्तैः । हितशासनाच्छास्यमिति । तत्रापि मूलग्रन्थव्याख्याने तत्र तत्र व्याख्यानेषु विदुषां कथं प्रवृत्तिरिति शङ्कायां सदुत्तरं भगवत्पादैः ब्रह्मसूत्रभाष्येऽभाषि "श्रेयः प्रतिहन्येत् अनर्थंश्रेयात्" इति । अयमभिप्रायः—यथाहेतौ व्यभिचारशंकायां तर्क एत तन्निवर्तकः, धूमो यदि वह्नि व्यभिचरेत्तर्हि वह्निजन्यो न स्यादस्ति तु वह्निजन्य इति । आपाद्यव्यतिरेकश्च-निश्चयश्च तर्कप्रवृत्तौ हेतुरिति तर्कविदांमतम् । एवमेषात्रेयं शङ्का यदा जार्गति यन्मूलोक्तेनैव प्रकारेण तत्त्वप्रतिपत्तौ व्यर्थं व्याख्यानम् मास्तु व्याख्यानमिति, तदेष्टमेव तर्कात्मकमुत्तर तन्निवर्तकं भवति यद्यदि न स्यान्मूलोपरि तदभि-प्रायस्फोरकं व्याख्यानं तर्हि मूलस्यान्यथान्यथार्थग्रहणेन तथाचरणाल्लोको लक्ष्यात्प्रच्यवेत्तथामाभूदिति हेतोरत्र व्याख्या-नोपयोग इति सामान्यनियमो मम प्रतिभाति । अत एव रामरुद्रीग्रन्थे रामरुद्रतर्कालङ्कारैरभ्यधायि—

"अप्रतिपत्तेरतिप्रतिपत्तेर्वा व्याख्यानं कुर्वन्ति सन्तः" इति ।

प्रकृते सा रीतिःसर्वथैव परिदृश्यते सूक्ष्मदृशाम् । तत्रभवतां पूज्यपादानां श्रोत्रियब्रह्मनिष्ठवरेण्यानां श्रीस्वामी विष्णुदेवानन्दगिरि महाराजानां टिप्पणं मया दृष्टमदृष्टसौभाग्यात् । इयं क्रिया स्वामिपादानां सर्वथा परमलोकोप-कारिणी सर्वशंसयोच्छेदने समर्थत्वात् । संशयोच्छेदकत्वमेव शास्त्राणांमुद्देश्यम् । अत एव संशयात्मा विनश्यतीति गीतोक्तिःसङ्गच्छते । ग्रन्थादावेव ४ पृष्ठे अविद्याकामकर्मप्रेरितात्मीयमतिप्रभावादेव" इति शाङ्करभाष्यटिप्पणी—तत्प्रेरितत्वच्च—तत्सम्पादितपरिणामोन्मुखताकत्वं नान्यत्प्रेरणां सम्भवति जडानाम् इति परिष्कृतम् । इदं व्याख्यानं यदि न स्यात्तर्हि प्रेरणायाश्चेतनत्वसामानाधिकरण्यनियमाज्जडेषु तदनुपलम्भाद्भाष्यमप्रामाण्यशङ्काशङ्कुसमन्वितं स्याद्यथार्थज्ञानाज्जिज्ञासुलोको वञ्चितस्यादित्यत्ते महोपकृतं पूज्यपादैः । एवमेवानेकत्र किं सर्वमेव व्याख्यानमेतादृशमेव तात्पर्यपूर्णंमया तु निदर्शनमात्रमत्र परिदर्शितम् । दृष्टवेदं व्याख्यानं कस्य सचेतसो व्युत्पत्तिमतोमात्सर्य रहितस्य न चेतो मोदमियात् । मोमोत्ति मे चेतो दृष्टा रससारसमन्वितमिदम् ।

अत्रग्रन्थे मूलस्य हिन्दीभाषायं व्याख्यानं पदन्यजिज्ञासुजनप्रार्थनया श्रीद्भिः श्रोत्रियब्रह्मनिष्ठैर्विद्यापरिरक्षण-तत्परैर्विद्यानन्दस्वामिभिःपरेच्छारूपप्रारब्धवशादारब्धं तत्तु परमौचित्यं परिचुम्बति । यतोहि "बहूनामनुग्रहोग्राह्यः" इति न्यायादधिकंस्तुलोको हिन्दीभाषाभिज्ञ एव । यदितस्यांभाषायां व्याख्यान नस्यात्तर्हि कतिपयजनमानसानन्द प्रदायित्व-मात्रं ग्रन्थस्यस्याद्योहि लोकशास्त्रोभयविरुद्धः । अह भगवन्तं सर्वशक्तिमन्तं विश्वनाथं प्रार्थये यत्स्वामिचरणान् विद्यानन्दमहाराजाननेकसत्कार्यरतान् विरताम् नैरोग्यदीर्घायुष्यादि समन्वितान् करोतु तदीयग्रन्थेषु च लोकप्रवृत्तिमुद्दीप्तां विधाय तज्जन्यज्ञानसमवेतमानसांश्च जनान् भावयतु इति ।

देव स्वरूप मिश्र
प्राध्यापक एवं अध्यक्ष
वेदान्त विभाग
वाराणसेय संस्कृत विश्व विद्यालय
वा रा ण सी-२

विषयानुक्रमणिका

अद्वैताग्निनिभो वशेन्द्रियदलो दैतान्धकारान्तको,
भस्माभूषितभालभागभरणो भद्राकृतिर्भास्वरः ।
विद्यानन्दयतीन्द्रकेन्द्रतिलकः कैलासपीठेश्वरः,
सिद्धो बुद्धजनाधिशुद्धमुकुटो भात्यत्र सिद्धासने ॥

● श्री यतीन्द्रकुलतिलक कैलासपीठाधीश्वर ●
श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ महामण्डलेश्वर
श्री १००८ स्वामी विद्यानन्द गिरिजी महाराज वेदान्त-सर्वदर्शनाचार्य
कैलास आश्रम ऋषिकेश (उ० प्र०)

ॐ तत्सद्ब्रह्मणे नमः।

गौडपादीयकारिकासहिता

अथर्ववेदीयमाण्डूक्योपनिषत् ।

सटिप्पणटीकाद्वयसंवलितशांकरभाष्यसमेता ।

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥
स्वस्तिन इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्तिनः पूषा विश्ववेदाः ॥
स्वस्तिनस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

भाव :—हे देवताओं (आपकी कृपा से हम कानों के द्वारा कल्याणप्रद शब्दों को सुनें। आँखों से कल्याणप्रद दृश्य देखें। वैदिक यागादिक कर्म में हम समर्थ होवे तथा दृढ़ अवयवों और शरीरों से स्तुति करनेवाले हम लोग केवल देवताओं के हित मात्र के लिए जीवन धारण करे। महान् यशस्वी इन्द्रदेव हमारा कल्याण करें। परम ज्ञानवान् पूषादेव हमारा कल्याण करें। सम्पूर्ण आपत्तियों के लिए चक्र के समान घातक गरुड़ हमारा कल्याण करें तथा देवगुरु वृहस्पति हमारा कल्याण करें। त्रिविध ताप की शान्ति होवे।

(अथ श्रीमच्छंकरभगवत्पादविरचितं भाष्यम्)

प्रज्ञानांशुप्रतानैः स्थिरचरनिकरव्यापिभिर्व्याप्य लोकान्
भुक्त्वा भोगान्स्थविष्ठान्पुनरपि धिषणोद्भासितान्कामजन्यान् ।
पीत्वा सर्वान्विशेषान्स्वपिति मधुरभुङ्मायया भोजयन्नो
मायासंख्यातुरीयं परममृतमजं ब्रह्म यत्तन्नतोऽस्मि ॥ १ ॥

शाङ्करभाष्य-विद्यानन्दीमिताक्षरा

मङ्गलाचरण व्याज से विधिमुखेन वस्तु प्रतिपादन

जो ब्रह्म वृक्षादि स्थावर और मनुष्यादि जंगम प्राणी-समुदाय को व्याप्त कर लेने वाली-जन्मादि विकार रहित कूटस्थ ज्ञानीय चिदाभास रूप-रश्मियों के विस्तार से सम्पूर्ण लोकों को जाग्रद-वस्था में व्याप्त कर त्रिपुटी के द्वारा स्थूल विषय जन्य सुख-दुःखादि का अनुभवकर, जाग्रत के कारण धर्माधर्म के नष्ट हो जाने पर और स्वप्न के हेतुभूत कर्म के उद्बुद्ध होने पर पुनः स्वप्नावस्था में बुद्धि से प्रकाशित वासनाजन्य (अविद्या, काम तथा कर्म से उत्पन्न) सम्पूर्ण भोगों को भोगता है। तत्पश्चात् सुषुप्तावस्था में उन सम्पूर्ण स्थूल सूक्ष्मरूप विषय विशेषों को अज्ञान से आवृत आत्मा में

विलीनकर माया के द्वारा मायाकृत हम सभी जीवों को सुख दुःखादि का अनुभव कराता हुआ स्वयं आनन्द भुक् होकर शयन करता रहता है, एवं जो जन्म मरणादि रहित होने के कारण परम अमृत और अजन्मा ब्रह्म माया से ही चतुर्थ संख्या वाला है उस तदर्थ ब्रह्म को हम नमस्कार करते हैं। (इस श्लोक में मंगलाचरण के व्याज से जीव ब्रह्म के एकतारूप विषय को सूचित किया है। माया के द्वारा उक्त सम्पूर्ण व्यापार ब्रह्म में होते हैं, इससे यह स्पष्ट हुआ कि ब्रह्म के स्वरूप में कोई व्यापार नहीं है। इसीलिये ब्रह्म के विशेषण परम् अमृतं और अजं दिये गये हैं।) ॥१॥

(अथाऽऽनन्दगिरिकृता टीका)।

परिपूर्णपरिज्ञानपरितृप्तिमते सते । विष्णवे जिष्णवे तस्मै कृष्णनामभृते नमः ॥ १ ॥
शुद्धानन्दपदाम्भोजद्वंद्वमद्वंद्वतास्पदम् । नमस्कुर्वे पुरस्कर्तुं तत्त्वज्ञानमहोदयम् ॥ २ ॥
गौडपादीयभाष्यं हि प्रसन्नमिव लक्ष्यते । तदर्थतोऽतिगम्भीरं व्याकरिष्ये स्वशक्तितः ॥ ३ ॥
पूर्वे यद्यपि विद्वांसो व्याख्यानमिह चक्रिरे । तथाऽपि मन्दबुद्धीनामुपकाराय यत्यते ॥ ४ ॥

श्रीगौडपादाचार्यस्य नारायणप्रसादतः प्रतिपन्नान्माण्डूक्योपनिषदर्थाविष्करणपरानपि[1] श्लोकानाचार्यप्रणीतान्व्याचिख्यासुर्भगवान्भाष्यकारश्चिकीर्षितस्य भाष्यस्याविघ्नपरिसमाप्त्यादिसिद्धये परदेवतातत्त्वानुस्मरणपूर्वकं तन्नमस्काररूपं मङ्गलाचरणं शिष्टाचारप्रमाणकं मुखतः समाचरन्नर्थादपेक्षितमभिधेयाद्यनुबन्धमपि सूचयति—प्रज्ञानेत्यादिना। तत्र [2]विधिमुखेन वस्तुप्रतिपादनमिति [3]प्रक्रियां प्रदर्शयति—ब्रह्म यत्तन्नतोऽस्मीति। अस्मदर्थस्य तदैक्यस्मरणरूपं नमनं [4]सूचयता ब्रह्मणस्तदर्थस्य प्रत्यक्त्वं सूचितमिति तत्त्वमर्थयोरैक्यं विषयो ध्वनितः। यच्छब्दस्य प्रसिद्धार्थावद्योतकत्वाद्वेदान्तप्रसिद्धं यद्ब्रह्म तन्नतोऽस्मीति संबन्धेन मङ्गलाचरणमपि श्रुत्या[5] क्रियते। ब्रह्मणोऽद्वितीयत्वादेव जननमरणकारणाभावादमृतमजमित्युक्तम्। जननमरणप्रबन्धस्य संसारत्वात्तन्निषेधेन स्वतोऽसंसारित्वं दर्शयता संसारानर्थनिवृत्तिरिह प्रयोजनमिति द्योतितम्। यद्यद्वितीयं स्वतोऽसंसारि ब्रह्म वेदान्तप्रमाणकं, तर्हि कथमवस्थात्रयविशिष्टा जीवा भोक्तारोऽनुभूयन्ते भोजयिता चेश्वरः श्रूयते भोज्यं च विषयजातं पृथगुपलभ्यते। तदेतदद्वैते विरुध्येतेत्याशङ्क्य ब्रह्मण्येव जीवा जगदीश्वरश्चेति सर्वं काल्पनिकं संभवतीत्यभिप्रेत्याऽऽह—प्रज्ञानेति। प्रकृष्टं जन्मादिविक्रियाविरहितं कूटस्थं ज्ञानं ज्ञप्तिरूपं वस्तु प्रज्ञानं तच्च ब्रह्म। प्रज्ञानं ब्रह्मेति हि श्रूयते। तस्यांशवो रश्मयो जीवाश्चिदाभासाः सूर्यप्रतिबिम्बकल्पा [6]निरूप्यमाणा बिम्बकल्पाद्ब्रह्मणो भेदेनासन्तस्तेषां प्रताना विस्तारास्तैर[7]पर्यायमेवाशेषशरीरस्थाभिः। तदेवाऽऽह—स्थिरेति। स्थिरा वृक्षादयः। चरा मनुष्यादयः। तेषां निकरः समूहस्तं व्याप्तुं शीलमेषामिति तथा। तैरिति यावत्। लोका लोक्यमाना विषयास्तान्व्याप्येति विषयसंबन्धोक्तिस्तत्फलं कथयति। भोगाः सुखदुःखादिसाक्षात्कारास्तेषां स्थविष्ठत्वं [8]स्थूलतमत्वं देवतानुगृहीतबाह्येन्द्रियद्वारा बुद्धेस्तत्तद्विषयाकारपरिणाम[9]जन्यत्वं तान्भु[10]क्त्वा [11]स्वपितीति संबन्धः। [12]एतेन जागरितं ब्रह्मणि कल्पितमुक्तम्। तत्रैव स्वप्नकल्पनां दर्शयति—पुनरपीति। जाग्रद्धेतुधर्माधर्मक्षयानन्तर्यं पुनःशब्दार्थः। स्वप्नहेतुकर्मोद्भवे च सतीत्यपिनोच्यते। न च तत्र बाह्यानीन्द्रियाणि स्थूला विषयाश्च

गोविन्दप्रसादिनी टिप्पणी—

१. अपिशब्द उपनिषदं समुच्चिनोति भिन्नक्रमेण श्लोकानित्यतोऽग्रे सम्बध्यमानः।
२. विधिमुखेनेति—भावरूपधर्मपुरस्कारेण वस्तुप्रतिपादनं विधिमुखम्। अभावरूपधर्मपुरस्कारेण तन्निषेधमुखमुच्यते।
३. प्रक्रियामिति—अध्यारोपप्रक्रियामिति यावत्।
४. सूचयतेति—एतेन नतेस्तत्प्रवणस्तदस्मीत्यन्वयाभिप्रायं ध्वनयतीत्यवधेयम् ॥ ५. श्रुत्या—शब्दत इत्यर्थः।
६. निरूप्यमाणाः—विमर्शपदवीमारूह्यमाणाः इति विचारे क्रियमाणा इति फलितम्। ७. अपर्यायमिति—युगपदित्यर्थः।
८. बुद्धिवृत्त्यभिव्यक्तायाश्चितः स्थूलता, तद्विषयसुखदुःखादिस्थूलतमत्वप्रयुक्तम्, तद्विषयनिष्ठं स्थूलतमत्वं चेति शेषः।
९. जन्यत्वम्—विषयत्वम्। १०. भुक्त्वेति—सुखमनुभवामीत्यादि रीत्या स्वसम्बन्धितयाऽनुभूयेत्यर्थः।
११. स्वपितीति—स्वप्नावस्थां गच्छतीत्यर्थः। १२. एतेनेति—जागरितस्य व्यतिरेकप्रदर्शनेनेत्यर्थः ॥

शा० भा०—यो विश्वात्मा विधिजविषयान्प्राश्य भोगान्स्थविष्ठा-
न्पश्चाच्चान्यान्स्वपतिविभवाज्ज्योतिषा स्वेन सूक्ष्मान्।
सर्वानेतान्पुनरपि शनैः स्वात्मनि स्थापयित्वा
हित्वा सर्वान्विशेषान्विगतगुणगणः पात्वसौ नस्तुरीयः ॥ २ ॥

निषेध मुख से वस्तु प्रतिपादन

जो पंचीकृत पंचमहाभूत एवं उनके कार्यरूप स्थूल जगत् में अभिमान करने के कारण विश्वात्मा हो जाग्रदवस्था में विधि, निषेध कर्म जन्य स्थूल विषयों को त्रिपुटी के द्वारा भोगकर पश्चात् स्वप्नावस्था में जाग्रत् के हेतुभूत कर्मों के नाश होने पर और स्वप्न के कर्म उद्‌बुद्ध होने पर, स्थूल विषयों से भिन्न अपनी बुद्धि से परिकल्पित अविद्या, काम तथा कर्म से उत्पन्न सूक्ष्मविषयों को अपने ही प्रकाश से भोगता है। पुनः उक्त दोनों ही प्रकार के कर्मों के उपरत हो जाने पर धीरे धीरे इन सभी को अज्ञान से आवृत अपने स्वरूप में स्थापित कर सम्पूर्ण स्थूल, सूक्ष्म विषयों का परित्याग कर गुणातीत हो जाता है, वही तुरीय परमात्मा हम व्याख्याता एवं श्रोता सब किसी की विघ्न बाधाओं को दूरकर मोक्ष तथा उसके हेतु ब्रह्मविद्या प्रदान द्वारा रक्षा करे ॥२॥

सन्ति किन्तु धिषणाशब्दितबुद्धयात्मानो [1]वासनात्मानो विषया भासन्ते तानुभूय स्वपितीत्यर्थः। तेषां प्रापकमुपन्यस्यति—कामजन्यानिति। कामग्रहणं कर्माविद्ययोरुपलक्षणार्थम्। अवस्थाद्वयकल्पनां ब्रह्मणि दर्शयित्वा तत्रैव सुषुप्तिकल्पनां दर्शयति—पीत्वेति। सर्वे विशेषाः सर्वे विषयाः स्थूलाः सूक्ष्माश्च जागरितस्वप्नरूपास्तान्पीत्वा स्वात्मन्य[2]ज्ञाते प्रविलाप्य स्वपिति कारणभावेन तिष्ठतीत्यर्थः। तत्राऽऽनन्दप्राधान्यमभिप्रेत्य विशिनष्टि—मधुरभुगिति। अवस्थात्रयस्य मायाकृतस्य मिथ्याभूतस्य प्रतिबिम्बकल्पेष्ववस्थासु संम्बन्धितामिवाऽऽपाद्यास्मान्भोजयद्ब्रह्म वर्तते। अतो ब्रह्मण्येवावस्थात्रयम्। तद्वन्तो जीवा मायावि ब्रह्म च ब्रह्मणि परिशुद्धे परिकल्पितं सर्वमित्याह—माययेति। तस्यैव ब्रह्मणोऽवस्थात्रयातीतत्वेन विज्ञप्तिमात्रत्वं दर्शयति—तुरीयमिति। चतुर्णां पूरणं तुरीयमिति व्युत्पत्तेर्ब्रह्मणस्तुरीयत्वेन निर्देशात्प्राप्तं सद्वितीयत्वमित्याशङ्क्य कल्पितस्थानत्रयसंख्यापेक्षया तुरीयत्वं न सद्वितीयत्वेनेत्याह—मायेति। मायावित्वेन निकृष्टत्वमाशङ्क्योक्तम्—परमिति। मायाद्वारा ब्रह्मणस्त[3]त्सम्बन्धेऽपि स्वरूपद्वारा न तत्सम्बन्धोऽस्तीति कुतो निकृष्टतेत्यर्थः॥ १ ॥

विधिमुखेन वस्तुप्रतिपादनप्रक्रियामवलम्ब्य तदर्थेनोपक्रम्य तस्य त्वमर्थप्रत्यगात्ममात्रत्वमुक्तम्। अभिधेयफलोक्त्या सम्बन्धाधिकारिणौ च सूचितौ। सम्प्रति निषेधद्वारा वस्तुप्रतिपादनप्रक्रियामाश्रित्य त्वमर्थेनोपक्रम्य तस्य तदर्थसंसारिब्रह्ममात्रत्वं प्रत्याययति—यो विश्वात्मेति। तत्र त्वमर्थः स्वतःसिद्धश्चि[4]द्धातुः[5]सर्वनाम्ना परामृश्यते। तस्मिञ्जागरित[6]मारोपितं[7]मुदाहरति—विश्वात्मेति। विश्वं पञ्चीकृतपञ्चमहाभूततत्कार्यात्मकं स्थूलं जगद्विराजं शरीरम्। तस्मिञ्जागरिते चाहं ममेत्यभिमानवानित्यर्थः। तस्यार्थक्रियामुपन्यस्यति-विधिजेति। विधीयत इति विधिर्धर्मो [8]नञनुबन्धेन ततो व्यतिरिक्तोऽविधिरधर्मस्ताभ्यां धर्माधर्माभ्यामविद्याकामप्रसूताभ्यां विषया शब्दादयो जन्यन्ते। तान्भोगयोग्यतया भोगशब्दितानाविलाद्यनुगृहीतवाह्येन्द्रियद्वारकबुद्धिपरिणामगोचरतया स्थूलतमान्प्राश्य साक्षादनुभूय स्थितोऽयं

---

१. वासनात्मान इति—वासनाभिर्जनिता इत्यर्थः। वासनाविशिष्टबुद्धिपरिणामरूपा इति निष्कर्षः॥
२. अज्ञाते—अज्ञानावृत्ते कारणात्मना तत्प्राधान्येनेति यावत्॥
३. तदिति मायेत्यर्थः।
४. धातुरिति—धारणाद्धातुरधिष्ठानमित्यर्थः॥
५. सर्वनाम्नेति—य इत्यर्थः॥
६. आरोपितं—पूर्वस्मिन्पद्ये॥
७. उदाहरति—स्थूलमनुवदति इत्यर्थः, अपवादायेति भावः।
८. नञनुबन्धेन—नञ् प्रश्लेषेणेत्यर्थः॥

प्रत्यगात्मेत्यर्थः । तत्रैव स्वप्नावस्थामध्यस्यति-पश्चाच्चेति । जाग्रद्धेतुकर्मक्षयानन्तरं स्वप्नहेतुकर्मोद्भवे च सति स्थूलेभ्यो विषयेभ्योऽन्यानस्मादेव हेतोः सूक्ष्मान्बाह्येन्द्रियाणामुपरतत्वाद्[1]विद्याकामकर्मप्रेरितात्मीयमति[2]प्रभावादेव प्रसूतानन्तः-करणात्मनो वासनामयानादित्यादिज्योतिषामस्तमितत्वादात्मभूतेनैव ज्योतिषा विषयीकृतानुभूयापञ्चीकृतपञ्चमहाभूत-तत्कार्यात्मकं सूक्ष्मप्रपञ्चं हैरण्यगर्भं शरीरं स्वप्नस्थानं चाभिमन्यमानस्तैजसो भवतीत्यर्थः । तत्रैव सुषुप्तकल्पनां दर्शयति-सर्वानिति । स्थूलसूक्ष्मविभागेन स्थानद्वयावच्छिन्नान्प्रकृतानेतानशेषानपि विशेषानुपाधिद्वयभूतानुपाधिद्वयद्वारकस्थानद्वय-संचारयुक्तश्रमोद्भवानन्तरं तस्यापि परिजिहीर्षायां शनैर[3]नुक्रमेणाक्रमेण वा स्वात्मन्यज्ञाते कारणात्मनि स्थापयित्वोप-संहृत्याव्याकृतप्रधानः सन्प्राज्ञो भवतीत्यर्थः । तस्यैव प्रत्यगात्मनः स्थानत्रयविशिष्टस्य नान्तःप्रज्ञं न बहिष्प्रज्ञमित्यादि-प्रतिषेधशास्त्रप्रसूतप्रमाणज्ञानसमारूढस्य सर्वानप्यनर्थविशेषान्कार्यकारणरूपान्प्रमाणज्ञानप्रभावादेव हित्वा निरुपाधिक-परिपूर्णपरिज्ञानपरमात्मस्वरूपेण परिनिष्पन्नं तत्त्वं कथयति-हित्वेति । प्रथमश्लोकेन प्रदर्शितप्रणामस्य प्रत्यूहप्रवाह-प्रशमनात्मकं प्रयोजनं स्थानत्रयप्रकल्पनातीतपरवस्तु[4]प्रयुक्तं प्रार्थयते द्वितीयेन-पात्विति नोऽस्मान्व्याख्यातृत्वेन श्रोतृत्वेन च व्यवस्थिता[5]न्पुरुषार्थपरिपन्थिकृतकारणनिरासपुरःसरं परमात्मा पराकृताशेषकल्पनो नित्यविज्ञप्तिस्वभावो मोक्षप्रदानेन तद्धेतुज्ञानप्रदानेन च परिरक्षतादित्यर्थः । केचित्तु प्रकरणचतुष्ट्यात्मनो ग्रन्थस्य वेदान्तैकदेशसंबद्धत्वज्ञापनार्थं निष्प्रपञ्चं वाक्यप्रतिपाद्यं ब्रह्म प्रथमश्लोकेन सूचितम् । द्वितीयेन माण्डूक्यश्रुतिव्याख्यानरूपेणाऽऽद्यप्रकरणेन प्रणवमात्राणामात्म-पादानां चैकीकरणेन प्रतिपाद्यं ब्रह्म सूचितमिति मन्यन्ते । न च द्वितीयश्लोके[6]चतुर्थपादे [7]वृत्तलक्षणाभावाद[8]सांगत्य-माशङ्कनीयम् । [9]गाथालक्षणस्य तत्र सुसंपादत्वादिति द्रष्टव्यम् । अन्ये त्वाद्यश्लोकं मूलश्लोकान्तर्भूतं गच्छन्तो द्वितीय-श्लोकं भाष्यकारप्रणीतमभ्युपयन्ति । तदसत् । उत्तरश्लोकेष्विवाऽऽद्येऽपि श्लोके भाष्यकृतो व्याख्यानप्रणयनप्रसङ्गात् । ओमित्येतदक्षरमित्यादि[10]भाष्यविरोधाच्च । अपरे पुनराद्येन श्लोकेन शास्त्रप्रतिपाद्यपरदेवतातत्त्वानुस्मरणद्वारेण नमनक्रिया [11]प्रकरणप्रारम्भोपयोगित्वेन क्रियते । परदेवताभक्तिव[12]दपरदेवताभक्तेरपि विद्याप्राप्तावन्तरङ्गत्वस्य शास्त्री-यस्य शिष्यशिक्षायै ज्ञापनार्थमवस्थात्रयातीताविनित्यसिद्धविज्ञानमूर्ते राचार्यान्मोक्षौपयिकज्ञानप्राप्तिराचार्यवान्पुरुषो वेदेत्या-दिश्रुत्यवष्टम्भेन मुमुक्षुणा [13]प्रार्थ्यते द्वितीय [14]श्लोकेनेति कल्पयन्ति ॥ २ ॥

---

१. अविद्याकामकर्मप्रेरितेति—तत्प्रेरितत्वं तत्सम्पादितपरिणामोन्मुखताकत्वं नान्यत्प्रेरणं सम्भवति जड़ानामिति ।

२. प्रभावश्च मतेः परिणामानुकूलसामर्थ्यम् । अविद्यादिभिः परिणामोन्मुखीभूता या आत्मीयामतिस्तत्प्रभावादेव—तन्निष्ठतत्तत्परिणामानुकूलसामर्थ्यादित्येवेत्यर्थः उपादानान्तरव्यवच्छित्तय एवकारः ।

३. अनुक्रमेणेत्यादि—जागरितात्स्वप्नस्ततः सुषुप्तमित्यर्थः, अक्रमस्तु यतः कुतश्चित् यत्रकुत्रेति ।

४. प्रयुक्तमिति—निर्वर्तितमित्यर्थः ।

५. पुरुषार्थेत्यादि—पुरुषार्थो ज्ञानं तत्परिपन्थिनो विषयासक्तिबुद्धिमान्द्यदुराग्रहादयः, आदि कृतकार्यः तत्कृतकारण-मविद्यादि । ६. चतुर्थपादे—स्रग्धरालक्षणवतीति शेषः । ७. वृत्तेति—पूर्वपादत्रयप्रयुक्तमन्दाक्रान्तवृत्तेत्यर्थ ।

८. असाङ्गत्यंदूषितकाव्यत्वमितियावत् ।

९. गाथालक्षणस्येति—गाथालक्षणञ्चत्रेधोक्तं वृत्तरत्नाकरे, तद्यथा—विषमाक्षरपादं वा पादैरसमं दशधर्मवत् यच्छन्दो-नोक्तमत्र गाथेति तत्सूरिभिः प्रोक्तमिति अनया गाथया । अत्र च दशधर्मवदिति—दशधर्मशब्दोपलक्षिता भारतोक्ता गाथा उदाह्रियते, साचेयम्—दशधर्मं न जानन्ति धृतराष्ट्र निबोधत । मत्तः प्रमत्त उन्मत्तः श्रान्तः क्रुद्धो बुभुक्षितः । त्वरमाणश्चभीरुश्च लुब्धः कामी च ते दशः । इति षट्पदीगाथा । प्रकृते च विषमाक्षरपादत्व रूप माद्यं लक्षणं घटते इत्यवधेयम् । पिङ्गलसूत्रे च अत्रानुक्तं गाथेति पठितम् अत्र—पिङ्गलशास्त्रे ।

१०. भाष्यविरोधादिति—आद्यपद्यस्य मूलश्लोकान्तर्गत्वे ह्युपनिषद्व्याख्यानभूतानां श्लोकान्तराणां तन्मध्य इव तन्मङ्गल-भूतस्यास्य तदावावेवोपन्यसनीयतया प्रज्ञानांशुप्रतानैरित्यादीत्येवमेव भाष्यमुखेण भवितव्यमृनत्वोमित्यादिनेति भावः ।

११. प्रकरणारम्भइति—परिसमाप्तिपर्यवसायिप्रकरणप्रारम्भे तत्प्रतिबन्धकविघ्ननिरसनद्वारा नमनक्रियात्मकमङ्गल-स्योपयोगित्वमिति भावः । १२. अपरदेवताऽऽचार्यः । १३. प्रार्थयत इति—प्रार्थनीया इत्यर्थः ।

१४. श्लोकेन प्रदर्शयत इति शेषः ।

शा०भा०—ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानम्। वेदान्तार्थसारसंग्रहभूतमिदं प्रकरणचतुष्टयमोमित्येतदक्षरमित्याद्यारभ्यते। अत एव न पृथक्संबन्धाभिधेयप्रयोजनानि वक्तव्यानि। यान्येव तु वेदान्ते संबन्धाभिधेयप्रयोजनानि तान्येवेह भवितुमर्हन्ति। तथाऽपि प्रकरणव्याचिख्यासुना संक्षेपतो वक्तव्यानि।

तत्र प्रयोजनवत्साधनाभिव्यञ्जकत्वेनाभिधेयसम्बद्धं शास्त्रं पारम्पर्येण [1]वि शिष्ट[2]सम्बन्धाभिधेयप्रयोजनवद्भवति।

सम्बन्ध निरूपण

ॐ यह अक्षर ही यह सब कुछ है। उसी का व्याख्यानरूप वेदान्तार्थ का सार संग्रह भूत यह चार प्रकरण वाला ग्रन्थ ॐ इत्येतदक्षरमिदमित्यादि मंत्रसे प्रारंभ किया जाता है (शारीरक सूत्र को वेदान्त कहते हैं, जिसमें अधिकारी का निरूपण, गुरु उपसत्ति, तत्त्वं पदार्थ शोधन, उन दोनों की एकता, विरोध परिहार, साधन तथा फल रूप अर्थ बतलाये गये हैं। जिसका सार है जीव ब्रह्म की एकता। उसका अच्छी प्रकार से ग्रहण इस ग्रन्थ में कराया गया है। अतः शास्त्र के एक देश से सम्बद्ध होने के कारण यह ग्रन्थ प्रकरण रूप है तथा निर्गुण वस्तु मात्र का प्रतिपादन होने से इसका व्याख्यान करना भी आवश्यक हो जाता है। वेदान्त का सार संग्रह रूप यह प्रकरण ग्रन्थ है।) इसीलिए इसके सम्बन्ध, विषय और प्रयोजन पृथक से बतलाना आवश्यक नहीं है, क्योंकि वेदान्त शास्त्र में जो सम्बन्ध, विषय और प्रयोजन कहे गये हैं, वे ही इस ग्रंथ में भी संभव हैं, ऐसी परिस्थिति में उक्त सम्बन्धादि का प्रतिपादन अनावश्यक होने पर भी प्रकरण व्याख्या करने की इच्छा वाले व्यक्ति को संक्षेप में उनका वर्णन करना चाहिए, ऐसा व्याख्याता का अभिप्राय है, क्योंकि कारिका तथा भाष्य दोनोंमें उक्त सम्बन्धादि का निरूपण न होने पर इसमें अश्रद्धा का प्रसंग आ सकता है।

शास्त्र और प्रकरण दोनों ही का प्रयोजन मोक्ष है इस स्थिति में ऐसे प्रयोजन वाले साधनों का स्पष्टरूप से बोधक होनेके कारण अपने प्रतिपाद्य विषय के साथ यह शास्त्र प्रतिपाद्य-प्रतिपादक भाव सम्बन्ध वाला है। अतः परम्परा से अन्य शास्त्रों की अपेक्षा विशिष्ट सम्बन्ध अभिधेय और प्रयोजन वाला यह शास्त्र हो जाता है।

आ०टी०—यदुद्दिश्य मङ्गलाचरणं कृतं [3]तन्निर्देष्टुमादौ व्याख्येयस्य प्रतीकं गृह्णाति—ओमित्येतदिति। ओमित्येतदक्षरमित्यादि[4]प्रकरणचतुष्टयविशिष्टमिदमारभ्यते व्याख्यायतेऽस्माभिरित्युद्देश्यं प्रतिजानीते। किमिदं शास्त्रत्वेन वा प्रकरणत्वेन वा व्याचिख्यासितम्। नाऽऽद्यः। शास्त्रलक्षणाभावादस्याशास्त्रत्वात्। [5]एकप्रयोजनोपनिबद्धमशेषार्थप्रतिपादकं हि शास्त्रम्। अत्र च मोक्षलक्षणैकप्रयोजनवत्त्वेऽपि [6]नाशेषार्थप्रतिपादकत्वम्। न द्वितीयः। प्रकरणलक्षणाभावादित्याशङ्क्याऽऽह—वेदान्तेति। [7]शास्त्रं वेदान्तशब्दार्थः। तस्यार्थोऽधिकारिनिर्णयगुरूपसदनपदार्थद्वयतदैक्यविरोधपरिहारसाधनफलाख्यः। तत्र सारो जीवपरैक्यं तस्य सम्यग्ग्रहः संग्रहः संशयविपर्यासादिप्रतिबन्धव्युदासेन तदुपा-

---

१. विशिष्टेति—शास्त्रान्तरीयसम्बन्धादितो विलक्षणेत्यर्थः।

२. विशिष्टसम्बन्धेति—यद्यपि प्रतिपाद्यप्रतिपादकत्वरूपसम्बन्धस्य सर्वत्रैकत्वेन तत्रविशिष्टत्वोक्तिरसङ्गता, तथाप्यनुयोगिप्रतियोगिभेदेन सम्बन्धभेदमादायैव सेत्यवधेयम्।

३. तदिति—निर्विघ्नव्याख्यानपरिसमाप्त्येकदेशभूतव्याख्यानारम्भणमिति यावत्।

४. प्रकरणचतुष्टयमाचार्यप्रणीतश्लोकानां नोपनिषदस्तस्य चोमित्येतदक्षरमित्यादित्वाभावं मत्वाऽऽह—ओमित्यादि। ओमित्येतदक्षरमित्यादीदमुपनिषत्स्वरूपं व्याख्यायते। न केवलमुपनिषत्स्वरूपमित्येतदपीति विशिनष्टि—प्रकरण चतुष्टयविशिष्टमिति।

५. एकप्रयोजनेति—एकस्मैप्रयोजनाय मोक्षादिरूपफलाय उपनिबद्धं—निर्मितम्। तादृशफलोपयोग्यशेषार्थज्ञापकम्।

६. नाशेषार्थप्रतिपादकत्वम् कर्मादीनामपिचित्तशुद्ध्यादिद्वारा मोक्षोपयोगित्वं तेषां च नेह प्रतिपादनमित्यर्थं।

७. शास्त्रम्—शारीरकम्।

शा०भा०—किं पुनस्तत्प्रयोजनमित्युच्यते। रोगार्तस्येव रोगनिवृत्तौ स्वस्थता तथा [१]दुःखात्मकस्याऽऽत्मनो द्वैतप्रपञ्चोपशमे स्वस्थता। अद्वैतभावः प्रयोजनम्। द्वैतप्रपञ्चस्याविद्याकृतत्वाद्विद्यया तदुपशमः स्यादिति ब्रह्मविद्याप्रकाशनायास्याऽऽरम्भः क्रियते। "[२]यत्र हि द्वैतमिव भवति (बृ० २।४।१४)। यत्र वाऽन्यदिव स्यात्तत्रान्योऽन्यत्पश्येदन्योऽन्यद्विजानीयात् (बृ० २।४।१४)। [३]यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्तत्केन कं विजानीयात्" (बृ० ४.३।३१) इत्यादिश्रुतिभ्योऽस्यार्थस्य सिद्धिः।

पूर्व पक्ष—अच्छा तो फिर इस शास्त्र का वह प्रयोजन क्या है?

सिद्धान्ती—सिद्धान्ती कहते हैं जैसे—रोगग्रस्त पुरुष के रोग निवृत्त हो जानेपर स्वस्थता, नीरोगता आ जाती है, वैसे ही "मैं दुःखी हूं" इस प्रकार दुःख में अभिमान करने वाले आत्मा को तत्त्वज्ञान द्वारा द्वैत की निवृत्ति होने पर स्वस्थता यानी आत्मनिष्ठा प्राप्त होती है। अतः अद्वैत भाव ही इस ग्रंथका प्रयोजन है। द्वैत प्रपंच अविद्या से उत्पन्न हुआ है, उसकी निवृत्ति विद्या से ही हो सकती है। इसीलिए ब्रह्म विद्या को बतलाने के लिए इस प्रकरण ग्रंथ का आरंभ किया जाता है। इस विषय में निम्नाङ्कित श्रुतियाँ प्रमाण हैं। "जिस अविद्यावस्था में द्वैत के जैसाहोता है" "जिस अविद्यावस्था में भिन्न के समान होवे, उसी अवस्था में अन्य अन्य को देख सकता है और अन्य अन्य को जान सकता है" "जिस तत्त्वज्ञानावस्था में इस तत्त्वज्ञानी के लिये सब कुछ आत्मा ही हो गया, वहाँ वह किससे किसको देखे और कौन किससे किसकोजाने" इत्यादि श्रुतियों से इसी अर्थ की सिद्धि होती है (कि अविद्या के कार्य द्वैत प्रपंच का उपशम विद्या द्वारा ही होता है)।

आ०टी—योपदेशो यस्मिन्प्रकरणे तत्तथेति यावत्। तथा च [४]शास्त्रैकदेशसम्बद्धं [५]शास्त्रकार्यान्तरे स्थितम्। इदं प्रकरणत्वेन व्याख्यातुमिष्टम्। निर्गुणवस्तुमात्रप्रतिपादकत्वात्। तत्प्रतिपादनसंक्षेपस्य च कार्यान्तरत्वात् [६]प्रकरणत्वलक्षणस्य चात्र सम्पूर्णत्वादित्यर्थः। प्रकरणत्वेऽपि निर्विषयत्वादिप्रयुक्तमव्याख्येयत्वमाशङ्क्याऽऽह—अत एवेति। प्रकरणत्वादेव [७]प्रकृतशास्त्राद्भेदेन सम्बन्धादीनामवाच्यत्वेऽपि प्रकरणप्रवृत्त्यङ्गतया तानि त्ववश्यं वक्तव्यानीत्याशङ्क्य शास्त्रीयसम्बन्धादीनां तदीये प्रकरणेऽर्थात्प्राप्तत्वान्नास्ति वक्तव्यत्व [८]मर्थपुनरुक्तेरित्याह—यान्येवेति। श्रोतारो हि शास्त्रीयं प्रकरणं प्रतिपद्यमानाः शास्त्रीयाण्येव सम्बन्धादीन्यत्र वचनाभावेऽपि बुध्यमानाः प्रवृत्तिं तस्मिन्प्रकुर्वन्तीत्यर्थः। तर्हि प्रकरणकर्तृवदेव तद्भाष्यकृताऽपि विषयादीनामत्रावक्तव्यत्वाद्भाष्यकृतो विषयाद्युपन्यासायासो वृथा स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—तथाऽपीति। प्रकरणकर्तुरवक्तव्यान्यपि तद्भाष्यकृता तानि संक्षेपतो वक्तव्यानीति व्याख्यातॄणां मतम्। द्वाभ्यामनुक्तत्वे [९]तेष्व [१०]नाश्वासाशङ्कावकाशादित्यर्थः।

भाष्यकृता प्रयोजनादीनां वक्तव्यत्वे सिद्धे शास्त्रप्रकरणयोर्मोक्षलक्षणप्रयोजनवत्वं प्रतिजानीते—तत्रेति। प्रयोजनवच्छास्त्रमिति सम्बन्धः। शास्त्रग्रहणं प्रकरणोपलक्षणार्थम्। मोक्षलक्षणं फलं ब्रह्मज्ञानस्येष्यते न शास्त्रप्रकरणयोरित्याशङ्क्याऽऽह—साधनेति। सत्यं मोक्षस्य साधनं ब्रह्मात्मैकत्वज्ञानम्। तस्य जनकं शास्त्रादि तद्भावेन ज्ञानव्यवधानेन मोक्षफलवद्भवति शास्त्रादीत्यर्थः। तथाऽपि ब्रह्मणा विषयेण सम्बन्धो वेदान्तानामेवेष्यते तत्कथमभि-

---

१. दुःखात्मकस्येति—आरोपितदुःखविशिष्टस्येत्यर्थः। २. यत्रेति—अविद्यावस्थायामिति।
३. यत्रेति—विद्यावस्थायामित्यर्थः।
४. शास्त्रैकदेशसम्बद्धत्वमाह—निर्गुणेत्यादिना।
५. शास्त्रेत्यादिपदेन प्रकरणनामग्रन्थभेदमाहुर्विपश्चितः, इत्युत्तरमर्धम्।
६. प्रकरणलक्षणस्यचेत्ययंत्वर्थश्चकार शास्त्रलक्षणस्यात्रासमग्रत्वेऽपीतिद्योतयति।
७. प्रकृतशास्त्राद्भेदेन—शास्त्रीयसम्बन्धादितो भिन्नप्रकारत्वेनेत्यर्थः। ८. अर्थादिति—प्रकरणत्वान्यथाऽनुपपत्तेरित्यर्थः।
८. अर्थपुनरुक्तेरिति—शाब्दपुनरुक्त्यभावेपीति शेषः, अर्थस्यप्रागुक्तार्थापत्तिलब्धत्वात्सकृत्॥
९. तेष्विति—शास्त्रीयानुबन्धेष्वित्यर्थः। १०. अनाश्वासेति—प्रकरण[illegible]शंकावसरादित्यर्थः।

आ० टी०–धेयसम्बद्धं शास्त्रादीत्याशङ्क्य [1]ब्रह्मविचारमन्तरेण तज्ज्ञानजनकत्वायोगात्तज्ज्ञानजननद्वारा विषयसम्बन्धसिद्धिरित्याह––अभिधेयेति। उक्तं ज्ञानव्यवहितं प्रयोजनादि शास्त्रादेरुपसंहरति––पारम्पर्येणेति। [2]तत्र सम्बन्धो ब्रह्मज्ञानं शास्त्रादिना जन्यमेवेत्य[3]योगव्यवच्छेदादुक्तः। शास्त्रादिनैव जन्यमित्यन्ययोगव्यवच्छेदाद्विषयोऽपि दर्शितः।

यदुक्तं प्रयोजनवत्त्वं तदाक्षिपति—किं पुनरिति। साध्यत्वे स्वर्गवदनित्यत्वं नित्यत्वे साधनानधीनत्वान्न तादर्थ्येन शास्त्रादि प्रयोक्तव्यमित्यर्थः। मोक्षस्याऽऽत्मस्वरूपत्वान्नानित्यत्वं नापि साधनानर्थक्यम्। स्वरूपभूतमोक्षप्रतिबन्धनिवर्तकत्वेनार्थवत्त्वादित्युत्तरमाह–उच्यत इति। यथा देवदत्तस्य ज्वरादिना रोगेणाभिभूतस्य स्वस्थता स्व[4]रूपादप्रच्युतिरूपा स्वरूपभूतैव प्रागपि सती रोगप्रतिबद्धाऽसतीव स्थिता चिकित्साशास्त्रीयोपायप्रयोगवशात्प्रतिबन्धभूतरोगापगमे सत्यभिव्यज्यते न हि तत्रोपायवैयर्थ्यं प्रतिबन्धप्रध्वंसार्थत्वात्। [5]न चानित्यत्वं स्वस्थतायाः शङ्क्येत। तस्यास्तदसाध्यत्वादित्युक्तेऽर्थे दृष्टान्तमाह—रोगार्तस्येवेति। यथोदितदृष्टान्तानुरोधादात्मनः स्वतः समुत्खातनिखिलदुःखस्य निरतिशयानन्दैकतानस्यापि स्वाविद्याप्रसूताहंकारादिद्वैतप्रपञ्चसंबन्धादात्मनि दुःखमारोप्याहं दुःखी सुखं मया प्राप्तव्यमिति प्रतिपद्यमानस्य परमकारुणिकाचार्योपदिष्टवाक्योत्थाद्वैतविद्यातो द्वैतनिवृत्तौ प्रतिबन्धप्रध्वंसे स्वभावभूता परमानन्दता निरस्तसमस्तानर्थता च [6]स्वारस्येनाभिव्यक्ता भवति। सा[7] च स्वस्थता परिपूर्णवस्तुस्वभावान्नातिरिच्यते। तदिदं शास्त्रीयं प्रयोजनम्। तस्य च स्वरूपत्वेनासाध्यत्वान्नानित्यत्वं शङ्कितव्यम्। न च साधनवैयर्थ्यं प्रदर्शितप्रतिबन्धनिवृत्तिफलत्वादिति दार्ष्टान्तिकमाह–तथेति। ननु द्वैतस्याहंकाराद्यात्मनो [8]वस्तुत्वाद्वस्तुनश्च विद्यानपोद्यत्वान्नित्यनैमित्तिककर्मायत्तत्वात्तन्निवृत्तेरलं विद्यार्थेन प्रकरणारम्भेणेति तत्राऽऽह–द्वैतेति। आत्माविद्याकृतस्य द्वैतस्याऽऽत्मविद्यया कारणनिवृत्त्या निवृत्तेरात्मविद्याभिव्यक्तये शास्त्रारम्भो युज्यते। न च द्वैतस्याविद्याकृतस्य विद्यमानदेहत्वे प्रमाणमस्तीत्याशङ्क्यान्वयव्यतिरेका[9]नुविधायिनीं श्रुतिमुदाहरति–यत्र हीति। इवशब्दाभ्यामविद्यावस्थायां [10]प्रतिभातद्वैतस्य तत्प्रतिमानस्य चाऽऽभासत्वेनाविद्यामयत्वमुच्यते–आत्मैवाभूदिति। विदुषो विद्यावस्थायां कर्तृकरणादिसर्वमात्ममात्रं नातिरिक्तमस्तीत्युक्त्वा विद्याद्वारा सर्वस्य द्वैतस्याऽऽत्ममात्रत्ववचनाद्विद्यानिमित्ता कार्यकारणात्मक[11]द्वैतनिवृत्तिरात्मैवेत्यभिलप्यते। [12]तथा च विद्यातो द्वैतनिवृत्तिनिर्देशात्तस्याविद्यात्वमवद्योत्यते। आदिशब्दान्नेह

---

१. ब्रह्मविचारमिति—शास्त्रादेश्च वेदान्तविचारात्मकत्वादितिभावः। नह्यविचारितानां वेदान्तानामपि ज्ञानजनकत्व, किं तर्हि विचारितानामेवेति।

२. सर्वं वाक्यं सावधारणमिति न्यायमाश्रित्याह—तत्रेतिप्रकृतवाक्य इत्यर्थः। विषयादित्रयमध्ये इतिवार्थः। उक्त न्यायेनैवकारं सिद्धवत्कृत्य तदर्थं विभाग इति।

३. नीलमब्जं भवत्येव पार्थ एव धनुर्धरः। शंखःपाण्डर एव स्यादेवशब्दगतिस्त्रिधा। तत्र विशेषणसङ्गतस्यैवकारस्यायोगव्यवच्छेदोऽर्थः। विशेष्यसङ्गतस्यान्ययोगव्यवच्छेदः। क्रियासङ्गतस्यात्यन्तायोगव्यवच्छेदः, इत्याशयवानाह—अयोगेति।

४. स्वरूपादिति—ज्वरादिराहित्योपलक्षितादित्यर्थः।

५. नन्वभिव्यक्तेरेव कार्यत्वेन तद्विशिष्टस्वस्थताया अपि तथात्वं स्यादित्यत्राह—न चेति। विशेष्येऽसम्भवात् विशेषणमात्रे पर्यवस्यति साध्यत्वमिति भावः। किञ्च प्रतिबन्धध्वंसस्यैवाभिव्यक्तित्वात् ध्वंसस्य च ध्वंसाभावान्नविशिष्टस्यापिविनाशित्वम्। इदं त्ववधेयम्—स्वस्थतायाः पुनारोगान्तरोत्पत्तावनभिव्यक्त्यन्तरसम्भवेऽपि मोक्षेत्वेकस्यैवानाद्यज्ञानस्य प्रतिबन्धकत्वेन सकृदपगमे सति न पुनरनभिव्यक्त्यन्तरावकाश इति नित्यत्वमेवयुक्तेरिति।

६. स्वारस्येनेति—स्वरूपेणेत्यर्थः। ७. अभिव्यक्तिवैशिष्ट्ये नापिनानित्यत्वमस्या इत्याह—सा चेति—प्रतिबन्धध्वंसरूपाया अभिव्यक्तेरप्यात्मानतिरेकादिति भावः।

८. वस्तुत्वादिति—व्यावहारिकत्वात्। न हि व्यावहारिकघटादेर्ज्ञानापोद्यत्वमदर्शीति।

९. अनुविधायिनीमभिधायिनीमितियावत्॥ १०. प्रतिभातेति—आभ्यामर्थाध्यासज्ञानाध्यासावदर्शिषाताम्।

११. द्वैतस्यात्मत्वासम्भवादाह—द्वैतनिवृत्तिरभिलप्यत इति। निवृत्तेरेवानात्मनः सत्वात्सर्वमात्मैवेत्यस्यानुपपत्तिं परिहरति—निवृत्तिरात्मैवेति। १२. तथा चेति—विद्यावस्थायां सर्वस्यात्ममात्रत्वकथनात्।

शा०भा०—तत्र [1]तावदोंकारनिर्णयाय प्रथमं प्रकरणमागमप्रधानमात्मतत्त्वप्रतिपत्त्युपायभूतम्। यस्य द्वैतप्रपञ्चस्योपशमेऽद्वैतप्रतिपत्ती रज्ज्वामिव सर्पादिविकल्पोपशमे रज्जुतत्त्वप्रतिपत्तिः। तस्य द्वैतस्य हेतुतो वैतथ्यप्रतिपादनाय द्वितीयं प्रकरणम्। तथाऽद्वैतस्यापि वैतथ्य[2]प्रसङ्गप्राप्तौ युक्तितस्तथात्व-दर्शनाय तृतीयं प्रकरणम्। अद्वैतस्य तथात्वप्रतिपत्तिप्रतिपक्षभूतानि यानि वादान्तराण्यवैदिकानि तेषामन्योन्यविरोधित्वाद[3]तथार्थत्वेन [4]तदुपपत्तिभिरेव निराकरणाय चतुर्थं प्रकरणम्।

इस प्रकार अनुबन्ध चतुष्टय वर्णन से ग्रंथ का आरंभ करना आवश्यक सिद्ध हुआ। इसलिये अब चारों प्रकरणों के प्रमेय वस्तु का संक्षेप से वर्णन करते हैं, कि इन चारों प्रकरणों में से पहला प्रकरण तो ओंकार अर्थ निर्णय के लिये कहा गया है। इसीलिये वह श्रुति प्रधान है और आत्मतत्त्व बोध का श्रेष्ठतम साधन है। जिस द्वैत के निवृत्त होनेपर अद्वैत तत्त्व का बोध वैसे ही हो जाता है जैसे रज्जु में कल्पना किये गये सर्प आदि के निवृत्त हो जाने पर रज्जु के स्वरूप का बोध हो जाता है। उस द्वैत में युक्ति पूर्वक मिथ्यात्व बतलाने के लिये वैतथ्य नामक द्वितीय प्रकरण कहा गया है। वैसे ही कोई अद्वैत के मिथ्यात्व का प्रसंग न लावे, इसलिये अद्वैततत्व में अनेक दृढतर युक्तियों के द्वारा सत्यत्व बतलाने के लिये अद्वैत नामक तृतीय प्रकरण कहा गया है, एवं अद्वैत तत्त्व के पारमार्थिकत्व के विरोधी जितने पक्ष हैं जो कि अवैदिक हैं, वे परस्पर विरोधी होने के कारण सभी मिथ्या हैं। इस प्रकार उन्हीं की युक्तियों द्वारा उनके मतों का खण्डन करने के लिये अलातशान्ति नामक चतुर्थ प्रकरण कहा गया है।

आ०टी०—नानेत्य[5]धिष्ठाननिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं द्वैतस्याभिदधद्वाक्यं वाचारम्भणवाक्यं च गृहीतम्। अस्या-र्थस्येति। द्वैतगताविद्याकृतत्वस्येत्यर्थः।

विषयप्रयोजनाद्य[6]नुबन्धोपन्यासमुखेनग्रन्थारम्भे स्थिते सत्यादौ प्रकरणचतुष्टयस्य प्रत्येकमसंकीर्णं प्रमेयं प्रति-पत्तिसौकर्यार्थं सूचयितव्यमित्याह—तत्र तावदिति। ओंकारप्रकरणस्यासंकीर्णं प्रमेयं संगृह्णाति—ओंकारेति। [7]तन्निर्णयाय प्रकरणमारब्धमित्युक्तम्। तन्निर्णये प्रमाणाभावात्तस्य चानुपयोगित्वात्। आत्मप्रतिपत्तिर्हि पुरुषार्थोप-योगिनीत्याशङ्क्याऽऽगमेत्यादिविशेषणद्वयम्। तदुपदेशप्रधानं माण्डूक्योपनिषद्व्याख्यानरूपम्। तेन[8] तत्र[9] प्रामाण्याद्युक्तो निर्णयः सेत्स्यति न त्विदं युक्तिप्रधानम्। युक्तिलेशस्य सतोऽपि गुणत्वादप्रधानत्वात्। न चायमोंकारनिर्णयो नोपयुज्यते। यदात्मनस्तत्त्वमनारोपितरूपं तत्प्रतिपत्तावुपायत्वात्। तत्प्रतिपत्तेश्च मुक्तिफलत्वात्। अतश्चाऽऽद्यं प्रकरणमोंकारनिर्णया-वान्तरफलद्वारेण तत्वज्ञाने परमफले पर्यवस्यतीत्युपदेशवशादधिगन्तव्यमित्यर्थः। वैतथ्यप्रकरणस्यावान्तरविषयविशेषं दर्शयति—यस्येति। आरोपितनिषेधे सत्यनारोपितप्रतिपत्तिः स्वाभाविकीत्यत्र दृष्टान्तमाह—रज्ज्वामिवेति। हेतुतो दृश्यत्वाद्यन्तवत्वादियुक्तिवशादित्यर्थः। अद्वैतप्रकरणस्यार्थविशेषमुपन्यस्यति—तथाऽद्वैतस्यापीति। तस्यापि द्वैतवद्व्यव-स्थानुपपत्त्या मिथ्यात्वप्रसङ्गः शङ्क्यते। तस्यां सत्यामौपाधिकभेदाद्व्यवस्थायाः सुस्थत्वादव्यभिचारादियुक्तिवशाद-द्वैतस्य परमार्थत्वं प्रतिपादयितुं तृतीयं प्रकरणमित्यर्थः। अलातशान्तिप्रकरणस्यार्थविशेषं कथयति—अद्वैतस्येति। तस्य तथात्वमबाधितत्वेन वस्तुत्वं तत्प्रतिपक्षत्वं पक्षान्तराणामित्यत्र हेतुमाह—अवैदिकानीति। तेषां निराकार्यत्वे हेतु-

---

१. ओङ्कारनिर्णयायेति—ओङ्कारस्वरूपनिश्चयायेत्यर्थः। २. प्रसङ्गप्राप्ताविति—प्राप्तिशङ्कायामितियावत्।
३. अतथार्थत्वेन—मिथ्यार्थत्वेन। ४. तदिति—वादान्तरीयेत्यर्थः।
५. अधिष्ठान सत्यत्वबोधाय वाक्यान्तरं समुच्चिनोतिवाचारम्भणमिति।
६. अनुबन्धेति—प्रवृत्तिप्रयोजकज्ञानविषयत्वमनुबन्धत्वम्। तच्चज्ञानं द्विविधम्—स्वेष्टसाधनत्वप्रकारकं स्वकृति साध्यत्वप्रकारकं चेति। ७. तन्निश्चयरूपप्रमाजनककरणाभावादित्यर्थः।
८. तेनेति—आगमशेषत्वेनेत्यर्थः, प्रथम प्रकरणस्यागमव्याख्यानतयाऽऽगमरूपत्वेनेति वार्थः।
९. तत्रेति—प्रथमप्रकरणस्य ओङ्कारनिर्णायकत्वेन ओङ्कारनिर्णये इत्यर्थः।

"आगमप्रकरणम्"

कथं पुनरोंकारनिर्णय आत्मतत्त्वप्रतिपत्त्युपायत्वं प्रतिपद्यत इति। उच्यते "ओमित्येतत्"। (क० १।२।१५) "एतदालम्बनम्।" (क० १।२।१७) "एतद्वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म यदोंकारः। तस्माद्विद्वानेतेनैवायतनेनैकतरमन्वेति" (प्र० ५।२) "ओमित्यात्मानं युञ्जीत"। (मैत्र्यु० ६।३) "ओमिति ब्रह्म"। (तै० १.६।१) ओंकार एवेदं सर्वम्" (छा० २।२३।३) इत्यादिश्रुतिभ्यः। रज्ज्वादिरिव सर्पादिविकल्पस्याऽऽस्पदोऽद्वय आत्मा परमार्थः सन्प्राणादिविकल्पस्याऽऽस्पदो यथा तथा सर्वोऽपि वाक्प्रपञ्चः प्राणाद्यात्मविकल्पविषय ओंकार एव।

स चाऽऽत्मस्वरूपमेव। तदभिधायकत्वात्। ओंकारविकारशब्दाभिधेयश्च सर्वः प्राणादिरात्मविकल्पोऽभिधानव्यतिरेकेण नास्ति।

"[1]वाचाऽऽरम्भणं विकारो [2]नामधेयम्" (छा० ६।१।४) "[3]तदस्येदं वाचा तन्त्या नामभिर्दामभिः सर्वं सितम्"। सर्वं हीदं नामनि" इत्यादिश्रुतिभ्यः।

पूर्वपक्षः—ओंकार स्वरूप का निर्णय आत्मतत्त्व प्राप्ति का उपाय है यह कैसे समझा जाय?

सि०:—सिद्धान्ती कहता है "ॐ यही वह पद है यह ओंकार आलम्बन ही श्रेष्ठ है। अर्थात् प्रतिमा में विष्णुदृष्टि के समान ब्रह्मदृष्टि से उपासना किया गया ओंकार ब्रह्म प्राप्ति का साधन है" "हे सत्यकाम! यह ओंकार ही पर-अपर ब्रह्मदृष्टि से उपासना करने योग्य है" "ओम् इस प्रकार आत्मा का ध्यान करे" (ऐसा करने पर बाध सामानाधिकरण्य रूप से—समाहितचित्त पुरुष को—ब्रह्म का बोध हो जाता है।) "ओम् यही ब्रह्म है" "यह सब ओंकार स्वरूप ही है" इत्यादि श्रुतियों से ओंकार को आत्मतत्त्व प्राप्ति का साधन माना है। जैसे सर्पादि विकल्पों का अधिष्ठान रज्ज्वादि हैं। ठीक वैसे ही प्राणादि समस्त विकल्पों का आश्रय परमार्थ सत्य होता हुआ भी अद्वितीय आत्माही अधिष्ठान है। एवं प्राणादि विकल्पों को बतलाने वाला संपूर्ण वाक् समूह ओंकार ही है और वह ओंकार आत्मा का शक्तिवृत्ति एवं लक्षणावृत्ति से बोधक होने के कारण आत्मस्वरूप ही है, तथा ओंकार के विकाररूप शब्द-विशेष के प्रतिपाद्य विषय आत्मा के विकल्परूप समस्त प्राणादि प्रपञ्च हैं। अतः वे भी अपने-अपने प्रतिपादन शब्द से अत्यन्त भिन्न नहीं हैं, जैसा कि कहा गया है; "समस्त कार्यजगत् विशेष-विशेष, शब्द रूप सूत्र द्वारा नाममयी रज्जु से व्याप्त है"। यह सब सामान्य विशेषरूप पदार्थ समुदाय नाममय ही तो हैं" इत्यादि श्रुतियों से यही सिद्ध होता है। अतः ओंकार को आत्मतत्त्व प्राप्ति का उपाय रूप से श्रुति भी कहती है।

माह—अतथार्थत्वेनेति। [4]मिथ्याद्वैतनिष्ठत्वेनेत्यर्थः। तदुपपत्तिभिरेव निराकरणे हेतुमाह—अन्योन्येति। पक्षान्तरप्रतिषेधमुखेनाद्वैतमेव द्रढयितुमन्त्यं प्रकरणमित्यर्थः।

ओंकारनिर्णयद्वारेणाऽऽत्मप्रतिपत्त्युपायभूतमाद्यं प्रकरणमित्युक्तम्। तन्निर्णयस्य तद्धी हेतुत्वायोगात्। न खल्वर्थान्तरज्ञानमर्थान्तरज्ञाने व्याप्तिमन्तरेणोपयुज्यते। [5]नचात्र धूमाग्न्योरिव व्याप्तिरुपलभ्यते। [6]न चाऽऽत्मकार्यत्वमोंकारस्य

---

१. वाचारम्भणमिति—विकारो घटादिकार्यवर्गो वाचारम्भणं वाचाऽऽरभ्यते व्यवह्रियते इति तथा—वाग्व्यवहारमात्रमेवेत्यर्थः। २. ननु विकारस्य वाग्व्यवहरणमात्रत्वे कथं सार्वलौकिको वाच्यवाचकभेदः इत्यत्राह—नामधेयम्। तद्भेदोऽपि नाममात्रमेव न वस्तुसदित्यर्थः। ३—तदस्येदमिति—यत्तदव्यवहित च तस्य वाक् तन्तिनीमानिदामानीति पूर्वं वाक्यं तस्य—प्राणस्य वाक् करणं तन्तिरिवतन्तिर्यथा—वत्सतन्तिर्लोके स्वात्मसम्बन्धिभिर्दामभिर्वत्सान् संग्रथ्नाति तथा वाक् तन्तिसमुत्थितानि हि नामानि—अभिधानानि दामानीवदामानि सर्वं हि जगदभिधेयरूपं नामभिः प्रकाश्यमानं बद्धमिव दामभिरिववत्सा इत्येतदर्थकं वेदितव्यम्। ४. मिथ्याद्वैतेत्यादि—बाधितार्थविषयकत्वेनेत्यर्थः। ५. अत्रेति—ओंकारनिर्णयस्यात्मप्रतिपत्तिहेतुत्वे इत्यर्थः। ६. न चेत्यादि—अत्रयुक्तमित्यतः प्राक्। इति युक्तं तस्यात्मप्रत्यायकत्वमितिशेषः।

युक्तम् । [1]आकाशादेरविशेषात् । [2]तस्य च सर्वात्मत्वेनाऽऽत्मवत्तत्कार्यत्वव्याघातादिति मन्वानः सन्प्रथमप्रकरणार्थं प्रागुक्तमाक्षिपति—कथमिति । न वयमनुमानावष्टम्भादोंकारनिर्णयमात्मप्रतिपत्त्युपायमभ्युपगच्छामो येन व्याप्त्यभावो दोषमावहेत् । किंतु श्रुतिप्रामाण्यात्तन्निर्णयस्तद्धीहेतुरिति परिहरति—उच्यत इति । तत्र [3]मृत्युना नचिकेतसं प्रत्योमित्येतदित्यनेन वाक्येन ब्रह्मत्वेनोमित्येतदुपदिष्टम् । समाहितेनोंकारोच्चारणे यच्चैतन्यस्फुरति तदोंकारसामीप्यादेव [4]शाखाचन्द्रन्यायेनोंकारशब्देन लक्ष्यते । तेन [5]लक्षणयोंकारनिर्णयो ब्रह्मधीहेतुरिति विवक्षित्वा श्रुतिमुदाहरति—ओमित्येतदि । प्रतिमायां विष्णुबुद्धिवदोंकारो ब्रह्मबुद्ध्योपास्यमानो ब्रह्मप्रतिपत्त्युपायो भवतीत्यभिप्रेत्य वाक्यान्तरं पठति—एतदालम्बनमिति । किं चायमोंकारो यदा परापरब्रह्मदृष्ट्योपास्यते तदा तज्ज्ञानोपायतामुपारोहतीतिमत्वा [6]पुनः श्रुतिं दर्शयति—एतद्वै (द्वा इ)ति । किंच [7]समाधिनिष्ठो यदोमित्युच्चार्याऽऽत्मानमनुसंधत्ते तदा स्थूलमकारमुकारे सूक्ष्मे तं च कारणे मकारे तमपि कार्यकारणातीते प्रत्यगात्मन्युपसंहृत्य तन्निष्ठो भवतीत्यनेन प्रकारेणोंकारस्य तत्प्रतिपत्त्युपायतेति विधान्तरेणाऽऽह—ओमित्यात्मानमिति । किंच योऽयं स्थाणुः स पुमानितिवद्यदेतदोमित्युच्यते तद्ब्रह्मेति [8]बाधायां सामानाधिकरण्येन समाहितो ब्रह्म बोध्यते । तथा च युक्तमोंकारस्य ब्रह्मज्ञानहेतुत्वमित्याह—ओमिति ब्रह्मेति । किं च सर्वास्पदत्वादोंकारस्य ब्रह्मणश्च तथात्वादेकलक्षणत्वादन्यत्वासिद्धेरोंकारप्रतिपत्तिर्ब्रह्मप्रतिपत्तिरेवेत्याह—ओंकार एवेति । ओमितीदं सर्वमित्यादिवाक्यान्तरसंग्रहार्थमादिपदमित्यादिश्रुतिभ्यो ब्रह्मप्रतिपत्त्युपायत्वमोंकारस्य प्रमितमिति शेषः । ननु स्वानुगतप्रतिभासे सन्मात्रे चिदात्मनि प्राणादिविकल्पस्य कल्पितत्वादात्मनः सर्वास्पदत्वं न पुनरोंकारस्य तदस्त्यननुगमादिति तत्राऽऽह—रज्ज्वादिरिवेति । यथा रज्जुः शुक्तिरित्यादिरधिष्ठानविशेषः सर्पो रजतमित्यादिविकल्पस्याऽऽस्पदोऽभ्युपगतस्तथाऽऽत्माद्वयत्वान्मिथ्यात्वहेत्वभावात्परमार्थसत्स्वभावो वक्ष्यमाणस्तस्य प्राणादिविकल्पस्याऽऽस्पदोऽभ्युपगम्यते । यथैष दृष्टान्तस्तथैव प्राणादिरात्मविकल्पो यस्तद्विषयः सर्वो वाक्प्रपञ्चो यथोक्तोंकारमात्रात्मकस्तदास्पदो गम्यते । न च जगत्योंकारस्याननुगमः । ओंकारेण सर्वा वाक्संतृण्णेति श्रुतेः । अतो युक्तमोंकारस्य सर्वास्पदत्वमित्यर्थः ।

नन्वर्थजातस्याऽऽत्मास्पदत्वादोंकारास्पदत्वाच्च वाक्प्रपञ्चस्य प्राप्तमास्पदद्वय [त्व] मिति नेत्याह—स चेति । आत्मवाचकत्वेऽपि नास्त्योंकारस्याऽऽत्ममात्रत्वं तद्वाचकस्य तन्मात्रत्वमिति व्याप्त्यभावात् । प्राणादेरात्मविकल्पस्याभिधानव्यतिरेकदर्शनादित्याशङ्क्याऽऽह—ओंकारेति । तस्य विकारः सर्वो वाग्विशेषः । अकारो वै सर्वा वागिति श्रुतेः । ओंकारस्य च तत्प्रधानत्वात् [9]तेन प्राणादिशब्देन वाच्यः प्राणादिरात्मविकल्पः सर्वः स्वाभिधानव्यतिरेकेण नास्ति । तच्चाभिधानं प्राणादिशब्दविशेषात्मकमोंकारविकारभूतमोंकारातिरेकेण न संभवतीत्योंकारमात्रं सर्वमिति निश्चीयते । आत्मनोऽपि तद्वाच्यस्य तन्मात्रत्वाभिधानादित्यर्थः । शब्दातिरिक्तार्थाभावे शब्दस्यार्थवाचकत्वानुपपत्तेरेकत्र विषयविषयित्वायोगान्निर्विकल्पं सन्मात्रं वस्तु वाच्यवाचकविभागशून्यं पर्यवस्यतीत्यभिप्रेत्य कार्यस्य वस्तुतोऽसत्त्वे प्रमाणमाह—वाचाऽऽरम्भणमिति । कार्यस्य सर्वस्यैवं मिथ्यात्वेऽपि कथमोंकारनिर्णयस्य ब्रह्मप्रतिपत्त्युपायत्वसिद्धिरित्याशङ्क्याऽऽह—तदस्येति ।

---

१. आकाशादेरविशेषादित्यत्र ओंकारस्येतिशेषः तथा च यथात्मकार्यत्वेऽपि आकाशादीनां नात्मप्रत्यायकत्वं तथा तस्यापि न तत्प्रत्यायकत्वमिति विधान्तरेण लापने भावान्तरम् । एवञ्चाकाशादिनिर्णयस्यापि आत्मप्रतिपत्त्युपायत्वापातेन तन्निर्णयस्यापि कर्तव्यत्वापातादिति भावः । आकाशादेरात्मकार्यत्वाविशेषपक्षेऽयम् ।

२. तस्येति—आत्मा ही सर्वात्मा स च नात्मकार्यम् । तद्वदोंकारोऽपि सर्वात्मा; अतः तस्यापि नात्मकार्यत्वमित्यर्थः ।
३. मृत्युवाक्ये विवक्षितमोंकारस्य ब्रह्मत्वं व्यनक्ति—समाहितेनेत्यादिना । यद्यपि वर्णान्तरोच्चारणेऽप्येतत्तुल्यं तथाऽप्योंकार एव तथात्वेन वेदाभिमत इत्यवधेयम् । ४. शाखाचन्द्रेति—यथा शाखायां चन्द्रः इत्यस्य शाखासमीपवर्तित्वोपलक्षिताकाशे चन्द्रः इत्यर्थस्तद्वत्, स्वसमीपत्वरूपेणोपलक्षणभूतेनोंकारशब्देनेत्यर्थः, ओंकारसामीप्यं हि चैतन्यसमीपवर्त्योंकार एवेति । ५. लक्षणयेति—सामीप्यसम्बन्धात्मिकयेत्यर्थः । ६. पुनः श्रुतिमिति—समानार्थं श्रुत्यन्तरमित्यर्थः । ७. समाधिनिष्ठः—समाहितचेताः इत्यर्थः । ८. बाधायामिति—आरोपित तादात्म्याभावो बाधात्तद्विषयकबोधजनकं यत्पदयोः सामानाधिकरण्यम्—समानविभक्तिकत्व तेनेत्यर्थः । अन्वयव्यतिरेकाभावपरिहारेणोंकारस्य ब्रह्ममात्रत्वं बोध्यत इति यावत्, ओंकारस्य ब्रह्मणि तादात्म्यरूपो योऽन्वयः संसर्गः तद्रूपो य ओंकारस्य ब्रह्मव्यतिरेकेणाभावस्तत्परिहारेण तस्याभावबोधनेनेत्यर्थः । ९. तेनेति—सर्वस्य वाक्प्रपञ्चस्योंकारमात्रात्मकत्वेनेत्यर्थः ।

(अथ माण्डूक्योपनिषत्)

हरिः ॐ। ओमित्येतदक्षरमिदꣳ सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद्भविष्यदिति सर्वमोंकार एव। यच्चान्यत्त्रिकालातीतं तदप्योंकार एव ॥१॥

['ॐ' ओम् यह अक्षर ही यह सब रूप है, भूत, वर्तमान और भविष्य ऐसे तीन काल में वर्तमान वस्तु तो उसी का स्पष्ट व्याख्यान है। अतः यह सब ओंकार स्वरूप ही है। इसके अतिरिक्त त्रिकालातीत जो अन्य वस्तु हैं वे भी ओंकार स्वरूप ही हैं ॥१॥]

[1]अत [2]आह—

ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वमिति। यदिदमर्थजातमभिधेयभूतं तस्याभिधानाव्यतिरेकात्। अभिधानस्य चोंकाराव्यतिरेकादोंकार एवेदं सर्वम्। परं च ब्रह्माभिधानाभिधेयोपायपूर्वकमेव गम्यत इत्योंकार एव। तस्यैतस्य परापरब्रह्मरूपस्याक्षरस्योमित्येतस्योपव्याख्यानम्। ब्रह्मप्रतिपत्त्युपायत्वाद् [3]ब्रह्मसमीपतया विस्पष्टं प्रकथनमुपव्याख्यानं प्रस्तुतं वेदितव्यमिति वाक्यशेषः। भूतं भवद्भविष्यदिति कालत्रयपरिच्छेद्यं यत्तदप्योंकार एवोक्तन्यायतः। यच्चान्यत्त्रिकालातीतं कार्याधिगम्यं कालापरिच्छेद्यमव्याकृतादि तदप्योंकार एव ॥१॥

ॐ यह अक्षर ही यह सब कुछ है, क्योंकि यह जो कुछ वाच्यरूप पदार्थ समूह है वह अपने वाचक से अभिन्न है और सम्पूर्ण अभिधान रूप भी ओंकार से अभिन्न होने के कारण ओंकार स्वरूप ही है। इसलिये वाच्य वाचक सम्पूर्ण कार्य समूह ओंकार ही है, किंबहुना परब्रह्म भी वाच्य-वाचकरूप उपाय से ही जाना जाता है। अतः वह भी ओंकार स्वरूप ही है। इस प्रकार यह जो पर एवं अपर ब्रह्मस्वरूप "ओम्" अक्षर है उसी का उपव्याख्यान किया जाता है। क्योंकि यह ब्रह्म की प्राप्ति का साधन होने से अत्यन्त निकटवर्ती रूपसे विस्पष्ट कथन करता है। अतः उसी का उपव्याख्यान "प्रस्तुतं वेदितव्यम्" (प्रस्तुत जानना चाहिये) ऐसा यहाँ वाक्य शेष है।

भूत, वर्तमान तथा भविष्यत् इन तीनों कालों से परिच्छिन्न जो कुछ वस्तु है, वह भी पूर्वोक्त न्यायानुसार ओंकार ही है। इसके अतिरिक्त जो त्रिकालातीत अपने कार्य से जानने योग्य एवं काल परिच्छेद से शून्य अव्याकृत और हिरण्यगर्भादि है, वह ओंकार ही है ॥१॥

तदिदं विकारजातमस्य [4]ब्रह्मणः सम्बन्धि वाचा [5]सामान्यरूपया तन्त्या प्रसारितरज्जुतुल्यया सितं बद्धं व्याप्तमिति सम्बन्धः। शब्दसामान्येनार्थसामान्यस्य व्याप्तावपि कथमर्थविशेषस्य शब्दविशेषव्याप्तिरित्याशङ्क्याऽऽह—नामभिरिति। शब्दविशेषैर्दामभिर्दामस्थानीयैर्विशेषरूपमपीदमर्थजातं व्याप्तं वक्तव्यं [6]न्यायस्य तुल्यत्वादित्यर्थः। उक्तमर्थं समर्थयते—सर्वं हीति। इदं हि सर्वं सामान्यविशेषात्मकमर्थजातं सामान्यविशेषरूपेण नाम्ना नीयते व्यवहारपथं प्राप्यते तेन नामनीत्युच्यते। तदेवं वागनुरक्तबुद्धिबोध्यत्वाद्वाङ्मात्रं सर्वं वाग्जातं च सर्वं [7]मोंकारानुविद्धत्वादोंकारमात्रम्। स चोंकारो [8]लक्षणादिनाऽऽत्मधीहेतुरित्याद्यप्रकरणारम्भः संभवतीत्यर्थः। तद्यथा [9]शङ्कुनेतिश्रुतिसंग्रहार्थमादिपदं प्रतिज्ञातप्रथमप्रकरणार्थसिद्धिरिति शेषः।

---

१. अतः—यथोक्तनीत्योंकारस्यात्मप्रतिपत्त्युपायत्वात्। २. आह—तं निर्णयतीतियावत्।

३. ब्रह्मसमीपतयेति—ओंकारस्य ब्रह्मसामीप्यं तु ब्रह्मप्रतिपत्त्यव्यवहितपूर्वप्रतिपत्तिविषयत्वरूपम्—अभिधानप्रतिपत्तिपूर्वकत्त्वादभिधेयप्रतिपत्तेः। ओंकारो हि ब्रह्माभिधानं तदभिधेयं च ब्रह्मेति। ४. ब्रह्मणः सम्बन्धीति—तत्र कल्पितत्वेन तत्तादात्म्यसम्बन्धवदित्यर्थः, तत्र कल्पितमिति यावत्। ५. सामान्यरूपेति—शब्दत्वावच्छिन्नरूपया प्रणवरूपयावेत्यर्थः। ६. न्यायस्येति—घटादिशब्दविशेषाः स्वार्थव्याप्ताः शब्दत्वात् सामान्यशब्दवदित्याकारकस्येत्यर्थः। ७. ओंकारानुविद्धत्वादिति—तत्तादात्म्यापन्नत्वादित्यर्थः। ८. लक्षणादिनेत्यादिना पूर्वोक्तोपासनालयचिन्तने गृह्येते। ९. शङ्कुनेति—सर्वाणिपर्णानि संतृण्णानीति श्रुति शेषः—तद्वदोंकारेण सर्वावाक् संतृण्णेत्यनुसंधेयम्।

सर्वं ह्येतद्ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म सोऽयमात्मा चतुष्पात् ॥२॥

[(जिन्हें ओंकारमात्र कहा गया है) यह सब ब्रह्म ही है, यह अपरोक्ष आत्मा ही ब्रह्म है, वही यह आत्मा चार पादों वाला है ॥२॥]

अभिधानाभिधेययोरेकत्वेपि [1]अभिधानप्राधान्येन निर्देशः कृतः। [2]ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वमित्याभिधानप्राधान्येन [3]निर्दिष्टस्य पुनर् [4]अभिधेयप्राधान्येन निर्देशोऽभिधानाभिधेययोरेकत्वप्रतिपत्त्यर्थः। इतरथा ह्यभिधानतन्त्राऽभिधेयप्रतिपत्तिरित्यभिधेयस्याभिधानत्वं [5]गौणमित्याशङ्का स्यात्। एकत्वप्रतिपत्तेश्च प्रयोजनमभिधानाभिधेययोरेकेनैव प्रयत्नेन युगपत्प्रविलापयंस्तद्विलक्षणं ब्रह्म प्रतिपद्येतेति। तथा च वक्ष्यति—"पादा मात्रा मात्राश्च पादाः" (मा० ८) इति। तदाह—

सर्वं ह्येतद् ब्रह्मेति। सर्वं यदुक्तमोंकारमात्रमिति तदेतद् ब्रह्म। तच्च ब्रह्म परोक्षाभिहितं प्रत्यक्षतो विशेषेण निर्दिशति—अयमात्मा ब्रह्मेति। अयमिति चतुष्पात्त्वेन प्रविभज्यमानं प्रत्यगात्मतयाऽभिनयेन निर्दिशति—अयमात्मेति। सोऽयमात्मोंकाराभिधेयः परापरत्वेन व्यवस्थितश्चतुष्पात्कार्षापणवन्न गौरिवेति। त्रयाणां विश्वादीनां पूर्वपूर्वप्रविलापनेन तुरीयस्य प्रतिपत्तिरिति करणसाधनः पादशब्दः। तुरीयस्य पद्यत इति कर्मसाधनः पादशब्दः।

ओंकार वाच्य ब्रह्म को सर्वरूपता

वाचक और वाच्य का अभेद होने पर भी उक्तमन्त्र में वाचक की प्रधानता से "ॐ यह अक्षर ही सब कुछ है" इत्यादि रूप से निर्देश किया गया है। वाचक की प्रधानता से बतलायी गयी वस्तु का पुनः वाच्य की प्रधानता से बतलाना इसलिये आवश्यक है कि वाचक और वाच्य का अभेद बोध हो जावे। अन्यथा वाचक के अधीन वाच्य का बोध मात्र करानें से वाच्य का वाचक रूप होना गौण है। ऐसी आशंका हो सकती थी ? इस प्रकार वाच्य और वाचक के अभेद बोध से एक प्रयत्न द्वारा ही दोनों का लय चिन्तन करते हुए इनसे विलक्षण ब्रह्म का बोध हो जाये, यह प्रयोजन अनायास ही सिद्ध हो जायेगा। ऐसा ही "पाद ही मात्राएँ और मात्राएँ ही पाद हैं" यह श्रुति आगे बतलायेगी। इसी बात को अब श्रुति स्वयं कहती है।

यह सब ब्रह्म ही है अर्थात् जिसे ओंकार मात्र कहा गया है, यह सब कुछ ब्रह्म ही है। जिसे अबतक परोक्ष रूपसे कहा गया था, उसी ब्रह्मका विशेष रूप से प्रत्यक्ष निर्देश इस श्रुति में "यह आत्मा ब्रह्म है ऐसा कहकर करते हैं। इस मन्त्र में "अयम्" इस शब्द से चतुष्पाद रूप में विभक्त किये जाने वाले आत्मा को ही अभिनय के द्वारा "अयमात्मा ब्रह्म" ऐसा कहते हुए बतलाते हैं। पर और अपर ब्रह्मरूप से व्यवस्थित ओंकार पद वाच्य वह यह आत्मा कार्षापण के समान चार पाद वाला है न कि गौ के समान, अर्थात् किसी देश में प्रचलित सोलह पण वाले कार्षापण में जैसे चार अंश काल्पनिक हैं, वैसे ही आत्मा के चार पाद हैं। आत्मा के चार पाद गौ के चार पैर के समान नहीं हैं। विश्व तैजस तथा प्राज्ञ, इन तीनों पादों में से पूर्व-पूर्व के प्रविलय के द्वारा अन्त में तुरीय ब्रह्मात्मा का बोध होता है। इसीलिये विश्वादि तीन पादों में पादशब्द करणरूप से, अर्थात् पद्यते अनेन इति पादः इस प्रकार विग्रह करने पर पाद शब्द बनता है। ऐसे पाद शब्द को करण वाच्य और

---

१. अभिधानप्राधान्येनेति—तस्य च तत्त्वमभिधेयान्तर्भावयितृत्वम्। निर्देशः सदेकरूपत्वस्येत्यवधेयम्। २. ओमित्येतदिति—तत्र ह्यभिधेयानामोंकाराभेदः स्वस्वाभिधानाभेदद्वारक एवेत्युक्तमिति भावः। ३. निर्दिष्टस्यैक्यस्येतिशेषः। ४. अभिधेयप्राधान्येनेति—अभिधेयेन ब्रह्मणाऽभेदोऽभिधानानां स्वस्वाभिधेयाभेदद्वारक एव 'सर्वं ह्येतद्ब्रह्म' त्यत्र विवक्षित इति भावः। ५. गौणमिति—न हि रूपचाक्षुषाधीनचाक्षुषकस्य द्रव्यस्य रूपाभेदो मुख्यः प्रसिद्ध इति भावः। नहि वा सुखेच्छाधीनेच्छाविषयस्य धर्मादेर्मुख्यं सुखत्वमिति च।

तुरीय आत्मा में पद्यते गम्यते इति पादः, इस व्युत्पत्ति से पाद शब्द कर्म वाच्य प्रयुक्त हुआ है ॥२॥

[1]अर्थमुपपाद्य तस्मिन्नर्थे श्रुतिमवतारयति—अत आहेति। श्रुतिं व्याचष्टे—यदिदमिति। तदिदं सर्वमोंकार एवेति सम्बन्धः। अभिधानस्य [2]अभिधेयतया व्यवस्थितमर्थजातमोंकार एवेत्यत्र [3]हेतुमाह—तस्येति। तथाऽपि पृथगभिधानभेदः स्यास्यतीति नेत्याह—अभिधानस्येति। वाच्यं वाचकं च सर्वमोंकारमात्रमित्यभ्युपगमेऽपि परं ब्रह्म पृथगेव स्यास्यतीत्याशङ्क्याऽऽह—परं चेति। यद्धि परं कारणं ब्रह्म तच्चेदवगम्यते तदा किंचिदभिधानं तेनेदमभिधेयमित्येवमात्मकोपायपूर्वकमेव तदधिगमोऽभिधेयं च स्वाभिधानाव्यतिरिक्तं तत्पुनरोंकारमात्रमित्युक्तत्वाद्वाच्यं ब्रह्मापि वाचकाभिन्नं तन्मात्रमेव भविष्यति यत्र तु कार्यकारणातीते चिन्मात्रे वाच्यवाचकविभागो व्यावर्तते [4]तत्र नास्त्योंकारमात्रत्वमोंकारेण [5]लक्षणया तदवगमाङ्गीकारादित्यर्थः। तस्येत्यादिश्रुतिमवतार्य व्याकरोति—तस्येति। भूतमित्यादिश्रुतिं गृहीत्वा व्याचष्टे—कालेति। वाच्यस्य वाचकाभेदात्तस्य चोंकारमात्रत्वमित्युक्तो न्यायः। कालत्रयातीतमोंकारातिरिक्तं जडं वस्तु नास्त्येवं प्रमाणाभावादित्याशङ्क्याऽऽह—कार्याधिगम्यमिति। [6]अव्याकृतं साभासमज्ञानमनिर्वाच्यं तच्च कालेन परिच्छिद्यते कालं प्रत्यपि कारणत्वात्कार्यस्य कारणात्पश्चाद्भाविनो न प्रागभाविकारणपरिच्छेदकत्वं संगच्छते। [7]सूत्रमादिपदेन गृह्यते तदपि न त्रिकालेन परिच्छेत्तुं शक्यते। स संवत्सरोऽभवन्न ह पुरा ततः संवत्सर आसेति सूत्रात्कालोत्पत्तिश्रुतेः। तदपि सर्वमोंकारमात्रं वाच्यस्य वाचकाव्यतिरेकन्यायादित्यर्थः ॥१॥

अभिधानाभिधेययोः[8]एकस्मिन्नेव सति कल्पितत्वे तदेकरूपत्वस्योक्तत्वात्किमिति पुनः सर्वं ह्येतद् ब्रह्मेत्युच्यते। तत्र वृत्तानुवादपूर्वकमुत्तरवाक्यस्य [9]सफलं तात्पर्यमाह—अभिधानेत्यादिना। वाच्यस्य वाचकत्वोक्त्यैव तयोरेकत्वसिद्धे [10]र्व्यतिहारनिर्देशो वृथेत्याशङ्क्याऽऽह—इतरथेति। वाच्येन वाचकस्यैक्यमनुक्त्वा वाचकेनैव वाच्यस्यैक्यवचने सत्युपायोपेययुक्तनैकत्वं न मुख्यमैक्यमित्याशङ्क्येत, तन्निवृत्त्यर्थं व्यतिहारवचनमर्थवदित्यर्थः। परस्पराभेदोपदेशादभिधानाभिधेययोरेकत्वप्रतिपत्तिस्तु साऽपि विफला ब्रह्मप्रतिपत्त्यनुपयोगित्वादित्याशङ्क्याऽऽह—एकत्वेति। अभिधानाभिधेययोरेकत्वप्रतिपत्तेश्चेदं प्रयोजनं यदेकेनैव प्रयत्नेन द्वयमपि विलापयन्नुभयविलक्षणं ब्रह्म प्रतिपद्य निर्वृणोतीति योजना। अभिधानाभिधेययोर्व्यतिहारोपदेशे वाक्यशेषमनुकूलयति—तथा चेति। उक्ते वाचकस्य वाच्याभिन्नत्वे वाक्यमवतार्य योजयति—सदाहेति। सर्वं कार्यं कारणं चेत्यर्थः। ब्रह्मणः श्रुत्युपदिष्टस्य परोक्षत्वं व्यावर्तयति—तच्चेति। यद्ब्रह्म श्रुत्या सर्वात्मकमुक्तं तच्च परोक्षमिति मन्तव्यं किन्त्वयमात्मेति योजना। चतुष्पात्त्वेन विश्वतैजसप्राज्ञतुरीयत्वेनेत्यर्थः। अभिनयो नाम 'विवक्षितार्थप्रतिपत्त्यर्थमसाधारणः शारीरो व्यापारः' तेन 'हस्ताग्रं हृदयदेशमानीय कथयति इत्यर्थः। सोऽयमित्यादिवाक्यान्तरमवतार्य व्याकरोति—ओंकारेति। सर्वाधिष्ठानतया परोक्षरूपेण परत्वं प्रत्यग्रूपेण चापरत्वं तेन कार्यकारणरूपेण सर्वात्मना व्यवस्थितः स आत्मा प्रतिपत्तिसौकर्यार्थं चतुष्पात्कल्प्यते तत्र दृष्टान्तमाह—कार्षापणवदिति। देशविशेषे कार्षापणशब्दः षोडशपणानां संज्ञा। तत्र यथा व्यवहारार्थं तुरीय पादकल्पना क्रियते तथेहापीत्यर्थः। यथा गौश्चतुष्पादुच्यते न तथा चतुष्पादात्मेति शक्यते निष्फलश्रुतिविरोधापातादित्याह—न गौरिवेति॥२॥

---

१. अर्थमिति—ओंकार निर्णयेनाद्यप्रकरणस्यात्मप्रतिपत्त्युपायस्वरूपमर्थमित्यर्थः। २. अभिधेयमात्रस्योंकाराभेदे मिथोऽप्यभेदापत्तेः कम्बुग्रीवादिमानेव घटपदाभिधेयो नान्यः इत्येवमभिधेयव्यवस्थान स्यादित्याशयेनाविशिनष्टि—व्यवस्थितमिति। नियतमित्यर्थः। ३. हेतुमाहेति—अभिधानात्मनैवाभिधेयस्योंकारात्मत्वं विवक्ष्यते नत्वभिधेयत्वेन, येन व्यवस्थाविघटेतेतिभावः। ४. तत्र नास्तीति—प्रमात्रश्रुतुर्थोऽव्यवहार्य इति श्रुत्यैवान्ते वक्ष्यमाणत्वादिति भावः। ५. तत्र युक्तिमाह—लक्षणयेति। लक्षकपदानुरक्तबुद्धिबोध्यत्वाभावान्न लक्ष्यस्य लक्षकपदाभेदः इति भावः। ६. अव्याकृतम्—ईश्वरोपाधिः। ७—सूत्रम्—हिरण्यगर्भोपाधिः। ८. एकस्मिन्नेव सतिकल्पितत्वेन तदेकरूपत्वस्योक्तत्वादिति, अनेन पूर्ववाक्ये न वर्णभेद एव विवक्षितोऽफलत्वादिति ध्वनयति। ९. सफलं तात्पर्यमिति—तत्रनिर्देशभेदः फलं मुख्यैकविषयञ्च तात्पर्यमिति भावः। १०. व्यतिहारेति—अभिधानप्राधान्येन निर्दिष्टस्य पुनरभिधेयप्राधान्येन निर्देश एवात्रव्यतिहारनिर्देश इति भावः। ननु पूर्वत्रवाक्ये सर्वस्मिन्नोंकाराभेद उक्तः, उत्तरस्मिंश्च ब्रह्मणि सर्वाभेद उच्यत इति व्यतिहारनिर्देशासिद्धिरिति चेन्न, ब्रह्मण्यभिधेयस्याभेदे उक्ते ओंकारेऽपि तदभेदस्य तदभिन्नस्य तदभिन्नाभिन्नत्वमिति नियमसिद्धत्वात्। ओंकारस्य ब्रह्मविवर्ततयाऽभिधेयाभिन्नब्रह्माभिन्नत्वेनाऽभिधेयाभिन्नत्वसंभवादिति भावः।

जागरितस्थानो बहिष्प्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः स्थूलभुग्वैश्वानरः प्रथमः पादः ॥३॥

[जिसकी अभिव्यक्ति का स्थान जाग्रद् अवस्था है (बाह्य विषयों का प्रकाशक होने से) जो बहिष्प्रज्ञ है, सात अंगवाला, उन्नीस मुखवाला तथा स्थूल विषयों का उपभोक्ता है, वह वैश्वानर आत्मा का पहला पाद है ॥३॥] "कथं चतुष्पात्त्वमित्याह—"

जागरितं स्थानमस्येति जागरितस्थानः। बहिष्प्रज्ञः स्वात्मव्यतिरिक्ते विषये प्रज्ञा यस्य स बहिष्प्रज्ञो बहिर्विषयेव प्रज्ञाऽविद्याकृताऽवभासत इत्यर्थः। तथा सप्ताङ्गान्यस्य "तस्य ह वा एतस्याऽऽत्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाश्चक्षुर्विश्वरूपः प्राणः पृथग्वर्त्मात्मा सन्देहो बहुलो बस्तिरेव रयिः पृथिव्येव पादौ" (छा० ५।१८।२) इति [1]अग्निहोत्रकल्पनाशेषत्वेनाऽऽहवनीयोऽग्निरस्य मुखत्वेनोक्त इत्येवं सप्ताङ्गानि यस्य स सप्ताङ्गः। तथैकोनविंशतिर्मुखान्यस्य बुद्धीन्द्रियाणि कर्मेन्द्रियाणि च दश वायवश्च प्राणादयः पञ्च मनो बुद्धिरहंकारश्चित्तमिति मुखानीव मुखानि तान्युपलब्धिद्वाराणीत्यर्थः। स एवंविशिष्टो वैश्वानरो यथोक्तैर्द्वारैः शब्दादीन्स्थूलान्विषयान्भुङ्क्त इति स्थूलभुक्। विश्वेषां नराणामनेकधा नयनात् [2]वैश्वानरः। ([3]यद्वा विश्वश्चासौ नरश्चेति विश्वानरो) विश्वानर एव वा वैश्वानरः। सर्वपिण्डात्मानन्यत्वात्स प्रथमः पादः। एतत्पूर्वकत्वादुत्तरपादाधिगमस्य प्राथम्यमस्य।

निरवयव आत्मा में चार पाद किसप्रकार हो सकते हैं। इसका उत्तर मन्त्र में दिया गया है। जाग्रदवस्था जिसका उपलब्धि स्थान है, उसे जागरित स्थान कहते हैं, अपने से भिन्न बाह्य विषयों में जिसकी प्रज्ञा हो, उसे बहिष्प्रज्ञ कहते हैं। अर्थात् जो मानो अविद्याकृत बाह्य विषयों से सम्बन्ध रखने वाली बुद्धि वाला प्रतीत होता है, वैसे ही सात उसके अंग हैं, "उस इस वैश्वानर आत्मा का द्युलोक शिर है। अत्यन्त तेजस्वी सूर्य उसका नेत्र है। विश्वरूप वायु उसका प्राण है। आकाश उसका धड़ है। अन्नका कारण जल ही मूत्र स्थान है और पृथिवी उसके पैर हैं" इस श्रुति में अग्निहोत्र कल्पना के शेष रूप से आहवनीय अग्नि इसका मुख रूप से बतलाया गया है। इस प्रकार सात अंग जिसके हैं, उस वैश्वानर आत्मा को सप्तांग कहते हैं। एवं उन्नीस उसके मुख हैं, अर्थात् ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ ये मिलकर दस, प्राणापानादि पाँच आध्यात्मिक वायु प्राण हैं तथा मन बुद्धि अहंकार और चित्त, ये जिसके मुख के समान बाह्यविषयों के उपलब्धि के साधन हैं। इसीलिये इसे उन्नीस मुख वाला कहा गया है। ऐसे विशेषण से विशिष्ट वह वैश्वानर आत्मा पूर्वोक्त साधनों से शब्दादि स्थूल विषयों का भोग यानी अनुभव करता है। इसीलिये वह स्थूल-भुक् कहा गया है। सम्पूर्ण नरों को अनेक प्रकार की योनियों में ले जाने के कारण यह वैश्वानर कहा गया है। अथवा वह सभी नरों से तादात्म्य भाव रखता हुआ सर्वनरस्वरूप है, इसलिये विश्वानर है और स्वार्थ में तद्धित अण् प्रत्यय कर देने पर विश्वानरही वैश्वानर है। सभी देहों से अभिन्न होने के कारण वह आत्मा का पहला पाद है। इसके बाद ही तैजस आदि आगे के पादों का बोध हो सकता है। अतः यह पादों में प्रथम माना गया है।

---

१. अग्निहोत्रकल्पनाशेषत्वेनेत्यादि—अग्निहोतृभिर्निरन्तरं रक्षणीयोऽग्निर्गार्हपत्य अन्वाहार्यपचनो दक्षिणाग्नि अन्वाहार्यमोदनविशेषः, पच्यतेऽस्मिन्निति व्युत्पत्तेः। स च दक्षिणकुण्डे तिष्ठति, होमकाले होमार्थं गार्हपत्यादुद्धृत्य हवनकुण्डे प्रज्वाल्यते यः स आहवणीय इति विवेकः। उर एव वेदिर्लोमानि बर्हिर्हृदयं गार्हपत्यो मनोऽन्वाहार्यपचन, आस्यमाहवणीय इति श्रुतिशेषः। २. वैश्वानर इति—विश्वे च ते नरो नरशब्दवाच्याः स्थूलदेहास्तेषामयमधिष्ठाता अत्र पक्षे च तस्येदमित्यणन्तो वैश्वानरशब्दो बोध्यः। पूर्वपदस्य दैर्घ्यं 'नरे संज्ञायामिति'। ३. यद्वेत्यारभ्यविश्वानर इति यावत्—विश्वश्चासौ नरश्चेति विश्वानर इतीयान् पाठो लिखितपुस्तके नास्ति टीकापर्यालोचनाच्चायं प्रामादिक एवावगम्यत इति कुण्डलितः।

कथमयमात्मा ब्रह्मेति प्रत्यगात्मनोऽस्य चतुष्पात्त्वे प्रकृते द्युलोकादीनां मूर्धाद्यङ्गत्वमिति। नैष दोषः। सर्वस्य प्रपञ्चस्य साधिदैविकस्यानेनाऽऽत्मनश्चतुष्पात्त्वस्य विवक्षितत्वात्।

"पूर्व०—"अयमात्मा ब्रह्म" इस श्रुति में इस प्रत्यगात्मा के चार पाद बतलाने का प्रसंग था, फिर भला इस आत्मा के चतुष्पाद प्रसंगमें द्युलोकादिको इसके मूर्धादि अंगरूप से कैसे बतलाने लग गये?

विश्वादिषु तुर्यान्तेषु पादशब्दो यदि करणव्युत्पत्तिकस्तदा विश्वादिवत्तुर्यस्यापि करणकोटिनिवेशे ज्ञेयासिद्धिः। यदि तु पादशब्दः सर्वत्र कर्मव्युत्पत्तिकस्तदा साधनासिद्धिरित्याशङ्क्य विभज्य पादशब्दप्रवृत्तिं प्रकटयति—त्रयाणामित्यादिना। करणसाधनः करणव्युत्पत्तिकः कर्मसाधनः कर्मव्युत्पत्तिक इति यावत् ॥२॥

आत्मनो [1]निरवयवस्य पादद्वयमपि नोपपद्यते पादचतुष्टयं तु [2]दूरोत्सारितमिति शङ्कते—कथमिति। परमार्थतश्चतुष्पात्त्वाभावेऽपि काल्पनिकं [3]उपायोपेयभूतं पादचतुष्टयमविरुद्धमित्यभिप्रेत्याऽऽद्यं पादं व्युत्पादयति—आहेत्यादिना स्थानमस्येत्यभिमानस्य विषयभूतमित्यर्थः। प्रज्ञायास्तावदान्तरत्वप्रसिद्धेरयुक्तमिदं विशेषणमित्याशङ्क्य व्याचष्टे— [4]बहिरिति। चैतन्यलक्षणा प्रज्ञा स्वरूपभूता न बाह्ये विषये [5]प्रतिभासते तस्या विषय; [6]अनपेक्षत्वात्। बाह्यस्य च विषयस्य वस्तुतोऽभावादित्याशङ्क्याऽऽह—बहिर्विषयेवेति। न स्वरूपप्रज्ञा वस्तुतो बाह्यविषयेष्यते बुद्धिवृत्तिरूपा त्वसावज्ञानकल्पिता तद्विषया भवति। न च साऽपि वस्तुतस्तद्विषयतामनुभवति। वस्तुतः स्वयमभावाद्बाह्यस्य विषयस्य काल्पनिकत्वात् [7]अतस्तद्विषयत्वं प्रातिभासिकमित्यर्थः पूर्वेण विशेषणेन विशेषणानतरं समुच्चिनोति—तथेति। सप्ताङ्गत्वं श्रुत्यवष्टम्भेन विश्वस्य विशदयति—तस्येत्यादिना। प्रकृतस्य संनिहितप्रसिद्धस्यैवाऽऽत्मनस्त्रैलोक्यात्मकस्य वक्ष्यमाणरीत्या वैश्वानरशब्दितस्य सुतेजस्त्वगुणविशिष्टो द्युलोको मूर्धैवेति द्युलोकस्य शिरस्त्वमुपदिश्यते। विश्वरूपो नानाविधः श्वेतपीतादिगुणात्मनः सूर्यश्चक्षुर्विवक्ष्यते। पृथङ्नानाविधं वर्त्म संचरणमात्मा स्वभावोऽस्येति व्युत्पत्त्या वायुस्तथोच्यते। स च प्राणस्तस्येति सम्बन्धः। बहुलो विस्तीर्णगुणवानाकाशः सन्देहो देहस्य मध्यमो भागो [8]रयिरन्नं तद्धेतुरुदकं बस्तिरस्य मूत्रस्थानं पृथिव्येव प्रतिष्ठात्वगुणा वैश्वानरस्य पादौ तद्यद्भक्तं प्रथममागच्छेत्तद्धोमीयमित्यग्निहोत्रकल्पना श्रुता। तस्याः शेषत्वेना[9]ऽऽहवनीयोऽग्निरस्य मुखत्वेनोक्त इति योजना। उक्तं सप्ताङ्गत्वमुपसंहरति—इत्येवमिति। विशेषणान्तरं समुच्चिनोति—तथेति। बुद्ध्यर्थानीन्द्रियाणि श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणानि। कर्मार्थानीन्द्रियाणि वाक्पाणिपादपायूपस्थानि। तान्येतानि द्विविधानीन्द्रियाणि दश भवन्ति। प्राणादय इत्यादिशब्देनापानव्यानोदानसमाना गृह्यन्ते। उपलब्धिद्वाराणीत्युपलब्धिपदं कर्मोपलक्षणार्थम्। द्वारत्वं करणत्वम्। तत्र बुद्धीन्द्रियाणां मनसो बुद्धेश्च प्रसिद्धमुपलब्धौ करणत्वम्। कर्मेन्द्रियाणां तु वदनादौ कर्मणि करणत्वम्। प्राणादीनां पुनरुभयत्र पारम्पर्येण करणत्वम्। तेषु सत्स्वेव ज्ञानकर्मणोरुत्पत्तेः। असत्सु चानुत्पत्तेः। मनोबुद्ध्योश्च सर्वत्र साधारणं करणत्वमहंकारस्यापि प्राणादिवदेव करणत्वं मन्तव्यं चित्तस्य [10]चैतन्याभासोदये करणत्वमुक्तमिति विवेक्तव्यम्। पूर्वोक्तैर्विशेषणैर्विशिष्टस्य वैश्वानरस्य स्थूलभुगिति विशेषणान्तरम्। तद्विभजते—स एवंविष्ट इति। [11]शब्दादि-

---

१. निरवयवत्वश्रुतिविरोधाशङ्कामवतारयति—आत्मन इत्यादि।

२. दूरोत्सारितमिति—संभावनापथातीतमित्यर्थः। ३. उपायेत्यादि—तत्रपादत्रयमुपायभूतं तुरीयं चोपेयभूतमिति भावः। ४. बहिरिति—तादात्म्येनान्तरत्वेऽपि विषयतया बाह्यत्वमविरुद्धमिति भाव इति शेषः। ५. प्रतिभासतां नामबहिर्जडाप्रज्ञेति सामान्योक्त्यात्वजडापि किं तथा, यदि च तथा, कथमिति रेको भवतीत्याह—चैतन्येति ६. अनपेक्षत्वादिति—जनकविषयेत्यर्थः। वृत्तिरूपप्रज्ञायास्तु तद्विषया तदपेक्षत्वेऽपीतिशेषः। ७. अत इति—बुद्धेस्तद्विषयस्य च वस्तुतोऽभावादित्यर्थः। ८. अन्नमिति—लक्षणयेतिशेषः। ९. आहवणीयोऽग्निरस्य—विराजोमुखत्वेनोक्तः। अध्यात्मं तु मुखमेवाहवणीयोऽग्निरिति विभावनीयम्। १०. चैतन्याभासोदय इति—स्मरणात्मकचैतन्याभासोदय इत्यर्थः। संस्कारजन्यवृत्तौ चिदाभासस्यैवस्मरणत्वात्। ११. शब्दादीनामिन्द्रियग्राह्यत्वगुणप्रयुक्तं गौणंस्थूलत्वमित्याशयेनाह—शब्दादिविषयाणामित्यादि। स्वाप्नविषयाणामपि श्रोत्रादिग्राह्यत्वं प्रतिभासत इत्यत आह—दिगादिदेवतानुगृहीतैरिति। देवतानुग्रहस्य शास्त्रैकगम्यत्वाच्छास्त्रस्य च प्रातिभासिकाविषयत्वान्न तत्रातिव्याप्तिरिति भावः।

एवं च सति सर्वप्रपञ्चोपशमेऽद्वैतसिद्धिः। सर्वभूतस्थश्चाऽऽत्मैको दृष्टः स्यात्। सर्वभूतानि चाऽऽत्मनि। यस्तु सर्वाणि भूतानीत्यादिश्रुत्यर्थः उपसंहृतश्चैवं स्यात्। अन्यथा हि स्वदेहपरिच्छिन्न [1]एव प्रत्यगात्मा सांख्यादिभिरिव दृष्टः स्यात्तथा च सत्यद्वैतमिति श्रुतिकृतो विशेषो न स्यात्। सांख्यादिदर्शनेनाविशेषात्।

सि०:—यह दोष नहीं है। अधिदैव के सहित सम्पूर्ण प्रपंच के चतुष्पात्त्व का बतलाना इसी आत्मा के द्वारा अभीष्ट है। ऐसा होने पर ही सम्पूर्ण प्रपंच के उपशम हो जाने पर अद्वैत तत्त्व का निश्चय हो सकता है। सम्पूर्ण भूतों में स्थित आत्मा एक है और आत्मा में सम्पूर्ण भूत स्थित हैं। इस प्रकार देखना ही अद्वैत निश्चय है। ऐसा करने पर ही "जो सभी भूतों को आत्मा में देखता है" इत्यादि श्रुतियों के अर्थ का उपसंहार हो सकेगा, अन्यथा जैसे अपने देह से परिच्छिन्न प्रत्यगात्माको सांख्यशास्त्र वालों ने देखा है वैसे ही यहाँ पर भी देखा जायेगा। फिर तो "अद्वैत है" इस श्रुति प्रतिपादित विशेष अर्थ की सिद्धि न हो सकेगी, क्योंकि सांख्यादि दर्शनों की अपेक्षा इसमें विशेषता कुछ भी नहीं रह जायगी।

विषयाणां स्थूलत्वं दिगादिदेवतानुगृहीतैः श्रोत्रादिभिर्गृह्यमाणत्वम्। इदानीं वैश्वानरशब्दस्य [2]प्रकृतविश्वविषयत्वं विशदयति—विश्वेषामिति। कर्मणि षष्ठी। विश्वे च ते नराश्चेति विश्वानराः। [3]निपातात्पूर्वपदस्य दीर्घता। विश्वानरान्भोक्तृत्वेन व्यवस्थितान्प्रत्यनेकधा धर्माधर्मकर्मानुसारेण सुखदुःखादिप्रापणादयं कर्मफलदाता वैश्वानरशब्दितो भवतीत्यर्थः। [4]अथवा विश्वश्चासौ नरश्चेति विश्वानरः। स एव वैश्वानरः। [5]स्वार्थे तद्धितो राक्षसावायसवदित्याह—विश्वेति। कथं विश्वश्चासौ नरश्चेति विगृह्यते जाग्रतां नराणामनेकत्वात् [6]तादात्म्यानुपपत्तेरित्याशङ्क्याऽऽह—सर्वेति। सर्वपिण्डात्मा समष्टिरूपो विराडुच्यते तेनाऽऽत्मना विश्वेषामनन्यत्वाद्यथोक्तसमाससिद्धिरित्यर्थः। [7]विश्वस्य तैजसादुत्पत्तेस्तस्यैव प्राथम्यं युक्तं कार्यस्य तु पश्चाद्भावित्वमुचितमित्याशङ्क्याऽऽह—एतदिति। प्रविलापनापेक्षया प्राथम्यं न सृष्ट्यपेक्षयेत्यर्थः।

अध्यात्माधिदैवयोर्भेदमादाय प्रागुक्तं सप्ताङ्गत्वमाक्षिपति—कथमिति। ब्रह्मणि प्रकृते [8]तस्य परोक्षत्वे शङ्किते तन्निरासार्थं ब्रह्मायमात्मेति प्रत्यगात्मानं प्रकृत्य सोऽयमात्मा चतुष्पादिति चतुष्पात्त्वे [9]तस्य प्रक्रान्ते द्युलोकादीनां मूर्धाद्यङ्गत्वसिद्ध्यर्थं यदुक्तं तदयुक्तं प्रक्रमविरोधादित्यर्थः। अध्यात्माधिदैवयोर्भेदाभावान्न प्रक्रमविरोधोऽस्तीति परिहरति—नैष दोष इति। तत्र हेतुमाह—सर्वस्येति। आध्यात्मिकस्याऽऽधिदैविकेन सहितस्य प्रपञ्चस्य सर्वस्यैव स्थूलस्य पञ्चीकृतपञ्चमहाभूततत् [10]कार्यात्मकस्यानेनाऽऽत्मना [11]विराजा प्रथमपादत्वम्। तस्यैव सूक्ष्मस्यापञ्चीकृतपञ्चमहाभूततत्कार्यात्मनो हिरण्यगर्भात्मना द्वितीयपादत्वम्। तस्यैव कार्यरूपतां त्यक्त्वा कारणरूपतामापन्नस्याव्याकृतात्मना तृतीयपादत्वम्। तस्यैव तु कार्यकारणरूपतां विहाय सर्वकल्पनाधिष्ठानतया [12]स्थितस्य सत्यज्ञानानन्तानन्दात्मना चतुर्थपादत्वम्। तदेवमध्यात्माधिदैवयोरभेदमादायोक्तेन प्रकारेण चतुष्पात्त्वस्य वक्तुमिष्टत्वात्पूर्वपूर्वपादस्योत्तरोत्तरपादात्मना प्रविलापना [13]तुरीयनिष्ठायां पर्यवसानं सिध्यतीत्यर्थः।

---

१. एवमिति—अभिमतोभयविधदर्शने सतीत्यर्थः। २. प्रकृतेति—इत्यनेन विश्वस्य समष्ट्यात्मनेश्वरत्व विवक्षित सूचयति। कर्तरिषष्ठ्या अपि संभवादाह— कर्मणिषष्ठीति। ३. निपातनादिति—असञ्ज्ञात्वाभिप्रायेणेदम्, संज्ञात्वं तु 'नरे संज्ञायामि'त्यवबोध्यम्। ४. व्यष्टिविवक्षयाह—अथवेत्यादि। ५. स्वार्थेतद्धित इति–सर्वकारणत्वाद् विश्वेषाममय नर इति षष्ठी समासः सर्वेश्वरत्वात् विश्वेनरानियम्या अस्येति बहुव्रीहि र्वा सर्वप्रत्यक्षत्वाद् विश्वैः सर्वैः प्राणिभिः प्रत्यगात्मतया प्रविभज्य नीयते व्यवह्रियते "नयतेर्डरन्" इत्युपपदसमासो वा त्रिष्वन्येतेषु पक्षेषु प्रज्ञादिभ्यश्चेति स्वार्थेऽणित्यपि द्रष्टव्यम्, नरे संज्ञायामिति दैर्घ्यं च। ६. तादात्म्येति—तदभिन्नस्य तदभिन्नाभिन्नत्वन्यायेन विराड् भिन्नजीवानां मिथोऽभेदायत्यभिप्रायेणेदम्। ७. विश्वस्य प्राथम्याक्षेपमात्राभिप्रायेणाह—तस्यैवेति। प्राज्ञस्य ततोऽपि प्राथम्य कैमुत्यसिद्धमेवेति भावः। ८. तस्य हवा एतस्ये'त्यादिवाक्यमित्यर्थः। ९. तदुक्तमिति—तस्य वैश्वानरात्मविषयत्वेनाधिदैवपरत्वादिति भावः। १०. कार्यात्मकस्येति—अत्रविश्वस्येतिशेषः। ११. विराजा—विराट्स्वरूपेणेत्यर्थः। १२. स्थितस्य—तुरीयस्येत्यर्थः। १३. तुरीयनिष्ठायां पर्यवसानमिति—तुरीयनिष्ठा चतुष्पात्वकल्पनाफलमितियावत्।

इष्यते च सर्वोपनिषदां सर्वात्मैक्यप्रतिपादकत्वम् । [1]अतो युक्तमेवास्याऽऽध्यात्मिकस्य पिण्डात्मनो द्युलोकाद्यङ्गत्वेन विराडात्मनाऽऽधिदैविकेनैकत्वमभिप्रेत्य सप्ताङ्गत्ववचनम्। "मूर्धा ते व्यपतिष्यत्" (छा० ५।१२।२) इत्यादिलिङ्गदर्शनाच्च ।

किन्तु सम्पूर्ण उपनिषदों को सर्वात्मैकत्त्व बतलाना ही इष्ट है। अतः इस आध्यात्मिक पिण्ड रूपमें द्युलोकादिको अंग रूप से बतलाना एवं आधिदैविक विराडात्मा के साथ इसका अभेद बतलाये जाने के अभिप्राय से इस चतुष्पाद आत्मा में सप्तांगत्त्व बतलाना उचित ही है। अध्यात्म और अधिदैव के अभेदप्रमाण में "तेरा शिर गिर जाता, यदि तू मेरे पास नहीं आता" इत्यादि श्रौतलिंग भी देखा जाता है।

यदैवं तुरीये पर्यवसानं जिज्ञासोर्मुमुक्षोरिष्यते तदा तत्त्वज्ञानप्रतिबन्धकस्य प्रातिभासिकद्वैतस्योपरमे सत्यद्वैत-परिपूर्णब्रह्माहमस्मीति वाक्यार्थसाक्षात्कारः सिध्यतीति फलितमाह—एवं चेति । उक्तन्यायेन तत्त्वसाक्षात्कारे संगृहीते सर्वेषु भूतेषु ब्रह्मादिस्थावरान्तेष्वात्मैकोऽद्वितीयो [2]दृष्टः स्यात् । "[3]एको देवः सर्व भूतेष्विति" [4]तत्र तत्र ब्रह्मचैतन्य-स्यैव प्रत्यक्त्वेनावस्थानाभ्युपगमात्तानि-तानि च सर्वाणि प्रातिभासिकानि भूतानि तस्मिन्नेवाऽऽत्मनि कल्पितानि दृष्टानि स्युः । तथा च पूर्णत्वमात्मनो भूतान्तराणां च तदतिरेकेण सत्तास्फुरणविरहितत्वं सिध्यति । ततश्च—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चाऽऽत्मनि ।
संपश्यन्नात्मयाजी वै [5]स्वाराज्यमधिगच्छति ॥

इति स्मृतिः [6]अनुगृहीता भवतीत्याह—सर्वभूतस्थश्चेति । न चेदं मानवं वचनममानमिति शङ्कनीयम् । यद्वै किंचन मनुरवदत्तद्भेषजमिति श्रुतेरित्यभिप्रेत्य दर्शितस्मृतिमूलभूतां श्रुतिं सूचयति–यस्त्विति । यो हि पादत्रयं प्रागुक्तया प्रक्रियया प्रविलाप्य तुरीये नित्ये विज्ञप्तिमात्रे सदानन्दैकताने परिपूर्णे प्रतिष्ठां प्रतिपद्यते स ब्रह्माहमस्मीत्या-त्मानं जानानः सर्वेषां भूतानामधिष्ठानान्तरमनुपलभमान आत्मन्येव प्रातीतिकानि तानि प्रत्येति । तेषु सर्वेष्वात्मानं सत्तास्फूर्तिप्रदमवगच्छति । [7]ततश्च न किंचिदपि गोपायितुमिच्छतीति श्रुत्यर्थश्च यथोक्तरीत्या तत्त्वसाक्षात्कारे संगृहीते सति स्वीकृतः स्यादित्यर्थः । अध्यात्माधिदैवयोरभेदाभ्युपगमद्वारेण प्रागुक्तपरिपाट्या तत्त्वज्ञानानभ्युपगमे दोषमाह—अन्यथेति । सांख्यादिपक्षस्यापि प्रामाणिकत्वात् [8]तथैव प्रतिदेहं परिच्छिन्नस्य प्रत्यगात्मनो दर्शनेन प्रामाणिकोऽर्थोऽभ्यु-पगतो भवति । व्यवस्थानुपपत्त्या च प्रतिशरीरमात्मभेदः सिध्यतीत्याशङ्क्याऽऽह-तथा चेति । सांख्यादीनां द्वैतविषयं दर्शनमिष्टं तेन त्वदीयदर्शनस्याद्वैतविषयस्य विशेषाभावादद्वैतं तत्त्वमिति श्रुतिसिद्धो विशेषस्त्वत्पक्षे न सिध्येत् [9]अतः श्रुतिविरोधो भेदवादे प्रसज्येत । व्यवस्था त्वौपाधिकभेदमधिकृत्य सुस्था भविष्यतीत्यर्थः ।

ननु भेदवादेऽपि नाद्वैतश्रुतिर्विरुध्यते । ध्यानार्थमन्नं ब्रह्मेतिवदद्वैतं तत्त्वमित्युपदेशसिद्धेरित्याशङ्क्याऽऽह—इष्यते चेति । उपक्रमोपसंहारैकरूप्यादिना सर्वासामुपनिषदां सर्वेषु देहेष्वात्मैक्यप्रतिपादनपरत्वमिष्टमतो न ध्यानार्थ-त्वमद्वैतश्रुतेरेष्टुं शक्यम् । वस्तुपरत्वलिङ्गविरोधादित्यर्थः । अध्यात्माधिदैवयोरेकत्वमुपेत्याद्वैतपर्यवसाने सिद्धे सत्याध्यात्मिकस्य व्यष्ट्यात्मनो विश्वस्य त्रैलोक्यात्मकेनाऽऽधिदैविकेन विराजा सहैकत्वं गृहीत्वा यत्तस्य सप्ताङ्गत्वमुक्तं तदविरुद्धमित्युपसंहरति—अत इति । अध्यात्माधिदैवयोरैक्ये हेत्वन्तरमाह—मूर्धेति [10]दि (दै) वादित्यादिकं वैश्वानरावयवं वैश्वानरबुद्धया ध्यायतो [11]जिज्ञासया पुनरखण्डपक्ष [12]उपगतस्य मूर्धा ते व्यपतिष्यद्यन्मां नाऽऽगमिष्य इत्यन्धोऽभविष्यो यन्मामित्यादिव्यस्तोपासननिन्दा समस्तोपासनविधित्सया दृश्यते । न च द्युलोकादिकं विपरीतबुद्धया

---

१. अतः—विश्वविराजोरेकत्वात् । २. दृष्टः—प्रमितः । ३. प्रमाण स्फोरयति—एको देव इति । ४. तत्र तत्र—भूतेष्वित्यर्थः । ५. स्वाराज्यम्—मोक्षलक्षणं स्वातन्त्र्यम् । ६—अनुगृहीता—उपपादिता । ७. ततश्चेति—आत्मनोऽन्य-स्यादर्शनादित्यर्थः । ८. तथैवेति—सांख्याद्यभ्युपगमानुसारेणेत्यर्थः । ९. अतः—अद्वैतसिद्ध्यभावात् । १०. दिव्यादित्यादि-कमिति—'दिव उत्' इत्यत्र 'एतत्तदोः सुलोपोऽकोर नञ्समासेहली'त्यतो हलीत्यनुकृष्य हलादावेवेति व्याख्यानादुत्वाभाव-इत्यवधेयम् । ११. समस्तोपासनाविधित्सयेति, वक्ष्यमाणोपपत्तये विशिनष्टि—जिज्ञासयेत्यादिना । एतेन मूर्धास्त्वेष आत्मन इत्यखण्डपक्षसूचनानन्तरमेव मूर्धेत्यादि निन्दावचनं प्रवृत्तमिति सूचयति । १२. उपगतस्य—औपमन्यवादेरित्यर्थः ।

स्वप्नस्थानोऽन्तःप्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः प्रविविक्तभुक्तैजसो द्वितीयः पादः ॥४॥

[जिसका अभिव्यक्तिस्थान स्वप्न है, जो केवल मनरूपी अन्तःप्रज्ञ वाला है एवं पूर्ववत् सात अङ्गों वाला, उन्नीस मुखवाला और सूक्ष्म विषयों को भोगने वाला है। ऐसा तैजस ही आत्मा का दूसरा पाद है ॥ ४ ॥]

विराजैकत्वमुपलक्षणार्थं हिरण्यगर्भाव्याकृतात्मनोः। उक्तं चैतन्मधुब्राह्मणे—"यश्चायमस्यां पृथिव्यां तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मम् (बृ० २।५।१) इत्यादि। सुषुप्ताव्याकृतयोस्त्वेकत्वं सिद्धमेव। निर्विशेषत्वात्। एवं च सत्येतत्सिद्धं भविष्यति सर्वद्वैतोपशमे चाद्वैतमिति ॥३॥

स्वप्न स्थानमस्य तैजसस्येति स्वप्नस्थानः। जाग्रत्प्रज्ञाऽनेकसाधना बहिर्विषयेवावभासमाना मनःस्पन्दनमात्रा सती तथाभूतं संस्कारं मनस्याधत्ते। तन्मनस्था संस्कृतं चित्रित इव पटो बाह्यसाधनानपेक्षमविद्याकामकर्मभिः प्रेर्यमाणं जाग्रद्वदवभासते। तथा चोक्तम्—"अस्य लोकस्य सर्वावतो मात्रामपादायेत्यादि" (बृ० ४।३।९) इति। तथा "परे देवे मनस्येकी भवति" (प्र० ४।२) इति प्रस्तुत्य "अत्रैष देवः स्वप्ने महिमानमनुभवति" (प्र० ४।५) इत्याथर्वणे। इन्द्रियापेक्षयाऽन्तःस्थत्वान्मनसस्तद्वासनारूपा च स्वप्ने प्रज्ञा यस्येत्यन्तः प्रज्ञः। विषयशून्यायां प्रज्ञायां केवलप्रकाशस्वरूपायां विषयित्वेन भवतीति तैजसः। विश्वस्य सविषयत्वेन प्रज्ञायाः स्थूलाया भोज्यत्वम्। इह पुनः केवला वासनामात्रा प्रज्ञा भोज्येति प्रविविक्तो भोग इति। समानमन्यत्। द्वितीयः पादस्तैजसः ॥४॥

यहाँ पर जो विराड् के साथ विश्व का एकत्त्व बललाया गया है, वह हिरण्यगर्भ का तैजस के के साथ और अन्तर्यामी का प्राज्ञ के साथ एकत्त्व का उपलक्षण है। मधु-ब्राह्मण में भी ऐसा कहा गया है। "यह जो पृथिवी में तेजोमय अमृतमय पुरुष है तथा यह जो अध्यात्म पुरुष है ये दोनों एक हैं" इत्यादि सुषुप्त और अव्याकृत का अभेद तो सर्व अनुभवसिद्ध ही है, क्योंकि दोनों में कोई विशेषता नहीं। इस प्रकार सम्पूर्ण द्वैत के उपशम हो जाने पर अद्वैत ही शेष रहता है, यह बात सिद्ध हो जाती है ॥३॥

आत्मा का द्वितीय पाद

इस तैजस का उपलब्धि स्थान स्वप्न है, इसीलिये यह स्वप्न स्थान वाला कहा गया है। जाग्रत् काल में प्रज्ञा अनेक साधनों वाली मनः-स्पन्दन होती हुई भी बाह्य-विषयों से सम्बद्ध हुई सी प्रतीत होती है और वह उसी प्रकार के संस्कार को मन में डालती भी है। उन संस्कारों से युक्त हुआ वह मन चित्रित पट के समान है। वह बाह्य साधनों की कुछ भी अपेक्षा न कर अविद्या, काम और कर्म से प्रेरित हुआ जाग्रत के समान भासता है। वैसे ही कहा भी है कि "सर्व साधन युक्त इस लोक के वासना को लेकर (वासना प्रधान स्वप्न का अनुभव करता)" तथा "इन्द्रियों से उत्कृष्ट भाव वाले मन में सभी इन्द्रियाँ एकीभूत हो जाती हैं" (प्र० ४।२) इस प्रकार प्रारम्भ कर "इस स्वप्नावस्थामें स्वयंप्रकाश स्वप्नद्रष्टा अपनी विभूति का अनुभव करता है" इत्यादि आथर्वण श्रुति में भी कहा गया। बाह्य इन्द्रियों की अपेक्षा मन के अन्तःस्थित होने के कारण स्वप्नावस्था में जिसकी वासना स्वरूपा अन्तःप्रज्ञा म [illegible] सीलिए उस तैजस को अन्तःप्रज्ञ कहा गया है। विषय शून्य के प्रकाश-स्वरूप प्रज्ञा में विषयी यानी अनुभव करने वाला होने से यह तैजस कहा गया है। बाह्य विषय वाला होने से जाग्रत् काल में विश्व का भोज्य स्थूल प्रज्ञा है अर्थात् जिस वासनामयी प्रज्ञा में स्थूल विषय हो उस प्रज्ञा को ही स्थूल कहते हैं। विश्वात्मा का भोज्य वही है। किन्तु यहाँ पर स्वप्नावस्था में तो केवल वासनामयी प्रज्ञा भोज्य है। इसीलिये तैजस का भोग सूक्ष्म माना गया है। तात्पर्य यह कि

भोज्यत्त्व दोनों अवस्था में समान रहने पर भी एक में स्थूल विषय है दूसरे में विषय संस्पर्श से शून्य वासना मात्र प्रज्ञा ही भोग है। इसीलिये इसे सूक्ष्म विषय का भोक्ता माना है। सात अंग, उन्नीस मुख विश्वात्मा के समान तैजस का भी समान माना गया है। इस प्रकार यह तैजस आत्मा का द्वितीय पाद है ॥४॥

गृहीतवतः स्वकीयमूर्धादिपरिपतनमुचितं यद्यध्यात्माधिदैवयोरेकत्वं न भवेत्तस्मात्तयोरेकत्वमत्र विवक्षितं भवतीत्यर्थः।

ननु विराजो विश्वेनैकत्वमेव मूलग्रन्थे दृश्यते तत्कथं [1]अविशेषेणाध्यात्माधिदैवयोरेकत्वं विवक्षित्वाऽद्वैतपर्यवसानं भाष्यकृतोच्यते तत्राऽऽह—विराजेति। यन्मुखतो विराजो विश्वेनैकत्वं दर्शितं तत्तु हिरण्यगर्भस्य तैजसेनान्तर्यामिणश्चाव्याकृतोपहितस्य प्राज्ञेन सहैकत्वस्योपलक्षणार्थमतो मूलग्रन्थेऽप्यविशेषेणाध्यात्माधिदैवयोरेकत्वं विवक्षितमित्यद्वैतपर्यवसानसिद्धिरित्यर्थः। अध्यात्माधिदैवयोर्यदेकत्वमिहोच्यते तन्मधुब्राह्मणेऽपि दर्शितमित्याह—उक्तं चेति। अधिदैवमध्यात्मं [2]चैकरूपं निर्देशं कृत्वा प्रतिपर्यायमयमेव स इत्यभेदवचनादेकत्वमत्र विवक्षितमित्यर्थः। ननु विश्वविराजोः स्थूलाभिमानित्वात्तैजसहिरण्यगर्भयोश्च सूक्ष्माभिमानित्वादेकत्वं युक्तम्। प्राज्ञाव्याकृतयोस्तु केन साधर्म्येणैकत्वं तत्राऽऽह—सुषुप्तेति। प्राज्ञो हि सर्वं [3]विशेषमुपसंहृत्य निर्विशेषः सुषुप्ते वर्तते प्रलयदशायामव्याकृतं च निःशेषावशेषं स्वात्मन्युपसंहृत्य निर्विशेषरूपं तिष्ठति तेनोक्तं साधर्म्यं पुरोधाय तयोरैक्यमविरुद्धमित्यर्थः। अध्यात्माधिदैवयोरेकत्वे प्रागुक्तन्यायेन प्रसिद्धे सत्युपसंहारप्रक्रियया सिद्धमद्वैतमिति फलितमाह—एवं चेति। तच्चाद्वैतं प्रतिबन्धध्वंसमात्रेण न स्फुरति किंतु वाक्यादेवाऽऽचार्योपदिष्टादिति वक्तुं च शब्दः ॥३॥

द्वितीयं पादमवतार्य व्याचष्टे—स्वप्न इत्यादिना। स्थानं पूर्ववत्। द्रष्टुर्ममाभिमानस्य विषयभूतमिति यावत्। स्वप्नपदार्थं निरूपयितुं तत्कारणं निरूपयति—जाग्रदित्यादिना। तस्याः स्वप्नाद्वैधर्म्यार्थं विशेषमाह—अनेकेति। अनेकानि विविधानि साधनानि करणानि यस्याः सा तथेति यावत्। विषयद्वारकमपि वैषम्यं दर्शयति—बहिरिति। बाह्यस्य शब्दादेर्विषयस्याविद्या [4]विवर्तत्वेन वस्तुतोऽभावात्र तद्विषयत्वमपि यथोक्तप्रज्ञाया वास्तवं किन्तु प्रातीतिकमित्यभिप्रेत्योक्तमिवेति। न च यथोक्ता प्रमाणसिद्धा। [5]तस्या अनवस्थानात्। तेन साक्षिवेद्या सेति विवक्षित्वाऽऽह—[6]अवभासमानेति। द्वैततत्प्रतिभासयोर्वस्तुतोऽसत्त्वे हेतुं सूचयति—मनःस्पन्दनेति। यथोक्ता प्रज्ञा [7]स्वानुरूपां वासनां [8]स्वसमाधानाधारामुत्पादयतीत्याह—तथाभूतमिति। जाग्रद्वासनावासितं मनो जागरितवदवभासते स्वप्नदृष्टुरित्येष्टव्यं मनस एव वासनावतः स्वप्ने विषयत्वातिरिक्तविषयाभावादित्याह—[9]तथासंस्कृतमिति। जाग्रद्वासनावासितं मनो जागरितवद्भातीत्यत्र दृष्टान्तमाह—चित्रित इति। यथा पटश्चित्रितश्चित्तवद्भाति तथा मनो जागरितसंस्कृतं तद्वद्भातीति युक्तमित्यर्थः। स्वप्नस्य जागरिताद्वैधर्म्यं सूचयति—बाह्येति। यथोक्तस्य मनसो जागरितवदनेकधा प्रतिभाने कारणान्तरमाह—अविद्येति। यदुक्तं स्वप्नस्य जागरितजनितवासनाजन्यत्वं तत्र बृहदारण्यकश्रुतिं प्रमाणयति—तथा चेति। अस्य लोकस्येति जागरितोक्तिस्तस्य विशेषणं सर्वावदिति। सर्वा साधनसंपत्तिरस्मिन्नस्तीति [10]सर्वान्सर्ववानेव सर्वावांस्तस्य मात्रा लेशो वासना तामपादायापच्छिद्य गृहीत्वा स्वपिति वासनाप्रधानं स्वप्नमनुभवतीत्यर्थः। [11]यत्तु स्वप्नरूपेण परिणतं मनः साक्षिणो विषये [12]भवतीति तत्र श्रुत्यन्तरं दर्शयति—तयेति। परत्वं मनसस्तदुपाधित्वाद्वा साधारणकरणत्वाद्वा देवत्वं द्योतनात्मकत्वात्तन्मनोज्योतिरिति ज्योतिःशब्दात्तस्मिन्नेको भवति। स्वप्ने द्रष्टा तत्प्रधानो भवतीति स्वप्नं प्रकृत्यात्र स्वप्ने स्वप्रकाशो द्रष्टा महिमानं मनसो विभूतिं ज्ञानज्ञेयपरिणामलक्षणां साक्षात्करोति। तथा च मनसो विषयत्वात्र [13]तत्राऽऽत्मग्राहकत्वशङ्केत्यर्थः। ननु विश्वस्य बाह्येन्द्रियजन्यप्रज्ञायास्तैजसस्य मनोजन्य-

---

१. अविशेषेणेति—आध्यात्मिकाधिदैविकावच्छेदेनेत्यर्थः। विश्वविराजोरिव तैजसहिरण्यगर्भादिरपीति यावत्। २. एकरूपमिति—तेजोमयत्वादिसमानधर्मेणेत्यर्थः। ३. विशेषमिति—स्थूलसूक्ष्मात्मकं भेदजातमित्यर्थः। ४. विवर्तत्वेनेति—परिणामत्वेनेत्यर्थः। ५. तस्या इति—प्रमाणसिद्धत्वाङ्गीकारे इति शेषः। ६. अवभासमानेति—साक्षिभास्येत्यर्थः। ७. स्वानुरूपाम्—स्वसमानविषयामित्यर्थः। ८. स्वसमानाधारामिति—मनोरूपैकाधिकरणामित्यर्थः। ९. तथा संस्कृतमिति—जाग्रत् प्रज्ञासमानविषयकसंस्कारविशिष्टमित्यर्थः। १०. सर्ववानुसर्ववानेवेत्येतदधिकम्। ११. इममेवार्थमभिप्रेत्यश्रुत्यन्तमवतारयति यत्त्विति। १२. इति—उक्तमवभासते इति पदेनेति शेषः। १३. तत्रात्मेति—स्वप्ने स्वपरिणामात्मज्ञेयग्राहकत्वेत्यर्थः।

यत्र सुप्तो न कंचन [1]कामं कामयते न कंचन [2]स्वप्नं पश्यति तत्सुषुप्तम् । सुषुप्तस्थान [3]एकीभूतः प्रज्ञानघन एवाऽऽनन्दमयो ह्यानन्दभुक्चेतोमुखः प्राज्ञस्तृतीयः पादः ॥५॥

[जिस स्थान या काल में सोया हुआ पुरुष न तो किसी विषय भोग की कामना करता है और न किसी स्वप्न को ही देखता है, उसे ही सुषुप्ति कहते हैं। वह सुषुप्ति ही जिसका स्थान है तथा जो एकीभूत हो उत्कृष्ट ज्ञान स्वरूप होता हुआ ही आनन्दमय है और आनन्द का भोक्ता तथा चेतनारूप मुखवाला है। वही प्राज्ञ का तीसरा पाद है ॥ ५ ॥]

दर्शनादर्शनवृत्त्योस्तत्त्वाप्रबोधलक्षणस्य स्वापस्य तुल्यत्वात्सुषुप्तिग्रहणार्थं यत्र सुप्त इत्यादि विशेषणम्। अथवा त्रिष्वपि स्थानेषु तत्त्वाप्रतिबोधलक्षणः स्वापोऽविशिष्ट इति। पूर्वाभ्यां सुषुप्तं विभजते। यत्र यस्मिन्स्थाने काले वा सुप्तो न कंचन स्वप्नं पश्यति न कंचन कामं कामयते। न हि सुषुप्ते पूर्वयोरिवान्यथाग्रहणलक्षणं स्वप्नदर्शनं कामो वा कश्चन विद्यते। तद् [4]एतत्सुषुप्तं स्थानमस्येति सुषुप्तस्थानः। [5]स्थानद्वयप्रविभक्तं मनःस्पन्दितं द्वैतजातम्। तथा रूपापरित्यागेनाविवेकापन्नं नैशतमोग्रस्तमिवाह सप्रपंचकमेकीभूतमित्युच्यते। अत एव स्वप्नजाग्रन्मनःस्पन्दनानि प्रज्ञानानि घनीभूतानीव सेयमवस्थाऽविवेकरूपत्वात्प्रज्ञानघन उच्यते। यथा रात्रौ नैशेन तमसाऽविभज्यमानं सर्वं घनमिव तद्वत्प्र[6]-ज्ञानघन एव। एवशब्दान्न जात्यन्तरं प्रज्ञानव्यतिरेकेणास्तीत्यर्थः। मनसो विषयविषय्याकारस्पन्दनायासदुःखाभावादानन्दमय आनन्दप्रायो नाऽऽनन्द एव। [7]अनात्यन्तिकत्वात्। यथा लोके निरायासस्थितः सुख्यानन्दभुगुच्यते। अत्यन्तानायासरूपा हीयं स्थितिरनेनानुभूयत इत्यानन्दभुक्। "[8]एषोऽस्य [9]परम आनन्दः बृ० ४।३।३२" इति श्रुतेः। स्वप्नादिप्रतिबोधं चेतः प्रतिद्वारीभूतत्वाच्चेतोमुखः। बोधलक्षणं वा चेतो। द्वारं मुखमस्य स्वप्नाद्यागमनं प्रतीतिः। चेतोमुखः भूतभविष्यज्ज्ञातृत्वं सर्वविषयज्ञातृत्वमस्यैवेति प्राज्ञः। सुषुप्तोऽपि हि भूतपूर्वगत्या प्राज्ञ उच्यते। अथवा प्रज्ञप्तिमात्रमस्यैवासाधारणं रूपमिति प्राज्ञः। इतरयोर्विशिष्टमपि विज्ञानमस्ति सोऽयं प्राज्ञस्तृतीयः पादः ॥५॥

आत्मा का तृतीय पाद

तत्त्वज्ञानाभाव को सुषुप्ति कहते हैं। ऐसी सुषुप्ति जाग्रत् और स्वप्न में समान ही है। फिर भी स्थूलविषय का दर्शन जाग्रत में होता है और स्वप्न में स्थूलविषय का दर्शन नहीं होता। इन दोनों से पृथक् सुषुप्ति को बतलाने के लिये "यत्र सुप्तः" इत्यादि विशेषण सुषुप्ति के लिये दिये गये हैं। अथवा यों समझो कि तत्त्व का अबोध तो तीनों अवस्थाओं में समान ही होता है। अतः जाग्रदादि तीनों अवस्थाओं में अज्ञान रूप निद्रा समान है। फिर भी पहले की दो अवस्थाओं से सुषुप्ति का विभाग करते हैं।

जिस समय या स्थान में सोया हुआ पुरुष न कोई स्वप्न देखता है और न किसी भोग को ही चाहता है, क्योंकि पहले की दो अवस्थाओं के समान इस सुषुप्तावस्था में अन्यथा ग्रहण रूप स्वप्न और कोई कामना-विषय भोग नहीं है। वह यह सुषुप्त-स्थान इस प्रज्ञात्मा का है इसलिये यह सुषुप्त स्थान वाला कहा गया है। दोनों स्थानों में विभाग वाला मनःस्फुरण से उत्पन्न द्वैत प्रपञ्च रहते हैं। वे

---

१. काममिति—पुण्यपापप्रयोजक पुत्रदारधनादिकं काम्यमानपदार्थमित्यर्थः। २. स्वप्नमिति—शुभाशुभ जाग्रद् वासना जन्यपदार्थमित्यर्थः। ३. एकी भूतइति—विक्षेपाभावादीश्वरेणैकीभूत इव स्थित इत्यर्थः। ४. एतदिति—श्रुत्या-स्वयमेवप्रदर्शितमित्यर्थः। ५. स्थानद्वयप्रयुक्तप्रविभागविशिष्ट मित्यर्थः। ६. प्रज्ञानघन एवेति—प्राज्ञ इति शेषः। ७. अनात्यन्तिकत्वात्—विनाशित्वात्। ८. एषः—स्वरूपानुभवलक्षणः। ९. परम इति—साधनसाध्य इत्यर्थः।

सम्पूर्ण द्वैतजात सुषुप्ति में वैसे ही एकीभूत हो जाते हैं जैसे रात्रि के अन्धकार से दिन आच्छादित हो जाता है। जिस प्रकार दिन के समस्त पदार्थ अपना रूप त्यागे बिना ही रात्रि के अन्धकार में एकीभूत हुए से दीखते हैं वैसे ही मनःस्फुरण से उत्पन्न जाग्रत् स्वप्न के सभी द्वैतप्रपंच अपने कारण अज्ञान में लीन हो जाते हैं। इसीलिये इन्हें एकीभूत होना कहा गया है। अतएव स्वप्न और जाग्रत् के ये मनःस्फुरण रूप प्रज्ञान जब घनीभूत जैसे हो जाते हैं, तो यह अवस्था अविवेकरूप होने के कारण प्रज्ञानघन शब्द से कही जाती है। यथा-रात्रि के समय रात्रि के अन्धकार के कारण दिन में पृथक्-पृथक् दीखने वाले सभी पदार्थ अविभक्त हुए घनीभूत से प्रतीत होते हैं। वैसे ही यह प्रज्ञानघन भी है। मन्त्र में आये हुए 'एव' शब्द का अर्थ यह है कि प्रज्ञान को छोड़कर अन्य वस्तु वहाँ कुछ भी प्रतीत नहीं होती। अन्य अवस्थाओं में विषय-विषयी आकाररूप से मन का स्पन्दन हो रहा था। इसीलिये उस आयास से दुःख भी वहाँ प्रतीत होता था, अब इस सुषुप्तावस्था में उक्त आयासरूप दुःख का अभाव हो जाने के कारण यह आनन्दमय अर्थात् प्रचुर आनन्द वाला हो गया है, आनन्द मात्र नहीं है, क्योंकि यह आनन्द आत्यन्तिक नहीं है। जैसे लोक में आयासरहित बैठा हुआ पुरुष सुखी और आनन्दभुक् कहा जाता है। वैसे ही यह सुषुप्तिकी स्थिति भी अत्यन्त आयासशून्य है। उस समय जीव इस स्थिति का अनुभव करता है इसीलिये इसे आनन्द भुक् कहा गया है। "यह स्वरूपानुभव आनन्द इसका उत्कृष्ट है।" ऐसा श्रुति भी कह रही है। स्वप्नादि अवस्था के ज्ञानरूप चेतना के लिये यह द्वार है। इसीलिये इसे चेतोमुख कहा गया है अथवा स्वप्नादि प्राप्ति के लिये बोध स्वरूप चेतन ही इसका द्वार यानी मुख माना गया है अतः इसे चेतोमुख कहा गया है। भूत एवं भविष्यत् का ज्ञातृत्व, किंबहुना सम्पूर्ण विषयों का ज्ञातृत्व भी इसी में तो है, क्योंकि कारण रूप से सारा ज्ञान इस प्रज्ञात्मा में स्थित रहता है। इसीलिये इसे प्राज्ञ कहा गया है। यद्यपि सुषुप्त में सम्पूर्ण विशेष विज्ञान का अभाव है तथापि जाग्रत् एवं स्वप्न में इसी का ज्ञातृत्व तो था। इसीलिये यह भूत पूर्वगति से प्राज्ञ कहा गया है। इस प्रकार प्राज्ञ शब्द का मुख्यार्थ सुषुप्तात्मा में घटता नहीं। अतः 'अथवा' शब्द से भाष्यकार कहते हैं। अथवा केवल प्रज्ञप्ति मात्र इसी का असाधारण रूप है। "प्रकृष्टा प्रज्ञा, प्रज्ञा एवं प्राज्ञः" इस व्युत्पत्ति से प्राज्ञ शब्द का मुख्य अर्थ इसमें घट जाता है। अन्य दो अवस्थाओं में विषय-विशेष विज्ञान ही होता है। अतः वह यह सुषुप्त आत्मा प्राज्ञ ही तीसरा पाद है ॥५॥

प्रज्ञायाश्चान्तःस्थत्वाविशेषादन्तःप्रज्ञत्व विशेषणं न व्यावर्तकमिति तत्राऽऽह—इन्द्रियेति। उपपादितं तावद्विश्वस्य बहिष्प्रज्ञत्वं तैजसस्त्वन्तःप्रज्ञो [1]विज्ञायते बाह्यानीन्द्रियाण्यपेक्ष्य मनसोऽन्तःस्थत्वात्तत्परिणामत्वाच्च स्वप्नप्रज्ञाया-स्तद्वानन्तःप्रज्ञो युज्यते। किंच मनःस्वभावभूता या जागरितवासना तद्रूपा स्वप्नप्रज्ञेति युक्तं तैजसस्यान्तःप्रज्ञत्व-मित्यर्थः। स्वप्नाभिमानिनस्तेजोविकारत्वाभावात् कुतस्तैजसत्वमित्याशङ्क्याऽऽह—विषयेति। स्थूलो विषयो यस्यां वासनामय्यां प्रज्ञायां न ज्ञायते तस्यां विषयसंस्पर्शमन्तरेण प्रकाशमात्रतया स्थितायामाश्रयत्वेन भवतीति स्वप्नद्रष्टा तैजसो विवक्षितः। तेजः शब्देन यथोक्तवासनामय्याः प्रज्ञाया निर्देशादित्यर्थः। ननु विश्वतैजसयोरविशिष्टं प्रविविक्त-भुगिति विशेषणम्। प्रज्ञाया भोज्यत्वस्य तुल्यत्वात्। नैवम्। तस्या भोज्यत्वाविशेषेऽपि तस्यामवान्तरभेदात्सविषयत्वा-द्विश्वस्य भोज्या प्रज्ञा स्थूला लक्ष्यते। तैजसे तु प्रज्ञा विषयसंस्पर्शशून्या वासनामात्ररूपेतिविविक्तो भोगः सिध्यतीत्याह—विश्वस्येति। सप्ताङ्ग कोनविंशतिमुखत्वमित्येतदन्यदित्युच्यते ॥४॥

पादद्वयमेवं व्याख्याय तृतीयं पादं व्याख्यास्यन्व्याख्यायमानश्रुतौ न कंचनेत्यादिविशेषणस्य तात्पर्यमाह—दर्श-नेति। दर्शनस्य स्थूलविषयस्य वृत्तिरत्रास्तीति जागरितं दर्शनवृत्तिरित्युच्यते। स्थूलविषयदर्शनादन्यद्दर्शनमदर्शनं वासनामात्रं तस्य वृत्तिरत्रास्तीत्यदर्शनवृत्तिः स्वप्नस्तयोः सुषुप्तवदेव स्वापस्य तत्त्वाग्रहणस्य तुल्यत्वात्। यत्र सुप्त इत्युक्ते तयोरपि प्रसक्तौ तद्व्यवच्छेदेन सुषुप्तस्यैव ग्रहणार्थं यत्र सुप्त इत्यादिवाक्ये न कंचनेत्यादिविशेषणम्। तद्धि

१. विज्ञायत इति—श्रूयत इत्यर्थः।

स्थानद्वयं व्यवच्छिद्य सुषुप्तमेव ग्राहयतीत्यर्थः। न कंचन स्वप्नं पश्यतीत्यनेन विशेषणेन स्थानद्वयव्यवच्छेदसंभवाद्विशेषणान्तरमकिंचित्करमित्याशङ्क्या [1]आह–[2]अथवेति। तत्त्वाप्रतिबोधः स्वापस्तस्य स्थानत्रयेऽपि तुल्यत्वाज्जाग्रत्स्वप्नाभ्यां विभज्य सुषुप्तं ज्ञापयितुं [3]विशेषणमित्यर्थः। [4]एकस्यैव विशेषणस्य व्यवच्छेदकत्वसंभवादलं विशेषणाभ्यामित्यस्यः कः समाधिरित्याशङ्क्य विशेषणयोः [5]विकल्पेन व्यवच्छेदकत्वान्नाऽऽनर्थक्यमिति मत्वाऽऽह– [6]न हीति। [7]यत्रेत्यस्यापेक्षितार्थं कथयति—तदेतदिति। अन्यथाग्रहणशून्यत्वं कामसंस्पर्शविरहितत्वं च विशेषणाभ्यां विवक्षितम्। कथमस्य सद्वितीयस्यैकीभूतत्वविशेषणमित्याशङ्क्याऽऽह–स्थानद्वयेति। जागरितं स्वप्नश्चेति स्थानद्वयम्। तेन प्रविभक्तं यद्द्वैतं स्थूलं सूक्ष्मं च तत्सर्वं मनःस्पन्दितमात्रमिति वक्ष्यते। तच्च यथा स्वकीयरूपमात्मनो विभक्तं तथैवं तस्यात्यागेनाव्याकृताख्यं कारणमापन्नं स्वकीयसर्वविस्तारसहितं कारणात्मकं भवति। यथाह–नैशेन तमसा ग्रस्तं तमस्त्वेनैव व्यवह्रियते तथेदमपि कार्यजातं कारणभावमापन्नं कारणमित्येव व्यवह्रियते। तस्यां चावस्थायां तदुपाधिरात्मैकीभूतविशेषणभाग्भवतीत्यर्थः। तथाऽपि कारणोपहितस्य प्रज्ञानघनविशेषणमयुक्तं निरुपाधिकस्यैव तथा विशेषणसंभवादित्याशङ्क्याऽऽह–अत एवेति। सर्वस्य कार्यप्रपञ्चस्य समनस्कस्य सुषुप्ते कारणात्मना स्थितत्वादेवेत्यर्थः। सुषुप्तावस्थायामुक्तप्रज्ञानानामेकमूर्तित्वं न वास्तवं पुनर्यथापूर्वविभागयोग्यत्वादिति मत्वोक्तम्–इवेति। सुषुप्त्यवस्थायाः कारणात्मकत्वाज्जाग्रत्स्वप्नप्रज्ञानानां तत्रैकीभावात्प्रज्ञानघनशब्दवाच्यतेत्युक्तमनुवदति–सेयमिति। उक्तमेवार्थं दृष्टान्तेन बुद्धावाविर्भावति–यथेत्यादिना। एवकारस्य नायोगव्यवच्छित्तिरर्थः किंत्वन्ययोगव्यवच्छित्तिरित्याह–एवशब्दादिति। प्राज्ञस्याऽऽनन्दविकारत्वाभावे कथमानन्दमयत्वविशेषणमित्याशङ्क्य स्वरूपसुखाभिव्यक्तिप्रतिबन्धकदुःखाभावात्प्राचुर्यार्थत्वं मयटो गृहीत्वा विशेषणोपपत्तिं दर्शयति–मनस इति। मयटः स्वरूपार्थत्वादानन्दमयत्वमानन्दत्वमेव किं न स्यादित्याशङ्क्याऽऽह–नेत्यादिना। न हि सुषुप्ते निरुपाधिकानन्दत्वं प्राज्ञस्याभ्युपगन्तुं शक्यम्। तस्य कारणोपहितत्वात्। अन्यथा मुक्तत्वात्पुनरुत्थानायोगात्तस्मादानन्दप्राचुर्यमेवास्य स्वीकर्तुं युक्तमित्यर्थः। आनन्दभुगिति विशेषणं सदृष्टान्तं व्याचष्टे–यथेति। तथा सुषुप्तोऽपीति शेषः। दार्ष्टान्तिकं विवृणोति–अत्यन्तेति। इयं स्थितिरिति [8]सुषुप्तिरुक्ता। अनेनेति प्रज्ञोक्तिः। सौषुप्तस्य पुरुषस्य तस्यामवस्थायां स्वरूपभूतानतिशयानन्दाभिव्यक्तिरस्तीत्यत्र प्रमाणमाह–एषोऽस्येति। प्राज्ञस्यैव चेतोमुख इति विशेषणान्तरं तद् व्याचष्टे–स्वप्नादीति। स्वप्नो जागरितं चेति प्रतिबोधशब्दितं चेतस्तत्प्रतिद्वारभूतत्वं द्वारभावेन स्थितत्वम्। न हि तत् स्वप्नस्य जागरितस्य वा सुषुप्तद्वारमन्तरेण संभवोऽस्ति। तयोस्तत्कार्यत्वात्। अतः सुषुप्ताभिमानिनी प्राज्ञः स्थानद्वयकारणत्वाच्चेतोमुखव्यपदेशभागित्यर्थः। अथवा प्राज्ञस्य सुषुप्ताभिमानिनः स्वप्नं जागरितं वा प्रतिक्रमणाक्रमाभ्यां यदागमनं तत्प्रति [9]चैतन्यमेव द्वारम्। न हि तद्व्यतिरेकेण काऽपि चेष्टा सिध्यतीत्यभिप्रेत्य पक्षान्तरमाह–बोधेत्यादिना। भूते भविष्ये च विषये ज्ञातृत्वं तथा सर्वस्मिन्नपि वर्तमाने विषये ज्ञातृत्वमस्यैवेति प्रकर्षेण जानातीति प्रज्ञः। प्रज्ञ एव प्राज्ञः। [10]तदेवं प्राज्ञपदं व्युत्पादयति–भूतेति। सुषुप्ते समस्तविशेषविज्ञानोपरमात्कुतो ज्ञातृत्वमित्याशङ्क्याऽऽह–सुषुप्तोऽपीति। यद्यपि सुषुप्तस्तस्यामवस्थायां समस्तविशेषविज्ञानविरहितो भवति तथाऽपि भूता निष्पन्ना या जागरिते स्वप्ने च सर्वविषयज्ञातृत्वलक्षणा गतिस्तया प्रकर्षेण सर्वमासमन्ताज्जानातीति प्राज्ञशब्दवाच्यो भवतीत्यर्थः। [11]तर्हि प्राज्ञशब्दस्य [12]मुख्यार्थत्वं न सिध्यतीत्याशङ्क्याऽऽह–अथवेति। असाधारणमितिविशेषणद्योतितमर्थं स्फुटयति–इतरयोरिति। आध्यात्मिकस्य तृतीयपादस्य व्याख्यामुपसंहरति–सोऽयमिति ॥५॥

---

१. आहेति –विशेषणयोर्विकल्पेन व्यावर्तकत्वमितिशेषः।

२. अथवेत्यादि विद्यत इत्यन्तेन ग्रन्थेनेत्यर्थः। ३. विशेषणमिति–विशेषणद्वयमित्यर्थः। ४. उक्तां शङ्कामनूद्य परिहारनिर्णायकभागमवतारयति–एकस्यैवेति। ५. विकल्पेनेति–द्वयोरपि व्यावर्तकत्वेयेनेष्टं तेन व्यावर्तनीयमिति विकल्पः। ६. उक्तं विशेषणवैयर्थ्यं शङ्कापरिहारं स्फुटीकरोति—न हीतीति। ७. यत्रेत्यादि—यत्रेत्यादि वाक्यस्येत्यर्थः। ८. सुषुप्तिरिति—सुषुप्त्युपलक्षितास्वरूपभूता निरतिशयाप्रीतिरित्यर्थः। ९. चैतन्यमिति—अन्तर्यामिरूपमीश्वर चैतन्यमित्यर्थः। १०. तदित्यत्र—इतीति पाठान्तरम् - । ११. तर्हीति—भूतपूर्वगत्यभ्युपगम इत्यर्थः। १२—मुख्यार्थत्वमित्यत्र मुख्यत्वं हि—इतरव्यावृत्तप्रज्ञाशालित्वरूपम्।

एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष
योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ भूतानाम् ॥६॥

यह प्राज्ञ आत्मा सबका शासक ईश्वर है। यह सर्वज्ञ, यही अन्तर्यामी और सम्पूर्ण प्राणियों के उत्पत्ति तथा लय का एकमात्र स्थान होने के कारण (किसी न किसी प्रकार से) वह सबका कारण भी है ॥६॥

एष हि स्वरूपावस्थः सर्वेश्वरः साधिदैविकस्य भेदजातस्य सर्वस्येशिता नैतस्माज्जात्यन्तरभूतोऽन्येषामिव। "प्राणबन्धनं हि सोम्य मनः छा० ६।८।२" इति श्रुतेः। अयमेव हि सर्वस्य सर्वभेदावस्थो ज्ञातेत्येष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्यन्तरनुप्रविश्य सर्वेषां भूतानां नियन्ताऽप्येष एव। अतएव यथोक्तं सभेदं जगत्प्रसूयत इत्येष योनिः सर्वस्य। यत एवं प्रभवश्चाप्ययश्च प्रभवाप्ययौ हि भूतानामेष एव ॥६॥

प्राज्ञ की सर्व कारणता

अपने स्वरूप में स्थित यह प्राज्ञ ही अधिदैव के सहित सम्पूर्ण द्वैत प्रपञ्च का शासक होने से सर्वेश्वर है। अन्य मतावलम्बियों की तरह इस प्राज्ञ से भिन्न शासक ईश्वर को वेदान्त सिद्धान्त में नहीं माना जाता है, क्योंकि; वेदान्त सिद्धान्त में न्यायके जैसे तटस्थ ईश्वर नहीं माना गया है। इस विषय में 'हे सोम्य ! यह मन (उपाधिवाला जीव) प्राणनामक ब्रह्मरूप बन्धनवाला है' यह श्रुति भी प्रमाण है। सम्पूर्ण भेद प्रपञ्च में स्थित हुआ यह प्राज्ञ ही सबका ज्ञाता है, इसीलिये यह सर्वज्ञ है और यही समस्त प्राणियों के भीतर प्रवेशकर नियमन करता हुआ अन्तर्यामीरूप नियन्ता भी है। अतएव पूर्वोक्त भेदवाला सम्पूर्ण जगत् इसी से उत्पन्न होता है। इसीलिए यह सबका कारण भी है जिससे सबका प्रभव और प्रलय होता है। इसीलिये सम्पूर्ण भूतों का प्रभव और अप्यय (विलय स्थान) भी यह प्राज्ञ ही है ॥६॥

प्राज्ञस्याऽऽधिदैविकेनान्तर्यामिणा सहाभेदं गृहीत्वा विशेषणान्तरं दर्शयति-एष हीति। स्वरूपावस्थत्वमुपाधिप्राधान्यमवधूय चैतन्यप्राधान्यम्। अन्यथा स्वातन्त्र्यानुपपत्तेः। नैयायिकादयस्तु [1]ताटस्थ्यमीश्वरस्याऽऽतिष्ठन्ते। तदयुक्तम्। [2]पत्युरसामञ्जस्यादितिन्यायविरोधादित्याह—नैतस्मादिति। श्रुतिविरोधादपि न तस्य ताटस्थ्यमास्थेयमित्याह—प्राणेति। प्रकृतमज्ञातं परं ब्रह्म सदाख्यं प्राणशब्दितं तद्बन्धनं बध्यतेऽस्मिन्पर्यवस्यतीति व्युत्पत्तेः। न हि जीवस्य परमात्मातिरेकेण पर्यवसानमस्ति। मनस्तदुपहितं जीवचैतन्यमत्रप्राणशब्दस्याऽऽध्यात्मिकार्थस्य परस्मिन्प्रयोगात्मनः शब्दितस्य च जीवस्य तस्मिन्पर्यवसानाभिधानाद्वस्तुतो भेदो नास्तीति द्योतितमित्यर्थः। प्राज्ञस्यैव विशेषणान्तरं साधयति—अयमेवेति। नन्ववधारणं नोपपद्यते। व्यासपराशरप्रभृतीनामन्येषामपि सर्वज्ञत्वप्रसिद्धेरित्याशङ्क्य विशिनष्टि—सर्वेति। अन्तर्यामित्वं विशेषणान्तरं विशदयति—अन्तरिति। अन्यस्य कस्यचिदन्तरनुप्रवेशे नियमने च सामर्थ्याभावादवधारणम्। उक्तं विशेषणत्रयं हेतुं कृत्वा प्रकृतस्य प्राज्ञस्य सर्वजगत्कारणत्वं विशेषणान्तरमाह—अत एवेति। यथोक्तं स्वप्नजागरितस्थानद्वयप्रविभक्तमित्यर्थः। सभेदमध्यात्माधिदैवाधिभूतभेदसहितमिति यावत्। निमित्तकारणत्वनियमेऽपि प्राचीनानि विशेषणानि निर्वहन्तीत्याशङ्क्य [3]प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधादिति न्यायान्निमित्तोपादानयोर्जगति न भिन्नत्वमित्येवं नियमतः सिद्धमतो विशेषणान्तरमित्याह—यत इति। प्रभवन्त्यस्मादिति प्रभवः। अप्येत्यस्मिन्नित्यप्ययः। न चैतौ तानामेकत्रोपादानादृते संभावितावित्यर्थः ॥६॥

---

१. ताटस्थ्यमिति—उपादानभिन्नत्वे सति जीवभिन्नत्वमित्यर्थः। २. पत्युरसामञ्जस्यादिति—पत्युरीश्वरस्य निमित्तकारणमात्रत्वं नोचितमभ्युपगन्तुम्, तथा सति असामञ्जस्यात्। लोके निमित्तकारणभूतकुलालादीनां रागद्वेषादिमत्वं प्रसिद्धम्। तद्वदीश्वरस्यापि तत्प्रसज्येत तथा चेश्वरत्वानुपपत्तेः। न हि रागादिमानेश्वरो भवितुमर्हतीति। ३. प्रकृतिश्चेति—ईश्वरः प्रकृतिरुपादानं चाभिन्नमित्तमपि। एवमभ्युपगते च सति एकस्मिन् विज्ञाते सर्वं विज्ञातं भवतीति प्रतिज्ञामृदादिदृष्टान्तयोरनुपरोधोऽविरोधः स्यात्। न हि निमित्तकारणावगमे कार्यावगमः किं तद्ध्युपादानावगम एवेति, श्रुत्याविरोधार्थमप्युपादानत्वमीश्वरस्याभ्युपगमनीयमेवेति।

अत्रैते श्लोका भवन्ति—

(अथ गौडपादीयकारिका:) ।

बहिष्प्रज्ञो विभुर्विश्वो ह्यन्तःप्रज्ञस्तु तैजसः ।
घनप्रज्ञस्तथा प्राज्ञ एक एव त्रिधा स्मृतः ॥१॥

कारिकार्थ :—व्यापक विश्व बहिष्प्रज्ञ है, तैजस अन्तःप्रज्ञ है, तथा प्राज्ञात्मा प्रज्ञानघन है। इस प्रकार एक ही आत्मा तीन तरह से कहा गया है ॥१॥

अत्रैतस्मिन्य[1]थोक्तेऽर्थ एते श्लोका भवन्ति ।

बहिष्प्रज्ञ इति । पर्यायेण त्रिस्थानत्वात्सोऽहमिति [2]स्मृत्या [3]प्रतिसंधानाच्च स्थानत्रयव्यतिरिक्तत्वमेकत्वं शुद्धत्वमसङ्गत्वं च सिद्धमित्यभिप्रायः । महामत्स्यादिदृष्टान्तश्रुतेः ॥१॥

आत्मा के तीन भेद

यहाँ पर इस पूर्वोक्त अर्थ में आचार्य गौड़पाद के श्लोक हैं, 'बहिष्प्रज्ञ' इत्यादि ।

क्रमशः जाग्रदादि तीन स्थान में स्थित होने से और मैं वही हूं जो पहले सोया और स्वप्न देखा, ऐसी प्रत्यभिज्ञा एवं प्रतिसंधान होने से यही मानना पड़ेगा कि आत्मा तीनों स्थानों से भिन्न एक शुद्ध और असंग है। जैसे किसी नदी में रहने वाला बलवात् मत्स्य नदी के प्रबल वेग से विचलित न होता हुआ नदी के दोनों तटों पर संचरण करता है। अतः वह दोनों तटों से सर्वथा भिन्न है। वैसे ही यह आत्मा क्रमशः तीनों स्थानों में आता जाता रहता है। अतः वह स्थानत्रय से भिन्न एक असंग और शुद्ध है। ऐसी बृहदारण्यक उपनिषद् की महामत्स्य वाली दृष्टान्त श्रुति बतलाती है ॥१॥

(गौडपादीयकारिकाणां स्वकृतमवतरणम्)

आचार्यैर्माण्डूक्योपनिषदं पठित्वा तद्व्याख्यानश्लोकावतारणमत्रेत्यादिना कृतं तदत्रेत्यनूद्य भाष्यकारो व्याकरोति—एतस्मिन्निति ।

विश्वस्य विभुत्वं प्रागुक्ताधिदैविकाभेदादवधेयम् । अध्यात्माधिदैवाभेदे [4]पूर्वोदाहृतां श्रुतिं सूचयितुं हिशब्दः । स्थूलसूक्ष्मकारणोपाधिभेदाज्जीवभेदमाशङ्क्य स्वरूपैक्येऽपि [5]स्वतन्त्रोपाधिभेदमन्तरेण विशेषणमात्रभेदादवान्तरभेदोक्तिरित्याह—एक एवेति । पदार्थानां पूर्वमेवोक्तत्वात्तात्पर्यं श्लोकस्य वक्तव्यमवशिष्यते तदाह—पर्यायेणेति । यद्यात्मनश्वं तन्यमिव स्वाभाविकं स्थानत्रयं [6]न तर्हि तद्वदेव तं व्यभिचरितुमर्हति व्यभिचरति चाऽऽत्मानं स्थानत्रयं क्रमाक्रमाभ्यां तस्य त्रिस्थानत्वादतस्तद्व्यतिरिक्तत्वमात्मनः सिद्धम् । यः सुप्तः सोऽहं जागर्मीत्यनुसंधानादेकत्वं तस्यावगतम् । एकत्वेन हि स्मृत्या घटादावेकत्वमिष्यते । धर्माधर्मरागद्वेषादिमलस्यावस्थाधर्मत्वात्तदतिरेके शुद्धत्वमपि सिध्यति । सङ्गस्यापि वेद्यत्वेनावस्थाधर्मत्वाङ्गीकारात्तदतिरेकिणस्तद्द्रष्टुरसङ्गत्वमपि संगतमेवेत्यर्थः । युक्तिसिद्धेऽर्थे श्रुतिमुदाहरति—महामत्स्यादीति । महाश्चादेयेन स्रोतसाऽप्रकम्प्यगतिरतिबलीयांस्तस्मिन्नुभे कूले नद्याः संचरन्क्रमसंचरणाताभ्यामतिरिच्यते । न च तस्य कूलद्वयगतदोषगुणवत्त्वम् । न चासौ क्वचिदपि सज्जते । न च श्येनो वा सुपर्णो वा नभसि परिपतन्क्वचिदपि प्रतिहन्यते तथैवायमात्मा क्रमेण स्थानत्रये संचरन्नुलक्षणो युक्तोऽङ्गीकर्तुमित्यर्थः ॥१॥

---

१. यथोक्तेऽर्थे—विश्वादिरूप इत्यर्थः । २. स्मृत्येति—प्रत्यभिज्ञयेत्यर्थः । ३. प्रतिसंधानात्—विषयीकरणात् । ४. पूर्वोदाहृताम्—जागरितस्थान इत्यादिकाम् । ५. स्वतन्त्रेति—मिथो निरपेक्षेति यावत् । उपाधेः स्वातन्त्र्यंनाम स्वोपहितव्यवहारे उपाध्यन्तरनिरपेक्षत्वं यथा देवदत्तयज्ञदत्तोपाध्योः । तथा च स्वतन्त्रोपाधिभेदे सत्येवोपहितयोर्मुख्यो भेदो यथा देवदत्तयज्ञदत्तयोः । विश्वाद्युपाधीनां तु मिथः सापेक्षत्वेनास्वातन्त्र्यान्न मुख्यभेद प्रयोजकत्वं विशेषणमात्रभेदकत्वे [illegible] सम्भवतीत्यर्थः । ६. नेति—स्यादिति शेषः ।

दक्षिणाक्षिमुखे विश्वो मनस्यन्तस्तु तैजसः।
आकाशे च हृदि प्राज्ञस्त्रिधा देहे व्यवस्थितः ॥२॥

विश्वात्मा दक्षिणनेत्र रूप स्थान में रहता है, तैजस मन के भीतर रहता है, प्राज्ञ हृदयाकाश में रहता है, (ये तीनों ही विश्वादि के उपलब्धि स्थान है।) इस प्रकार एक ही आत्मा शरीर में तीन रूप से व्यवस्थित है ॥२॥

जागरितावस्थायामेवं विश्वादीनां त्रयाणामनुभवप्रदर्शनार्थोऽयं श्लोकः—दक्षिणाक्षीति। दक्षिण-मक्ष्येव मुखं तस्मिन्प्राधान्येन द्रष्टा स्थूलानां विश्वोऽनुभूयते। "इन्धो ह वै नामैष योऽयं दक्षिणेऽक्ष-न्पुरुषः बृ० ४।२।२" इति श्रुतेः। इन्धो दीप्तिगुणो वैश्वानर आदित्यान्तर्गतो वैराज आत्मा चक्षुषि च द्रष्टैकः। नन्वन्यो हिरण्यगर्भः क्षेत्रज्ञो दक्षिणेऽक्षि(क्ष)ण्यक्ष्णोर्नियन्ता द्रष्टा चान्यो देहस्वामी। न। स्वतो भेदानभ्युपगमात्। "एको देवः सर्वभूतेषु गूढः" इति श्रुतेः (श्वेता० ।६।११)

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत। गी० १३।२
अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ॥ इति स्मृतेः गी १३।१६

सर्वेषु करणेष्वविशेषेऽपि दक्षिणाक्षि (क्ष) ण्युपलब्धिपाटवदर्शनात्तत्र विशेषेण निर्देशो विश्वस्य। दक्षिणाक्षिगतो रूपं दृष्ट्वा निमीलिताक्षस्तदेव स्मरन्मनस्यन्तः स्वप्न इव तदेव वासनारूपाभिव्यक्तं पश्यति। यथाऽत्र तथा स्वप्ने। [1]अतो मनस्यन्तस्तु तैजसोऽपि विश्व एव। आकाशे च [2]हृदिस्मरणाख्य-व्यापारोपरमे प्राज्ञ एकीभूतो घनप्रज्ञ एव भवति। मनोव्यापाराभावात्। दर्शनस्मरणे एव हि मनःस्पन्दिते तदभावे हृद्येवाविशेषेण प्राणात्मनाऽवस्थानम्। "प्राणो ह्येवैतान्सर्वान्संवृङ्क्ते" (छा० ४।३।३) इति श्रुतेः।

विश्वादि के स्थान

जाग्रदादि अवस्थाओं में क्रमशः संचरण करने वाले विश्वादि तीनों को जाग्रत में ही अनुभव कराने के लिये यह श्लोक है, 'दक्षिणाक्षि इत्यादि'। दाहिना नेत्र ही जिसका उपलब्धि द्वार है, ऐसे जाग्रत् में प्रधान रूप से स्थूल पदार्थों का द्रष्टा विश्वात्मा दक्षिण नेत्र में ही अनुभव होता है। "यह पुरुष जो दक्षिण नेत्र में स्थित है निश्चय ही वह इन्ध नाम वाला है" ऐसी श्रुति है। प्रकाशगुण वाले वैश्वानर को इन्ध कहा गया है। आदित्य के भीतर विराड मण्डल में रहने वाला आत्मा और नेत्र में स्थित द्रष्टा आत्मा एक ही है।

पूर्वपक्ष—हिरण्यगर्भ समष्टिसूक्ष्मप्रपंचाभिमानी सूर्यमण्डलस्थ भिन्न है और दक्षिणनेत्र में स्थित देहनियन्ता साक्षी शरीराभिमानी भिन्न ही है। ऐसी परिस्थिति में दोनों की एकता कैसे बतला रहे हो ?

सि०—ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि उनका भेद स्वरूप से नहीं माना गया है। उन दोनों का भेद तो औपाधिक है। इसीलिये "सम्पूर्ण प्राणियों में एक ही परमात्म देव समष्टि-व्यष्टि रूप से छिपा हुआ है" ऐसी श्रुति है तथा "हे अर्जुन ! सम्पूर्ण शरीरों में क्षेत्रज्ञ आत्मा तो मुझे ही जान। वास्तव में मैं अविभक्त होता हुआ भी सम्पूर्ण भूतों में विभक्त के समान ही स्थित हूं" इत्यादि स्मृति भी कहती है। अतः जीव-ईश्वर का एकत्व श्रुति-स्मृति से सिद्ध है। सम्पूर्ण इन्द्रियों में समान रूप से स्थित होता हुआ दक्षिण नेत्र में उसकी उपलब्धि स्पष्ट रूप से देखी जाती है। अतएव दक्षिण नेत्र में ही विश्व का निर्देश विशेष रूप से किया गया है। दक्षिण नेत्र में स्थित जीवात्मा रूप को देख पुनः नेत्र बन्द कर मन में उसी का स्मरण करता हुआ वासना रूप से अभिव्यक्त उसी पदार्थ को स्वप्न की भाँति देखता है। जैसे जाग्र-दवस्था में होता है वैसे ही स्वप्न में भी होता है। इन दोनों में कोइ भेद न होने के कारण यह जाग्रद्

---

१. अतः—विश्वस्यैव वासनार्थद्रष्टृत्वात्। २. हृदि—हृदयावच्छिन्नाकाशे।

में स्वप्न ही तो है। अतः स्थानद्वय में द्रष्टाभेद की शंका न रह जाने के कारण मन के भीतर स्थित तैजस भी विश्व ही है।

विश्वतैजसप्राज्ञानां स्थानत्रयं क्रमेण संचरतामैक्यमेव वस्तुतो भवतीत्यत्र हेत्वन्तरं विवक्षन्नाह—दक्षिणेति। श्लोकस्य तात्पर्यं संगृह्णाति—जागरितेति। न चैकस्यामवस्थायामेकस्मिन्नेव देहे भिन्नत्वमात्मनस्तद्वादिभिरपीष्यते। [1]जाग्रदवस्थायामिति तु देहे व्यवस्थितत्वोक्त्या विशेषणम्। तद्धि तत्र व्यवस्थितत्वं यदात्मनः सर्वगतस्य तदभिमानित्वम्। देहाभिमानश्च जागरिते परं संभवति। तेन तस्यामेवावस्थायामेकस्मिन्नेव देहे त्रयाणामनुभवात्तेषां मिथो भेदो नास्तीति सिध्यतीत्यर्थः। मुखं द्वारमुपलब्धिस्थानं शरीरमात्रे दृश्यमानस्य कथमिदमुपलब्धौ विशेषायतनमुपदिश्यते स्थानान्तरापेक्षयाऽस्य प्राधान्यादित्याह—प्राधान्येनेति। अनुभूयते ध्याननिष्ठैरिति शेषः। उक्तेऽर्थे श्रुतिं संवादयति—इन्ध इति। बृहदारण्यकश्रुतेरुदाहृतायास्तात्पर्यार्थमाह—इन्ध इत्यादिना। वैराजस्याऽऽत्मनो यथोक्तगुणवत्त्वेऽपि द्रष्टुश्चाक्षुषस्य किमायातमित्याशङ्क्याऽऽह—चक्षुषि चेति। अध्यात्माधिदैवयोरेकत्वादाधिदैविको गुणश्चाक्षुषेऽप्याध्यात्मिके संभवतीत्यर्थः। उक्तमेकत्वमाक्षिपति—नन्विति। हिरण्यगर्भः सूक्ष्मप्रपञ्चाभिमानी सूर्यमण्डलान्तर्गतः सूक्ष्मसमष्टिदेहो लिङ्गात्मा चक्षुर्गोलकानुगतेन्द्रियानुग्राहकः संसारिणोऽर्थान्तरम्। विराडात्माऽपि स्थूलप्रपञ्चाभिमानी सूर्यमण्डलात्मकः समष्टिदेहश्चक्षुर्गोलकद्वयानुग्राहकस्ततोऽर्थान्तरमेव क्षेत्रज्ञस्तु व्यष्टिदेहो दक्षिणे चक्षुषि व्यवस्थितो द्रष्टा [2]चक्षुषोः [3]करणानां नियन्ता कार्यकरणस्वामी ताभ्यां समष्टिदेहाभ्यामन्योऽभ्युपगम्यते। तदेवं समष्टिव्यष्टित्वेन व्यवस्थितजीवभेदादानुकमेकत्वमयुक्तमित्यर्थः। कालपनिको जीवभेदो वास्तवो वेति विकल्प्याऽऽद्यमङ्गीकृत्य द्वितीयं दूषयति—नेत्यादिना। एको हि परो देवः सर्वेषु भूतेषु समष्टित्वेन व्यष्टित्वेन च समावृतस्तिष्ठतीति श्रवणाद्वस्तुतो भेदो नास्तीत्युक्तं हेतुं साधयति—एक इति। सर्वेषु क्षेत्रेषु व्यवस्थितं क्षेत्रज्ञं मामीश्वरं विद्धीति भगवतो वचनाच्च तात्त्विकभेदासिद्धिरित्याह—क्षेत्रज्ञं चेति। सर्वेषु भूतेषु क्षेत्रज्ञश्चेदात्मैकः कथं तर्हि प्रतिभूतं भेदप्रथेत्याशङ्क्याऽऽह—अविभक्तं चेति। तत्त्वतोऽविभागेऽपि देहकल्पनया भेदधीरित्यर्थः।

ननु करणेषु सर्वेषु विश्वस्याविशेषाच्च दक्षिणे चक्षुषि विशेषनिर्देशो युज्यते। यद्यपि करणान्तरेभ्यश्चक्षुषिप्राधान्यमुक्तं तथाऽपि नार्थो दक्षिणविशेषणेनेति तत्राऽऽह-सर्वेष्विति। श्रुत्यनुभवाभ्यां निर्देशविशेषसिद्धिरित्यर्थः। यद्यपि [4]देहदेशभेदे विश्वोऽनुभूयते तथाऽपि कथं जागरिते तैजसोऽनुभूयत इत्याशङ्क्य द्वितीयं पादं व्याचष्टे-दक्षिणेति। यथा स्वप्ने जागरितवासनारूपेणाभिव्यक्तमर्थजातं द्रष्टाऽनुभवति तथैव जागरिते दक्षिणे चक्षुषि द्रष्टृत्वेन व्यवस्थितः संनिकृष्टं रूपं दृष्ट्वा पुनर्निमीलिताक्षो दृष्टमेव रूपं रूपोपलब्धिजनितसमुद्बुद्धवासनात्मना मनस्यन्तरभिव्यक्तं स्मरन्विश्वस्तैजसो भवति। तथा च तयोर्भेदाशङ्का नावतरतीत्यर्थः। स्वप्नजागरितयोर्विलक्षणत्वात्तद्द्रष्ट्रोर्विश्वतैजसयोरपि वैलक्षण्यमुचितमित्याशङ्क्याऽऽह—यथेति। जागरिते यथाऽर्थजातं द्रष्टा पश्यति तथैव स्वप्नेऽपि तदुपलभते। [5]ततो न तयोर्वैलक्षण्यसिद्धिरित्यर्थः। द्वितीयपादस्य व्याख्यामुपसंहरति—अत इति। स्थानद्वये द्रष्टुर्भेदाशङ्का निरवकाशेति दर्शयितुमेवकारः। तृतीयं पादं व्याकुर्वन्नात्मन्येव सुषुप्तिं दर्शयति—आकाशे चेति। यो विश्वस्तैजसत्वमुपगतः स पुनः स्मरणाख्यस्य व्यापारस्य व्यावृत्तौ हृदयावच्छिन्नाकाशे स्थितः सन्प्राज्ञो भूत्वा तल्लक्षणलक्षितो भवति। न हि तस्य रूपविषयदर्शनस्मरणे परिहृत्य विशिष्टाकारनिविष्टस्य प्राज्ञादर्थान्तरत्वम्। अतश्च स एकीभूतो विषयविषय्याकाररहितः। यतो घनप्रज्ञो विशेषविज्ञानविरही रूपान्तररहितस्तिष्ठतीत्यर्थः। उक्तमर्थं प्रपञ्चयन्मनोव्यापाराभावादिति हेतुमुक्त्वा व्याचष्टे—दर्शनेत्यादिना। अविशेषेणाव्याकृतरूपेणेत्यर्थः। अवस्थानं जागरिते सुषुप्तमिति शेषः। यदुक्तमव्याकृतेन प्राणात्मना हृद्येऽवस्थानमिति तत्र प्रमाणमाह—प्राणो हीति। यो हि प्राणोऽध्यात्मं प्रसिद्धः स वागादीन्प्राणानात्मनि संवृङ्क्ते संहरतीति प्राणस्याध्यात्मं वागादिसंहर्तृत्वमुक्तम्। अधिदैवं च यो वायुः सूत्रात्मा सोऽग्न्यादीनात्मनि संहरतीत्यग्न्यादिसंहर्तृत्वं वायोरुक्तम्। अध्यात्माधिदैवयोश्चैकत्वात्प्राणस्य वायोश्च वागादिष्वग्न्यादिषु संहर्तृत्वेनाव्याकृतत्वस्य [6]संवर्गविद्यायां

---

१. जागरितावस्थायामिति—भाष्यस्योदक्षत्वशङ्कां वारयन्नाह—जाग्रदित्यादि। २. अक्षणोरिति व्याचष्टे—चक्षुषोरिति। ३. तदुपलक्षणीकृत्याह—करणानामिति। ४. देहदेशभेदे—दक्षिणाक्षणीत्यर्थः। ५. तत इति—द्रष्टुरेकत्वेनानुभवादित्यर्थः। ६. संवर्गविद्यायाम्—छान्दोग्ये चतुर्थाध्याये तृतीयखण्डे 'वायुर्वावसंवर्ग' इत्यादिनोक्तायाम्।

तैजसो हिरण्यगर्भो [1]मनःस्थत्वात् "लिङ्गं मनः" (बृ० ४।४।६)। "मनोमयोऽयं पुरुषः" (बृ ५.६।१) इत्यादि श्रुतिभ्यः। ननु व्याकृतः प्राणः सुषुप्ते तदात्मकानि करणानि भवन्ति कथमव्याकृतता। नैष दोषः। अव्याकृतस्य देशकालविशेषाभावात्।

यद्यपि प्राणाभिमाने सति व्याकृततैव प्राणस्य तथाऽपि पिण्डपरिच्छिन्नविशेषाभिमाननिरोधः प्राणे भवतीत्यव्याकृत एव प्राणः सुषुप्ते परिच्छिन्नाभिमानवताम्। यथा प्राणलये परिच्छिन्नाभिमानिनां प्राणोऽव्याकृतस्तथा प्राणाभिमानिनोऽप्यविशेषापत्तावव्याकृतता समाना प्रसवबीजात्मकत्वं च तदध्यक्षश्चैकोऽव्याकृतावस्थः। परिच्छिन्नाभिमानिनामध्यक्षाणां च तेनैकत्वमिति पूर्वोक्तं विशेषणमेकीभूतः प्रज्ञानघन इत्याद्युपपन्नम्। तस्मिन्नुक्तहेतुत्वाच्च।

वैसे ही स्मरणरूप व्यापार के हट जाने पर हृदयाकाश में स्थित प्राज्ञ, एकीभूत और घन प्रज्ञा वाला है। अर्थात् उस समय विशेष विज्ञान नहीं रहा, क्योंकि मनोव्यापार का अभाव हो गया है। दर्शन और स्मरण मन के स्फुरण ही हैं। उसके हट जाने पर उसे हृदयकाश में निर्विशेष प्राण रूप से स्थित होना माना गया है, यह मानो जाग्रद् में सुषुप्ति है। "यह आध्यात्मिक वायु प्रसिद्ध प्राण वागादि प्राणों को अपने में लीन कर लेता है" इस श्रुति से मन में स्थित होने से तैजस हिरण्यगर्भ स्वरूप है। "सत्रह अवयव वाला लिंग शरीर रूप मन है"। "यह हिरण्यगर्भ रूप पुरुष मनोमय है" इत्यादि श्रुतियों से भी हिरण्यगर्भ और तैजस का अभेद सिद्ध होता है।

पूर्वपक्ष—सुषुप्तावस्था में प्राण तो नाम-रूप के कारण विशेषभावापन्न हो रहता है तथा सभी इन्द्रियाँ उस समय प्राण रूप हो जाती है, फिर भला उसमें अव्याकृतरूपता कैसे कह रहे हो?

सि०—यह दोष नहीं है, क्योंकि अव्याकृतवस्तु में देश-कालादि विशेष का अभाव होता है जो दोनों ही में समान रूप से देखा जाता है। यद्यपि स्वप्नकाल में प्राणाभिमान रहने पर प्राण की व्याकृतरूपता अवश्य है, फिर भी सुषुप्तिकाल में पिण्ड-परिच्छेद विशेष का अभिमान नहीं रहता। मेरे शरीर में यह प्राण चल रहा है ऐसा अभिमान सुषुप्त पुरुष को प्राण के विषय में नहीं रहता। अतः परिच्छिन्न देहाभिमानियों के लिये भी सुषुप्तावस्था में प्राण अव्याकृत ही है। जैसे मर जानेपर परिच्छिन्न शरीराभिमानियों का प्राण अव्याकृत होकर रहता है। वैसे ही प्राणाभिमानियों के भी प्राणाभिमान निरुद्ध हो जाने पर प्राण अविशेषभाव को प्राप्त हो जाता है इसीलिये अव्याकृतरूपता सुषुप्त पुरुष में भी समान ही है। वैसे ही उत्पत्ति की बीजरूपता भी समान ही है। अतः अव्याकृत और सुषुप्त इन दोनों अवस्थाओं का अध्यक्ष भी अव्याकृत अवस्था को प्राप्त हुआ एक ही चेतन है। परिच्छिन्न देहाभिमानी और उनके साक्षी उपाधि-परिच्छिन्न की एकता उसके साथ मानी गयी है। अतः प्रज्ञात्मा को एकीभूत प्रज्ञानघन इत्यादि विशेषण देना युक्तियुक्त है। इस सम्बन्ध में अध्यात्म और अधिदैव का एकत्वरूप पूर्वोक्त हेतु भी विद्यमान है।

सूचितत्वादव्याकृतेन प्राणात्मना सुषुप्ते प्राज्ञस्यावस्थानमिति युक्तमेवोक्तमित्यर्थः।

पूर्वमेव विश्वविराजोरैक्यस्यानन्तरं च सुषुप्ताव्याकृतयोरेकत्वस्य दर्शितत्वात्तैजसहिरण्यगर्भयोरनुक्तमभेदं वक्तव्यमिदानीमुपन्यस्यति—तैजस इति। तत्र हेतुमाह—मनःस्थत्वादिति। हिरण्यगर्भस्य समष्टिमनोनिष्ठत्वात्तैजसस्य व्यष्टिमनोगतत्वात्तयोश्च समष्टिव्यष्टिमनसोरेकत्वात्तद्गतयोरपि तैजसहिरण्यगर्भयोरेकत्वमुचितमित्यर्थः। किंच हिरण्यगर्भस्य [2]क्रियाशक्त्युपाधौ [3]लिङ्गात्मतया प्रसिद्धत्वात्तस्य च [4]सामानाधिकरण्यश्रुत्या मनसा सहाभेदावगमान्मनोनिष्ठस्य तैजसस्य युक्तं हिरण्यगर्भत्वमित्याह—लिङ्गमिति।

किञ्च पुरुषस्य मनोमयत्वश्रवणात्पुरुषविशेषत्वाच्च हिरण्यगर्भस्य तत्प्रधानत्वाधिगमात्तन्निष्ठस्तैजसो हिरण्यगर्भो भवितुमर्हतीत्याह—मनोमय इति। प्राणस्य प्रागुक्तमव्याकृतत्वमाक्षिपति—नन्विति। सुषुप्ते हि प्राणो नाम-

---

१. मनःस्थत्वात्नाम—मनउपहितत्वादित्यर्थः। २. क्रियाशक्त्युपाधौ—लिङ्गे इति यावत्। ३. लिङ्गात्मतयेति—लिङ्गस्यात्मतयेत्यर्थः। ४. सामानाधिकरण्यश्रुत्येति—लिङ्गं मनो यत्र निषक्तमस्येत्यनयेत्यर्थः।

कथं [1]प्राणशब्दत्वमव्याकृतस्य। "प्राणबन्धनं हि सोम्य [2]मनः" (छा० ६।८।२) इति श्रुतेः। ननु तत्र 'सदेव सोम्य' (छा० ६।२।१) इति प्रकृतं सद्ब्रह्म प्राणशब्दवाच्यम्। नैष दोषः। बीजात्मकत्वाभ्युपगमात्सतः। यद्यपि सद्ब्रह्म प्राणशब्दवाच्यं तत्र तथाऽपि जीवप्रसवबीजात्मकत्वमपरित्यज्यैव प्राणशब्दत्वं सतः सच्छब्दवाच्यता च। यदि हि [3]निर्बीजरूपं विवक्षितं ब्रह्माभविष्यत् 'नेति नेति' (बृ० ४।४।२२, ९।४।३।१५) 'यतो वाचो निवर्तन्ते' तै० २।९ 'अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितात्' (के० १।३) इत्यवक्ष्यत्। 'न सत्तन्नासदुच्यते' (गी० १३।१२) इति स्मृतेः। निर्बीजतयैव चेत्सति लीनानां सम्पन्नानां सुषुप्तप्रलययोः पुनरुत्थानानुपपत्तिः स्यात्। मुक्तानां च पुनरुत्पत्तिप्रसङ्गः। बीजाभावाविशेषात्।

पूर्वपक्ष—फिर भी अव्याकृत को प्राण शब्द से कैसे कह रहे हो?

सि०—हे सौम्य! यह (मन) प्राण यानी ईश्वर के ही अधीन है। इस श्रुति के आधार पर हमने अव्याकृत को प्राणशब्द वाच्य कहा है।

पूर्वपक्ष—पर वहाँ तो 'सदेव सोम्य' इस श्रुति में प्रसंगानुसार सद्ब्रह्म ही प्राण वाच्य है?

सि०—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि वहाँ पर सद्ब्रह्म को बीज रूप से स्वीकार किया है। निरुपाधिक ब्रह्म से जगत् की सृष्टि नहीं होती। यह ठीक है कि वहाँ प्राण शब्दवाच्य शब्द ब्रह्म ही है। फिर भी जीवों की उत्पत्ति का कारण बीजरूपता ही उसमें है। उस अव्याकृत उपाधि का परित्याग किये बिना ही उस सोपाधिक सद्ब्रह्म में प्राण शब्द का प्रयोग है और सद्ब्रह्म में सत्शब्द वाच्यता भी है। यदि निरुपाधिक ब्रह्म वहाँ सत् शब्द से बतलाना अभीष्ट होता तो 'यह नहीं, यह नहीं' 'जहाँ से वाणी लौट आती है', 'वह विदित वस्तु से अन्य है और अविदित वस्तु से भी ऊपर है' इत्यादि प्रकार से उसे बतलाना चाहिये था। जैसा कि 'वह न सत् कहा जा सकता है और न असत् ही' इस स्मृति से शुद्ध ब्रह्म को बतलाया गया है। एवं यदि वहाँ पर सत् शब्द से निर्बीज रूप में ब्रह्म को बतलाना अभीष्ट होता तो सुषुप्ति और मरण में, सद्ब्रह्म में लीन हुए सम्पूर्ण जीवों का पुनरुत्थान सम्भव नहीं होगा और शुद्ध से पुनरुत्थान मानने पर मुक्त पुरुषों के भी पुनर्जन्म का प्रसंग आ जायेगा, क्योंकि शुद्धब्रह्म में लीन हुए सुषुप्त पुरुष और मुक्त पुरुष में बीज का अभाव समान ही है।

रूपाभ्यां व्याकृतो युक्तस्तद्व्यापारस्य पार्श्वस्थैरतिस्पष्टं दृष्टत्वादित्यर्थः। किञ्च तस्यामवस्थायां वागादीनि करणानि प्राणात्मकानि भवन्ति। त एतस्यैव सर्वे रूपमभवन्निति श्रुतेः। [4]अतोऽपि प्राणस्य व्याकृतत्वं युक्तमित्याह—तदात्मकानीति। उक्तन्यायेन प्राणस्याव्याकृतत्वायोगादव्याकृतेन प्राणात्मना सुषुप्तस्याऽवस्थानमयुक्तमिति निगमयति—कथमिति। एकलक्षणत्वादव्याकृतप्राणयोरेकत्वोपपत्तिरित्युत्तरमाह—नैष दोष इति। अव्याकृतं हि देशकालपरिच्छेदशून्यम्। प्राणोऽपि सौषुप्तद्रष्टृस्तथा। न हि सौषुप्तदृष्ट्या तत्कालीनस्य प्राणस्य देशादिपरिच्छेदोऽवगम्यते। तथा च लक्षणाविशेषादव्याकृतप्राणयोरेकत्वमविरुद्धमित्यर्थः।

तस्यायं प्राणो ममायमिति देशपरिच्छेदप्रतिभानादेकलक्षणत्वाभावान्न प्राणस्याव्याकृतत्वमित्याशङ्क्याऽऽह—यद्यपीति। [5]परिच्छिन्नाभिमानवतां मध्ये प्रत्येकं ममायमिति प्राणाभिमाने सति प्राणस्य यद्यपि व्याकृततैव भवति तथाऽपि सुषुप्त्यवस्थायां पिण्डेन परिच्छिन्नो यो विशेषस्तद्विषयो ममेत्यभिमानस्तस्य निरोधस्तस्मिन्भवतीति प्राणोऽव्याकृत एवेति योजना। प्रतिबुद्धदृष्ट्या विशेषाभिमानविषयत्वेन व्याकृतत्वेऽपि सुषुप्तदृष्ट्या तदुपसंहारादव्याकृतत्वं प्राणस्याविरुद्धमिति भावः। विशेषाभिमाननिरोधे प्राणस्याव्याकृतत्वं क्व दृष्टमित्याशङ्क्याऽऽह—यथेति। परिच्छिन्नाभिमानिनां प्राणलयो मरणं तत्राभिमाननिरोधे प्राणो नामरूपाभ्यामव्याकृतो यथेष्यते तथैव प्राणाभिमानिनोऽपि तदभिमाननिरोधेना[6]विशेषापत्तिः सुषुप्तिः। तत्राव्याकृतता प्राणस्य प्रागुक्तदृष्टान्तेनाविशिष्टा। ततो विशेषाभिमाननिरोधे प्राणस्याव्याकृतत्वं प्रसिद्धमित्यर्थः। किञ्च यथाऽऽधिदैविकमव्याकृतं जगत्प्रसवबीजम्। तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियत इति

१. प्राणेति—ईश्वरेत्यर्थः। २. मन—मन उपहितजीवः। ३. निर्बीजरूपमिति—निरुपाधिस्वरूपमित्यर्थः। ४. अत इति—करणलयाधिकरणत्वादित्यर्थः। ५. परिच्छिन्नः—ज्ञात इत्यर्थः। ६. अविशेषापत्तिः—सदभेदापत्तिः।

ज्ञानदाह्यबीजाभावे च ज्ञानानर्थक्यप्रसङ्गः। तस्मात्सबीजत्वाभ्युपगमेनैव सतः प्राणत्वव्यपदेशः सर्वश्रुतिषु च कारणत्वव्यपदेशः। अत एव "अक्षरात्परतः परः" मु० २।१।२। "सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः" मु० २।१।२। "यतो वाचो निवर्तन्ते" तै० २।९ "नेति नेति" बृ० ४।४।२२ इत्यादिना बीजत्वापनयनेन व्यपदेशः। तामबीजावस्थां [1]तस्यैव प्राज्ञशब्दवाच्यस्य तुरीयत्वेन देहादिसंबन्धरहितां पारमार्थिकीं पृथग्वक्ष्यति बीजावस्थाऽपि न किंचिदवेदिषमित्युत्थितस्य प्रत्ययदर्शनाद्देहेऽनुभूयत एवेति त्रिधा देहे व्यवस्थित इत्युच्यते ॥२॥

ज्ञान से दग्ध होने योग्य अनिर्वचनीय अज्ञान को न मान कर ज्ञान प्रागभाव या मिथ्याज्ञान अज्ञान शब्द का अर्थ करोगे तो ज्ञान का उपदेश अनर्थक हो जायेगा। मैं अज्ञानी हूँ इस प्रकार भावरूप अज्ञान का प्रत्यक्ष हो रहा है। ज्ञान प्रागभावादिरूप इस अज्ञान को मानने पर तो इसका प्रत्यक्ष न हो सकेगा, बल्कि यह अनुपलब्धि प्रमाणगम्य होने लग जायेगा। अतः सद्ब्रह्म को अज्ञान रूप बीज से युक्त स्वीकार करके ही उसे सभी श्रुतियों में प्राण रूप से बतलाया गया है, साथ ही साथ बीज को ही जगत् का कारण कहा गया है। इसीलिये 'वह परमात्मा अक्षर से भी पर है' 'वह कार्य और कारण के सहित उस कल्पना का अधिष्ठान होने से अजन्मा है' 'जिस ब्रह्म के पास से मन के सहित वाणी अवकाश न प्राप्त कर लौट आती है' 'यह नहीं, यह नहीं' इत्यादि श्रुतियों से शुद्ध ब्रह्म का उपदेश सबल ब्रह्म ही जगत् का कारण सिद्ध होता है। उस प्राज्ञ शब्द वाच्य जीव को देहादि से सम्बन्ध एवं जाग्रदादि अवस्था से रहित उस पारमार्थिक अज्ञानरूप बीज अवस्था से शून्य तुरीय रूप से पृथक् बतलायेंगे। सुषुप्ति से जगे हुए व्यक्ति को 'न किञ्चिदवेदिषम्' (मैंने कुछ भी नहीं जाना) ऐसी प्रतीति दीखने से इस वर्तमान देह में ही बीजावस्था का भी अनुभव होता ही है। इसीलिये तो 'वह देह में तीन प्रकार से व्यवस्थित है' ऐसा कारिका में कहा गया है।

श्रुतेः। तथा प्राणाख्यं [2]सुषुप्तं जागरितस्वप्नयोर्भवति बीजम्। तथा च कार्यं प्रति प्रसवबीजरूपत्वमविशिष्टमुभयोरिति लक्षणाविशेषादव्याकृतप्राणयोरेकत्वस्य प्रसिद्धिरित्याह—प्रसवेति। समानमित्यनुकर्षार्थं चकारः। उपाधिस्वभावालोचनया सुषुप्ताव्याकृतयोरभेदमभिधायोपहितस्वभावालोचनयाऽपि तयोरभेदमाह—तदध्यक्षश्चेति। अव्याकृतावस्थः सुषुप्तावस्थश्च तयोरुपहितस्वभावयोराध्यात्मिकाधिदैविकयोरेकोऽधिष्ठाता चिद्धातुः। अतोऽपि तयोरेकत्वं सिध्यतीत्यर्थः। सुषुप्ताव्याकृतयोरेवमेकत्वं प्रसाध्य तस्मिन्नव्याकृते सुषुप्ते प्रागुक्तं विशेषणं युक्तमित्याह—परिच्छिन्नेति। यद्यपि विशेषानभिव्यक्तिमात्रेणैकीभूतत्वादिविशेषणमुपपादितं तथाऽपि परिच्छिन्नाभिमानिनामुपाधिप्रधानानां तत्र तत्राध्यक्षाणां चोपहितानामव्याकृतेनैकत्वम्। अतोऽपि प्रागु[क्त]विशेषणोपप[त्ति]रित्यर्थः। किंच[ा]ध्यात्माधि[दैविक]योरेकत्वमिति प्रागु[क्त]हेतुसङ्गावाच्च युक्तं सुषुप्ते प्राज्ञे प्राणा[ख्ये]ऽव्याकृते यथोक्तं विशेषणमित्याह—पूर्वो[क्त]मिति। ग्रन्थगतादिशब्देन सर्वेश्वरत्वादिविशेषणं गृह्यते।

प्राण[श]ब्दस्य पञ्चवृत्तौ वायुविकारे रूढत्वान्नाव्याकृतविषयत्वं रूढिविरोधादिति शङ्कते—कथमिति। अन्यत्र रूढत्वेऽपि श्रौतप्रयोगवशादव्याकृतविषयत्वं प्राणशब्दस्य यु[क्त]मिति परिहरति—प्राणबन्धनमिति। प्रकरणस्य ब्रह्मविषयत्वाद्ब्रह्मण्येव प्रकृते वाक्ये प्राणशब्दस्य प्रयोगान्नाव्याकृतविषयत्वं तस्य युक्तं प्रकरणविरोधादिति शङ्कते—नन्विति। प्रकरणस्य ब्रह्मविषयत्वेऽपि ब्रह्मणः सल्लक्षणस्य शबलत्वाङ्गीकारादस्मिन्नपि वाक्ये तत्रैव प्राणशब्दप्रयोगद्युक्तं तस्याव्याकृतविषयत्वमित्युत्तरमाह—नैष दोष इति। संग्रहवाक्यं प्रपञ्चयति—यद्यपीति। तत्रेति प्राणबन्धन [वा]क्यं परामृश्यते। जीवशब्दः सर्वस्यैव कार्यजातस्योपलक्षणम्। प्रकरणवाक्ययोरुभयोरपि परिशुद्धब्रह्मविषयत्वे का क्षतिरित्याशङ्क्य परिशुद्धस्य ब्रह्मणः [3]शब्दप्रवृत्तिनिमित्तागोचरत्वात्तत्रशब्दवाच्यत्वानुपपत्तेर्मैवमित्याह—यदि हीति। न केवलं निरुपाधिकं निर्विशेषं ब्रह्मवाङ्मनसयोरगोचरमिति श्रुतेरेव निर्धार्यते किंतु स्मृतेरपीत्याह—न सदिति।

१. तस्यैवेति—विश्वस्यैवेत्यर्थः। २. सुषुप्तमित्यादि—तदिदमप्येतर्हि नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियते इतिश्रुतेः। तदिदमितिः सुषुप्तिरित्यर्थः। ३. शब्दप्रवृत्तिनिमित्तेति—जातिगुणक्रियासम्बन्धानां शब्दप्रवृत्तिनिमित्तत्वमिति।

विश्वो हि स्थूलभुङ्नित्यं तैजसः प्रविविक्तभुक् ।
आनन्दभुक्तथा प्राज्ञस्त्रिधा भोगं निबोधत ॥३॥
स्थूलं तर्पयते विश्वं प्रविविक्तं तु तैजसम् ।
आनन्दश्च तथा प्राज्ञं त्रिधा तृप्तिं निबोधत ॥४॥

विश्वात्मा सदा स्थूल विषयों का भोक्ता है, तैजस सूक्ष्म पदार्थों का भोक्ता है और प्राज्ञ आनन्द का भोग करता है। इस प्रकार विश्वादि का तीन तरह का भोग समझो ॥३॥ स्थूलवस्तु विश्वात्मा को तृप्त करती है, सूक्ष्मपदार्थ तैजस को तथा आनन्द प्राज्ञ को तृप्त करता है। इस तरह विश्वादि की तृप्ति भी तीन प्रकार की समझो ॥४॥

किंच कार्यजातं प्रति बीजभूताज्ञानरहिततया शुद्धत्वेनैवास्मिन्प्रकरणे ब्रह्म विवक्षितं चेत्तर्हि सता सोम्य तदा संपन्नो भवतीति जीवानां सत्प्राप्तिश्रवणाद्ब्रह्मणः सच्छब्दितस्य शुद्धत्वे [1]सुषुप्त्यादौ तत्र लीनानामेकीभूतानां जीवानां पुनरुत्थानं नोपपद्यते दृश्यते च पुनरुत्थानम् । तेन शबलमेव ब्रह्मात्र विवक्षितमित्याह—निर्बीजतयेति । सुषुप्त्यादौ शुद्धे ब्रह्मणि संपन्नानामपि पुनरुत्थाने मोक्षानुपपत्तिदोषमाह—मुक्तानां चेति । न तेषां पुनरुत्थानं हेत्वभावादित्याशङ्क्य सुषुप्तानां प्रलीनानां च न तर्हि पुनरुत्थानं हेत्वभावस्य तुल्यत्वादित्याह—बीजाभावेति ।

नन्वनाद्यनिर्वाच्यमज्ञानं संसारस्य बीजभूतं नास्त्येव । यद्ब्रह्मणो विशेषणं भवति । [2]अग्रहणमिथ्याज्ञानतत्संस्काराणामज्ञानशब्दवाच्यत्वात्तत्राऽऽह—ज्ञानेति । अज्ञोऽहमित्यज्ञानमपरोक्षमग्रहणस्य च ग्रहणप्रागभावस्य नापरोक्षत्व[3]मिन्द्रियसंनिकर्षाभावादनुपलब्धिगम्यत्वाच्च भ्रान्तितत्संस्कारयोश्चाभावेतरकार्यत्वादुपादानापेक्षणादारम्भश्च केवल रयातद्धेतुत्वात्तदुपादानत्वेनानाद्यज्ञानसिद्धिः । किंच [4]देवदत्तप्रमा तन्निष्ठप्रमाप्रागभावातिरिक्ताऽनादिप्रध्वंसिनी प्रमाणत्वाद्यज्ञदत्तप्रमावत् । न च तदभावे सम्यग्ज्ञानार्थवत्त्वम् । क्षणिकत्वेन भ्रान्तेस्तदनिवर्त्यत्वात्संस्कारस्य च सत्यपि सम्यग्ज्ञाने क्वचिदनुवृत्तिदर्शनान्न चाग्रहणस्य तन्निवर्त्यत्वम् । ज्ञानस्य तन्निवृत्तित्वात् । अतो ज्ञानदाह्यं संसारबीजभूतमनाद्यनिर्वाच्यमज्ञानं ज्ञानस्यार्थवत्त्वायाऽऽस्थेयम् । अन्यथा तदानर्थक्यप्रसङ्गादित्यर्थः । शुद्धस्य ब्रह्मणो वाक्यप्रकरणाभ्यां विवक्षितत्वाभावे फलितमाह—तस्मादिति । ब्रह्मणः शबलस्यैव प्राकरणिकत्वाद्वाक्येऽपि तस्मिन्प्राणशब्दाद्युक्तं प्राणशब्दस्याव्याकृतविषयत्वमिति भावः । यतोऽनाद्यनिर्वाच्याज्ञानशबलस्यैव कारणत्वं ब्रह्मणो धिवक्ष्यत अत एव कारणत्वनिषेधेन परिशुद्धं ब्रह्म श्रुतिरुपदिश्यते । तदेतदाह—अत एवेति । अक्षरमव्याकृतं तच्च कार्यापेक्षया परम् । तस्मात्परोऽयं परमात्मा स हि कार्यकारणाभ्यामस्पृष्टो वर्तते । बाह्यं कार्यमभ्यन्तरं कारणमिति । ताभ्यां सह तत्कल्पनाधिष्ठानत्वेन वर्तमानश्चिद्धातुः । तथा च स चिद्धातुरजोन्मादिसमस्तविक्रियाशून्यत्वेन कूटस्थः श्रुतिस्मृत्योर्व्यपदिश्यते । यतो ब्रह्मणः सकाशाद्वाचः सर्वा मनसा सहावकाशमप्राप्य निवर्तन्ते तद्ब्रह्माऽऽनन्दरूपं विद्वान्न बिभेति । नेति नेतीति वीप्सया सर्वमारोपितमपाक्रियते । आदिशब्देनास्थूलादिवाक्यं गह्यते । बीजत्वनिरासेन शुद्धं ब्रह्म व्यपदिश्यते चेद्बीजत्वं शबलस्यैवेति सिध्यतीत्यर्थः । आचार्येणानुक्तत्वाच्च कारणातिरिक्तं शुद्धं ब्रह्मास्तीत्याशङ्क्य नान्तःप्रज्ञमित्यादिवाक्यशेषान्मैवमित्याह—तामिति । उक्तन्यायेन वस्तुव्यवस्थायामव्याकृतस्य देहेऽनुभवाभावात्त्रिधा देहे व्यवस्थित इति कथमुक्तमित्याशङ्क्याऽऽह—बीजेति ॥ २ ॥

---

१. सुषुप्त्यादावितिः—आदिना मूर्च्छादिमाह । २. अग्रहणेत्यादि—अग्रहण ज्ञानप्रागभावः । मिथ्याज्ञानं भ्रान्तिः । भ्रान्तेरेव संस्कार इह । ३. आत्मनोऽसङ्गत्वादाह—इन्द्रियेत्यादि । ४. देवदत्तप्रमेत्यादि—इदमनुमानं महाविद्यानुमानमिति केचिदाहुः प्रकारान्तरेण दृष्टान्ते साध्योपसंहारशालित्वे सति प्रकारान्तरेण पक्षे साध्योपसंहारशालित्वं तत्त्वमिति चाचक्षते । इदमेवात्र प्रकारान्तरत्वं यद्दृष्टान्ते साध्यसंपत्तिवेलायामतिरिक्तानादिशब्देन प्रमाप्रागभावस्य पक्षे साध्यसंपत्तिवेलायां तु तेन शब्देन मूलाज्ञानस्य ग्रहणमिति ।

त्रिषु धामसु यद्भोज्यं भोक्ता यश्च प्रकीर्तितः।
वेदैतदुभयं यस्तु स भुञ्जानो न लिप्यते ॥ ५ ॥

(जाग्रत्, स्वप्न तथा सुषुप्ति इन) तीनों स्थानों में जो स्थूल, सूक्ष्म तथा आनन्द नामक भोज्य और विश्वादि उनके भोक्ता बतलाये गये हैं, इन दोनों को जो (उक्तरीति से) जानता है, वह स्थूलादि विषयों को भोगते हुए भी उनसे लिप्त नहीं होता है ॥५॥

उक्तार्थौ श्लोकौ ॥ ३ ॥ ४ ॥

त्रिषु धामसु जाग्रदादिषु स्थूलप्रविविक्तानन्दाख्यं भोज्यमेकं त्रिधाभूतम्। यश्च विश्वतैजसप्राज्ञाख्यो भोक्तैकः सोऽहमित्येकत्वेन प्रतिसंधानाद्द्रष्टृत्वाविशेषाच्च प्रकीर्तितः। यो वेदैतदुभयं [1]भोज्यभोक्तृतयाऽनेकधा भिन्नं स भुञ्जानो न लिप्यते। भोज्यस्य सर्वस्यैकस्य भोक्तुर्भोज्यत्वात्। न हि यस्य यो विषयः स तेन हीयते वर्धते वा। न ह्यग्निः स्वविषयं दग्ध्वा काष्ठादि तद्वत् ॥ ५ ॥

त्रिविध भोग्य और भोक्ता

तीसरे चौथे श्लोक का अर्थ कहा जा चुका है। अतः यहाँ बतलाना आवश्यक नहीं। अर्थात् विश्व सदा स्थूल विषयों का भोक्ता है। तैजस सूक्ष्म विषयों का भोक्ता है और प्राज्ञ आनन्द का भोक्ता है। इस प्रकार त्रिविध रूप में भोग्य को जानो। स्थूल वस्तु विश्व को तृप्त करती है। सूक्ष्म तैजस को और आनन्द प्राज्ञ को तृप्त करती है। अतः तृप्ति भी तीन प्रकार की जानो ? ॥३-४॥

त्रिविध भोक्ता भोग्य ज्ञान का फल

जाग्रदादि तीन स्थानों में जो स्थूल सूक्ष्म और आनन्द नामक एक ही भोज्य तीन रूप से विभक्त है और जो विश्व तैजस प्राज्ञ नामक भोक्ता एक है, क्योंकि 'वह मैं हूँ' इस प्रकार से अनुसंधान होता है और तीनों में द्रष्टृत्व भी समान है। इस प्रकार भोज्य और भोक्ता रूप से अनेक भाव में विभक्त इन दोनों को जो जानता है, वह तीनों अवस्थाओं के भोज्यवस्तु का भोग यानी अनुभव करता हुआ भी उनसे लिप्त नहीं होता, क्योंकि समस्त भोज्य वस्तु एक ही भोक्ता के भोग्य है। विषय से विषयी सदा भिन्न हुआ करता है अतः जिसका जो विषय है, वह विषयी विषय की न्यूनता एवं अधिकता से ह्रास और वृद्धि को वैसे ही प्राप्त नहीं होता, जैसे अपने विषय काष्ठादि को जलाकर अग्नि अपने स्वरूप में घटता या बढ़ता नहीं, किन्तु सदा समान ही रहता है ॥५॥

विश्वादीनां त्रयाणां त्रिधा देहे व्यवस्थितिं प्रतिपाद्य तेषामेव त्रिधा भोगं निगमयति—विश्वो हीति ॥ ३ ॥

भोगप्रयुक्तां तृप्तिमधुना त्रेधा विभजते—स्थूलमिति। उदाहृतश्लोकयोर्व्याख्यानापेक्षां वारयति—उक्तार्थाविति ॥४॥

प्रकृतभोक्तृभोग्यपदार्थद्वयपरिज्ञानस्यावान्तरफलमाह—त्रिष्विति। पूर्वार्धं व्याचष्टे—जाग्रदादिष्विति। भोग्यत्वेनैकत्वेऽपि त्रैविध्यमवान्तरभेदादुन्नेयम्। भोक्तुरेकत्वे हेतुमाह—सोऽहमिति। योऽहं सुषुप्तः सोऽहं स्वप्नं प्राप्तः। यश्च स्वप्नमद्राक्षं सोऽहमिदानीं जागर्मीत्येकत्वं प्रतिसंधीयते। न च तत्र बाधकमस्ति। तद्युक्तं भोक्तुरेकत्वमित्यर्थः। किंचाज्ञानं तत्कार्यं च प्रति प्राज्ञादिषु द्रष्टृत्वस्याविशिष्टत्वाद्द्रष्टृभेदे च प्रमाणाभावाद्युक्तं तदेकत्वमित्याह—द्रष्टृत्वेति। द्वितीयार्धं विभजते—यो वेदेति। कथमेतावता भोगप्रयुक्तदोषराहित्यं तत्राऽऽह—भोज्यस्येति। यद्यपि भोक्तुरेकस्यैव सर्वं भोग्यमित्यवगतं तथाऽपि कथं सर्वं भुञ्जानो भोगप्रयुक्तदोषवान्न भवतीत्याशङ्क्याऽऽह—न हीति। उक्तमर्थं दृष्टान्तेन स्पष्टयति—न ह्यग्निरिति। स्वविषयान्काष्ठादीन्दग्ध्वा न हीयते वर्धते वाऽग्निरिति संबन्धः ॥ ५ ॥

---

१. भोज्येत्यादि—भोज्यत्वेन रूपेणैकमपि भोज्यं स्थूलप्रविविक्तानन्दत्वेनानेकधाभिन्नं भोक्तापि भोक्तृत्वेनैक एव विश्वत्वादिनानेकधा भिन्नः इत्यर्थः। एतदुभयं यो वेद भोक्ता ह्येक एव सर्वत्रः चेतनः शेषी भोज्यं च सर्वमेकमेव तच्छेषभूतमित्येवं रूपेण निश्चिनोति सभुञ्जानोऽपि मेध्यामेध्यरूपमपि भोज्यं क्वचिदभ्यवहरन्नपि न तत्प्रयुक्तदोषभाग् भवतीत्यर्थः। वह्निरिव मेध्यामेध्यधक्।

प्रभवः सर्वभावानां सतामिति विनिश्चयः ।
सर्वं जनयति प्राणश्चेतोंशून्पुरुषः पृथक् ॥ ६ ॥

विद्यमान सभी पदार्थों की ही उत्पत्ति होती है, ऐसा विद्वानों का निश्चय है। बीजरूप प्राण ही सबको उत्पन्न करता और चेतन पुरुष चिदाभास रूप जीव को (अन्तःकरण भेद से) पृथक्-पृथक् प्रकट करता है ॥६॥

सतां विद्यमानानां [1]स्वेनाविद्याकृतनामरूपमायास्वरूपेण सर्वभावानां विश्वतैजसप्राज्ञभेदानां प्रभव उत्पत्तिः । वक्ष्यति च—"वन्ध्यापुत्रो न तत्त्वेन मायया वाऽपि जायते" इति । यदि ह्यसतामेव जन्म स्याद् ब्रह्मणो व्यवहार्यस्य ग्रहणद्वाराभावादसत्त्वप्रसङ्गः । दृष्टं च रज्जुसर्पादीनामविद्याकृतमायाबीजोत्पन्नानां रज्ज्वाद्यात्मना सत्त्वम् । न हि निरास्पदा रज्जुसर्पमृगतृष्णिकादयः क्वचिदुपलभ्यन्ते केनचित् । यथा रज्ज्वां प्राक्सर्पोत्पत्ते रज्ज्वात्मना सर्पः सन्नेवाऽऽसीत् । एवं सर्वभावानामुत्पत्तेः प्राक्प्राणबीजात्मनैव सत्त्वम् । इत्यतः श्रुतिरपि वक्ति—"[2]ब्रह्मैवेदम्" (मु०६।२।११) "आत्मैवेदमग्र आसीत्" (बृ०१।४।१) इति । सर्वं जनयति प्राणश्चेतोंशूनंशव इव रवेश्चिदात्मकस्य पुरुषस्य चेतोरूपा जलार्कसमाः प्राज्ञतैजसविश्वभेदेन देवतिर्यगादिदेहभेदेषु विभाव्यमानाश्चेतोंशवो ये तान्पुरुषः पृथग्विषयभावविलक्षणानग्निविस्फुलिङ्गवत्सलक्षणाञ्जलार्कवच्च जीवलक्षणांस्त्वितरान्सर्वभावान्प्राणो बीजात्मा जनयति यथोर्णनाभिः (मु० १।१।७) "यथाऽग्नेर्विस्फुलिङ्गाः" बृ० २।१।२० इत्यादिश्रुतेः ॥ ६ ॥

प्राण ही सबका स्रष्टा है

सत्य यानी अपने अविद्याकल्पित नाम-रूपात्ममायिकस्वरूप से विद्यमान विश्व-तैजस तथा प्राज्ञ भेद वाले सभी पदार्थों का ही प्रभव होता है। क्योंकि "असत् वन्ध्यापुत्र न तत्त्वतः और न माया से ही उत्पन्न होता है" ऐसा कारिकाकार स्वयं आगे कहेंगे। यदि स्वरूप से असद् वस्तु का जन्म संभव होता तो सर्वथा व्यवहारायोग्य ब्रह्म के ज्ञान का साधन न होने के कारण उसका भी असत्त्व होने लग जाता, परन्तु अज्ञानकृत मायामय कारण से उत्पन्न रज्जु-सर्पादि की सत्ता अधिष्ठान रज्जुरूप देखी गयी है। क्योंकि कहीं किसी ने भी विना अधिष्ठान के रज्जु-सर्प, मृगतृष्णिकादि भ्रम नहीं देखे होंगे। जैसे सर्प उत्पन्न (विकल्प) से पूर्व रज्जु में अधिष्ठान रज्जुरूप से सर्प सत् ही था। ऐसे ही सम्पूर्ण पदार्थों की उत्पत्ति से पूर्व प्राणात्मक बीज रूप से सर्प की सत्ता विद्यमान ही थी। इसीलिये श्रुति भी कहती है। "यह दृश्यमान जगत् ब्रह्म ही है" "उत्पत्ति से पूर्व यह सब आत्मा ही था" इत्यादि। सम्पूर्ण जड़ जगत् को बीजात्मा प्राण ही व्यवहार योग्य रूप से उत्पन्न करता है। जैसे सूर्य की रश्मियाँ होती है वैसे ही स्वयं ही प्रकाश चेतन आत्मा के जल में प्रतिबिम्बित सूर्य के समान प्राज्ञ, तैजस विश्वरूप से देव मनुष्य और तिर्यगादि विभिन्न देहों में प्रतिबिम्बित जो चिदाभास है, उन्हें पुरुष उत्पन्न करता है, जैसे जल में प्रतिबिम्बित सूर्य आकाशस्थ सूर्य से भिन्न नहीं है, ठीक वैसे ही चेतन प्रतिबिम्ब अपने बिम्बभूत चेतन आत्मा से भिन्न नहीं है। विषय भाव से विलक्षण एवं अग्नि विस्फुलिंग के समान लक्षण वाले जीवों को पुरुष पृथक् ही उत्पन्न करता है। जलगत प्रतिबिम्ब सूर्य के समान समस्त पदार्थों को बीजात्मक प्राण उत्पन्न कराता है। जैसे मकड़ी जाले को बनाती है और जैसे अग्नि से छोटी-छोटी चिनगारियाँ निकलती हैं इत्यादि श्रुतियों से भी यही बात सिद्ध होती है ॥६॥

---

१. स्वेनेति—स्वीयवास्तवस्वरूपेणाधिष्ठानात्मनेति यावत् । २. ब्रह्मैवेदमिति—न हि सर्वस्य ब्रह्माधिष्ठानत्वमन्तरेण ब्रह्मत्वं संभवति ।

एष योनिरित्यत्र प्राज्ञस्य प्रपञ्चकारणत्वं प्रतिज्ञातं तत्र सत्कार्यमसत्कार्यं प्रति वा कारणत्वमिति संदेहे निर्धारयितुमारभते—प्रभव इति। तत्रावान्तरभेदमाह—सर्वमिति। पुरुषो हि सर्वमचेतनं जगदुपाधिभूतं तमःप्रधानं गृहीत्वा जनयति। अत एव पुरुषे कारणवाचि प्राणपदं प्रयुज्यते। एवं स च चैतन्यप्रधानश्चेतसश्चैतन्यस्यांशुवदवस्थितान्प्रतिबिम्बकल्पाञ्जीवानाभासभूतानुत्पादयति। एवं चेतनाचेतनात्मकमशेषं जगदसंकीर्णं संपादयतीत्यर्थः। ननु सतां भावानां सत्त्वादेव प्रभवो न संभवत्यतिप्रसङ्गादित्याशङ्क्य पूर्वार्धं व्याचष्टे—सतामिति। स्वेनाधिष्ठानात्मना विद्यमानानामेवाविद्याकृतं मायामयमारोपितस्वरूपं तेन प्रभवः संभवतीत्यर्थः। असज्जन्मनिरसनमन्तरेण कथं सज्जन्मनिर्धारयितुं शक्यमित्याशङ्क्याऽऽह—वक्ष्यतीति। जन्मनः पूर्वं सर्वस्य सत्त्वे च कारणव्यापारसाध्यत्वासिद्धेः[2]मिथ्यात्वे च कथं सतामेव प्रभवो भावानामित्याशङ्क्याऽऽह—यदीति। कार्यप्रपञ्चस्यासत्त्वे कारणस्य ब्रह्मणः स्वारस्येन व्यवहार्यत्वाभावात्तस्य ग्रहणे द्वारभूतस्य लिङ्गस्याभावादसत्त्वमेव सिध्येत्। कार्येण हि लिङ्गेन कारणं ब्रह्मादृष्टमपि सदित्येव गम्यते। तच्चेदसल्लिङ्गं तस्य कारणेन संबन्धधीरित्यसदेव कारणमपि स्यादित्यर्थः। कार्यकारणयोरुभयोरपि भवत्वसत्त्वमित्याशङ्क्याऽऽह—दृष्टे चेति। अविद्ययाऽज्ञाननिर्वाच्यया कृताश्च ते मायाबीजादुत्पन्नाश्च तेषामविद्यैव मायेत्यङ्गीकारात्तेषां रज्ज्वादौ कल्पितसर्पादीनामधिष्ठानभूतरज्ज्वादिरूपेण सत्त्वं दृष्टमिति योजना। विमतं सदुपादानं कल्पितत्वाद्रज्जुसर्पवदित्यर्थः। दृष्टान्तस्य साध्यविकलत्वं शङ्कित्वा परिहरति—न हीति। विवक्षितं दृष्टान्तमनूद्य दार्ष्टान्तिकमाह—यथेत्यादिना। प्राणशब्दितं बीजमज्ञातं ब्रह्म सल्लक्षणं तदात्मनेति यावत् तदेवमचेतनं सर्वं जगत्प्रागुत्पत्तेर्बीजात्मना स्थितं प्राणो बीजात्मा व्यवहारयोग्यतया जनयतीत्युपसंहरति—इत्यत इति। चतुर्थं पादं प्रतीकमादाय व्याकरोति—चेतोंशूनित्यादिना। रवेरंशवो यथा वर्तन्ते तथा पुरुषस्य स्वयंचैतन्यात्मकस्य चेतोरूपाश्चैतन्याभासा जीवाश्चेतोंशवो निर्दिश्यन्ते। तान्पुरुषो जनयतीत्युत्तरत्र संबन्धः। तेषां चिदात्मकात्पुरुषोत्तस्वतो भेदाभावं विवक्षित्वा विशिनष्टि—जलार्केति। भेदधीस्तु तेषामुपाधिभेदादित्याह—तत्तेति। पृथगिति सूचितं पुरुषस्य जीवसर्जनं[3]हेतुं कथयति—विषयेति। यथाऽग्निना समानरूपा विस्फुलिङ्गा जन्यन्ते तथा चिदात्मना समानस्वभावा जीवास्तेनोत्पाद्यन्ते। विषयविलक्षणत्वात् न प्राणेन बीजात्मना तेषामुत्पादनम्। न चोत्पाद्यानां जीवानामुत्पादकाच्चिदात्मनस्तत्त्वतो भिन्नत्वम्। जलपात्रप्रतिबिम्बितादित्यादीनां बिम्बभूतादादित्यात्तत्त्वतो भेदाभावात्तान्विश्वादीन्पुरुषश्चित्प्रधानो जनयतीत्यर्थः। विषयभावेन व्यवस्थितान्पुनर्भावान्[4]प्राणो जनयतीति तृतीयपादार्थमुपसंहरति—इतरानिति ॥६॥

---

१. उपाधिभूतं तमोऽज्ञानं प्रधानं यथास्यात्तथा गृहीत्वा प्राधान्येनोपादायेत्यर्थः। २. मिथ्यात्वे—असत्त्वे इत्यर्थः, तथा च असत्त्वाङ्गीकारे सतामेव प्रभव इति प्रतिज्ञाभङ्गापत्तिरित्यर्थः। ३. हेतुमिति—पुरुषकर्तृकजीवसर्जने हेतुमुपहितप्रधानस्वरूपात्मकमुपादानमित्यर्थः, तद्धि पृथगित्यनेन समसूचि, जडसर्जनोपादानोपाधिप्रधानस्वरूपादस्य पृथक्त्वात्—उपाधिप्राधान्येन जडसर्जनं चित्प्राधान्येन जीवसर्जनमिति भावः। ४. प्राण इति—उपाधिप्रधानपुरुष इत्यर्थः।

विभूतिं प्रसवं त्वन्ये मन्यन्ते सृष्टिचिन्तकाः ।
स्वप्नमायासरूपेति सृष्टिरन्यैर्विकल्पिता ॥७॥

[सृष्टि के सम्बन्ध में चिन्तन करने वाले अन्यवादी जगत् के उत्पत्ति का कारण भगवान की विभूति को मानते हैं । वैसे ही अन्य लोगों ने स्वप्न तथा माया के समान इस सृष्टि को माना है ॥७॥]

विभूतिर्विस्तार ईश्वरस्य सृष्टिरिति सृष्टिचिन्तका मन्यन्ते न तु परमार्थचिन्तकानां सृष्टावादर इत्यर्थः । "[1]इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते बृ. २।५।१६" इति श्रुतेः । न हि मायाविनं सूत्रमाकाशे निक्षिप्य तेन सायुधमारुह्य चक्षुर्गोचरतामतीत्य युद्धेन खण्डशश्छिन्नं पतितं पुनरुत्थितं च पश्यतां तत्कृतमायादि-संतत्त्वचिन्तायामादरो भवति । तथैवायं मायाविनः सूत्रप्रसारणसमः सुषुप्तस्वप्नादिविकासस्तदारूढ-मायाविसमश्च तत्स्थः प्राज्ञतैजसादिः सूत्रतदारूढाभ्यामन्यः परमार्थमायावी । स एव भूमिष्ठो मायाच्छन्नो-ऽदृश्यमान एव स्थितो यथा तथा तुरीयाख्यं परमार्थतत्त्वम् । अतस्तच्चिन्तायामेवाऽऽदरो मुमुक्षूणामा-र्याणां न निष्प्रयोजनायां सृष्टावादर इत्यतः सृष्टिचिन्तकानामेवैते विकल्पा इत्याह–स्वप्नमायासरूपेति । स्वप्नरूपा मायासरूपा चेति ॥ ७ ॥

सृष्टि के विषय में विकल्प

सृष्टि के चिन्तक लोग मानते हैं कि यह सृष्टि ईश्वर की विभूति यानी विस्तार है । ईश्वर ने अपने ऐश्वर्यख्यापन के लिये सृष्टि की है । अन्यथा सृष्टि के विना उसके अद्भुत ऐश्वर्य का बोध क्यों कर हो सकता । अभिप्राय यह है कि परमार्थतत्त्व के चिन्तकों की दृष्टि में सृष्टि के प्रति आदर बिल्कुल नहीं है । ऐसे ही "परमेश्वर अपनी उपाधि रूप माया से बहुरूप वाला हो जाता है" । "यह श्रुति भी कहती है, क्या आकाश में धागे फेंक कर शस्त्र के सहित मायावी का उस धागे के सहारे चढ़कर नेत्रे-न्द्रिय से ओझल हो जाना और युद्ध के कारण खण्ड-खण्ड टुकड़े होकर पृथिवी पर गिरना, पुनः जीवित हो उठना इत्यादि ऐन्द्रजालिक तमाशा देखने वाले उस मायावी की माया को पारमार्थिक होने की चिन्ता कर उसे आदर देता है ? अर्थात् नहीं देता, ठीक वैसे ही मायावी के सूत्रप्रसारण के समान जीवात्मा में सुषुप्ति और स्वप्नादि का विकास किया और सूत्र पर स्वयं आरूढ मायावी के समान ही उन-उन अवस्थाओं में स्थित प्राज्ञ एवं तैजसादि आत्मा वास्तव में सूत्र तथा उस पर आरूढ़ तदभिमानी चेतन से भिन्न ही सच्चा मायावी है । क्योंकि वह पृथिवी पर स्थित हुआ ही माया से आच्छन्न हो जाने के कारण अदृश्य होकर जैसे वहाँ पर ही स्थित रहता है, वैसे ही तुरीय नामक परमार्थ तत्त्व जाग्रदादि अवस्था तथा उनके अभिमानी चेतन से भिन्न ही रहता है और अविद्या रूप माया से आच्छन्न हुआ अदृश्य सा प्रतीत होता है । अतः उस परमार्थ तुरीय आत्मतत्त्व की चिन्ता में ही मोक्षा-भिलाषी श्रेष्ठ पुरुषों का आदर होता है निष्प्रयोजन सृष्टि के चिन्तन में नहीं रहता । अतएव सृष्टि को परमार्थ मानने वालों की दृष्टि में ये विकल्प होते हैं, मायामय मानने वालों की दृष्टि में नहीं । इसी-लिए तो "स्वप्नमायास्वरूपेति" इत्यादि वाक्य से दूसरे लोग इस सृष्टि को स्वप्नरूपा और माया-स्वरूपा बतलाते हैं ॥७॥

चेतनाचेतनात्मकस्य जगतः सर्गे प्रस्तुते स्वमतविवेचनार्थं मतान्तरमुपन्यस्यति–विभूतिं प्रसवमिति । ईश्वरस्य विभूतिर्विस्तारः । स्वकीयैश्वर्यख्यापनं सृष्टिरिति पक्षे सृष्टेर्वस्तुत्वशङ्कायां पक्षान्तरमाह—स्वप्नेति । कुतः सृष्टिचिन्त-कानामेतन्मतं तत्त्वविदामेव किं न स्यात्तत्राऽऽह—न त्विति । सृष्टेरपि वस्तुत्वाद्वस्तुचिन्तकानामपि तत्राऽऽदरो भविष्य-तीत्याशङ्क्याऽऽह—इन्द्र इति । मायामयी सृष्टिरादरविषया न भवतीत्यत्र दृष्टान्तमाह—न हीति ।—मायादीत्यादि-शब्देन तत्कार्यं गृह्यते । दृष्टान्तनिविष्टमर्थं दार्ष्टान्तिके योजयति—तथैवेति । तर्हि परमार्थचिन्तकानां कुत्राऽऽदर इत्याशङ्क्य सदृष्टान्तमुत्तरमाह—सूत्रेत्यादिना । मायाच्छन्नत्वमदृश्यमानत्वे हेतुः । तुरीयाख्यं जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तेभ्यो

१. इन्द्र इति—ईश्वरः उपाधिभिर्बहुरूपः प्रतीयत इत्यर्थः ।

इच्छामात्रं प्रभोः सृष्टिरिति सृष्टौ विनिश्चिताः।
कालात्प्रसूतिं भूतानां मन्यन्ते कालचिन्तकाः ॥ ८ ॥
भोगार्थं सृष्टिरित्यन्ये क्रीडार्थमिति चापरे।
देवस्यैष स्वभावोऽयमाप्तकामस्य का स्पृहा ॥ ९ ॥

[प्रभु की इच्छामात्र ही सृष्टि है, ऐसा भी किसी-किसी ने निश्चय किया है तथा कालचिन्तक ज्योतिषीलोग काल से ही भूतों की उत्पत्ति मानते हैं ॥८॥]

[कुछ लोग भोग के लिए सृष्टि है, ऐसा मानते हैं और कुछ लोग क्रीड़ा के लिये सृष्टि है; ऐसा समझते हैं। वस्तुतः यह भगवान् का स्वभाव ही है, क्योंकि भला पूर्णकाम परमात्मा में इच्छा ही क्या हो सकती है ॥९॥]

इच्छामात्रं प्रभोः सत्यसंकल्पत्वात्सृष्टिर्घटादिःसंकल्पनामात्रं न संकल्पनातिरिक्तम्। कालादेव सृष्टिरिति केचित् ॥ ८ ॥

भोगार्थं क्रीडार्थमिति चान्ये सृष्टिं मन्यन्ते। अनयोः पक्षयोर्दूषणं देवस्यैष स्वभावोऽयमिति देवस्य स्वभावपक्षमाश्रित्य सर्वेषां वा पक्षाणामाप्तकामस्य का स्पृहेति। नहि रज्ज्वादीनामविद्यास्वभावव्यतिरेकेण सर्पाद्याभासत्वे कारणं शक्यं वक्तुम् ॥ ९ ॥

सत्य संकल्प होने से परमेश्वर की इच्छा मात्र ही सृष्टि है। घटादि कुलाल के संकल्प मात्र ही हैं। उसके संकल्प से भिन्न नहीं हैं। ऐसा कुछ लोग मानते हैं और कोई कोई कालचिन्तक तो काल से ही जगत् की सृष्टि हुई है ऐसा मानते हैं। दूसरे लोग भोग के लिए सृष्टि मानते हैं। इन दोनों पक्षों में आचार्य गौड़ पाद "यह देव का स्वभाव है" इस वाक्य से देव के स्वभाव पक्ष का अवलम्बन कर दूषण दे रहे हैं और आचार्य "आप्तकामस्य का स्पृहाः" (भला पूर्णकाम को क्या अभिलाषा हो सकती है ?) इस वाक्य में पूर्वोक्त सभी पक्षों में दोष दिखला दिया, क्योंकि अविद्या रूप अपने स्वभाव से भिन्न रज्ज्वादि के सर्पादि प्रतीति होने में कारण नहीं बतला सकते हैं, अर्थात अधिष्ठानरूप रज्जु का स्वभावपद वाच्य अज्ञान ही सर्पादि की प्रतीति में एकमात्र कारण है ॥८-९॥

विश्वतैजसप्राज्ञेभ्य अतिरिक्तं तदस्पृष्टमिति शेषः। परमार्थतत्त्वचिन्ता हि सम्यग्धीद्वारा फलवती न सृष्टेः। ततः सृष्टावनादरस्तत्त्वनिष्ठानामित्याह—नेति। परमार्थचिन्तकानां सृष्टावनादरादपरमार्थनिष्ठानामेव सृष्टौ विशेषचिन्तेत्युक्तेऽर्थे द्वितीयार्धमवतारयति—इत्यत इति। जाग्रद्गतानामर्थानामेव स्वप्ने प्रथनात्तस्य सत्यत्वं मायायाश्च मय्यादिलक्षणायाः सत्यत्वाङ्गीकारादनयोर्विकल्पयोः सिद्धान्ताद्वैषम्यमुन्नेयम् ॥ ७ ॥

सृष्टिचिन्तकानामेव सृष्टिविषये विकल्पान्तरमुत्थापयति—इच्छामात्रमिति। ज्योतिर्विदां कल्पनाप्रकारमाह—कालादिति। परमेश्वरस्येच्छामात्रं सृष्टिरित्यत्र हेतुमाह—सत्येति। यथा लोके कुलालादेः संकल्पनामात्रं घटादिकार्यं न तदतिरेकेण घटादिकार्यसृष्टिरिष्टा। नामरूपाभ्यामन्तरेव कार्यं संकल्प्य बहिस्तन्निर्माणाभ्युपगमात्। तथा भगवतः सृष्टिः संकल्पनामात्रा न तदतिरिक्ता काचिदस्तीति केषांचिदीश्वरवादिनां मतमित्यर्थः ॥ ८ ॥

यथा तथा वाऽस्तु सृष्टिस्तस्यास्तु किं प्रयोजनमित्यत्र विकल्पद्वयमाह—भोगार्थमिति। सिद्धान्तमाह—देवस्येति। कः स्वभावो नामेत्युक्ते [१]नैसर्गिकोऽपरोक्षो मायाशब्दार्थस्तस्येत्याह—अयमिति। सर्वपक्षाणामपवादं सूचयति—आप्तेति। देवस्य परमेश्वरस्य स्वभावः सृष्टिरिति स्वभावपक्षं नैसर्गिकमायाविनिर्मिता सृष्टिरिति मतं सिद्धान्तत्वेनाऽऽश्रित्य चतुर्थपादेन दूषणमुच्यते पक्षयोरनयोरिति योज्यम्। ईश्वरस्येश्वरत्वख्यापनं सृष्टिरित्येकः पक्षः। स्वप्नस्वरूपा मायास्वरूपा वा सृष्टिरिति पक्षद्वयमीश्वरस्य सत्यसंकल्पस्य सृष्टिरिति पक्षान्तरम्। कालादेव जगतः सृष्टिर्नेश्वरात्। ईश्वरस्तूदासीनः। तत्र विकल्पान्तरं भोगार्थं क्रीडार्थं वा सृष्टिरिति फलगतं च विकल्पद्वयम्। तेषामेतेषां सर्वेषामेव पक्षाणां

१. नैसर्गिकः—अनादिसिद्धः।

चतुर्थः पादः क्रमप्राप्तो वक्तव्य इत्याह—नान्तःप्रज्ञमित्यादिना। सर्वशब्दप्रवृत्तिनिमित्तशून्यत्वात्तस्य शब्दानभिधेयत्वमिति विशेषप्रतिषेधेनैव च तुरीयं निर्दिदिक्षति। शून्यमेव तर्हि तत्। न। मिथ्याविकल्पस्य निर्निमित्तत्वानुपपत्तेः। न हि रजतसर्पपुरुषमृगतृष्णिकादिविकल्पाः शुक्तिकारज्जुस्थाणूषरादिव्यतिरेकेणावस्त्वास्पदाः शक्याः कल्पयितुम्।

एवं तर्हि प्राणादिसर्वविकल्पास्पदत्वात्तुरीयस्य शब्दवाच्यत्वमिति न प्रतिषेधैः प्रत्याय्यत्वमुदकाधारादेरिव घटादेः। न प्राणादिविकल्पस्यासत्त्वाच्छुक्तिकादिष्विव रजतादेः। न हि सदसतोः संबन्धः

आत्मा का चतुर्थ पाद

अब क्रमशः प्राप्त आत्मा के चतुर्थ पाद का वर्णन होना चाहिए। अतः 'नान्तः प्रज्ञम् इत्यादि से यही बात श्रुति बतलाती है। शब्द प्रवृत्ति के जाति गुण क्रिया, सम्बन्ध, रूप सभी निमित्त से शून्य होने के कारण यह तुरीय आत्मा शब्द शक्ति का विषय नहीं है। अतः विधिमुख से बतलाना दुःशक्य होने के कारण सभी विशेष भावों का निषेध करके ही तुरीय तत्त्व श्रुति बतलाना चाहती है।

पूर्वपक्ष—तब तो ऐसा वह शून्य हो सकता है?

सि०—ऐसा कहना ठीक नहीं। क्योंकि बिना निमित्त के मिथ्या विकल्प की सिद्धि नहीं हो सकती। लोक में शुक्ति के बिना रजत की, रज्जु के बिना सर्प की, ठूँठ के बिना पुरुष की और ऊसर भूमि अधिष्ठान के बिना मृगतृष्णिकादि विकल्प को बतलाना सर्वथा अशक्य है।

पूर्वपक्ष—यदि ऐसी बात है तब तो प्राणादि समस्त विकल्पों का आश्रय होने से तुरीय आत्मा भी शब्द शक्ति का विषय हो ही सकता है। अतः जल के आधारभूत घटादि के समान प्राणादि का आधारभूत जब तुरीय आत्मा है फिर अन्तःप्रज्ञत्वादि के निषेध द्वारा उसका बोध कराना ठीक नहीं।

सि०—ऐसा कहना ठीक नहीं। प्राणादि विकल्प शुक्तिकादि में रजतादि के समान सर्वथा मिथ्या है। दो सद्वस्तुओं का ही आधार-आधेय भाव सम्बन्ध हुआ करता है, सत् और असत् का नहीं। उसका सम्बन्ध तो अवस्तु रूप होने से शब्द प्रवृत्ति का निमित्त हो ही नहीं सकता। वैसे ही

दूषणं चतुर्थपादेनोक्तमिति पक्षान्तरमाह—सर्वेषामिति। नो खल्वाप्तकामस्य परस्याऽऽत्मनो मायां विना विभूतिख्यापनमुपयुज्यते। न च स्वप्नमायाभ्यां सारूप्यमन्तरेण स्वप्नमायासृष्टिरेष्टुं शक्यते। अवस्तुनोरेव तयो [1]स्तच्छब्दप्रयोगात्। न च परमानन्दस्वभावस्य परस्य विना माययामिच्छा संगच्छते। न हि तस्य स्वतोऽविक्रियस्येच्छादिभाक्त्वं युक्तम्। न च मायामन्तरेण भोगक्रीडे तस्योपपद्येते। ततो मायामयी भगवतः सृष्टिरित्यर्थः यदुक्तं कालात्प्रसूतिं भूतानामिति तत्राऽऽह—नहीति। अधिष्ठानभूतरज्ज्वादीनां स्वभावशब्दितस्वाज्ञानादेव सर्पाद्याभासत्वं तथा परस्य स्वमायाशक्तिवशादाकाशाद्याभासत्वम्। आत्मन आकाशः संभूत इत्यादिश्रुतेः। न तु कालस्य भूतकारणत्वं प्रमाणाभावादित्यर्थः॥ ६॥

पादत्रये व्याख्याते व्याख्येयत्वेन क्रमवशात्प्राप्तं चतुर्थं पादं व्याख्यातुमुत्तरग्रन्थप्रवृत्तिरित्याह—चतुर्थ इति। ननु पादत्रयवद्विधिमुखेनैव चतुर्थः पादोऽपि व्याख्यायतां किमिति निषेधमुखेन व्याख्यायते तत्राऽऽह—सर्वेति। सर्वाणि शब्दप्रवृत्तौ निमित्तानि [2]षष्ठीगुणादीनि तैः शून्यत्वात्तुरीयस्य वाच्यत्वायोगा[3]न्निषेधद्वारैवं तन्निर्देशः संभवतीत्यर्थः। [4]साक्षाद्वाच्यत्वाभावं द्योतयितुं निर्दिदिक्षतीत्युक्तम्। यदि चतुर्थं विधिमुखेन निर्देष्टुं न शक्यं तर्हि शून्यमेव तदापद्येत [5]तन्निषेधेनैव निर्दिश्यमानत्वात्। तथाविधं [6]नास्त्यर्थं वदिति शङ्कते—शून्यमेवेति। न तुरीयस्य शून्यत्वमनुमातुं युक्तम्। विमतं सदधिष्ठानं कल्पितत्वात्। तथाविधरजतादिवदित्यनुमानात्तुरीयस्य सत्त्वसिद्धेरित्युत्तरमाह—नेति। दृष्टान्तं साधयति—न हीति। रजतादीनां सदनुविद्धबुद्धिबोध्यत्वादवस्त्वास्पदत्वायोगात्। तद्वदेव प्राणादिविकल्पानामपि सावस्त्वास्पदत्वं सिध्यतीत्यर्थः।

---

१. तच्छब्देति—स्वप्नमायां शब्देत्यर्थः। २. षष्ठी—सम्बन्धः। ३. निषेधद्वारैवेति—प्रसक्तनिषेधेन शिष्टावबोधे वाच्यत्वानुपयोगादित्यवधेयम्। ४. साक्षादिति—विधिमुखेनेति यावत्। ५. तन्निषेधेन—इत्यत्र तस्य निषेधेनेति युक्तम्, यथा श्रुते तु भावरूपसंनिषेधेनेत्यर्थः। ६. प्रर्थवत्—प्रयोजनवत्।

शब्दप्रवृत्ति [1]निमित्तभागवस्तुत्वात्। नापि [2]प्रमाणान्तरविषयत्वं स्वरूपेण गवादिवत्। आत्मनो निरुपाधिकत्वात् गवादिवन्नापि जातिमत्त्वमद्वितीयेन सामान्यविशेषाभावात्। नापि क्रियावत्त्वं पाचकादिवदविक्रियत्वात् नापि गुणवत्त्वं नीलादिवन्निर्गुणत्वात्।

अतो नाभिधानेन निर्देशमर्हति। शशविषाणादिसमत्वान्निरर्थकत्वं तर्हि। न आत्मत्वावगमे तुरीयस्यानात्मतृष्णाव्यावृत्तिहेतुत्वाच्छुक्तिकावगम इव रजततृष्णायाः न हि तुरीयस्याऽऽत्मत्वावगमे सत्यविद्यातृष्णादिदोषाणां संभवोऽस्ति। न च तुरीयस्याऽऽत्मत्वानवगमे कारणमस्ति। सर्वोपनिषदां तादर्थ्येनोपक्षयात्। "तत्त्वमसि छा० ६।८।१६" । "अयमात्मा ब्रह्म बृ० २।५।१६" "तत्सत्यम्। स आत्मा छा० ६।८।१६" "यत्[3]साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म बृ० ३।४।१" "सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः मु० २।१।२ "आत्मैवेदं सर्वम् छा० ७।२५।२ इत्यादीनाम्।

उपाधि के बिना स्वरूपतः तुरीय गवादि के समान 'नान्तःप्रज्ञम्' इत्यादि श्रुति प्रमाण से भिन्न प्रमाण का विषय हो नहीं सकता क्योंकि स्वरूप से आत्मा उपाधि-रहित है। अद्वितीय होने के कारण उसमें सामान्य-विशेषभाव भी नहीं है, जिससे कि गो में गोत्वजाति रहने के समान आत्मा में किसी जाति का सम्बन्ध माना जा सके। निर्विकार होने से पाचकादि के समान उस तुरीय आत्मा में क्रिया भी नहीं है। वैसे निर्गुण होने से आत्मा में नीलादि के समान गुण भी नहीं है। अतः जात्यादि शब्द प्रवृत्ति के समस्त निमित्त:का अभाव होने के कारण किसी भी नाम से उसका निर्देश नहीं हो सकता।

पूर्वपक्ष—तब तो शश-शृङ्गादि के समान तुच्छ होने के कारण यह निष्प्रयोजन ही है?

सि०—ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि शुक्तिज्ञान के बाद जैसे कल्पितरजत तृष्णा की निवृत्ति हो जाती है। ठीक वैसे ही तुरीयतत्त्व को आत्मरूप से जान लेने पर अनात्म वस्तु की तृष्णा निवृत्त हो ही जाती है। तुरीय आत्मा के बोध हो जाने पर अविद्या एवं तत्प्रयुक्ततृष्णादि का रहना सर्वथा सम्भव नहीं है। अतः ज्ञान द्वारा तृष्णानिवृत्ति का कारण होने से आत्मा को शशशृङ्ग के समान तुच्छ नहीं कह सकते और तुरीय को अपने आत्मरूप से बोध न होने में कोई कारण भी नहीं है, 'वह तू है', 'यह आत्मा ब्रह्म है', 'यह सत्य है वह आत्मा है', 'जो ब्रह्म साक्षात् अपरोक्ष है' 'वह अजन्मा बाहर भीतर सर्वत्र विद्यमान है' 'यह सम्पूर्ण दृश्य आत्मा ही तो है' इत्यादि सम्पूर्ण उपनिषद् वाक्यों का तात्पर्य विशुद्ध आत्मतत्त्व के बोध कराने में ही है।

यद्यधिष्ठानत्वं तुरीयस्येष्टं तर्हि वाच्यत्वमधिष्ठानत्वात् घटादिवदिति प्रक्रमभङ्गः स्यादिति चोदयति—एवं तर्हीति। किं प्रातिभासिकमधिष्ठानत्वं हेतूक्तं किंवा तात्त्विकम् नाऽऽद्यः। [4]तस्य तात्त्विकवाच्यत्वासाधकत्वात्। अतात्त्विके तु वाच्यत्वे प्रक्रमो न विरुध्येत। न द्वितीयः। शुक्त्यादिषु कल्पितरजतादेरवस्तुत्ववत्तुरीयेऽपि कल्पितप्राणादेरवस्तुत्वा [5]त्तत्प्रतियोगिकाधिष्ठानत्वस्य तात्त्विकत्वायोगादिति दूषयति—न प्राणादीति। किंच वाच्यत्वे तुरीयस्य निरुच्यमाने तत्र शब्दप्रवृत्तौ निमित्तं वक्तव्यम्। तच्च षष्ठी वा [6]रूढिर्वा जातिर्वा क्रिया वा गुणो वेति विकल्प्य प्रथमं प्रत्याह—न हीति। तुरीयातिरिक्तस्यावस्तुत्वात्तस्य तुरीयस्य च वस्तुभूतसंबन्धासिद्धे [7]र्विषयाभावे कुतः षष्ठीत्यर्थः। द्वितीयं दूषयति—नापीति। विशिष्टरूपेण विषयत्वेऽपि स्वरूपेण निरुपाधिकात्मना तद्विषयत्वान्नात्र [8]गवादाविव रूढिरवतरतीत्यर्थः। न तृतीयः। गवादाविवाद्वितीये तुरीये [9]सामान्यविशेषभावस्याभिधातुमयोग्य-

---

१. निमित्तेति—निमित्तत्वेत्यर्थः। २. प्रमाणान्तरेति—शब्दापेक्षयाप्रमाणान्तरं प्रत्यक्षादि तद्विषयत्वं न स्वरूपेण तुरीयस्य तदभावाच्च न रूढिः, सा हि प्रत्यक्षविषयेति।

३. साक्षात् वृत्तिव्यवधानमन्तरेणैवापरोक्षादपरोक्षमित्यर्थः। ४. तस्येत्यादि—समसत्ताकयोरेव वह्निधूमयोः साध्यसाधनभावदर्शनादिति भावः। ५. तत्प्रतियोगिकेति—तन्निरूपितेत्यर्थः। ६. रूढिः—प्रत्यक्षादि प्रसिद्धिरित्यर्थः। ७. विषयाभाव इति—विषयोधर्मप्रतियोगिरूपः तुरीयातिरिक्तं वस्तुत्वाभाववत् तदन्यतरदिति विषयाभावः। ८. गवादाविवेति—यज्ञादाविवोद्भिदादिशब्दरूढिरित्यवधेयम्। ९. सामान्येत्यादि—गोत्वादिः सामान्यधर्मोविशेषश्च तत्व्यक्तित्वादिरूपः।

(उपनिषद्)

नान्तःप्रज्ञं न बहिष्प्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम्। अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः ॥७॥

[स्वरूप से वह आत्मा न अन्तःप्रज्ञ है न बहिष्प्रज्ञ है, न उभयतः प्रज्ञ, न सुषुप्ति के समान प्रज्ञानघन है। न (एक साथ सभी वस्तुओं का प्रकाशक रूप से) प्रज्ञ है और न (उसके विपरीत रूप से) अप्रज्ञ ही है। वह तो अदृश्य है, अतएव अव्यवहार्य है, कर्मेन्द्रियों से ग्रहण के योग्य न होने से अग्राह्य है। लिङ्गरहित होने से अनुमान के योग्य नहीं। अतः अचिन्त्य है। इसीलिये शब्दों से अव्यपदेश्य है। (जाग्रदादि अवस्थाओं में अव्यभिचारी होने के कारण) एकात्मप्रत्ययसार है। प्रपंच का उपशमरूप, शान्त, शिव और अद्वैत स्वरूप है, ऐसा आत्मा के विषय में तत्त्ववेत्ता मानते हैं। अतः वही आत्मा है और वही विशेष रूप से जानने योग्य है ॥ ७ ॥]

सोऽयमात्मा परमार्थापरमार्थरूपश्चतुष्पादित्युक्तस्तस्यार्थरूपमविद्याकृतं रज्जुसर्पादिसममुक्तं पादत्रयलक्षणं बीजाङ्कुरस्थानीयम्। अथेदानीमबीजात्मकं परमार्थस्वरूपं रज्जुस्थानीयं सर्पादिस्थानीयोक्तस्थानत्रयनिराकरणेनाऽह—नान्तःप्रज्ञमित्यादि।

वह यह आत्मा परमार्थ और अपरमार्थरूप से चार पाद वाला है ऐसा पहले कहा गया है। उनमें से रज्जु-सर्पादि के समान बीजांकुरस्थानीय अविद्या-जनित तीन पाद तो अपारमार्थिक कहे जा चुके हैं। अब इसके बाद अधिष्ठान रज्जुस्थानीय अबीजरूप तुरीय परमार्थतत्त्व का सर्पादिस्थानीय पूर्वोक्त तीन स्थानों का निषेध कर 'नान्तःप्रज्ञम्' इत्यादि वाक्य से बोध कराते हैं।

त्वादिति मत्वाऽऽह—गवादिवदिति च चतुर्थः। पाचकादाविवाक्रिये तुरीये विक्रियावत्त्वस्य शब्दप्रवृत्तिनिमित्तस्य वक्तुमयुक्तत्वादित्याह—नापि क्रियावत्त्वमिति। न पञ्चमः। उत्पलादौ नीलादिशब्दन्निर्गुणे तुरीये गुणवत्त्वस्य शब्दप्रवृत्तिनिमित्तस्य वक्तुमयुक्तत्वादित्याह—नापीति।

तदेवं तुरीयस्य वाच्यत्वानुमानं शब्दप्रवृत्तिनिमित्तानुपलब्धिबाधितमिति फलितमाह—अत इति। यदि तुरीयस्य नास्ति विशिष्टजात्यादिमत्त्वं तर्हि नरविषाणादिदृष्टेरिव तदृष्टेरपि निष्फलत्वम्। विशिष्टजात्यादिमतो राजादेरुपासनस्य फलवत्त्वोपलम्भादिति शङ्कते—शशविषाणादीति। यथा शुक्तिरियमित्यवगमे रजतादिविषयतृष्णा व्यावर्तते तथा तुरीयं ब्रह्माहमित्यात्मत्वेन तुरीयस्य साक्षात्कारे सत्यनात्मविषया तृष्णा व्यवच्छिद्यते। तदेवमात्मत्वेन तुरीयावगमस्य सर्वाकाङ्क्षानिवर्तकत्वादनर्थकत्वशङ्का न युक्तेति परिहरति—नेत्यादिना। तुरीयस्याऽऽत्मत्वावगमे सति सर्वानर्थहेतुतृष्णादिदोषनिवृत्तिलक्षणं फलमुक्तं विद्वदनुभवेन साधयति—न हीति। ननु तुरीयमशेषविशेषशून्यं नाऽऽत्मत्वेनावगन्तुं शक्यते तद्धेत्वभावादिति तत्राऽऽह—न चेति। सर्वोपनिषदामित्युक्तमेवोदाहरणलेशेन दर्शयति—तत्त्वमसीति।

निषेधमुखेनैव तुरीयस्य प्रतिपादनं न विधिमुखेनेत्युपपाद्य वृत्तानुवादपूर्वकमुत्तरग्रन्थमवतारयति—सोऽयमित्यादिना। बीजाङ्कुरस्थानीयं मिथो हेतुहेतुमद्भावेन व्यवस्थितमित्यर्थः। अबीजात्मकं कार्यकारणविनिर्मुक्तमिति यावत्। तत्र हेतुं सूचयति—परमार्थेति। तस्य विधिमुखेन निर्देशानुपपत्तिं प्रागुक्तामभिप्रेत्याऽऽह—सर्पादीति किमुत्तरेण ग्रन्थेन तुरीयं प्रतिपाद्यते किंवा तस्य स्थानत्रयवैलक्षण्यं विवक्ष्यते। प्रथमे प्रतिपादकस्य [1]विधानाव्यतिरेकादन्यनिषेधानर्थक्यम्। द्वितीयेऽपि तदानर्थक्यमापद्येत। [2]अनुक्त्यैवोक्तादन्यत्वसिद्धेरिति मन्वानः शङ्कते—नन्विति। तावत्तुरीयं

---

१. विधानाव्यतिरेकादिति—विध्यभिन्नत्वादित्यर्थः। प्रतिपादकं हि विधिरूपमेव भवतीत्याशयः। २. अनुक्त्यैवेति—पादत्रयमुक्त्वा तूष्णीं स्थितस्यापि तदवशिष्टं यत् तुरीयमित्यनुक्त्यैवावगन्तुं शक्यमित्यर्थः।

नन्वात्मनश्चतुष्पात्त्वं प्रतिज्ञाय पादत्रयकथनेनैव चतुर्थस्यान्तःप्रज्ञादिभ्योऽन्यत्वे सिद्धेनान्तःप्रज्ञमित्यादिप्रतिषेधोऽनर्थकः। न। सर्पादिविकल्पप्रतिषेधेनैव रज्जुस्वरूपप्रतिपत्तिवत्त्र्यवस्थस्यैवाऽऽत्मनस्तुरीयत्वेन प्रतिपिपादयिषितत्वात्। तत्त्वमसीतिवत् छा० ६ ८।१६।

यदि हि त्र्यवस्थात्मविलक्षणं तुरीयमन्यत्तत्प्रतिपत्तिद्वाराभावाच्छास्त्रोपदेशानर्थक्यं शून्यतापत्तिर्वा।

रज्जुरिव सर्पादिभिर्विकल्प्यमाना स्थानत्रयेऽप्यात्मैक एवान्तःप्रज्ञादित्वेन विकल्प्यते तदा तदाऽन्तःप्रज्ञादित्वप्रतिषेधविज्ञानप्रमाणसमकालमेवाऽऽत्मन्यनर्थप्रपञ्चनिवृत्तिलक्षणफलं परिसमाप्तमिति तुरीयाधिगमे प्रमाणान्तरं साधनान्तरं वा न मृग्यम्।

पूर्वपक्ष—आत्मा के चार पाद वाला होने की प्रतिज्ञाकर उसके तीन पादों के वर्णन कर देने मात्र से ही चौथे पाद में अन्तःप्रज्ञादि से भेद जब सिद्ध हो गया फिर भला 'नान्तःप्रज्ञम्' इत्यादि निषेध अनर्थक ही तो है।

सि०—ऐसा कहना ठीक नहीं। क्योंकि जैसे रूप जलधारा भूछिद्रादि विकल्प का प्रतिषेध करने से ही रज्जु के स्वरूप का बोध होता है। वैसे ही जाग्रदादि अवस्थात्रय में स्थित अवस्थात्रय से विलक्षण आत्मा का ही तुरीय रूप से बाध करना इष्ट है। जिस प्रकार "तत्त्वमसि" इत्यादि महावाक्यों से 'त्वं' पदार्थ संशोधित आत्मा का ब्रह्म के साथ अभेद बतलाया गया है। वैसे ही अवस्थात्रय से विलक्षण तुरीय आत्मा ब्रह्मरूप है। ऐसा बोध कराना ही अभीष्ट है। इस प्रकार का ज्ञान उक्त उपदेश के बिना हो नहीं सकता। अतः 'नान्तःप्रज्ञम्' इत्यादि तुरीय ग्रन्थ सार्थक है। उक्त माध्यम के बिना अवस्थात्रय से विलक्षण तुरीय आत्मा अवस्थात्रयविशिष्ट से भिन्न आत्मा की उपलब्धि का कोई उपाय न रहने के कारण शास्त्र उपदेश अनर्थक हो जाता या शून्यवाद का प्रसंग भी आ सकता था। पर सर्पादि रूप से विकल्पित रज्जु के समान जाग्रदादि तीनों स्थानों में आत्मा एक है। उसी का विकल्प अन्तःप्रज्ञत्वादि रूप से हो रहा है। तो इस स्थिति में अन्तःप्रज्ञत्वादि निषेध विज्ञान रूप प्रमाण की जब उत्पत्ति होगी उसी समय आत्मा में अनर्थ प्रपंच की निवृत्ति रूप फल भी सिद्ध हो जायगा। अतः तुरीय आत्मा के बोध के लिये नान्तःप्रज्ञत्वादि प्रतिषेध विज्ञान से भिन्न प्रमाण या साधन खोजने

विधिमुखेन बोध्यम्। तस्य [1]स्वप्रकाशत्वात्। तस्मि[2]न्प्रकाशाद्यनुदयात् तथाऽपि समारोपितविश्वादिरूपेण प्रतिपन्नं तन्निषेधेन बोध्यते। तदनिषेधे तस्य [3]यथावदप्रथनात्। अतो न निषेधानर्थक्यमिति परिहरति—न सर्पादीति तुरीयस्य पादत्रयविलक्षणस्यार्थादेव सिद्धावपि जीवात्मनः स्थानत्रयविशिष्टस्य तुरीयं ब्रह्मस्वरूपमिति नोपदेशमन्तरेण सिध्यतीति तुरीयग्रन्थोऽर्थवानित्यर्थः। यथा विधिमुखेन प्रवृत्तेन तत्त्वमसीति वाक्येन स्थानत्रयसाक्षिणस्त्वंपदलक्ष्यस्य तत्पदलक्ष्यब्रह्मता लक्षणया बोध्यते तथा निषेधशास्त्रेणापि तात्पर्यवृत्त्या जीवस्य तुरीयब्रह्मत्वं प्रतिपादयितुं दृष्टान्तमाह—तत्त्वमसीति।

ननु स्थानत्रयविशिष्टस्याऽऽत्मनो नैव तुरीयात्मत्वं तुरीयग्रन्थेन प्रतिपाद्यते। तुरीयस्य विशिष्टाद्विलक्षणत्वेनात्यन्तभिन्नत्वात्तत्राऽऽह—यदि हीति। [4]प्रातिभासिकवैलक्षण्येऽपि विशिष्टोपलक्ष्ययोरात्यन्तिकवैलक्षण्याभावान्न तात्त्विकं तुरीयस्य विशिष्टादन्यत्वम्। अन्यथाऽत्यन्तभिन्नयोर्मिथः संस्पर्शविरहिणोरुपायोपेयभावायोगात्तुरीयप्रतिपत्तौ विशिष्टस्य द्वारत्वाभावादन्यस्य च तत्प्रतिपत्तिद्वारस्यादर्शनात्तुरीयाप्रतिपत्तिरेव स्यादित्यर्थः। शास्त्रात्तत्प्रतिपत्तिः स्यादिति चेन्नेत्याह—शास्त्रेति। तद्विशिष्टरूपमनूद्य विशेषणांशापोहेन [5]तस्य तुरीयत्वमुपदिशति। भेदे चाऽत्यन्तिके तदानर्थक्यान्न शास्त्रात्तत्प्रतिपत्तिरित्यर्थः। मा तर्हि तुरीयप्रतिपत्तिर्भूदिति चेत्तत्राऽऽह—शून्येति। विशिष्टस्यैव प्रतिपत्त्या तुरीयस्याप्रतिपत्तौ प्रतिपन्नस्य विश्वादेर्विशिष्टस्य प्रत्युदस्तत्वादन्यस्य चाप्रतिपन्नत्वान्नैरात्म्यधीरेवाऽऽपद्येतेत्यर्थः।

---

१. स्वप्रकाशत्वादिति—विधिमुखेन बोधने हि शब्दप्रकाश्यत्वमापद्येतेति भावः। २. प्रकाशाद्यनुदयात्—विधि हि विषये प्रकाशाधानं करोतीत्यभिप्रायः। ३. यथावदिति—प्रत्यक् भिन्नत्वेनेत्यर्थः। ४. प्रातिभासिकेति—एकस्यैव पुरुषस्य कुण्डलदण्डादिविशेषणे कुण्डलित्वदाडित्वादिना वैलक्षण्यंपयत्प्रतिभासिकम्, व्यक्तेरभिन्नत्वादित्यर्थः। ५. तस्य विशिष्टलक्षणस्य।

रज्जुसर्पविवेकसमकाल इव रज्ज्वां सर्पनिवृत्तिफले सति रज्ज्वधिगमस्य येषां पुनस्तमोपनयव्यतिरेकेण घटाधिगमे प्रमाणं व्याप्रियते तेषां छेद्यावयवसंबन्धवियोगव्यतिरेकेणान्यतरावयवेऽपिच्छिदिर्व्याप्रियत इत्युक्तं स्यात् ।

यदा पुनर्घटतमसोर्विवेककरणे प्रवृत्तं प्रमाणमनुपादित्सिततमोनिवृत्तिफलावसानं छिदिरिव च्छेद्यावयवसंबन्धविवेककरणें प्रवृत्ता तदवयवद्वैधीभावफलावसाना तदा नाऽऽन्तरीयकं घटविज्ञानं न तत्प्रमाणफलम् ।

की आवश्यकता नहीं। अतः रज्जु सर्प विवेक होते ही जैसे अधिष्ठान रज्जु में अध्यस्त सर्प की निवृत्ति रूप फल प्राप्त हो जाने पर रज्जु का ज्ञान हो जाता है। ठीक वैसे ही आत्मा में कल्पित अवस्थात्रय एवं तदभिमानी अन्तःप्रज्ञादि का निषेध कर देने पर तत्क्षण ही अधिष्ठान तुरीय आत्मा का बोध हो जाता है।

अन्धकार में स्थित घटज्ञान के लिये अन्धकार के अपनयन से भिन्न व्यापार लोक में नहीं देखा गया है। ठीक वैसे ही स्वयंप्रकाश आत्मा में अनादि अनिर्वचनीय कल्पितअज्ञान निवृत्ति के सिवा उपनिषद् प्रमाण का आत्मबोध के लिये अन्य व्यापार नहीं होता। जिनके मत में घटज्ञान के लिये अन्धकार निवृत्ति से भिन्न कार्य में भी प्रमाण की प्रवृत्ति होती है। उनके मत में छेदन के योग्य पदार्थों के अवयव सम्बन्ध विच्छेद करने के अतिरिक्त किसी एक अवयव में भी छिदि क्रिया का व्यापार होता है। ऐसे कथन का प्रसंग आ जायगा। छेद्य वस्तु के अवयवों का सम्वन्ध विच्छेद में प्रवृत्त छिदि क्रिया जैसे उसके अवयवों के विभाजन होते ही समाप्त हो जाता है। वैसे ही घट और अन्धकार के पृथक् करने में लगा हुआ प्रमाण अनिष्ट अन्धकार के निवृत्ति रूप फल के बाद उपरत हो जाता है। उस समय घट का ज्ञान अवश्यमेव होता है। घट का ज्ञान अवश्यमेव होता है। घटज्ञान प्रमाण का फल नहीं है किन्तु अज्ञान निवृत्ति ही प्रमाण का फल है। घटावच्छिन्न चैतन्य से अभिन्न चैतन्य में अध्यस्त घट का प्रकाश घटाकरवृत्ति दशा में अवश्यम्भावी है। वह प्रकाश घटाकर वृतिरूप प्रमाण का फल नहीं है। प्रमाण का फल तो घटावच्छिन्न चैतन्य के आवरक अज्ञान की निवृत्ति ही है। वैसे ही आत्मा में कल्पित अन्तःप्रज्ञत्त्वादि के विवेक में प्रवृत्त "नान्तःप्रज्ञम्"

भेदपक्षश्चेद्यथोक्तदोषवशान्न संभवति तर्हि मा भूत्। अभेदपक्षोऽपि कथं निर्वहतीति चेत्तत्र किं फलं पर्यनुयुज्यते किंवा [1]प्रमाणान्तरमथवा साधनान्तरमिति विकल्प्याऽऽद्यं दूषयति—रज्जुरिवेति। यथा रज्जुरधिष्ठानभूतसर्पधारादिभिर्विकल्प्यते तथैक एवाऽऽत्मा स्थानत्रयेऽपि यदाऽन्तःप्रज्ञत्वादिना [2]विकल्प्यमानो बहुधा भासते तदा तदनुवादेनान्तःप्रज्ञत्वादिप्रतिषेधजनितं यत्प्रमाणरूपविज्ञानं तदुत्पत्तिसमानकालमेवाऽऽत्मन्यनर्थनिवृत्तिरूपं फलं सिद्धमिति न फलपर्यनुयोगोऽवकाशवानित्यर्थः। शब्दस्य [3]संसृष्टपरोक्षज्ञानहेतोरसंसृष्टापरोक्षज्ञानहेतुत्वायोगात्तुरीयज्ञाने प्रमाणान्तरमेष्टव्यमिति पक्षं प्रत्याह—तुरीयेति। तस्य हि साक्षात्कारे न शब्दातिरिक्तं प्रमाणमन्वेष्यम्। शब्दस्य विषयानुसारेण प्रमाहेतुत्वात्। विषयस्य तुरीयस्यासंसृष्टापरोक्षत्वादित्यर्थः। तुरीयसाक्षात्कारे [4]प्रसंख्यानाख्यं साधनान्तरमेष्टव्यमिति पक्षं प्रतिक्षिपति—साधनान्तरं वेति। प्रसंख्यानस्याप्रमाणत्वान्न प्रमारूपसाक्षात्कारं प्रति हेतुतेति भावः।

यथा रज्जुरियं सर्पो नेति विवेकधीसमुदयदशायामेव रज्ज्वां सर्पनिवृत्तिफले सिद्धे रज्जुसाक्षात्कारस्य फलान्तरं साधनान्तरं वा न मृग्यते क्लृप्तत्वात्तथेहापीत्याह—रज्ज्विति। विषयगतं प्राकट्यं प्रमाणफलं नाध्यस्तनिवृत्तिरित्याशङ्क्याऽऽह—येषामिति। स्वविषयाज्ञानापनयनाय प्रवृत्ता प्रमाणक्रिया स्वविषये भावरूपमतिशयमाधत्ते छेदपनयार्थ-

---

१. प्रमाणान्तरमित्यादि—शास्त्रापेक्षया प्रमाणान्तरं प्रत्यक्षादि, लयचिन्तनविधया साधनीभूत विश्वादि विशिष्टात्मापेक्षया च साधनान्तरमित्यर्थः। २. विकल्प्यमानः—विवर्तमानः। ३. संसृष्टेति—अनुयोगित्व-प्रतियोगित्व-कर्मत्वादिरूपसंसर्गविशिष्टं यत्तत्संसृष्टं तद्विषयकं यत् परोक्षं तद्धेतोरित्यर्थः। गामानयेत्यादि शब्दो हि तथाविधमेवज्ञानं जनयतीति भावः॥ ४. प्रसंख्यानमिति—प्रत्यावृत्तिः प्रसंख्यानम्, तुरीयं तुरीयमित्येवमनुसंधानमिति यावत्।

न च तद्वदप्यात्मन्यध्यारोपितान्तःप्रज्ञत्वादिविवेककरणे प्रवृत्तस्य [1]प्रतिषेधविज्ञानप्रमाणस्यानुपादित्सितान्तःप्रज्ञत्वादिनिवृत्तिव्यतिरेकेण तुरीये व्यापारोपपत्तिः। अन्तःप्रज्ञत्वादिनिवृत्तिसमकालमेव प्रमातृत्वादिभेदनिवृत्तेः। तथा च वक्ष्यति—"ज्ञाते द्वैतं न विद्यते मा० का० १।१८" इति। ज्ञानस्य [2]द्वैतनिवृत्तिक्षणव्यतिरेकेण क्षणान्तरानवस्थानात्॥ अवस्थाने चानवस्थाप्रसङ्गाद् द्वैतानिवृत्तिः।

तस्मात्प्रतिषेधविज्ञानप्रमाणव्यापारसमकालैवाऽऽत्मन्यध्यारोपितान्तःप्रज्ञत्वाद्यनर्थनिवृत्तिरिति सिद्धम्। नान्तःप्रज्ञमिति तैजसप्रतिषेधः। न बहिष्प्रज्ञमिति विश्वप्रतिषेधः। नोभयतःप्रज्ञमिति जाग्रत्स्वप्नयोरन्तरालावस्थाप्रतिषेधः। न प्रज्ञानघनमिति सुषुप्तावस्थाप्रतिषेधः। बीजभावाविवेकरूपत्वात्। न प्रज्ञमिति [3]युगपत्सर्वविषयप्रज्ञातृत्वप्रतिषेधः। नाप्रज्ञमित्यचैतन्यप्रतिषेधः।

इत्यादि प्रतिषेध विज्ञानरूप प्रमाण का व्यापार अनिष्टअन्तःप्रज्ञत्वादि को निवृत्त करने के अतिरिक्त तुरीय आत्मा के बोधन में कुछ भी नहीं हो सकता। क्योंकि जिस समय प्रतिषेधविज्ञानरूप प्रमाण द्वारा आत्मा में अन्तःप्रज्ञत्वादि की निवृत्ति हो जाती है। उसी समय आत्मा में प्रमातृत्वादि निखिलभेद की निवृत्ति भी हो जाती है। "ऐसा ही ज्ञान हो जाने पर द्वैत नहीं रह जाता"। इत्यादि वाक्य से आचार्य गौड़पाद कहेंगे। जिस क्षण में द्वैत प्रपंच की निवृत्ति होती है उससे भिन्न क्षण में वृत्तिरूप ज्ञान नहीं रहता। यदि क्षणान्तर में वृत्तिरूप ज्ञान का रहना माना जाय तो उस वृत्ति की निवृत्ति करने के लिए वृत्यन्तर की आवश्यकता होगी और पुनः उस वृत्ति की निवृत्ति के लिये अन्यवृत्ति का आवश्यकता हो जायगी। इसप्रकार अनवस्था का प्रसंग आ जाने से द्वैत की निवृत्ति नहीं हो सकेगी। इससे यह सिद्ध हुआ कि प्रतिषेधविज्ञानरूपप्रमाण के प्रवृत्त होते ही आत्मा में कल्पित अन्तःप्रज्ञत्वादि सम्पूर्ण अनर्थ की निवृत्ति हो जाती है।

"अन्तःप्रज्ञ नहीं है" इससे आत्मा में तैजसत्त्वका निषेध किया है "बहिष्प्रज्ञ नहीं है" इससे विश्वभाव का निषेध किया है "उभयतः प्रज्ञ नहीं है" इससे जाग्रत और स्वप्न की मध्य अवस्था का निषेध किया है। "प्रज्ञान घन नहीं है" इससे सुषुप्तावस्था का निषेध किया गया है क्योंकि सुषुप्तावस्था बीजभावयुक्त अविवेकरूप है और तुरीय आत्मा में वह अविवेक नहीं। प्रज्ञ नहीं है, इससे एक साथ

क्रियात्वाविशेषाच्छिदिरपि च्छेद्यसंयोगापनयनातिरिक्तमतिशयमादध्यात्। [4]न च संयोगविनाशातिरिक्ते विभागे संप्रतिपत्तिरस्ति। प्राकट्यस्य च प्रकाशत्वे [5]ज्ञानवदार्थनिष्ठत्वमप्रकाशत्वेतेनार्थेन नार्थोऽस्तीति भावः।

अज्ञाननिवर्तकमेव प्रमाणमिति पक्षे विषयस्फुरणे कारणाभावाद्विषयसंवेदनं न स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—यथेति। घटो हि तमसा समावृतो व्यवहारायोग्यस्तिष्ठति तस्य तमसो निष्क्रम्य व्यवहारयोग्यत्वापादने प्रत्यक्षादिप्रमाणं प्रवर्तते। तच्चानुपादित्सितस्या[6]निष्टस्याप्रमेयस्य तमसो निवृत्तिलक्षणे यदा पर्यवस्यति तदा घटसंवेदनमार्थिकं प्रमाणफलं न भवति। यथा छिदिक्रिया छेद्यस्य तरोरवयवयोर्मिथः संयोगनिरसने प्रवृत्ता सती तयोरेवच्छेद्यावयवयोर्द्वैधीभावे फले पर्यवस्यति न त्वन्यतरावयवेऽपि च्छिदि [7]र्व्याप्रियते तथेहापि तमोनिवृत्तौ प्रमाणं निर्वृणोति। घटस्फुरणं त्वार्थिकम्। [8]न च तस्य स्थायित्व[9]मभिव्यञ्जकप्रमातृव्यापारस्यास्थिरत्वादित्यर्थः।

---

१. प्रतिषेधेत्यादि-प्रतिषेधविषयकविज्ञानजनकप्रमाणस्य यद्वा प्रतिषेधरूपस्य विज्ञानजनकप्रमाणस्येत्यर्थः॥ २. द्वैतानिवृत्तिरिति—निवर्तकज्ञानपरम्पराभ्युपगमादितिभावः। ३. पार्थक्येन विराडादिनिषेधं मनसि कृत्याह—युगपदित्यादि। ४. न च संयोगेत्यादि—संयोगनाशको गुणो विभागः इति नैयायिकसम्मतविभागेनास्मत् सम्मतिरित्यर्थः। ५. ज्ञानवदिति—ज्ञानं हि प्रकाशरूपमन्तःकरणनिष्ठं प्राकट्यस्यापि प्रकाशत्वे तन्निष्ठत्वं स्यादिति भावः। ६. निवृत्तेरावश्यकत्वसूचनाय तमोविशेषणे प्रत्ययार्थनत्वितमाह—अनिष्टस्येति। निवृत्तियोग्यतां ध्वनयन् प्रकृत्यर्थं व्यनक्ति—अप्रमेयस्येति। न हि प्रमेयं प्रमाणनिवर्त्यं भवतीत्यप्रमेयस्यैव तन्निवर्त्यत्वमितिभावः। ७. व्याप्रियते—कञ्चिदपि स्वयमादत्ते। ८. ननु प्रमाणव्यापारेण सकृत्घटाज्ञाने नष्टे सति सर्वदैव घटस्फुरणेन भवितव्यमित्याशङ्कायामाह—न च तस्येत्यादि। ९. अभिव्यञ्जकस्य प्रमातृव्यापारस्य—अन्तःकरणवृत्तेरित्यर्थः।

कथं पुनरन्तःप्रज्ञत्वादीनामात्मनि गम्यमानानां रज्ज्वादौ सर्पादिवत्प्रतिषेधादसत्त्वं गम्यत इत्युच्यते । ज्ञस्वरूपाविशेषेऽपीतरेतरव्यभिचाराद्रज्ज्वादाविव सर्पधारादिविकल्पितभेदवत्सर्वत्राव्यभिचाराज्ज्ञस्वरूपस्य सत्यत्वं सुषुप्ते व्यभिचरतीति चेन्न । सुषुप्तस्यानुभूयमानत्वात् । "न हि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यते" बृ० ४।३।३० इति श्रुतेः ।

सम्पूर्ण विषयोंके ज्ञातृत्वका निषेध किया गया है तथा अप्रज्ञ नहीं है इससे जड़का निषेध किया गया है।

पू०—जब अन्तः प्रज्ञत्वादि धर्म आत्मा में दीखरहे हैं, तो केवल प्रतिषेधमात्र से रज्जु में दीखने वाले सर्पादि के समान उनका असत्यत्त्व कैसे सिद्ध हो सकता है ?

सि०—इस पर कहते हैं कि जैसे रज्जु में प्रतीत होने वाले सर्प, जलधारादि विकल्प भेदों का परस्पर व्यभिचार उनमें असत्यत्त्व है वैसे ही चैतन्यरूपता सर्वत्र समान होने पर भी अत्यन्त प्रज्ञत्वादि विकल्पों का परस्पर व्यभिचार होने के कारण असत्यत्त्व है, किन्तु रज्जु के सामान्य धर्म इदन्ता के समान चैतन्यरूपता का कहीं भी व्यभिचार न होने के कारण सत्यत्व है।

किंच घटादेर्जडस्य संविदपेक्षत्वात्तत्र संविदो मानफलत्वेपि नाऽऽत्मन्यजडे [1]संविदेकताने मानस्याऽऽरोपितधर्मनिवर्तकत्वमन्तरेण संविज्जनकत्वव्यापारः संभवतीत्याह—न चेति । तुरीयात्मनि संवेदनजननव्यापारो न प्रमाणस्य [2]प्रकल्प्यते । तस्य संविदात्मकत्वादारोपितनिवृत्तिव्यतिरेकेण मानजन्यफलसंविदनपेक्षत्वादित्युक्तम् । तत्रैव हेत्वन्तरमाह—अन्तःप्रज्ञत्वादीति । आश्रयाभावेनाऽऽश्रितप्रमाणाभावादनन्तरक्षणे तस्य व्यापारानुपपत्तिरित्यत्र वाक्यशेषमनुकूलयति—तथा चेति । किंच ज्ञानाधीनद्वैतनिवृत्त्यवच्छिन्नक्षणातिरेकेण न क्षणान्तरे ज्ञानं स्थातुं पारयति नचास्थिरं ज्ञानं व्यापाराय पर्याप्तम् । तथा च ज्ञानस्य द्वैतनिवृत्तिव्यतिरेकेण नाऽऽत्मनि व्यापारोऽस्तीत्याह—ज्ञानस्येति । ननु ज्ञानं द्वैतनिवर्तकमपि न स्वात्मानं निवर्तयति । निवर्त्यनिवर्तकभावस्यैकत्र विरोधात् । अतो यावन्निवर्तकं स्थास्यति तत्राऽऽह—अवस्थाने चेति । [3]निवर्तकस्य ज्ञानस्य द्वैतनिवृत्तेरनन्तरमपि निवर्तकान्तरमपेक्ष्यावस्थाने च तस्य तस्य निवर्तकान्तरव्यपेक्षत्वा[4]दाद्यस्यापि विज्ञानस्य निवर्तकत्वासिद्धिः । न च ज्ञानस्य स्वनिवर्तकत्वानुपपत्तिः स्वपरविरोधिनां भावानां बहुलमुपलम्भादित्यर्थः ।

ज्ञानस्य जन्मातिरिक्तव्यापाराभावात्तज्जन्मनश्च द्वैतनिषेधेनैवोपक्षयात्क्षणान्तरे विषयस्फुरणजननायानवस्थानादारोपिताद्धर्मनिवृत्त्यैव ज्ञानं पर्यवसितमित्युपसंहरति—तस्मादिति । प्रतिषेधजनितं विज्ञानमेव प्रमाणम् । तस्य व्यापारो जन्मैव । तेन समानकालैवानर्थनिवृत्तिरिति योजना । तत्र हेतुमाह—बीजभावेति । सुषुप्तं हि स्वप्नजागरिते प्रति बीजभाव[5]स्तस्याशेषविशेषविज्ञानाभावरूपत्वाद्विशेषविज्ञानानां सर्वेषां घनमेकं साधारणमविभक्तं सुषुप्तमिति तत्प्रतिषेधो नेत्यादिना संभवतीत्यर्थः ।

युक्तं सर्पादीनां रज्ज्वादौ भ्रान्तिप्रतिपन्नानां प्रतिषेधादसत्त्वम् । आत्मनि तु प्रमाणेन गम्यमानानामन्तःप्रज्ञत्वादीनां न प्रतिषेधो युज्यते मानविरोधादिति शङ्कते—कथमिति । प्रामाणिकत्वस्यासिद्धत्वादयुक्तमन्तःप्रज्ञत्वादीनामसत्यत्वमिति परिहरति—उच्यत इति । विमतमसत्यं व्यभिचारित्वात्संप्रतिपन्नवदित्याह—ज्ञस्वरूपेति । तस्याविशेषेऽव्यभिचारस्तत्र रज्ज्वादावित्येतदुदाहरणम् । अन्तःप्रज्ञत्वादीनामितरेतरव्यभिचारे निदर्शनं सर्पधारादीति । विमतं सत्यमव्यभिचारित्वाद्रज्ज्वादिवदित्याह—सर्वत्रेति । तस्य च सत्यत्वे सर्वकल्पनाधिष्ठानत्वसिद्धिरिति भावः । अव्यभिचारित्वहेतोरसिद्धिं शङ्कते—सुषुप्त इति । न तत्र चैतन्यस्य व्यभिचारः सुषुप्तस्य स्फुरणव्याप्ततया साधकस्फुरणस्याऽऽवश्यकत्वादित्याह—न सुषुप्तस्येति । सुषुप्ते साधकस्फुरणस्य सत्त्वे प्रमाणमाह—न हीति ।

---

१. संविदेकतान इति—जडाजडरूपात्मवादनिरासायेदं विशेषम् । २. प्रकलयत इत्यत्र प्रकल्पते इति युक्तः पाठः । ३. अनवस्थां स्फुटयति—निवर्तकस्य ज्ञानस्येत्यादिना । ४ आद्यस्यापीति—नह्यन्तरेणान्तःकरणाद्युत्तरविज्ञानोत्पादः संभवति । किञ्चोत्तरस्य निवर्तकज्ञानमात्रनिवर्तकत्वे विज्ञानत्वाविशेषेणाद्यस्यापि तथात्वावश्यकत्वादनिवर्तकत्वमिति दिक् । ५. ध्वंसप्रागभावयोः कारणाश्रितत्वमाश्रित्योक्तेऽर्थे हेतुमाह—तस्येत्यादिना ।

अत एवादृष्टम्। यस्माददृष्टं तस्मादव्यवहार्यम्। अग्राह्यं कर्मेन्द्रियैः। अलक्षणमलिङ्गमित्येतद-नुमेयमित्यर्थः। अत एवाचिन्त्यम्। अत एवाव्यपदेश्यं शब्दैः। एकात्मप्रत्ययसारं जाग्रदादिस्थानेष्वे-कोऽयमात्मेत्यव्यभिचारी यः प्रत्ययस्तेनानुसरणीयम्।

अथ चैक आत्मप्रत्ययः सारं प्रमाणं यस्य तुरीयस्याधिगमे तत्तुरीयमेकात्मप्रत्ययसारम्। "[1]आत्मेत्येवोपासीत" (बृ० १।४।७) इति श्रुतेः।

अन्तःप्रज्ञत्वादिस्थानिधर्मा (र्म) प्रतिषेधः कृतः। प्रपञ्चोपशममिति जाग्रदादिस्थानधर्माभाव उच्यते। अत एव शान्तमविक्रियं शिवं यतोऽद्वैतं भेदविकल्परहितं चतुर्थं तुरीयं मन्यन्ते। प्रतीयमान-

पू०—यदि कहो कि सुषुप्त पुरुष में चेतनता का व्यभिचार हो जाता है, तो यह ठीक नहीं? क्योंकि सुषुप्ति का भी अनुभव तो होता ही है और "विज्ञाता की दृष्टि का लोप नहीं होता है" यह श्रुति भी ज्ञातृता के अभाव का निषेध करती है। अतः अनुभव एवं श्रुति प्रमाण से सुषुप्त में भी चिद्रूपता रहती ही है। अतएव यह आत्मा अदृश्य है, जब कि अदृश्य है, इसलिए अव्यवहार्य है। तथा कर्मेन्द्रिय ग्रहण योग्य नहीं है। इस प्रकार अदृष्ट और अग्राह्य के व्याख्यान भेद कर देने पर पुनरुक्ति का भी वारण हो जाता है। यह आत्मा अलक्षण (लिङ्गरहित) है। अतः लिङ्गाभाव होने के कारण ही यह अनुमान का विषय नहीं है। अननुमेय होने से यह अचिन्त्य है। अतएव शब्द का अविषय होने से शब्दाव्यपदेश्य है। इतने पर भी उसके न होने की आशंका नहीं कर सकते, क्योंकि यह एकात्म-प्रत्ययसार है यानी जाग्रदादि तीनों स्थानों में आत्मा एक ही है ऐसा अव्यभिचारी प्रतीत होता है। इस अव्यभिचरित प्रतीति से आत्मसत्ता का अनुसरण करना चाहिये। अथवा (आत्मा है) इस प्रकार इसकी उपासना करे। इस श्रुति के आधार पर जिस तुरीय आत्मा को जानने में पूर्वोक्त आत्म प्रतीत ही एक मात्र प्रमाण है। वह तुरीय एकात्मप्रत्ययसार कहा गया है।

यहाँ तक अन्तःप्रज्ञत्वादि का स्थानी यानी जाग्रदादि अवस्था के अभिमानी, विश्वादि के अन्तःप्रज्ञत्वादि धर्मों का निषेध किया गया है। अब "प्रपञ्चोपशमम्" इत्यादि वाक्य से जाग्रदादि अवस्थाओं के धर्मों का निषेध किया जाता है। अर्थात् पहले स्थानी एवं अब स्थान के धर्मों का निषेध

निषेधशास्त्रालोचनया निर्विशेषत्वं तुरीयस्योक्तं तदेव हेतूकृत्य ज्ञानेन्द्रियाविषयत्वमाह—अत एवेति। दृष्टस्यै-वार्थक्रियादर्शनाददृष्टत्वाद [2]र्थक्रियाराहित्यमिति विशेषणान्तरमाह—यस्मादिति। अदृष्टमित्यनेनाग्राह्यमित्यस्य पौनरुक्त्यं परिहरति—कर्मेन्द्रियैरिति। अलक्षणमित्ययुक्तम्। सत्यं ज्ञानमनन्तमित्यादिलक्षणोपलम्भादित्याशङ्क्याऽऽह—अलिङ्ग-मिति। को ह्येवान्यात्कः प्राण्यादित्यादिलिङ्गोपन्यासविरुद्धमेतदित्याशङ्क्याऽऽह—[3]अननुमेयमिति। प्रत्यक्षानुमाना-विषयत्वप्रयुक्तं विशेषणान्तरमाह—अत एवेति। मनोविषयत्वाभावादेव शब्दाविषयत्वम् शब्दप्रवृत्तेस्तत्प्रवृत्तिपूर्वकत्वा-दित्याह—अत एवेति। तर्हि यथोक्तं वस्तु नास्त्येव प्रमाणाभावादित्याशङ्क्याऽऽह—एकात्मेति।

[4]परोक्षार्थविषयतया विशेषणं व्याख्यायापरोक्षार्थतयोऽपि व्याकरोति—अथवेति। अपरोक्षात्मप्रत्ययस्याऽऽत्मनि प्रमाणत्वे बृहदारण्यकश्रुतिमुदाहरति—आत्मेत्येवेति। यत्राऽऽत्मोतीत्यादिना परिपूर्णत्वादिलक्षणस्तावदात्मोक्तः स च वाङ्मनसातीतः श्रुतिभ्योऽवगतस्तमेवैकरसं परमात्मानं प्रत्यक्त्वेन गृहीत्वा तन्निष्ठस्तिष्ठतोत्यामनोऽवस्थात्रयातीतस्य तुरीयस्यापरोक्षनित्यदृष्टित्वं श्रुतितो दृष्टमित्यर्थः।

विशेषणान्तरस्य पुनरुक्ति परिहरन्नर्थभेदमाह—अन्तरिति। स्थानिधर्मस्य स्थानधर्मस्य च प्रतिषेधोऽन्तः-शब्देन परामृश्यते। शान्तं रागद्वेषादिरहितमविक्रियं कूटस्थमित्यर्थः। शिवं परिशुद्धं परमानन्दबोधरूपमिति यावत्।

---

१. आत्मेतीत्यादिना—अत्रेति शब्दः शब्दतत्प्रत्ययाविषयत्वमात्मनो बोधयतीति बोध्यम्। २. अर्थक्रियेत्यादि—हेयोपादेयत्वराहित्यमित्यर्थः। ३. अननुमेयमिति—स्वतन्त्रानुमानाविषय इत्यर्थः। अनुमानं हि श्रुतिसहकारमात्रतया तत्प्रतिपादकमभ्युपेयते, न स्वातन्त्र्येणेति भावः। ४. परोक्षेत्यादि–प्रमाणाविषयतयेत्यर्थः। न हि साक्षिज्ञानं प्रामाणपरि-गणितमिति। वस्तुतस्तु व्याख्यानद्वये वैलक्षण्यभानमाशङ्क्य वैलक्षण्यं व्यवस्थापयन्नवतारयति—परोक्षार्थविषयतयेत्यादि।

अत्रैते श्लोका भवन्ति—

निवृत्तेः सर्वदुःखानामीशानः प्रभुरव्ययः । अद्वैतः सर्वभावानां देवस्तुर्यो विभुः स्मृतः ॥१०॥

[सभी प्रकार के दुःखों की निवृत्ति में तुरीय आत्मा ईशान अर्थात् समर्थ, वह (स्वरूप से व्यभिचरित न होने के कारण) निर्विकार है, रज्जुसर्पवत् दृश्यवर्ग के मिथ्या होने से) सभी भावपदार्थों में अद्वैत रूप है, दिव्य, चतुर्थ और व्यापक माना गया है ॥१०॥]

पादत्रयवैलक्षण्यात्। स आत्मा स विज्ञेय इति प्रतीयमानसर्पभूछिद्रदण्डादिव्यतिरिक्ता यथा रज्जुस्तथा तत्त्वमसीत्यादिवाक्यार्थ आत्माऽदृष्टो द्रष्टा (बृ० ३।७।२३) "न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते" (बृ० ४।३।२३) इत्यादिभिरुक्तो यः स विज्ञेय इति भूतपूर्वगत्या ज्ञाते द्वैताभावः ॥ ७ ॥

[1]प्राज्ञतैजसविश्वलक्षणानां सर्वदुःखानां निवृत्तेरीशानस्तुरीय आत्मा। ईशान इत्यस्य पदस्य व्याख्यानं प्रभुरिति। दुःखनिवृत्तिं प्रति प्रभवतीत्यर्थः। [2]तद्विज्ञाननिमित्तत्वाद् दुःखनिवृत्तेः। अव्ययो-

किया जाता है। अतएव वह शान्त (निर्विकार) एवं द्वैतरूप विकल्प से रहित होने के कारण कल्याणस्वरूप है। इसे पूर्व तीन की अपेक्षा चतुर्थ (तुरीय) मानते हैं। पूर्व के प्रतीत होने वाले तीन पादों से यह विलक्षण है, यही आत्मा है और यही जानने योग्य है। अतः जैसे रज्जु में प्रतीत होने वाले सर्प, भूछिद्र, दण्डादि से भिन्न पारमार्थिक वस्तु रज्जु है। जिसे "इयं रज्जुः" इस वाक्य से बोध कराया जाता है। ठीक वैसे ही अवस्थात्रय से विलक्षण 'तत्त्वमसि' इत्यादि महावाक्य का अर्थ स्वरूप आत्मा कहा गया है। "जो देखा नहीं जाता किन्तु सबका देखने वाला है" द्रष्टा की दृष्टि का कभी लोप नहीं होता। इत्यादि श्रुतियों से कहा गया है। अतः अपने में कल्पित जाग्रदादि अवस्थाओं से विलक्षण होने के कारण उसी में ज्ञातत्त्व है ऐसा भूतपूर्व गति से कहा गया है। क्योंकि उसके ज्ञान होने पर सम्पूर्ण द्वैत का अभाव हो जाता है। अर्थात् द्वैत प्रपंच का कारण अज्ञान अद्वितीय ब्रह्मात्मबोध निवृत्त हो जाता है ॥७॥

इस अर्थ में आगे के श्लोक कहे जाते हैं।

तुरीय आत्मा का प्रभाव

प्राज्ञ तैजस और विश्वरूप सम्पूर्ण दुःखों की निवृत्ति में तुरीय आत्मा ईशान है। अर्थात् दुःख निवृत्ति के प्रति इसमें सामर्थ्य है इस श्लोक में ईशान पद की व्याख्या के लिये प्रभु कहा गया क्योंकि उस तुरीय आत्मा का विज्ञान हो जाने पर दुःखों की निवृत्ति हो जाती है।

यस्माद्द्वैताभावोपलक्षितं तस्माच्चतुर्थमित्याह—यत इति। अद्वैतमित्येतद्व्याचष्टे—सेवेति। संख्याविशेषविषयत्वाभावे कथं चतुर्थत्वमित्याशङ्क्याऽऽह—प्रतीयमानेति। चतुर्थतुरीययोर्व्याख्यानव्याख्येयत्वेनापौनरुक्त्यं तस्योक्तविशेषणत्वेऽपि सम किमायातमित्याशङ्क्याऽऽह—[3]स आत्मेति। आत्मनि यथोक्तविशेषणानि न प्रतिभान्तीत्याशङ्क्याऽऽह—[4]स विज्ञेय इति। तदेव व्याचष्टे—प्रतीयमानेति। न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वादित्यादिवाक्ये प्रतीकोपादानेन दर्शयति—न हि द्रष्टुरिति। आत्मन्यव्यवहार्ये कुतो विज्ञेयत्वमित्याशङ्क्य भूतपूर्वमविद्यावस्थायां या ज्ञेयत्वाख्याऽवगतिस्तयेदानीमपि विज्ञेयत्वमुक्तमित्याह—भूतेति। विद्यावस्थायामेव किमिति ज्ञातृज्ञानज्ञेयविभागो न भवति तत्राऽऽह—ज्ञात इति। ज्ञानेन तत्कारणस्याज्ञानस्यापनीतत्वादित्यर्थः ॥ ७ ॥

नान्तःप्रज्ञत्वादिति (मित्यादि) श्रुत्युक्तेऽर्थे तद्विवरणरूपाञ्छ्लोकानवतारयति—अत्रेति। विविधं स्थानत्रय-

---

१. विपर्ययेण—लयक्रमं मनसि निधाय तदुपयोगितया विन्यस्यति—प्राज्ञेत्यादि। २. तद्विज्ञानेत्यादि—विज्ञातः स दुःख निवृत्तिनिमित्तं नाविज्ञातः, तस्य तु सर्वसाधकत्वादिति भावः। ३. स आत्मेतीति—स्व एव त्वमसीति तद्विशेषणफलं तवायातमित्यर्थः। ४. स विज्ञेय इति—तथा च तद्विज्ञाने सति त्वयि प्रतिभास्यन्तीतिभावः।

कार्यकारणबद्धौ ताविष्येते विश्वतैजसौ ।
प्राज्ञः कारणबद्धस्तु द्वौ तौ तुर्ये न सिध्यतः ॥११॥

[पूर्वोक्त विश्व और तैजस ये दोनों ही (फलावस्था रूप) कार्य से तथा (बीजावस्थारूप) कारण से बँधे हुए माने जाते हैं। किन्तु प्राज्ञ केवल (बीजावस्थारूप) कारण से बँधा माना जाता है, पर तुरीय में तो ये दोनों ही नहीं हैं ॥११॥]

न व्येति स्वरूपान्न व्यभिचरतीति यावत्। एतत्कुतः। यस्मादद्वैतः सर्वभावानां रज्जुसर्पवन्मृषात्वात् स एष देवो द्योतनात्तुरीयश्चतुर्थो विभुर्व्यापी स्मृतः ॥१०॥

विश्वादीनां सामान्यविशेषभावो निरूप्यते तुरीययाथात्म्यावधारणार्थम्। कार्यं क्रियत इति फलभावः। कारणं करोतीति बीजभावः। तत्त्वाग्रहणान्यथाग्रहणाभ्यां बीजफलभावाभ्यां तौ यथोक्तौ विश्वतैजसौ बद्धौ संगृहीताविष्येते। प्राज्ञस्तु बीजाभावेनैव बद्धः। तत्त्वाप्रतिबोधमात्रमेव हि बीजं प्राज्ञत्वे निमित्तम्। [1]ततो द्वौ तौ बीजफलभावौ तत्त्वाग्रहणान्यथाग्रहणे तुर्ये न सिध्यतो न विद्येते न संभवत इत्यर्थः ॥११॥

जो विकार को प्राप्त न हो अर्थात् जो अपने स्वरूप से कभी गिरता नहीं उसे अव्यय कहते हैं। क्योंकि वह अद्वितीय है, उसमें सम्पूर्ण पदार्थ रज्जु में कल्पित सर्प के समान मिथ्या है। सभी भाव-वस्तु में सर्प में अधिष्ठान रज्जु के समान वह अद्वितीय आत्मा अनुगत है। प्रकाशक होने से वह यह तुरीय आत्मा देव है। कल्पित विश्वादि की अपेक्षा चतुर्थ संख्या वाला होने के कारण उसे तुरीय कहा गया है और व्यापक होने से यह विभु माना गया है ॥१०॥

विश्वादि से तुरीय का भेद

तुरीय आत्मा के यथार्थ स्वरूप निश्चय के लिये विश्वादि में समान तथा विशेषभाव बतलाया जाता है। जो किया जाय वह कार्य कहा जाता है, अर्थात् फलभाव को कार्य कहते हैं और जो करता हो उसे कारण कहते हैं। अर्थात् बीज भाव को कारण कहा गया है। पहले बतलाये गये विश्व और तैजसतत्त्व के अज्ञान रूप बीज और तज्जन्यभ्रान्तिरूप फल से बँधे अर्थात् अच्छी प्रकार से पकड़े माने जाते हैं किन्तु प्राज्ञ केवल तत्त्व के अज्ञान से बँधा हुआ है। तत्त्व का बोध न होना रूप बीज ही उसके प्राज्ञपन में निमित्त कारण माना गया है इससे भिन्न तुरीय में वे बीजभाव तत्त्व का अज्ञान और फलभाव अन्यथा ग्रहणरूप भ्रान्तिज्ञान, वे दोनों ही सिद्ध नहीं होते। क्योंकि इन दोनों का होना तुरीय आत्मा में सर्वथा असम्भव है ॥११॥

तस्माद्भवतीति व्युत्पत्त्या तुरीयो विभुरुच्यते। न हि तुरीयातिरेकेण स्थानत्रयमात्मानं धारयति। सर्वःदुःखानामाध्यात्मिकादिभेदभिन्नानां तद्धेतूनां [2]तदाधाराणामिति यावत्। ईशानपदं प्रयुज्य प्रभुपदं प्रयुञ्जानस्य पौनरुक्त्यमित्याशङ्क्याऽऽह—ईशान इति। तुरीयस्य दुःखनिवृत्तिं प्रति सामर्थ्यस्य नित्यत्वान्न कदाचिदपि दुःखं स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—तद्विज्ञानेति। [3]संसृष्टरूपेण व्ययोऽस्तीत्याशङ्क्य विशिनष्टि—स्वरूपादिति। तत्र प्रश्नपूर्वकमद्वितीयत्वं हेतुमाह एतत्कुत इति। अतो द्वितीयस्य व्ययहेतोरभावादिति शेषः। विश्वादीनां दृश्यमानत्वात्तुरीयस्याद्वितीयत्वासिद्धिरित्याशङ्क्याऽऽह—सर्वभावानामिति। अवस्थात्रयातीतस्य तुरीयस्योक्तलक्षणत्वं [4]विद्वदनुभवसिद्धमिति सूचयति—स्मृत इति ॥१०॥

विश्वादिष्ववान्तरविशेषनिरूपणद्वारेण तुरीयमेव निर्धारयति—कार्येति। श्लोकस्य तात्पर्यमाह—विश्वादीनामिति। विश्वतैजसयोरुभयबद्धत्वं सामान्यं प्राज्ञस्य कारणमात्रबद्धत्वं विशेषः। अथेदं निरूपणं कुत्रोपयुज्यते तत्राऽऽह—तुर्येति।

---

१. तत इति—कार्यकारणासंसृष्टत्वात्तुरीये संसर्गयोग्यसजातीयाभावादिति एवार्थः। २. तदाधाराणामिति—विश्वादीनामित्यर्थः। ३—संसृष्टरूपेणेति—सोपाधिनेत्यर्थः। ४—स्मृतेरनुभवपूर्वकत्वादाह—विद्वदनुभवेति।

नाऽऽत्मानं न परांश्चैव न सत्यं नापि चानृतम् ।
प्राज्ञः किंचन संवेत्ति तुर्यं तत्सर्वदृक्सदा ॥१२॥

(प्राज्ञ से तुरीय इसलिये भी भिन्न है क्योंकि) प्राज्ञ न अपने को और न दूसरे को, न सत्य को तथा न असत्य को ही जानता है। किन्तु तुरीय आत्मा तो सदा सर्वदा सबका प्रकाशक है ॥१२॥

कथं पुनः कारणबद्धत्वं प्राज्ञस्य तुरीये वा तत्त्वाग्रहणान्यथाग्रहणलक्षणौ बन्धो न सिध्यत इति। यस्मादात्मविलक्षणमविद्याबीजप्रसूतं बाह्यं द्वैतं प्राज्ञो न किंचन संवेत्ति यथा विश्वतैजसौ [1]ततश्चासौ तत्त्वाग्रहणेन तमसाऽन्यथाग्रहणबीजभूतेन बद्धो भवति। यस्मात्तुरीयं तत्सर्वदृक्सदा तुरीयादन्यस्याभावात्सर्वदा सदैवेति सर्वं च तद्दृक्चेति सर्वदृक्तस्मान्न तत्त्वाग्रहणलक्षणं बीजम्। तत्र तत्प्रसूतस्यान्यथाग्रहणस्या[2]प्यत एवाभावो न हि सवितरि सदाप्रकाशात्मके तद्विरुद्धमप्रकाशनमन्यथाप्रकाशनं वा संभवति। "न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते" (बृ० ४।३।२३) इति श्रुतेः। अथवा जाग्रत्स्वप्नयोः सर्वभूतावस्थः सर्ववस्तुदृगाभासस्तुरीय एवेति सर्वदृक्सदा। "नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ" (बृ० ३।८।११) इत्यादिश्रुतेः ।१२।

फिर भी आपने प्राज्ञ को कारण से बँधा हुआ कैसे कह दिया और तुरीय में तत्त्व का अज्ञान का विपरीत तथा भ्रान्तिरूप विपरीत ज्ञान बन्धन क्योंकर सिद्ध नहीं होते, इस पर आगे का श्लोक कहते हैं। क्योंकि आत्मा से विलक्षण अज्ञानरूप बीज से उत्पन्न बाह्यद्वैतवस्तु को प्राज्ञात्मा कुछ भी नहीं जानता जैसे कि विश्व तैजस उक्त द्वैत का जानते रहे हैं। अतएव वह प्राज्ञतत्त्व के अज्ञान और उसी अज्ञानजन्य भ्रान्तिज्ञान के बीजभूत तम से बँधा हुआ माना जाता है। इससे भिन्न उन सबका द्रष्टा तुरीय आत्मा अपने से भिन्न वस्तु के अभाव होने से सदा सर्वदा ही सर्वरूप तथा सर्वद्रष्टा हैं, जो सर्वरूप और सबका साक्षी भी हो उसी को सर्वदृक् कहते हैं। अतएव वह सर्वदृक् कहा गया है। इसीलिये उसमें तत्त्व का अज्ञान रूप बीज भाव नहीं है इसीलिये तत्त्वाज्ञान से उत्पन्न भ्रान्ति का भी अभाव उसमें माना है क्योंकि सदा प्रकाश स्वरूप सूर्य में उसके विरुद्ध अप्रकाशन या विपरीत प्रकाशन सम्भव नहीं। द्रष्टा की दृष्टि का सर्वथा लोप कभी भी नहीं होता, इस श्रुति से भी सिद्ध होता है अथवा जाग्रत और स्वप्न के सम्पूर्ण भूतों में स्थित और सभी वस्तुओं के साक्षीरूप से तुरीय आत्मा ही प्रकाश कर रहा है। इसीलिये वह सदा सबका साक्षी माना गया है, ऐसे ही "इससे भिन्न और कोई द्रष्टा नहीं है" इस श्रुति वाक्य से भी सिद्ध होता है ॥१२॥

प्राज्ञस्य कारणमात्रबद्धत्वं साधयति—तत्त्वाप्रतिबोधेति। त्रयाणामवान्तरविशेषे स्थिते प्रकृते तुरीये किमायातमित्याशङ्क्याऽऽह—तत इति। तयोस्तस्मिन्नविद्यमानत्वं चिदेकताने तयोर्निरूपयितुमशक्यत्वादित्याह—न संभवत इति ॥११॥

प्राज्ञस्य कारणबद्धत्वं साधयति—नाऽऽत्मानमिति। तुरीयस्य कार्यकारणाभ्यामसंस्पृष्टत्वं स्पष्टयति—तुर्यमिति। श्लोकव्यावर्त्यामाशङ्कामाह—कथमिति। वाशब्दात्कथमित्यस्यानुवृत्तिः सूच्यते। प्रथमचोद्योत्तरत्वेन पादत्रयं व्याचष्टे—यस्मादिति। विलक्षणमना[3]त्मानमिति यावत्। अनृतमित्यस्य व्याख्यानमविद्याबीजप्रसूतमिति। द्वैतं द्वितीय[4]मसत्यमित्यर्थः। वैधर्म्योदाहरणम्—यथेति। प्राज्ञस्य विभागविज्ञानाभावे फलमाह—ततश्चेति। यथोक्ते तमसि कार्यलिङ्ग[5]मनुमानं सूचयति—अन्यथेति। द्वितीयं चोद्यं चतुर्थपादव्याख्यानेन प्रत्याख्याति—यस्मादित्यादिना। सदैव तुरीयादन्यस्याभावात्तुरीयमेव सर्वं तच्च सदा दृग्रूपमिति यस्मात्तस्मादिति योजना। तत्रेति। परिपूर्णं चिदेकतानं तुरीयं परामृश्यते। अत एवेति। कारणाभावे कार्यानुपपत्तेरित्यर्थः। तुरीये तत्वाग्रहणान्यथाग्रहणयोरसंभवं दृष्टान्तेन साधयति—न हीति। यत्तु

१.—तत इति—उक्तविभागाभावादित्यर्थः। २. अतः—बीजाभावात्। ३. आत्मानमित्येतदात्मेति व्याख्याय परानिति व्याख्यातुं विलक्षणमित्युक्तमिति सूचयतुं व्याख्याति विलक्षणमनात्मानमिति। ४. असत्यमिति—व्यावहारिकसत्यमिति यावत्, सत्यमित्येव वा पाठः। ५. अनुमानमिति—अन्यथाग्रहणमात्मातिरिक्तभावोपादानकम्, भावकार्यत्वात्, घटादिवत्, इत्येवंविधमनुमानमित्यर्थः।

द्वैतस्याग्रहणं तुल्यमुभयोः प्राज्ञतुर्ययोः। बीजनिद्रायुतः प्राज्ञः सा च तुर्ये न विद्यते ॥१३॥
स्वप्ननिद्रायुतावाद्यौ प्राज्ञस्त्वस्वप्ननिद्रया। न निद्रां नैव च स्वप्नं तुर्ये पश्यन्ति निश्चिताः ॥१४॥

प्राज्ञ और तुरीय दोनों को द्वैत का बोध न होना समान ही है, फिर भी प्राज्ञ बीजस्वरूपा अज्ञान निद्रा से युक्त है और तुरीय में वह बीज रूप निद्रा नहीं है ॥१३॥

[पहले की दो अवस्थावाले विश्व और तैजस स्वप्न तथा निद्रा दोनों से युक्त है, एवं प्राज्ञ आत्मा केवल निद्रा से युक्त है स्वप्न से नहीं। किन्तु तुरीय में न निद्रा ही है और न स्वप्न ही, ऐसा उसे तत्त्ववेत्ता लोग देखते हैं ॥१४॥]

निमित्तान्तरप्राप्ताशङ्कानिवृत्त्यर्थोऽयं श्लोकः। कथं द्वैताग्रहणस्य तुल्यत्वात्कारणबद्धत्वं प्राज्ञस्यैव न तुरीयस्येति प्राप्ताऽऽशङ्का निवर्त्यते। यस्माद् बीजनिद्रायुतस्तत्त्वाप्रतिबोधो निद्रा। सैव च [1]विशेषप्रतिबोधप्रसवस्य बीजम्। सा बीजनिद्रा। तया युतः प्राज्ञः। सदा दृक्स्वभावत्वात्तत्त्वाप्रतिबोधलक्षणनिद्रा तुरीये न विद्यते। अतो न कारणबन्धस्तस्मिन्नित्यभिप्रायः ॥१३॥

स्वप्नोऽन्यथाग्रहणं सर्प इव रज्ज्वाम्। निद्रोक्ता तत्त्वाप्रतिबोधलक्षणं तम इति। ताभ्यां स्वप्ननिद्राभ्यां युक्तौ विश्वतैजसौ। अतस्तौ कार्यकारणबद्ध वत्युक्तौ। प्राज्ञस्तु स्वप्नवर्जितकेवलयैव निद्रया

अनुमान रूप निमित्तान्तर से तुरीय आत्मा में कारण बन्धकत्व की आशंका को दूर करने के लिये आगे का यह श्लोक है। जब द्वैत का अग्रहण प्राज्ञ और तुरीय में समान है तो फिर केवल प्राज्ञ को ही कारण से बँधा हुआ मानना और तुरीय को बीजरूप अज्ञान से बँधा हुआ न मानना यह कैसे कह रहे हो? इस प्रकार तुरीय में प्राप्त हुई कारणबन्धकत्व की आशंका को दूर करते हैं क्योंकि प्राज्ञ बीजरूप निद्रा से युक्त है, यहाँ पर तत्त्व के अज्ञान को निद्रा कहा है। वह अज्ञान ही द्वैत के विशेष विज्ञान उत्पत्ति का बीज है। अतः वह बीज निद्रा शब्द से कहा गय है। उस निद्रा से प्राज्ञ सम्बद्ध है पर सदा साक्षी स्वभाव होने के कारण तुरीय आत्मा में वह तत्त्व का अज्ञानरूप निद्रा नहीं है इसीलिये वह कारण से बँधा हुआ नहीं माना गया है। बस यही इसका आशय है ॥१३॥

स्वप्न और निद्रा से शून्य तुरीय आत्मा

जैसे रज्जु में सर्पज्ञान अन्यथा ग्रहण कहा है, वैसे ही तुरीय आत्मा में अन्यथाग्रहण का नाम स्वप्न है और तत्त्व का अज्ञानतम नाम से कहा गया है जिसे यहाँ पर निद्रा कहते हैं। ऐसे स्वप्न और

तुरीयस्य सदा दृगात्मत्वमुक्तं तत्र प्रमाणमाह—न हि द्रष्टुरिति। चतुर्थपादं प्रकारान्तरेण योजयति—अथवेति। तत्रापि श्रुतिमनुकूलयति—नान्यदिति ॥१२॥

अनुमानप्रयुक्तां तुरीयेऽपि कारणबद्धत्वाशङ्कां परिहरति—द्वैतस्येति। श्लोकस्य तात्पर्यं गृह्णाति—निमित्तान्तरेति। विमतं कारणबद्धं द्वैताग्रहणात्प्राज्ञवदित्यनुमानमेव दर्शयन्निमित्तान्तरमेव स्फोरयति—कथमिति। अनुमानकृताशङ्कानिवर्तकत्वेन श्लोकमवतारयति—प्राप्तेति। [2]प्राज्ञस्योत्तरभाविप्रबोधादिकार्यापेक्षया [3]नियतपूर्वभावित्वं कारणबद्धत्वप्रयोजकम्। न च तुरीयस्य तदस्तीत्यप्रयोजको हेतुरित्याह—यस्मादिति। किंच तुरीयस्य विशुद्धचिद्धातुत्वप्रसाधनप्रमाणबाधात्कालात्ययापदिष्टो हेतुरित्याह—सदेति। न च पूर्वोक्तोपाधेः साधनव्याप्तिस्तुरीयस्योत्तरभाविकार्यापेक्षया नियतप्राग्भावित्वाभावादिति मत्वाऽऽह—तत्त्वेति। दोषद्वयवत्त्वेनानुमानस्यामानत्वे फलितमाह—अतो नेति ॥ १३ ॥

कार्यकारणबद्धौ तावित्यादिश्लोकोक्तमर्थमनुभवावष्टम्भेन प्रपञ्चयति—स्वप्नेति। ननु तैजसस्यैव स्वप्नयुक्तत्वं युक्तं न तु विश्वस्य प्रबुध्यमानस्य तद्योगो युज्यते प्रबुध्यमानत्वव्याघातात्। कथमविशेषेण विश्वतैजसौ स्वप्ननिद्रायु-

---

१. विशेषेति—अन्यथाग्रहणमित्यर्थः। २. उक्तानुमाने उपाधिं दर्शयन्नाह—प्राज्ञस्येत्यादि। ३. नियतेति—तत्त्वं चेहान्यथासिद्धिशून्यत्वं पूर्वभावित्वमेव, नोत्तरभावित्वमिति वा नियतेति विवक्षितमित्यवधेयम्।

अन्यथा गृह्णतः स्वप्नो निद्रा तत्त्वमजानतः।
विपर्यासे तयोः क्षीणे तुरीयं पदमश्नुते ॥१५॥

[(रज्जुसर्प की भाँति तत्त्व से) विपरीत ग्रहण होने पर स्वप्न होता है और केवल तत्त्व को न जानने से निद्रा होती है। पर इन दोनों विपर्यय के क्षीण हो जाने पर (साधक) तुरीय पद को प्राप्त करता है ॥१५॥]

युत इति कारणबद्ध इत्युक्तम्। नोभयं पश्यन्ति तुरीये निश्चिता ब्रह्मविदो विरुद्धत्वात् सवितरीव तमः। [1]अतो न कार्यकारणबद्ध इत्युक्तस्तुरीयः ॥१४॥

कदा तुरीये निश्चितो भवतीत्युच्यते। स्वप्नजागरितयोरन्यथा रज्ज्वां [2]सर्प इव गृह्णतस्तत्त्वं स्वप्नो भवति। निद्रा तत्त्वमजानतस्तिसृष्ववस्थासु तुल्या। स्वप्ननिद्रयोस्तुल्यत्वाद्विश्वतैजसयोरेकराशित्वम्। अन्यथाग्रहणप्राधान्याच्च गुणभूता निद्रेति तस्मिन्विपर्यासः स्वप्नः। तृतीये तु स्थाने तत्त्वाज्ञानलक्षणा निद्रैव [3]केवला विपर्यासः। अतस्तयोः कार्यकारणस्थानयोरन्यथाग्रहणाग्रहणलक्षणविपर्यासे

निद्रा से युक्त विश्व और तैजस माने गये हैं। अतः वे स्वप्नरूप कार्य और निद्रारूप कारण से बँधे हुए कहे गये हैं, किन्तु प्राज्ञ स्वप्नरहित केवल निद्रा से युक्त है। इसीलिये उसे कारणबद्ध कहा। दृढ़ अपरोक्ष ब्रह्मदर्शी पुरुष तुरीय में दोनों ही बातें नहीं देखते क्योंकि जैसे सूर्य में अँधेरा नहीं रह सकता वैसे ही स्वप्न प्रकाश तुरीय में विरुद्ध होने से स्वप्न और निद्रा दोनों ही नहीं रह सकते। इसीलिये तुरीय आत्मा कार्य एवं करण से बँधा हुआ नहीं है ऐसा कहा गया है ॥१४॥

तुरीय आत्मा में पुरुष कब निश्चित माना जाता है इसे आगे के श्लोक में कहेंगे। रज्जु में सर्पज्ञान के समान स्वप्न तथा जाग्रत् में तत्त्व के विपरीत ज्ञान से स्वप्न होता है एवं तत्त्व के न जानने से निद्रा होती है। यह निद्रा जाग्रत आदि तीनों अवस्थाओं में समान है। इनमें से स्वप्न और निद्रा में समान होने में विश्व तथा तैजस को एक कोटि में रखा गया है, अर्थात् ये दोनों ही स्वप्न तथा निद्रा से युक्त है इन दोनों अवस्थाओं में विपरीत ज्ञान होने से निद्रा गौण हो गई। इसीलिये उसमें स्वप्नरूप भ्रान्ति ज्ञान रहता है पर तृतीय स्थान सुषुप्ति में तो केवल तत्त्व का अज्ञान रूप निद्रा ही विपरीत ज्ञान है अतः उन कार्य कारण के स्थानों में विपरीत ज्ञान और अज्ञान जो कि कार्यकारण बन्धन रूप

ताविति। [4]तत्र स्वप्नशब्दार्थमाह—स्वप्न इति। यथा रज्ज्वां सर्पो गृह्यमाणोऽन्यथा गृह्यते तथाऽऽत्मनि देहादिग्रहणमन्यथाग्रहणम्। आत्मनो [5]देहादिवैलक्षण्यस्य श्रुतियुक्तिसिद्धत्वात्तेन स्वप्नशब्दितेनान्यथाग्रहणेन संसृष्टत्वं विश्वतैजसयोरविशिष्टमित्यर्थः। [6]तथा निद्रितस्यैव निद्रा युक्ता न तु प्रबोधवतो निद्रेत्याशङ्क्याऽऽह—निद्रेति। उक्ताभ्यां स्वप्ननिद्राभ्यां विश्वतैजसयोर्वैशिष्ट्यं निगमयति—ताभ्यामिति। तयोरन्यथाग्रहणेनाग्रहणेन च वैशिष्ट्यं प्रागपि सूचितमित्याशङ्क्याऽऽह—अत इति। द्वितीयं पादं विभजते—प्राज्ञस्त्विति। द्वितीयार्धं व्याचष्टे—नोभयमिति। तुरीये निद्रास्वप्नयोरदर्शने हेतुमाह—विरुद्धत्वादिति। अतान्नत्कार्ययोर्नित्यविज्ञप्तिरूपे तुरीये विरुद्धत्वादनुपलब्धिरित्यत्र दृष्टान्तमाह—सवितरीवेति। तुरीये वस्तुतो नाविद्यातत्कार्ययोः संगतिरस्तीत्यङ्गीकृत्य प्रागपि सूचितमित्याह—अतो नेति ॥१४॥

[7]कदा तर्हि स्वप्नो भवतीत्यपेक्षायामाह—अन्यथेति। निद्रा तर्हि कदेति संदिहानं [8]प्रत्याह—निद्रेति। तुरीयप्रतिपत्तिसमयं संगिरते—विपर्यास इति। श्लोकव्यावर्त्यामाकाङ्क्षां दर्शयति—कदेति। कदा स्वप्ननिष्ठो भवति

---

१. अतः—तुरीये कार्यकरणसंपर्कासम्भवात्। २. सर्प इवेति—रज्ज्वां गृह्यमाणः सर्पो यथान्यथा गृह्यते तद्वत्तत्त्वमन्यथा गृह्णत। इतियोज्यम्, सर्पमिवेति वा पाठः कल्प्यः। ३. स्वप्नोपसर्जनत्वाभावादाह—केवलेति, एवकार व्याख्यानमेवं तदिति ध्येयम्। ४. तत्र शङ्कायाम्। ५. देहादिति—स्थूलोऽहमित्येवंविधयेत्यर्थः। ६. तथापिति—उक्तरीत्या विश्वस्य स्वप्नयुतत्वे सिद्धेऽपित्यर्थः। ७. तुरीयनिश्चयकाले—स्वप्ननिद्रयोरदर्शनचेत्तदभावकाले तदुभयेन भवितव्यम्, तत्र यौगपद्यविरोधं मन्वानो विवेकं पृच्छति—कदा तर्हीति। ८. कार्यकारणयोरविरुद्धं युगपदवस्थानमित्युत्तरमवतारयति—आहेति।

अनादिमायया सुप्तो यदा जीवः प्रबुध्यते ।
अजमनिद्रमस्वप्नमद्वैतं बुध्यते तदा ॥१६॥

[जब जीव अनादि माया से सोया हुआ तत्त्वबोध के द्वारा भली प्रकार से जग जाता है तभी उसे जन्म निद्रा तथा स्वप्न से रहित अद्वैत आत्मतत्त्व का बोध प्राप्त होता है ॥१६॥]

कार्यकारणबन्धरूपे [1]परमार्थतत्त्वप्रतिबोधतः [2]क्षीणे तुरीयं पदमश्नुते तदोभयलक्षणं बन्धरूपं तत्रापश्यंस्तुरीये निश्चितो भवतीत्यर्थः ॥१५॥

योऽयं संसारी जीवः स उभयलक्षणेन तत्त्वाप्रतिबोधरूपेण बीजात्मनाऽन्यथाग्रहणलक्षणेन चानादिकालप्रवृत्तेन मायालक्षणेन स्वप्नेन ममायं पिता पुत्रोऽयं नप्ता क्षेत्रं पशवोऽहमेषां स्वामी सुखी दुःखी क्षयितोऽहमनेन वर्धितश्चानेनेत्येवंप्रकारान्स्वप्नान्स्थानद्वयेऽपि पश्यन्सुप्तो यदा वेदान्तार्थतत्त्वाभिज्ञेन परमकारुणिकेन गुरुणा नास्येवं त्वं हेतुफलात्मकः किंतु तत्त्वमसीति प्रतिबोध्यमानो यदा तदैवं प्रतिबुध्यते । कथं नास्मिन्बाह्यमाभ्यन्तरं वा जन्मादिभावविकारोऽस्त्यतोऽजं सबाह्याभ्यन्तरसर्व-

विपर्यास है वे दोनों ही परमार्थतत्त्व के ज्ञान से जब क्षीण हो जाते हैं तब साधक तुरीय पद को प्राप्त करते हैं उस समय दोनों ही कार्यकारण बन्धन को न देखता हुआ पुरुष तुरीय में निश्चित होता है ऐसा अभिप्राय है ॥१५॥

तत्त्वबोधकाल का वर्णन

जो यह संसारी जीव है वह वास्तव में परमात्मस्वरूप ही है। तत्त्व के अज्ञानरूप बीज एवं अन्यथा ज्ञानरूप भ्रान्ति जो अनादिकाल से प्रवृत्त है तथा मायास्वरूप है उसी से यह मेरा पिता है, यह मेरा पुत्र है, यह नाती है, यह घर है, ये पशु हैं, मैं इसका स्वामी हूँ। इनकी प्राप्ति से मैं सुखी और वृद्धि को प्राप्त होता हूँ, इनके अभाव में मैं दुःखी तथा क्षीण हो जाता हूँ, इस प्रकार जाग्रत् और स्वप्न दोनों अवस्थाओं में स्वप्न देखता हुआ वह सो रहा है। जब वेदान्तार्थ के तत्त्व को जाननेवाले परम दयालु गुरु द्वारा इस प्रकार तू कारणकार्य रूप नहीं हो, किन्तु अवस्थात्रय में प्रतीत होने वाले कार्य-कारण से विलक्षण हो। ब्रह्मस्वरूप हो इस रीति से जगाया जाता है। तब उसे तत्त्वबोध होता है। उस

कदा निद्रानिष्ठः स्यादित्यपि द्रष्टव्यम् । प्रश्नत्रयस्योत्तरं श्लोकेन दर्शयति—उच्यत इति । तत्र कदा स्वप्नो भवतीति प्रश्नं परिहरति—स्वप्नेति । अवस्थाद्वये स्वप्नद्रष्टुरित्यर्थः । द्वितीयं प्रश्नं समाधत्ते—निद्रेति । विश्वादिषु त्रिषु तयोरिति द्विवचनं कथमित्याशङ्क्याऽऽह—स्वप्ननिद्रयोरिति । विश्वतैजसावेको राशिः । प्राज्ञो द्वितीयः । ततः श्लोके द्विवचनमविरुद्धमित्यर्थः । प्रथमे राशौ विपर्यासस्वरूपं कथयति—अन्यथेति । द्वितीये राशौ विपर्यासविशेषं दर्शयति—तृतीये त्विति । द्वितीयार्धगतान्यक्षराणि व्याकरोति—अत इति । द्विवचनस्योपपन्नत्वाद्विपर्यासस्य च विभागेन निर्धारितत्वादित्यर्थः । तृतीयं प्रश्नं प्रतिविधत्ते—तदेति । तत्त्वप्रबोधाद्विपर्यासक्षयावस्थायामित्यर्थः ॥१५॥

कदा तत्त्वप्रतिबोधो विपर्यासक्षयहेतुर्भवतीत्यपेक्षायामाह—अनादीति । प्रतिबुध्यमानं तत्त्वमेव विशिनष्टि—अजमिति । जीवशब्दवाच्यमर्थं निर्दिशति—योऽयमिति । परमात्मैव जीवभाव मापन्नः संसरतीत्यर्थः । तस्य कथं जीवभावापत्तिरित्याशङ्क्य कार्यकारणबद्धत्वादित्याह—स इति । परमात्मोभयलक्षणेन स्वापेन सुप्तो जीवो भवतीत्यन्वयः । स्वापस्योभयलक्षणत्वमेव प्रकटयति—तत्त्वेत्यादिना । मायालक्षणेनेत्युभयत्र संबध्यते । सुप्तमेव व्यनक्ति—ममेत्यादिना । स्वापपरिगृहीतस्यैव प्रतिबोधनावकाशो भवतीत्याह—यदेति । यदा सुप्तस्तदा बुध्यत इति शेषः । प्रतिबोधकं विशिनष्टि—वेदान्तार्थेति । कथं प्रतिबोधनं तदाह—नासीति । अनुभूयमानत्वमेवमित्युच्यते । यदोक्त-

१. परमार्थतत्त्वप्रतिबोधत इति—शास्त्राचार्योपदेशजन्यतत्त्वसाक्षात्कारादित्यर्थः । २. क्षीणे—बाधिते मिथ्यात्वेन निश्चिते इति यावत् ।

प्रपञ्चो यदि विद्येत निवर्तेत न संशयः।
मायामात्रमिदं द्वैतमद्वैतं परमार्थतः॥१७॥

(सत्य तो यह है कि) यदि प्रपंच होता, तो वह निःसन्देह निवृत्त हो जाता पर यह द्वैत तो रज्जु सर्पवत् माया मात्र है, परमार्थतः अद्वैत ही है॥१७॥]

भावविकारवर्जितमित्यर्थः। यस्माज्जन्मादिकारणभूतं नास्मिन्नविद्यातमोबीजं निद्रा विद्यत इत्यनिद्रम्। अनिद्रं हि तत्तुरीयमत एवास्वप्नम्। तन्निमित्तत्वादन्यथाग्रहणस्य। यस्माच्चानिद्रमस्वप्नं तस्मादजमद्वैतं तुरीयमात्मानं बुध्यते तदा॥१६॥

प्रपञ्चनिवृत्त्या चेत्प्रतिबुध्यतेऽनिवृत्ते प्रपञ्चे कथमद्वैतमिति। उच्यते। सत्यमेवं स्यात्प्रपञ्चो यदि विद्यत। रज्ज्वां सर्प इव कल्पितत्वान्न तु स विद्यते। विद्यमानश्चेन्निवर्तेत न संशयः। न हि रज्ज्वां भ्रान्तिबुद्ध्या कल्पितः सर्पो विद्यमानः सन्विवेकतो निवृत्तः। नैव माया मायाविना प्रयुक्ता तद्दर्शिनां

बोध का प्रकार कैसा है इसे बतलाते हैं। इस आत्मा में बाह्य अथवा आभ्यन्तरजन्मादि भाव विकार नहीं है। अतः वह अजन्मा सम्पूर्ण बाह्य आभ्यन्तरविकारों से शून्य है। जब इसमें जन्मादि के कारण अविद्यारूप अन्धकार के बीजभूत निद्रा ही नहीं है इसीलिये यह अनिद्र कहा गया है, क्योंकि वह तुरीय निद्रारहित है। इसीलिये उसमें स्वप्न भी नहीं है, क्योंकि अन्यथाग्रहणरूप स्वप्न का कारण निद्रा ही होती है। जबकि वह निद्रा एवं स्वप्न से रहित है। इसीलिये उस समय अजन्मा अद्वितीय तुरीय आत्मा का बोध साधक को हो ही जाता है॥१६॥

अद्वैत ही पारमार्थिक है

यदि प्रपंच की निवृत्ति से ही बोध होता है तो प्रपंच की निवृत्ति न होने पर अद्वैत किस प्रकार माना जा सकता है? इसका उत्तर दिया जाता है। परमार्थ तो यह है कि इस प्रकार यह शंका सचमुच में हो सकती थी, यदि परमार्थ दृष्टि से प्रपंच होता तो। यह तो रज्जु में कल्पित सर्प के समान होने के कारण परमार्थतः है ही नहीं। यदि प्रपंच होता तो निःसन्देह वह मिट भी जाता। जैसे रज्जु में कल्पित सर्प वस्तुतः नहीं है, वैसे ही ब्रह्म में कल्पित प्रपंच वास्तव में नहीं है। वह तो रज्जु में भ्रान्तिदृष्टि से कल्पितसर्प के समान जब है तो फिर विवेक से मिट जाना भी कहना नहीं के बराबर है।

विशेषणेन गुरुणा प्रतिबुध्यमानः शिष्यस्तदाऽऽत्मैवं वक्ष्यमाणप्रकारेण प्रतिबुद्धो भवतीत्युक्तम्। तमेव प्रकारं प्रश्नपूर्वकं द्वितीयार्धव्याख्यानेन विशदयति—कथमित्यादिना। अस्मिन्निति सप्तम्या बोध्यात्मरूपं परामृश्यते। बाह्यं कार्यमान्तरं कारणं तच्चोभयमिह नास्ति। ततो जन्मादेर्भावविकारस्य नात्रावकाशः संभवतीत्यर्थः। अवतारितं विशेषणं सप्रमाणं योजयति—सबाह्येति। अजत्वादेवानिद्रं कार्याभावे कारणस्य प्रमाणाभावेन वक्तुमशक्यत्वादिति मत्वाऽऽह—यस्मादिति। अनिद्रत्वं हेतुं कृत्वा विशेषणान्तरं दर्शयति—अत एवेति। अग्रहणान्यथाग्रहणसंबन्धवैधुर्यं हेतुं कृत्वा विशेषणद्वयमित्याह—यस्माच्चेति। तत्त्वमेवंलक्षणमस्तु। [1]आत्मनः किमायातमित्याशङ्क्याऽऽह—तुरीयमिति। तदा विशिष्टेनाऽऽचार्येण विशिष्टं शिष्यं प्रति प्रतिबोधनावस्थायामित्यर्थः॥१६॥

तुरीयमद्वैतमित्युक्तं तदयुक्तं प्रपञ्चस्य द्वितीयस्य सत्त्वादित्याशङ्क्याऽऽह—प्रपञ्च इति। प्रपञ्चनिवृत्त्या तुरीयप्रतिबोधात्तदद्वितीयत्वमविरुद्धमिति सैद्धान्तिकीमाशङ्कां पूर्ववाद्यनुवदति—प्रपञ्चेति। तर्हि पूर्वं प्रपञ्चनिवृत्तेरनिवृत्तस्य तस्य सत्त्वान्नाद्वैतं सेद्धुमर्हतीति पूर्ववाद्येव ब्रवीति—अनिवृत्त इति। सिद्धान्ती श्लोकेनोत्तरमाह—उच्यत इति। किं प्रपञ्चस्य वस्तुत्वमुपेत्याद्वैतानुपपत्तिरुच्यते किंवाऽवस्तुत्वमिति विकल्प्याऽऽद्येऽद्वैतानुपपत्तिमङ्गी करोति—सत्यमिति। अद्वैतं तर्हि कथमुपपद्यतेत्याशङ्क्य प्रपञ्चस्यावस्तुत्वपक्षे तदुपपत्तिरित्याह—रज्ज्वामिति। यथा सर्पो रज्ज्वां कल्पितो

1. आत्मनः ममेत्यर्थः।

विकल्पो विनिवर्तेत कल्पितो यदि केनचित् ।
उपदेशादयं वादो ज्ञाते द्वैतं न विद्यते ॥१८॥

[(प्रपञ्च की भाँति गुरु शिष्यादि) विकल्प की यदि किसी ने कल्पना की होती, तो वह विकल्प भी निवृत्त हो जाता। पर गुरु शिष्यादि यह वाद केवल उपदेश के लिये है। अतएव तत्त्वसाक्षात्कार हो जाने पर संम्पूर्ण द्वैत नहीं रह जाता है ॥१८॥]

चक्षुर्बन्धापगमे विद्यमाना सती निवृत्ता। तथेदं प्रपञ्चाख्यं मायामात्रं द्वैतं रज्जुवन्मायाविवच्चाद्वैतं परमार्थतस्तस्मान्न कश्चित्प्रपञ्चः प्रवृत्तो निवृत्तो वाऽस्तीत्यभिप्रायः ॥१७॥

ननु शास्ता शास्त्रं शिष्य इति विकल्पः कथं निवृ(वृ)त्त इत्युच्यते। विकल्पो विनिवर्तेत यदि केनचित्कल्पितः स्यात्। यथाऽयं प्रपञ्चो मायारज्जुसर्पवत्तथाऽयं शिष्यादिभेदविकल्पोऽपि प्राक्प्रतिबोधा-

मायावी से फैलायी गयी माया कहाँ थी जो निवृत्त होती। वह तो देखनेवालों के दृष्टिबंधन के हटते ही मिट जाती है। पहले विद्यमान थी पीछे मिट गयी ऐसी बात ऐन्द्रजाल के विषय में नहीं कही जा सकती। बल्कि पहले भी अविद्यमान होती हुई दृष्टिबंध के कारण विद्यमान सी प्रतीत होती थी। जो दृष्टिबंध के हटते ही बाधित हो जाती है। ठीक ऐसे ही प्रपंच नामक द्वैत भी रज्जुसर्पवत् मायामात्र ही है। परमार्थतस्तु मायावी और रज्जु के समान अद्वितीय ब्रह्मतत्त्व ही है। अतः न कोई प्रपंच बनता है और न मिटता ही है। तीनों काल में अद्वितीय परमात्मा ही पारमार्थिक वस्तु है, यही इसका आशय है॥

गुरु-शिष्यादि भेद भी पारमार्थिक नहीं है

शंका—शासक शास्त्र और शिष्य यह विकल्प कैसे निवृत्त हो सकता है? इसका उत्तर आगे के श्लोक से देते हैं।

समाधान—यदि गुरु-शिष्यादि विकल्प की कल्पना किसी ने सचमुच में की होती तो यह विकल्प मिट जाता। जैसे यह प्रपंच इन्द्रजाल रज्जुसर्प के समान मिथ्या है। वैसे ही गुरु-शिष्यादि भेद-

वस्तुतो नास्ति तथा प्रपञ्चोऽपि कल्पितत्वान्नैव वस्तुतो विद्यते। तथा च तात्त्विकमद्वैतमविरुद्धमित्यर्थः। उक्तमर्थं व्यतिरेकमुखेन (ण) साधयति—विद्यमानश्चेदिति। यद्यात्मनि [1]कारणाधीनः सन्प्रपञ्चो विद्येत तदा कृतकस्यानित्यत्वनियमात्तन्निवृत्तिरवश्यंभाविनी। [2]कार्यस्य च निवृत्तिर्नाम [3]कारण (णा) संसर्गस्ततः सति कारणे प्रपञ्चनिवृत्तेरनात्यन्तिकत्वादद्वैतानुपपत्तिराशङ्क्यते। न च कारणाधीनः सन्प्रपञ्चोऽस्ति। तस्य कल्पितत्वेनावस्तुत्वादित्यर्थः प्रपञ्चस्य मायया विद्यमानत्वं न तु वस्तुत्वमित्युदाहरणाभ्यामुपपादयति—न हीत्यादिना। सर्पो हि रज्ज्वां भ्रान्त्या कल्पितो नायं सर्पो रज्जुरेष एवेति विवेकधिया निवृत्तो नैव वस्तुतो विद्यते। बाधितस्य कालत्रयेऽपि सत्त्वाभावात्। माया चेन्द्रजालशब्दवाच्या मायाविना प्रदर्शिता पार्श्वस्थानां साक्षाद्दर्शनवतां च [illegible]र्शतस्य यथार्थदर्शनप्रतिबन्धकस्यापगमे सति समुत्पन्नसम्यग्दर्शनतो निवृत्ता सती नैव वस्तुतो विद्यमाना भवितुमर्हेत। यथेदमुदाहरणद्वयं तथेदं द्वैतं प्रपञ्चाख्यं मायामात्रं न परमार्थतोऽस्तीत्यर्थः। प्रपञ्चस्यासत्त्वे शून्यवादः स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—रज्जुवदिति। प्रपञ्चस्य कालत्रयेऽपि सत्त्वाभावे तात्त्विकमद्वैतमविरुद्धमित्युपसंहरति—तस्मादिति ॥१७॥

[4]प्रकारान्तरेणाद्वैतानुपपत्तिमाशङ्क्य परिहरति—विकल्प इति। यदि केनचिद् हेतुना तत्त्वज्ञानेन कार्येण शास्त्रादिविकल्पो हेतुतया कल्पितस्तथाऽप्यसौ बाधितो निवर्तेत न तु तात्त्विकमद्वैतं विरोद्धुमर्हति। तत्त्वज्ञानात् प्रागवस्थायामेव तत्त्वोपदेशं निमित्तीकृत्य यतः शास्त्रादिभेदोऽनूद्यते। उपदेशप्रयुक्ते तु ज्ञाने निवृत्ते न किञ्चिदपि द्वैतमस्तीत्यद्वैतम-

१. कारणाधीन इति—परमाणुप्रधानादिकारणाधी इत्यर्थः। २. ननु कारणाधीन एवाभ्युपगम्यतां कार्यत्वनियतानित्यत्वेन तन्निवृत्तावद्वैमपि सेत्स्यति, वादान्तरावलोपोऽपि करणीय इत्यत्राहकार्यस्यचेत्यादिना। ३. कारणसंसर्ग—कारणात्मनावस्थानमित्यर्थः। ४. प्रकारान्तरेणेति—शास्त्रादि प्रपञ्चविशेषस्य सत्यत्वावश्यकत्वेनेति यावत्॥

देवोपदेशनिमित्तोऽत उपदेशादयं वादः शिष्यः शास्ता शास्त्रमिति। उपदेशकार्ये तु ज्ञाने निवृत्ते ज्ञाते परमार्थतत्त्वे द्वैतं न विद्यते ॥१८॥

विकल्प भी मिथ्या है। यह तो आत्मज्ञान से पहले केवल तत्त्व उपदेश के लिये है। उपदेश के फलस्वरूप तत्त्वज्ञान के हो जाने पर अर्थात् परमार्थतत्त्व का बोध हो जाने पर द्वैत की सत्ता नहीं रहती-तो फिर गुरु-शिष्यादि वाद भी कैसे रह सकता है। सम्पूर्ण विकल्पों का अत्यन्याभाव उपदेश से पहले, की भाँति उपदेश के बाद भी है। अतः किसी भी भेद में पारमार्थिक की गन्धतक नहीं।

विरुद्धमित्यर्थः। श्लोकव्यावर्त्यामाशङ्कामाह—नन्विति। तदनिवृत्तौ नाद्वैतसिद्धिर्न च शास्त्रादिभेदस्य कल्पितत्वादविरोधः। [४]तथा सति [५]धूमाभासवत्तत्त्वज्ञानहेतुत्वानुपपत्तिरित्यर्थः। धूमाभासस्याव्याप्तस्यातद्धेतुत्वेऽपि कल्पितस्य शास्त्रादेस्तत्त्वज्ञानहेतुत्वं प्रतिबिम्बादिवदुपपन्नमित्युत्तरमाह—उच्यत इति। शिष्यः शास्ता शास्त्रमित्ययं विकल्पो [६]विभागः सोऽपि निवृत्तिप्रतियोगित्वा[७]दवस्तुत्वात्[८] ज्ञानबाध्यत्वादद्वैताविरोधीत्यर्थः। शिष्यादिविभागस्य कल्पितत्वं दृष्टान्तेन स्पष्टयति—यथेति। मायाविना प्रयुक्ता माया यथा कल्पितेष्यते यथा च सर्पधारादिर्विकल्पितस्तथाऽयं प्रपञ्चः सर्वोऽपि कल्पितो वस्तु न भवतीति प्रपञ्चितं तथैव प्रपञ्चैकदेशः शिष्यादिरपि ज्ञानात् प्राक्कल्पितः सन्नज्ञानकृतो मिथ्येत्यर्थः। किमिति ज्ञानात्पूर्वमसौ कल्प्यते तत्राऽऽह—उपदेशेति। उपदेशमुद्दिश्य यथोक्तविभागवचनमित्युक्तमुपसंहरति—अत इति। उपदेशात्प्रागिव तस्मादूर्ध्वमपि भेदोऽनुवर्ततामित्याशङ्क्य विरोधिसद्भावान्नैवमित्याह—उपदेशेति ॥१८॥

---

४. तथा सति—शास्त्रादेः कल्पितत्वे सतीत्यर्थः। ५.शास्त्रादि न तत्र ज्ञानहेतुराभासत्वात्. वाष्पाध्यस्तधूमाभासवदिति भावः। अनुमिति प्रमाऽजनकत्वेऽव्याप्तत्वं हेतुर्नाभासत्वं मुखाभासे व्यभिचारान् नैवमित्याह—धूमाभासस्येत्यादि। ६. विभाग इति—विभागो मिथ्या, प्रदर्शित हेतुत्रितयादित्यनुमान मिह सूचितं द्रष्टव्यम्। ७. निवृत्तेः प्राग् विरोधी स्यादाह—अवस्तुत्वादिति" ८. कुतस्तत्त्वमत आह—ज्ञान इत्यादि।

(उपनिषद्)

सोऽयमात्माऽध्यक्षरमोंकारोऽधिमात्रं पाद मात्रा। मात्राश्च पादा अकार उकारो मकार इति ॥ ८ ॥
जागरितस्थानो वैश्वानरोऽकारः प्रथमा मात्राऽऽप्तेरादिमत्त्वा-द्वाऽऽप्नोति ह वै सर्वान्कामानादिश्च भवति एवं वेद ॥ ९ ॥

[वह यह आत्मा अक्षर के अनुरोध से ओंकार स्वरूप है और वह मात्राओं को आश्रय करके स्थित रहता है। इसीलिये आत्मा के पाद ही ओंकार की मात्राएँ हैं और ओंकार की मात्राएँ ही आत्मा के पाद हैं, अकार, उकार और मकार-ये ही प्रणव की मात्रा है ॥ ८ ॥]

जाग्रत् स्थानवाला वैश्वानर व्याप्ति तथा आदिमत्त्व के कारण (प्रणव की) पहली मात्रा अकार स्वरूप है। इसप्रकार जो साधक जानता है वह समस्त कामनाओं को प्राप्त कर लेता है और (सभी महापुरुषों में) प्रधान हो जाता है ॥ ९ ॥

---

[1]अभिधेयप्रधान ओंकारश्चतुष्पादात्मेति व्याख्यातो यः [2]सोऽयमात्मा[3]ऽध्यक्षरमक्षरमधिकृत्या-भिधानप्राधान्येन वर्ण्यमानोऽध्यक्षरम्। किं पुनस्तदक्षरमित्याह। ओंकारः। सोऽयमोंकारः पादशः प्रवि-भज्यमानोऽधिमात्रं मात्रामधिकृत्य वर्तत इत्यधिमात्रम्। कथमात्मनो ये पादास्त [4]ओंकारस्य मात्राः। कास्ताः। अकार उकारो मकार इति ॥ ८ ॥

लय चिन्तन प्रक्रिया

अब तक हमने जिस ओंकार स्वरूप चतुष्पाद आत्मा को वाच्यार्थ की प्रधानता से बतलाया है, वह यह आत्मा अध्यक्षर स्वरूप है। अक्षर का आश्रय लेकर जिसे नाम की प्रधानता से बतलाया जाय वह अध्यक्षर कहा जाता है। अच्छा तो वह अध्यक्षर क्या है? इस पर कहते हैं। वह ओंकार ही है। वही यह ओंकार पाद रूप से विभक्त किये जाने पर अधिमात्र कहा जाता है। मात्रा का आश्रय लेकर जो रहता हो उसे अधिमात्र कहते हैं। कैसे? क्योंकि आत्मा के जो पाद हैं वे ही ओंकार की मात्राएँ हैं। वे मात्राएँ कौन सी हैं? अकार उकार तथा मकार ये ही ओंकार की मात्राएँ हैं। तात्पर्य यह कि आत्मा के पाद और ओंकार की मात्राओं के अभेद होने से कोई विरोध नहीं है ॥८॥

तत्त्वज्ञानसमर्थानां मध्यमानामुत्तमानां चाधिकारिणामध्यारोपापवादाभ्यां पारमार्थिकं तत्त्वमुपदिष्टम्। इदानीं तत्त्वग्रहणासमर्थानामधमाधिकारिणामाध्यानविधानायाऽऽरोपदृष्टिमेवावष्टभ्य व्याचष्टे—अभिधेयेत्यादिना। अध्यक्षरमि-त्येतद्व्याकरोति—अक्षरमिति। अध्यक्षरमित्यत्र किं पुनस्तदक्षरमिति प्रश्नपूर्वकं व्युत्पादयति—किं पुनरित्यादिना। [5]तस्य [6]विशेषणान्तरं दर्शयति—सोऽयमिति। आत्मा हि पादशो विभज्यते मात्रामधिकृत्य पुनरोंकारो व्यवतिष्ठते तत्कथं पादशो विभज्यमानस्याधिमात्रत्वमिति पृच्छति—कथमिति। पादानां मात्राणां चैकत्वादेतदविरुद्धमित्याह—आत्मन इति ॥ ८ ॥

---

१. अभिधेयेत्यादि—य ओंकारोऽभिधेयप्राधान्येन चतुष्पादात्मेति व्याख्यातः इत्यन्वयः। अभिधेयप्राधान्यमोंकार-स्यात्मतादात्म्यम्। २. सोऽयमात्मेति—यच्छब्दोक्तोंकाराभिन्नत्वविवक्षयाऽऽत्मनस्तच्छब्दपरामृश्यत्वमित्यवधेयम्। ३. अध्यक्षरमिति—अक्षराभिन्न इति यावत्। ४. ओंकारस्य मात्रा—इत्यनन्तरं याश्चोंकारस्य मात्रास्ता आत्मनः पादा इति, मूलानुरोधादपेक्षितं द्रष्टव्यम् ॥ ५. तस्येति—ओंकाराभिन्नस्यात्मनः इत्यर्थः ॥ ६. विशेषणान्तरम्—अध्यक्षरत्व-विशेषणापेक्षया विशेषणान्तरमित्यर्थः ॥

स्वप्नस्थानस्तैजस उकारो द्वितीया मात्रोत्कर्षादुभयत्वाद्वोत्कर्षति ह वै [1]ज्ञानसंततिं समानश्च भवति नास्याब्रह्मवित् [2]कुले भवति य एवं वेद ॥१०॥

[स्वप्नस्थानवाला तैजस उत्कर्ष तथा मध्यवर्तित्व इन दोनों कारणों से ओंकार की द्वितीय मात्रा उकार स्वरूप है। इसप्रकार जो साधक जान लेता है, वह अपनी ज्ञान संतति का उत्कर्ष करता है और सबके प्रति समान होता है। इसके अतिरिक्त इसके वंशमें कोई पुरुष ब्रह्मज्ञान से हीन नहीं होता है।१०।]

तत्र विशेषनियमः क्रियते। जागरितस्थानो वैश्वानरो यः स ओंकारस्याकारः प्रथमा मात्रा। केन सामान्येनेत्याह। आप्तेराप्तिर्व्याप्तिरकारेण सर्वा वाग्व्याप्ता। "अकारो वै सर्वा वाक्" (ऐ० आ० २।३।६) इति श्रुतेः। तथा वैश्वानरेण जगत्। "तस्य ह वा तस्याऽऽत्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाः" छा० ५।१८।१२ इत्यादिश्रुतेः। अभिधानाभिधेययोरेकत्वं चावोचाम। आदिरस्य विद्यत इत्यादिमद्यथैवाऽऽदिमद-काराख्यमक्षरं तथैव वैश्वानरस्तस्माद्वा सामान्यादकारत्वं वैश्वानरस्य। तदेकत्वविदः फलमाह—आप्नोति ह वै सर्वान् कामानादिः प्रथमश्च भवति महतां य एवं [3]वेद यथोक्तमेकत्वं वेदेत्यर्थः ॥९॥

अकार और विश्व का अभेद

अब उक्त विषय में विशेष नियम किया जाता है।

जो वैश्वानर जागरितस्थान वाला है वही ओंकार की पहली मात्रा अकार होता है। किस समानता के कारण आपने ऐसा कहा? इस पर कहते हैं। आप्ति यानी व्याप्ति के कारण विश्व और अकार को एक माना गया है, क्योंकि अकार से सम्पूर्ण वाणी व्याप्त है। "निःसन्देह अकार सम्पूर्ण वाणी रूप है" ऐसा श्रुति भी बतला रही है। जैसे आकार से सम्पूर्ण वाणी व्याप्त है वैसे ही वैश्वानर से सम्पूर्ण जगत व्याप्त है। क्योंकि "उस इस वैश्वानर आत्मा का मस्तक ही द्युलोक है" इत्यादि श्रुति वैश्वानर के जगतव्यापकत्त्व को जो बतला रही है। वाचक और वाच्य की एकता को हम पहले भी कह आये हैं।

दोनों में आदिमत्त्व भी समान है। जिसका आदि हो उसको आदिमत्त्व कहते हैं। जैसे ओंकार का अकार नामक अक्षर आदिमान् है, वैसे ही आत्मा का वैश्वानरपद भी आदिमान् है। इसी समानता को लेकर वैश्वानर को आकार रूप कहा गया है। उनका अभेद जानने वालों के लिये फल बतलाते हैं। जो पुरुष ऐसा जानता है अर्थात् वैश्वानर और अकार की एकरूपता जानता है वह सम्पूर्ण कामनाओं को प्राप्त कर लेता है और वह सभी श्रेष्ठ पुरुषों में प्रथम होता है ॥९॥

पादानां मात्राणां च मध्ये विश्वाख्यविशेषस्याकारविशेषत्वं नियमयति—तत्रेति। विश्वाकारयोरेकत्वं सादृश्ये सत्यारोपयितुं शक्यमन्यत्र सत्येव [4]तस्मिन्नारोपसंदर्शनात्तथा च किं तदारोपप्रयोजकं सादृश्यमिति पृच्छति—केनेति। सामान्योपन्यासपरां श्रुतिमवतारयति—आप्तेरिति। व्याप्तिमेवाकारस्य श्रुत्युपन्यासेन व्यनक्ति—अकारेणेति। अध्यात्माधिदैविकयोरेकत्वं पूर्वमुक्तमुपेत्य विश्वस्य वैश्वानरस्य जगद्व्याप्तिं श्रुत्युवष्टम्भेन स्पष्टयति—तथेति। किं च सामान्यद्वारा वाच्य-वाचकयोरेकत्वमारोप्यं न भवति तयोरेकत्वस्य प्रागेवोक्तत्वादित्याह—अभिधानेति—सामान्यान्तरमाह—आदिरिति। तदेव स्फुटयति—यथैवेति। उकारो मकारश्चेत्युभयमपेक्ष्य प्रथमपाठादादिमत्त्वमकारस्य द्रष्टव्यम्। विश्वस्य पुनरादिमत्त्वं तैजसप्राज्ञावपेक्ष्याऽऽद्यस्थाने वर्तमानत्वादित्यर्थः। उक्तस्य सामान्यान्तरस्य फलं दर्शयते—तस्मादिति। किमर्थमित्थं सामान्यद्वारा तयोरेकत्वमुच्यते तद्विज्ञानस्य फलवत्त्वादित्याह—तदेकत्वेति। सादृश्यविकल्पादेव फलविकल्पः ॥९॥

---

१. ज्ञानेति—उपासनेत्यर्थः। २. कुल इति—शिष्यप्रशिष्यादिरूपे विद्यावंश इत्यर्थः। ३. वेद—उपास्ते। जगद्याथात्म्यमिति—मायामयमात्रात्मकं याथात्म्यमित्यर्थः। ४. तस्मिन्निति—सादृश्ये इत्यर्थः।

सुषुप्तस्थानः प्राज्ञो मकारस्तृतीया मात्रा मितेरपीतेर्वा मिनोति ह वा इदꣳ सर्वमपीतिश्च भवति य [1]एवं वेद ॥११॥

[सुषुप्ति स्थान वाला प्राज्ञ, मान तथा लय इन दोनों कारणों से ओंकार की तीसरी मात्रा मकार स्वरूप है। जो साधक इस प्रकार जान लेता है, वह इस सम्पूर्ण जगत को माप लेता है और सबका विलय स्थान हो जाता है ॥११॥]

स्वप्नस्थानस्तैजसो यः स ओंकारस्योकारो द्वितीया मात्रा। केन सामान्येनेत्याह—उत्कर्षात्। अकारादुत्कृष्ट इव ह्युकारस्तथा तैजसो विश्वादुभयत्वाद्वाऽकारमकारयोर्मध्यस्थ उकारस्तथा विश्वप्राज्ञयोर्मध्ये तैजसोऽत उभयभाक्त्वसामान्यात्। विद्वत्फलमुच्यते—उत्कर्षति ह वै ज्ञानसंततिम्। विज्ञानसंततिं वर्धयतीत्यर्थः। समानस्तुल्यश्च मित्रपक्षस्येव शत्रुपक्षाणामप्यप्रद्वेष्यो भवति। अब्रह्मविदस्य कुले न भवति य एवं वेद ॥१०॥

उकार और तैजस का अभेद

जो स्वप्नस्थानवाला तैजस है वह ओंकार की द्वितीयमात्रा उकारस्वरूप है। किस समानता को लेकर द्वितीयमात्रा तैजस है? इस पर कहते हैं। उत्कर्षरूप सामान्य के कारण जैसे अकार से उत्कृष्ट सा उकार है, वैसे ही विश्व से उत्कृष्ट तैजस है। क्योंकि विश्व स्थूल-शरीराभिमानी है और तैजस सूक्ष्माभिमानी है, अथवा दोनों में मध्यवर्तित्वरूप समानता है। जैसे अकार मकार के मध्यवर्ती उकार है वैसे ही विश्व और प्राज्ञ के मध्य में रहने वाला तैजस है। अतः उभय भाक्त्व (मध्यवर्तित्व) रूप सामान्य के कारण भी तैजस एवं अकार में अभेद है। इस प्रकार जानने वालों के लिये फल बतलाया जाता है। जो इस प्रकार जानता है वह विज्ञान संतति के उत्कर्ष को बढ़ाता है और सबके प्रति समान हो जाता है। अर्थात् मित्र पक्ष में जैसे वह द्वेष का विषय नहीं होता वैसे ही शत्रु पक्ष वालों में भी द्वेष का विषय नहीं होता। किं बहुना, ऐसे जानने वाले के कुल में कोई भी व्यक्ति ब्रह्मज्ञान से शून्य नहीं होता ॥१०॥

द्वितीयपादस्य द्वितीयमात्रायाश्चैकत्वं व्यपदिशति—स्वप्नेत्यादिना। यथा प्रथमपादस्य प्रथममात्रायाश्चैकत्वं सामान्यं पुरस्कृत्योक्तं तथा द्वितीयपादस्य द्वितीयमात्रायाश्चैकत्वं सत्येव सामान्ये वक्तव्यं तदभावे तदारोपायोगादिति पृच्छति—केनेति। सामान्योपन्यासपूर्वकमेकत्वारोपं साधयति आहेति। अकारस्य सर्ववाग्व्यापकत्वेनोत्कृष्टत्वस्य स्पष्टत्वात्कथं तस्मादुकारस्योत्कर्षो वर्ण्यते तत्राऽऽह—अकारादिति। अकारस्योत्कर्षे वास्तवेऽपि पाठक्रमादुकारस्योत्कर्षवत्त्वमौपचारिकमित्युक्तमनुपोद्बलयति। यथाऽकारादुकारस्योत्कर्षो दर्शितस्तथा विश्वात्तैजसस्योत्कर्षो वक्तव्यः। सूक्ष्माभिमानिनः स्थूलाभिमानिनः सकाशादुत्कर्षस्य सुज्ञानत्वादित्याह—तथेति। [2]उकारतैजसयोर्न प्रत्येकमुभयत्वमेकत्वस्योभयत्वव्याघातादित्याशङ्क्य व्याकरोति—अकारेति। मध्यस्थत्वादुकारतैजसयोरुभयभाक्त्वं सामान्यं तस्मात्तयोरेकत्वं शक्यमारोपयितुमित्याह—अत इति। यथोक्तैकत्वविज्ञानं फलवत्त्वादुपादेयमिति सूचयति—विद्वदिति। [3]ज्ञानसंततेरुत्कर्षो नाम [4]कुतश्चित्तस्या भेदावेदनं [5]तस्येष्टत्वाभावे कथं फलत्वमित्याशङ्क्य व्याचष्टे—विज्ञानेति। पक्षद्वयतुल्यत्वमेव प्रकटयति—अप्रद्वेष्य इति। सादृश्यभेदेन फलभेदमावेद्य द्विविधसादृश्यप्रयुक्तैकत्वविज्ञानफलमाह—अब्रह्मविदिति ॥१०॥

---

१. एवंवेदेति—ओंकारात्मनोस्तादात्म्य न वेदेत्यर्थः। २. उकारतैजस द्वये सत्वादुभयत्व स्याह—प्रत्येकमिति, सादृश्यत्वाय प्रत्येकमुभयत्वेन भाव्यमिति भावः। ३. अविच्छेदोहि धारोत्कर्षः। विच्छिद्यवहन्ती तु धारानोत्कृष्टा व्यवह्रियत इति लोकमाश्रित्य व्याचष्टेज्ञानेत्यादिना ॥ ४. कुतश्चिदिति—कस्मिंचिदपि प्रदेशे तस्या—भेदावेदनम्—विच्छेदाप्रतीसंततेः, तिरित्यर्थः ॥ ५. तस्य ज्ञानसंततेः भेदोऽवष्टम्भः तस्यावेदनमप्रतीतिरनुपलम्भः कुतश्चिदपि हेतोः कुतश्चिदप्यप्रतिबद्धत्वमिति यावत् ॥

सुषुप्तस्थानः प्राज्ञो यः स ओंकारस्य मकारस्तृतीया मात्रा। केन सामान्येनेत्याह सामान्यमिदमत्र—मितेर्मितिर्मानं मीयेते इव हि विश्वतैजसौ प्राज्ञेन प्रलयोत्पत्त्योः प्रवेशनिर्गमाभ्यां प्रस्थेनेव यवाः। तथोंकारसमाप्तौ पुनः प्रयोगे च प्रविश्य निर्गच्छत इवाकारोकारौ मकारे। अपीतेर्वा। अपीतिरप्ययस्य एकीभावः। ओंकारोच्चारणेऽन्त्येऽक्षर एकीभूताविवाकारोकारौ। तथा विश्वतैजसौ सुषुप्तकाले प्राज्ञे। अतो वा सामान्यादेकत्वं प्राज्ञमकारयोः। विद्वत्फलमाह—मिनोति ह वा इदं सर्वं जगद्याथात्म्यं जानातीत्यर्थः। अपीतिश्च जगत्कारणात्मा भवतीत्यर्थः। अत्रावान्तरफलवचनं प्रधानसाधनस्तुत्यर्थम् ॥११॥

मकार और प्राज्ञ का अभेद

सुषुप्ति स्थान वाला जो प्राज्ञ है वह ओंकार की तृतीय मात्रा मकारस्वरूप है। प्राज्ञ को मकार रूप कैसे मानते हो ? इस पर कहते हैं--इन दोनों में यही समानता है, मितिरूप समानता दोनों में है। मिति शब्द का अर्थ मान होता है, जैसे प्रस्थरूप बाट विशेष से जौ तौले जाते हैं, वैसे ही प्रलय और उत्पत्ति के समय प्रवेश एवं निर्गमन के द्वारा प्राज्ञ से विश्व और तैजस नाम लिये जाते हैं, अर्थात् विश्व तैजस का प्रवेश सुषुप्तिकाल में प्राज्ञ में ही होता है और जागरणकाल में दोनों का प्राज्ञ से ही पुनः निर्गमन होता है। इस प्रकार प्राज्ञ विश्व को माप लेता है। उसी प्रकार जैसे ओंकार की समाप्ति में मकार में ही अकार उकार का प्रवेश होता है और पुनः ओंकार के प्रयोग करने पर मानो मकार से ही अकार उकार निकलते हैं। अतः अकार उकार को जैसे मकार मापता है वैसे ही विश्व तैजस को प्राज्ञ मापता है। अथवा अपीतिरूप समानता के कारण भी प्राज्ञ एवं मकार की एकता है। अपीति शब्द का अर्थ प्रलय अर्थात् एकीभाव होता है। क्योंकि जैसे ओंकार उच्चारण करने पर अन्तिम मकार अक्षर में अकार उकार एकीभूत हो जाते हैं। वैसे ही सुषुप्ति के समय विश्व और तैजस प्राज्ञ में लीन हो जाते हैं। अतः इस अप्ययरूप समानता के कारण भी प्राज्ञ और मकार का अभेद कहा गया है इस प्रकार जानने वाले के लिये फल बतलाया जाता है–वह इस प्रकार इस सम्पूर्ण जगत को निःसन्देह माप लेता है। अर्थात् जगत् की उत्पत्ति और प्रलय की प्रक्रिया की ज्ञान से सम्पूर्ण जगत का यथार्थ स्वरूप समझ जाता है। वैसे ही सम्पूर्ण जगत का कारण स्वरूप अप्ययप्रलय रूप भी हो जाता है। यह अवान्तर फल प्रधान साधन की प्रशंसा के लिये यहाँ पर कहा गया है ॥११॥

तृतीयपादस्य तृतीयमात्रायाश्चैकत्वमुपन्यस्यति—सुषुप्तेति। पूर्ववदेकत्वप्रयोजकमत्रापि प्रश्नपूर्वकमुपवर्णयति—केनेत्यादिना। मानमेव विवृणोति—मीयेते इति। ओमित्योंकारस्य नैरन्तर्येणोच्चारणे सत्यकारोकारौ प्रथमं प्रविश्य पुनस्तस्मान्निर्गच्छन्ताविवोपलभ्येते तेन मकारेऽपि मानसामान्यमिति वक्तव्यमित्यर्थः। एकीभावमेव स्फोरयति—ओंकारेति। मकारवत्प्राज्ञेऽपि तदस्ति सामान्यमित्याह—तथेति। उक्तस्यापि सामान्यस्य फलमाह—अतो वेति। सामान्यद्वयद्वारेण प्राज्ञमकारयोरेकत्वज्ञानं नाविवक्षितं फलवत्त्वादित्याह—विद्वदिति। अविदुषोऽपि जगद्विषयज्ञानमस्तीत्याशङ्क्य विशिनष्टि—जगद्याथात्म्यमिति। तद्याथात्म्यं [1]चाव्याकृतत्वं प्रलयभवनमनिष्टत्वान्न फलमित्याशङ्क्याऽऽह—जगदिति। तत्र तत्रैकत्वज्ञाने फलभेदकथनादुपासनाभेदमाशङ्क्या[2]ङ्गेषु फलभेदश्रुतेरर्थवादत्वमुपेत्याह—अत्रेति। पादानां मात्राणां च क्रमादेकत्वविज्ञाने फलकथनं सर्वान्पादान्मात्राश्च सर्वाः स्वात्मन्येन्यर्भाव्य प्रधानस्य ब्रह्मध्यानस्य साधनं यदोंकाराख्यमक्षरं तस्य स्तुतावुपयुज्यते तेन च तदेवैकमुपासनमितरस्य तदङ्गत्वान्नोपास्तितवक्तव्यमित्यर्थः ॥११॥

---

१. अव्याकृतमिति—परिणामवादपक्षे मायात्व विवर्तवाद पक्षे च चैतन्यात्मकत्वमित्यर्थः। २. अङ्गेष्विति—विशिष्टोपासनाङ्गभूतविश्वादि पादाकारादि प्रणवमात्रोपासनास्वित्यर्थः।

अत्रैते श्लोका भवन्ति—

विश्वस्यात्वविवक्षायामादिसामान्यमुत्कटम् । मात्रासंप्रतिपत्तौ स्यादाप्तिसामान्यमेव च ॥१९॥
तैजसस्योत्वविज्ञान उत्कर्षो दृश्यते स्फुटम् । मात्रासंप्रतिपत्तौ स्यादुभयत्वं तथाविधम् ॥२०॥
मकारभावे प्राज्ञस्य मानसामान्यमुत्कटम् । मात्रासंप्रतिपत्तौ तु लयसामान्यमेव च ॥२१॥

[जब विश्वात्मा का अकार मात्रत्व बतलाना अभीष्ट हो, तो उस समय समझना चाहिए कि उन दोनों में प्राथमिकत्व की समानता स्पष्ट है। अत्व विवक्षा पद की व्याख्या—मात्रा सम्प्रतिपत्ति है। विश्व और अकार की समानता में (इनमें) व्याप्तिरूप सामान्य भी स्फुट ही है ॥१९॥]

[तैजस को उकार मात्रारूप जानने में उन दोनों का उत्कर्ष स्पष्ट दीखता है और उनका उभयत्व भी स्फुट ही है ॥२०॥]

[प्राज्ञको मकारमात्रारूप जानने में उन दोनों में मान और लयरूप समानता स्पष्ट है ॥२१॥]

विश्वस्यात्वमकारमात्रत्वं यदा विवक्ष्यते तदाऽऽदित्वसामान्यमुक्तन्यायेनोत्कटमुद्भूतं दृश्यत इत्यर्थः। अत्वविवक्षायामित्यस्य व्याख्यानं मात्रासंप्रतिपत्ताविति। विश्वस्याकारमात्रत्वं यदा संप्रतिपद्यत इत्यर्थः। आप्तिसामान्यमेव चोत्कटमित्यनुवर्तते चशब्दात् ॥१९॥

तैजसस्योत्वविज्ञान उकारत्वविवक्षायामुत्कर्षो दृश्यते स्फुटं स्पष्ट इत्यर्थः। उभयत्वं च स्फुटमेवेति। पूर्ववत्सर्वम् ॥२०॥

मकारत्वे प्राज्ञस्य मितिलयावुत्कृष्टे सामान्ये इत्यर्थः ॥२१॥

इस विषय में आगे के श्लोक भी हैं।

अकारादि मात्राओं की विश्वादि के साथ एकता

जब विश्व को अत्व अर्थात् अकारमात्रत्व बतलाना अभीष्ट होता है, तब पहले बतलाये गये न्याय से प्राथमिकत्वरूप सामान्य दोनों में स्पष्ट दीखता है। श्लोक में "मात्रा संप्रतिपत्तौ" यह "अत्व विवक्षायाम्" इस पद का व्याख्यान है, अर्थात् जब विश्व की अकारमात्रस्वरूपता का बोध होता है तब उनकी व्यापकतारूप समानता का भी स्पष्ट ही भान होता है। श्लोक में च शब्द "उत्कटम्" पद की अनुवृत्ति के लिये कहा गया है ॥१९॥ तैजस के उत्वविज्ञान में अर्थात् तैजस को उकार रूप बतलाने में दोनों का उत्कर्ष स्पष्ट ही दीखता है। ऐसे ही दोनों में उभयत्व यानी मध्यवर्त्तित्व स्पष्ट ही है। शेष पदों की व्याख्या पूर्वश्लोकोक्त पदों के व्याख्यान की तरह जानना चाहिये ॥२०॥

प्राज्ञ के मकाररूप बतलाने में मान और लयरूप समानता स्पष्ट है। बस इतना ही इसका भावार्थ है शेष पूर्ववत् ॥२१॥

पादानां मात्राणां च यदेकत्वं सन्निमित्तं श्रुत्योरन्यस्तं तत्र श्रुत्यर्थविवरणरूपान्पूर्ववदेव श्लोकानवतारयति—अत्रेति। प्रथमपादस्य प्रथममात्रायाश्चाभेदारोपार्थमुक्तं सामान्यद्वयं विशदयति—विश्वस्येति। उक्तन्यायेनाऽऽदिरस्येत्यादाविति शेषः। पुनरुक्तिपरिहारद्वारा विवक्षितमर्थमाह—अत्वेति। अनुवृत्तिद्योतकं दर्शयति च शब्दादिति ॥१९॥

द्वितीयपादस्य द्वितीयमात्रायाश्चैकत्वारोपप्रयोजकद्वयं श्रुत्युक्तं व्यनक्ति—तैजसस्येति। स्फुटमिति क्रियाविशेषणम्। तथाविधमित्यस्यार्थं स्फुटमित्याह—स्फुटमेवेति। [1]उत्वविज्ञान इत्यस्य व्याख्यानं मात्रासंप्रतिपत्ताविति [2]तस्य व्याख्यानं सर्वमित्युच्यते तत्पूर्ववद्द्रष्टव्यमित्युच्यते—पूर्ववदिति ॥२०॥

---

१. स्वाभिप्रायेण टीकाकृदाह—उत्वविज्ञान इत्यस्य व्याख्यानं मात्रा संप्रतिपत्ताविति। व्याख्यानं भवतीति शेषः। २. तस्य व्याख्यानमिति—भाष्यकृत्कर्तृकमपेक्षितं तद्व्याख्यानमित्यर्थः॥

त्रिषु धामसु यत्तुल्यं सामान्यं वेत्ति निश्चितः । स पूज्यः सर्वभूतानां वन्द्यश्चैव महामुनिः ॥२२॥

अकारो नयते विश्वमुकारश्चापि तैजसम् । मकारश्च पुनः प्राज्ञं नामात्रे विद्यते गतिः ॥२३॥

[जो पुरुष जाग्रदादि तीनों स्थानों में बतलायी गई तुल्यता और समानता को निश्चित रूप से जानता है । वह महामुनि है तथा समस्त प्राणियों का वन्दनीय व पूजनीय हो जाता है ॥२२॥]

[(पृथक्-पृथक् उपासना किये जाने पर) अकार विश्व को प्राप्त करा देता है, उकार तैजस को और मकार प्राज्ञ को प्राप्त करा देता है । पर अमात्र में कोई गति नहीं है ॥२३॥].

यथोक्तस्थानत्रये तुल्यमुक्तं सामान्यं वेत्त्येवमेवैतादिति निश्चितो यः स पूज्यो वन्द्यश्च ब्रह्मविल्लोके भवति ॥२२॥

यथोक्तैः सामान्यैरात्मपादानां मात्राभिः सहैकत्वं कृत्वा यथोक्तोंकारं प्रतिपद्य यो ध्यायति तमकारो नयते विश्वं प्रापयति । अकारालम्बनोंकारं विद्वान्वैश्वानरो भवतीत्यर्थः । तथोकारस्तैजसम् । मकारश्चापि पुनः प्राज्ञं चशब्दान्नयत इत्यनुवर्तते । क्षीणे तु मकारे बीजभावक्षयादमात्र ओंकारे गतिर्न विद्यते कचिदित्यर्थः ॥२३॥

प्रणव उपासना का फल

पूर्वोक्त तीनों स्थानों में बतलाये गये सादृश्य को जो जानता है कि यह इसी प्रकार है, ऐसा निश्चय कर लेता है वह ब्रह्मज्ञानी लोक में वन्दनीय और पूज्य हो जाता है ॥२२॥

प्रणव की व्यस्त उपासना का फल

पहले बतलाये गये समानताओं से आत्मा के विश्वादि पदों का ओंकार की अकारादि मात्राओं के साथ क्रमशः एकत्व करके पूर्वोक्त ओंकार को जानकर जो साधक उसका ध्यान करता है उसे अकार विश्व को प्राप्त करा देता है, अर्थात् अकार के आश्रित ओंकार है ऐसा जाननेवाला साधक वैश्वानर हो जाता है । वैसे ही उकार तैजस को और मकार प्राज्ञ को प्राप्त करा देता है, अर्थात् उकाराश्रित ओंकार को जानने पर तैजस और मकाराश्रित ओंकार को जानने पर प्राज्ञ हो जाता है । च शब्द से "नयते" इस पद की अनुवृत्ति की जाती है । किन्तु मकार के क्षीण हो जाने पर बीजभाव के नष्ट हो जाने से मात्रा रहित ओंकार में कभी भी गति नहीं होती है, ऐसा पूर्वोक्त ग्रन्थ का तात्पर्य है ॥ २३ ॥

तृतीयपादस्य तृतीयमात्रायाश्चैकत्वाध्यासे सामान्यद्वयं श्रुत्या दर्शितं विशदयति--मकारेति । अक्षरार्थस्य पूर्ववदेव सुज्ञानत्वात्तात्पर्यार्थमाह—मकारत्व इति ॥२१॥

विश्वादीनामकारादीनां च यत्तुल्यं सामान्यमुक्तं तद्विज्ञानं स्तौति—त्रिष्विति । यथोक्तस्थानत्रयं जागरितं स्वप्नं सुषुप्तं चेति त्रितयं तुल्यं पादानां मात्राणां चेति शेषः । उक्तं सामान्यमाप्तिरुत्कर्षो मितिरित्यादि । महामुनिरित्यस्यार्थमाह—ब्रह्मविदिति ॥२२॥

पूर्वोक्तसामान्यज्ञानवतो ध्याननिष्ठस्य फलविभागं दर्शयति—अकार इति । यत्र तु पादानां मात्राणां च विभागो नास्ति तस्मिन्नोंकारे तुरीयात्मनि व्यवस्थितस्य प्राप्तृप्राप्तव्यप्राप्तिविभागो नास्तीत्याह—नामात्र इति । ओंकारध्यायिनमकारो विश्वं प्रापयतीत्युक्तमयुक्तम् । विश्वप्राप्तेर्ध्यानमन्तरेण सिद्धत्वात् । अकारस्यचा[1]ध्येयस्योक्तफलप्रापकत्वायोगादित्याशङ्क्याऽऽह—अकारेति । तदालम्बनं तत्प्रधानमिति यावत् । [2]अकारप्रधानमोंकारं ध्यायतो यथा वैश्वानरप्राप्तिस्तथोंकारप्रधानं तमेव ध्यायतस्तैजसस्य हिरण्यगर्भस्य प्राप्तिर्भवतीत्याह—तथेति । यश्च मकारप्रधानमोंकारं ध्यायति तस्य प्राज्ञाव्याकृतप्राप्तिर्युक्तेत्याह—मकारश्चेति । क्रियापदानुवृत्तिरुभयत्र विवक्षिता । चतुर्थपादं व्याचष्टे—

---

१. अध्येयस्येति—ध्यानाविषयस्येत्यर्थः । प्रतीकस्थानीयत्वात् तस्येति भावः । २. अकारप्रधानमिति—मुखादि प्राधान्येन देहपूजावदकारादिप्राधान्येनोंकारध्यानमित्यवधेयम् ।

(उपनिषद्)

अमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्यः प्रपञ्चोपशमः शिवोऽद्वैत एवमोंकार आत्मैव संविशत्यात्मनाऽऽत्मानं य एवं वेद ॥१२॥

[मात्रा रहित ओंकार तुरीय आत्मा स्वरूप ही है। वह (मनवाणी के अविषय होने से) अव्यवहार्य प्रपञ्च उपशम शिव और अद्वैत स्वरूप है। इसप्रकार ओंकार आत्मस्वरूप ही है। इसे जो इस रूप में जानता है, वह अपने आत्मा में भली प्रकार से प्रवेश कर जाता है ॥१२॥]

अमात्रो मात्रा यस्य नास्ति सोऽमात्र ओंकारश्चतुर्थस्तुरीय आत्मैव केवलोऽभिधानाभिधेयरूपयोर्वाङ्मनसयोः क्षीणत्वादव्यवहार्यः। प्रपञ्चोपशमः शिवोऽद्वैतः संवृत एवं यथोक्तविज्ञानवता प्रयुक्त ओंकारस्त्रिमात्रस्त्रिपादः। आत्मैव संविशत्यात्मना स्वेनैव स्वं पारमार्थिकमात्मानं य एवं वेद। परमार्थदर्शिनां ब्रह्मविदां तृतीयं बीजभावं दग्ध्वाऽऽत्मानं प्रविष्ट इति न पुनर्जायते तुरीयस्याबीजत्वात्। न हि रज्जुसर्पयोर्विवेके रज्ज्वां प्रविष्टः सर्पो बुद्धिसंस्कारात्पुनः पूर्ववत्तद्विवेकिनामुत्थास्यति। मन्दमध्यमधियां

अमात्र और तुरीय आत्मा का अभेद

जिसकी मात्रा नहीं हो वह अमात्र कहा जाता है वह अमात्रस्वरूप ओंकार चतुर्थ अर्थात् तुरीय केवल आत्मा ही विज्ञेय है। वाणी को अभिधान और मन को अभिधेय कहते हैं। ऐसे मन-वाणी की शक्ति क्षीण हो जाने से यह तुरीय अव्यवहार्य व्यवहार के योग्य नहीं माना गया है। एवं वह प्रपंच का उपशमरूप कल्याणस्वरूप अद्वितीय है। इस प्रकार पूर्वोक्त विज्ञानयुक्त साधक से प्रयोग किया गया तीन मात्रा वाला ओंकार तीन पादवाला आत्मा ही है। जो ऐसा अपने पारमार्थिक आत्मा को जानता है वह स्वयं ही अपने तात्त्विक रूप में प्रवेश कर जाता है। परमार्थ तत्त्वदर्शी ब्रह्मवेत्ता तृतीय बीजभाव अज्ञान को जलाकर शुद्ध आत्मा में प्रविष्ट हो जाता है। इसलिये उस तत्त्ववेत्ता का पुनर्जन्म नहीं होता क्योंकि तुरीय आत्मा अज्ञानरूप बीजभाव के संस्पर्श से शून्य है। क्या। भला रज्जु और सर्प का विवेक हो जाने पर रज्जु में प्रविष्ट हुआ कल्पित सर्प उस यथार्थदर्शी की भ्रान्ति एवं तज्जन्यसंस्कार के कारण पुनः पूर्ववत् प्रतीत होगा अर्थात् नहीं। हाँ जो मन्द एवं मध्यमबुद्धि वाले सन्मार्गगामी

क्षीणे त्विति। स्थूलप्रपञ्चो जागरितं विश्वश्चेत्येतत्त्रितयमकारमात्रं सूक्ष्मप्रपञ्चः स्वप्नस्तैजसश्चैतत्त्रितयमुकारमात्रं प्रपञ्चद्वयकारणं सुषुप्तं प्राज्ञश्चेत्येतत्त्रितयं मकारमात्रं तत्रापि पूर्वं पूर्वमुत्तरोत्तरभावमापद्यते। तदेवं सर्वमोंकारमात्रमिति ध्यात्वा स्थितस्य यदेतावन्तं कालमोमिति रूपेण प्रतिपन्नं तत्परिशुद्धं ब्रह्मेत्याचार्योपदेशसमुत्थसम्यग्ज्ञानेन पूर्वोक्तसर्वविभागनिमित्ताज्ञानस्य मकारत्वेन गृहीतस्य क्षये ब्रह्मण्येव शुद्धे [1]पर्यवसितस्य न कचिद्गतिरुपपद्यते परिच्छेदाभावादित्यर्थः ॥२३॥

(इति माण्डूक्यमूलमन्त्रभाष्यम्)

प्रत्यक्चैतन्य[2]मोंकारसंवेदनं त्रिमात्रेणोंकारेणाध्यस्तेन तादात्म्यादोंकारो निरुच्यते। [3]तस्य परेण ब्रह्मणैक्यममात्रादिश्रुत्या विवक्ष्यते तामवतार्य व्याकरोति—अमात्र इत्यादिना। केवलत्वमद्वितीयत्वम्। विशेषणान्तरमुपपादयति—अभिधानेति। अभिधानं वागभिधेयं मनश्चित्तातिरिक्तार्थाभावस्याभिधास्यमानत्वात्तयोर्मूलाज्ञानक्षयेण क्षीणत्वाविति हेत्वर्थः। अव्यवहार्यश्चेदात्मा नास्त्येवेत्याशङ्क्य विकारजातविनाशावधित्वेनाऽऽत्मनोऽवशेषान्नैवमित्याह—प्रपञ्चेति। [4]तस्य च सर्वानर्थाभावोपलक्षितस्य परमानन्दत्वेन पर्यवसानं सूचयति—शिव इति। तस्यैव सर्व-

---

१. पर्यवसितस्येति—एकीभूतस्येत्यर्थः। २. ओंकार सवेदनमिति—ओंकारे संवेदनमुपासनं यस्य, यद्वा ओंकारः संवित्तिकरणं यस्येति विग्रहः। ३. तस्येति ओंकाराभिधेयस्य प्रतीच इत्यर्थः ॥ ४. तस्येति—प्रत्यगभिन्नोंकारस्य।

तु प्रतिपन्नसाधकभावानां सन्मार्गगामिनां (णां) संन्यासिनां मात्राणां पादानां च क्लृप्तसामान्यविदां यथावदुपास्यमान ओंकारो ब्रह्मप्रतिपत्तय आलम्बनी भवति। तथा च वक्ष्यति—"आश्रमास्त्रिविधा हीनाः" मा० का० ३।१६ इत्यादि ॥१२॥

संन्यासी साधक हैं जिन्होंने ओंकार की मात्राओं और आत्माके पादों के पूर्वोक्त सिद्ध समानता को जाना है उनके लिये विधिपूर्वक उपासना किया हुआ ओंकार ब्रह्मबोध के प्रति दृढ़ आलम्बन अवश्य हो जाता है इसी बात को "आश्रय तीन प्रकार के हैं" इत्यादि वाक्यों से कारिकाकार स्वयं ही कहेंगे ॥१२॥

(माण्डूक्यमूलमन्त्रभाष्यटीका समाप्त)

द्वैतकल्पनाधिष्ठानत्वेनावस्थानमभिप्रेत्याऽऽह—अद्वैत इति। ओंकारस्तुरीयः सन्नात्मैवेति यदुक्तं तदुपसंहरति—एवमिति। यथोक्तं विज्ञानं पादानां मात्राणां चैकत्वम्। न च पादा मात्राश्च तुरीयात्मन्योंकारे सन्ति पूर्वपूर्वविभागश्चोत्तरोत्तरान्तर्भावेन क्रमादात्मनि पर्यवस्यतीत्येवंलक्षणतद्वता प्रयुक्तः सन्नोंकारो मात्रा पादाश्च स्वस्मिन्नन्तर्भाव्यावस्थितस्याऽऽत्मनो भेदमसहमानस्तद्रूपो भवतीत्यर्थः। उक्तैक्यज्ञानस्य फलमाह—संविशतीति। सुषुप्ते ब्रह्मप्राप्तस्य पुनरुत्थानवन्मुक्तस्यापि पुनर्जन्म स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—परमार्थेति। सुषुप्तस्य पुनरुत्थानं बीजभूताज्ञानस्य सत्त्वादुपपद्यते। इह तु बीजभूतमज्ञानं तृतीयं सुषुप्ताख्यं दग्ध्वैव [1]तेषामात्मानं तुरीयं प्रविष्टो विद्वानिति नासौ पुनरुत्थानमर्हति। कारणमन्तरेण तदयोगादित्यर्थः। तुरीयमेव पुनरुत्थानबीजभूतं भविष्यतीत्याशङ्क्य कार्यकारणविनिर्मुक्तस्य तस्य तदयोगान्नैवमित्याह—तुरीयस्येति। मुक्तस्यापि पूर्वसंस्कारात्पुनरुत्थानमाशङ्क्य दृष्टान्तेन निराचष्टे—न हीति पूर्ववदित्यविवेकावस्थायामिवेत्यर्थः। तद्विवेकिनां रज्जुसर्पविवेकविज्ञानवतामिति यावत्। [2]बुद्धिसंस्कारादित्यत्र बुद्धिशब्देन सर्पभ्रान्तिर्गृह्यते। उत्तमाधिकारिणामोंकारद्वारेण परिशुद्धब्रह्मात्मैक्यविदामपुनरावृत्तिलक्षणमुक्तं फलम्। इदानीं [3]मन्दानां मध्यमानां च कथं ब्रह्मप्रतिपत्त्या फलप्राप्तिरित्याशङ्क्याऽऽह—मन्देति। तेषामपि क्रममुक्तिरविरुद्धेत्यर्थः। [4]तत्रैव वाक्यशेषानुकूल्यं कथयति—तथा चेति ॥ १२ ॥

(इति माण्डूक्योपनिषत्समाप्ता)

---

१. तेषाम्—विश्वादीनाम्। २. सजातीयभ्रमान्तरस्य प्रमोत्थसंस्कारजन्यत्वं सूचयन् व्याचष्टे—बुद्धीत्यादि। ३. मध्यमेषु तारतम्यं विवक्षित्वाह—मध्यमानामिति। तथा च तत्वज्ञानसमर्थानां मध्यमानामित्यविरुद्धमित्यवधेयम्। ४. तत्रैवेति—त्रिविधाधिकारिण्येवेत्यर्थः।

पूर्ववत्— **अत्रैते श्लोका भवन्ति** — (गौडपादीयश्लोकाः)

ओंकारं पादशो विद्यात्पादा मात्रा न संशयः। ओंकारं पादशो ज्ञात्वा न किंचिदपि चिन्तयेत् ॥२४
युञ्जीत प्रणवे चेतः प्रणवो ब्रह्म निर्भयम्। प्रणवे नित्ययुक्तस्य न भयं विद्यते क्वचित् ॥२५॥

[(यथोक्त समानता के कारण) एक-एक पाद करके जानो। इसमें किंचित् सन्देह नहीं; कि पाद ही ओंकार की मात्राएँ हैं। इस प्रकार पाद क्रम से ओंकार को जानकर दृष्ट अथवा अदृष्ट किसी भी प्रयोजन का चिन्तन न करे॥२४॥ प्रणव में ही मन को समाहित करे, क्योंकि प्रणव भयशून्य ब्रह्मस्वरूप है। इस प्रकार प्रणव में नित्य समाहित रहने वाले पुरुष को कहीं भी भय नहीं है॥२५॥]

यथोक्तैः सामान्यैः पादा एव मात्रा मात्राश्च पादास्तस्मादोंकारं पादशो विद्यादित्यर्थः। एवमोंकारे ज्ञाते दृष्टार्थमदृष्टार्थं वा न किञ्चित्प्रयोजनं चिन्तयेत् कृतार्थत्वादित्यर्थः॥२४॥

युञ्जीत समादध्याद्यथाव्याख्याते परमार्थरूपे प्रणवे चेतो मनः। यस्मात्प्रणवो ब्रह्म निर्भयम्। न हि तत्र सदा युक्तस्य भयं विद्यते क्वचित्। "विद्वान्न बिभेति कुतश्चन" तै० २।६ इति श्रुतेः॥२५॥

इसी विषय में निम्नाङ्कित श्लोक पूर्ववत् हैं।

प्रणव की समस्त व्यस्त उपासना का फल

पहले की बतलायी गयी समानता के कारण आत्मा के पाद ही ओंकार की मात्राएँ हैं और मात्राएँ पाद हैं। अतः ओंकार को पादक्रमशः जाने, इस प्रकार ओंकार का ज्ञान होने पर किसी भी लौकिक अथवा पारलौकिक प्रयोजन की चिन्ता न करें क्योंकि पूर्वोक्त प्रकार से प्रणव-रहस्य को जाननेवाले तत्त्वदर्शी कृत्यकृत्य हो जाते हैं॥२४॥

पूर्वोक्त रीति से सम्पूर्ण द्वैत के निषेधक प्रणवज्ञान के द्वारा उत्तम अधिकारी को कृतार्थता प्राप्त हो भी चुकी हो फिर भी मन्द, मध्यम अधिकारी के लिये ध्यान का विधान करना अवश्यक जानकर कहते हैं। पूर्वोक्त रीति से जिस प्रणव का व्याख्यान हो चुका है उसी परमार्थस्वरूप प्रणव में अपने चित्त को समाहित करे, क्योंकि ओंकारभय शून्य ब्रह्मस्वरूप है। इसीलिये उसमें सदा समाहित पुरुष को कहीं कुछ भी भय नहीं होता ऐसा ही तत्त्ववेत्ता कहीं भी किसी विषय में डरता नहीं, इस श्रुति से भी सिद्ध होता है॥२५॥

यथा पूर्वमाचार्येण श्रुत्यर्थप्रकाशकाः श्लोकाः प्रणीतास्तथोत्तरेऽपि श्लोकाः श्रुत्युक्तेऽर्थं एव संभवन्तीत्याह— पूर्ववदिति। ओंकारस्य पादशो विद्या कीदृशीत्याशङ्क्याऽऽह—पादा इति। पादानां मात्राणां [1]चान्योन्यमेकत्वं कृत्वा तद्विभागविधुर[2]मोंकारं ब्रह्मबुद्धया ध्यायतो भवति कृतार्थतेति दर्शयति—ओंकारमिति। तस्मात्पादानां मात्राणां चान्योन्यमेकत्वादित्यर्थः। तदेकत्वं [3]पुरस्कृत्योंकारमुभयविभागशून्यं ब्रह्मबुद्धया जानीयादित्याह—ओंकारमिति। उत्तरार्धस्य तात्पर्यमाह—एवमिति ॥ २४ ॥

[4]प्रणवानुसंधानकुशलस्य प्रणवज्ञानेनैव सर्वद्वैतापवादकेन कृतार्थता भवतीत्युम्। इदानीं [5]तदनभिज्ञस्य परोपदेशमात्रशरणस्य ध्यानकर्तव्यतां कथयति—युञ्जीतेति। ननु मनःसमाधानं ब्रह्मण्यं कर्तव्यम्। किमिति प्रणवे तत्कर्तव्यतोच्यते तत्राऽऽह—प्रणव इति। संप्रति प्रणवे समाहितचितस्य फलं दर्शयति—प्रणवे नित्येति। समाधानविषयमाह—यथेति। तुरीयरूपं यथा (थेत्यु) च्यते [6]तत्र हेतुमाह—यस्मादिति। तदेव साधयति—न हीति। तत्र तैत्तिरीयकश्रुत्यानकल्पमाह—विद्वानिति ॥ २५ ॥

१. एकत्वं कृत्वेति—अभेदनिश्चित्येत्यर्थः। २. ओंकारमिति—ओंकारलक्ष्यं प्रत्यगात्मानमित्यर्थः। ३. पुरस्कृत्येति—दूरीकृत्येत्यर्थः। ४. प्रणवानुसंधानकुशलस्य—उत्तमाधिकारिण इत्यर्थः। ५. तदनभिज्ञस्येति—ध्यममस्याधमस्य च॥ ६. तत्रेति—ध्यानकर्तव्यतायामिति।

प्रणवो ह्यपरं ब्रह्म प्रणवश्च परः स्मृतः । अपूर्वोऽनन्तरोऽबाह्योऽनपरः प्रणवोऽव्ययः ॥२६॥
सर्वस्य प्रणवो ह्यादिर्मध्यमन्तस्तथैव च । एवं हि प्रणवं ज्ञात्वा व्यश्नुते तदनन्तरम् ॥२७॥

[प्रणव ही अपर ब्रह्म है और प्रणव ही परब्रह्म माना गया है, वह प्रणव कारण रहित अन्तर्बाह्य शून्य कार्य रहित तथा अव्यय है ॥२६॥]

[सबके उत्पत्ति स्थिति और लय स्थान प्रणव ही है । इस प्रणव को जानने के बाद साधक प्रणव को ही प्राप्त कर लेता है ॥२७॥]

परापरे ब्रह्मणि प्रणवः परमार्थतः क्षीणेषु मात्रापादेषु पर एवाऽऽत्मा ब्रह्मेति न पूर्वं कारणमस्य विद्यत इत्यपूर्वः । नास्यान्तरं भिन्नजातीयं किञ्चिद्विद्यत इत्यनन्तरः । तथा बाह्यमन्यन्न विद्यत इत्यबाह्यः । अपरं कार्यमस्य न विद्यत इत्यनपरः । सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः सैन्धवघनवदित्यर्थः ॥२६॥

आदिमध्यान्ता उत्पत्तिस्थितिप्रलयाः सर्वस्यैव मायाहस्तिरज्जुसर्पमृगतृष्णिकास्वप्नादिवदुत्पद्यमानस्य वियदादिप्रपञ्चस्य यथा मायाव्यादयः । एवं हि प्रणवमात्मानं मायाव्यादिस्थानीयं ज्ञात्वा तत्क्षणादेव तदात्मभावं व्यश्नुत इत्यर्थः ॥२७॥

प्रणव ही परब्रह्म है और प्रणव ही अपर ब्रह्म भी कहा गया है । वास्तव में मात्रारूप पादों के विलीन हो जाने पर आत्मा ही परब्रह्म है । अतः इसका कोई कारण न होने से यह अपूर्व है । एवं इससे भिन्न जातीय के न होने से यह अनन्तर है तथा इससे बाह्य भी कोई अन्य नहीं है । इसीलिये यह अबाह्य है और इसका कोई अपर अर्थात् कार्य नहीं है । अतः यह अनपर भी है । अभिप्राय यह है यह आत्मा बाहर भीतर सभी ओरसे जन्मरहित है एवं सैन्धवघन के समान प्रज्ञानघन है । जिस प्रकार नमक की डली में सभी ओर से नमक ही नमक है वैसे ही यह आत्मा सभी ओरसे प्रज्ञानघन ही है ॥२६॥

सम्पूर्ण प्रपंच का आदि मध्य और अन्त, यानी सृष्टि, पालन और संहार ओंकार ही है । जैसे मायामय हाथी, रज्जु सर्प, मृगतृष्णा और स्वप्न आदि कल्पितजगत् का कारण उनका अधिष्ठान है, वैसे ही उत्पन्न होनेवाले आकाशादि प्रपंच का कारण मायावी आदि हैं । वैसे ही मायावी आदि स्थानीय उस प्रणवरूप आत्मा को जानकर तत्त्वदर्शी विद्वान् उसी क्षण आत्मरूपता को प्राप्त कर लेता है । यही इसका अभिप्राय है ॥२७॥

कीदृशस्तर्हि प्रणवो मन्दानां मध्यमानां चाधिकारिणां ध्येयो भवतीत्याशङ्क्याऽऽह—प्रणवो हीति । उत्तमाधिकारिणां कीदृशस्तर्हि प्रणवः सम्यग्ज्ञानगोचरो भवति तत्राऽऽह अपूर्व इति । परापरब्रह्मात्मना प्रणवो मन्दमध्यमाधिकारिणोर्ध्येयतामुपगच्छतीति पूर्वार्धं व्याचष्टे—परेति । उत्तमाधिकारिणस्तु सर्वविशेषशून्यमेकरसं प्रत्यग्भूतं यद्ब्रह्म तद्रूपेण प्रणवः सम्यग्ज्ञानाधिगम्यो भवतीत्युत्तरार्धं विभजते—परमार्थत इत्यादिना । उक्तेऽर्थे प्रमाणं सूचयति—सबाह्येति ॥ २६ ॥

यदोंकारस्य प्रत्यगात्मत्वमापन्नस्य तुरीयस्यापूर्वत्वमनन्तरत्वमित्यादिविशेषणमुक्तं तत्र हेतुमाह—सर्वस्येति । यथोक्तविशेषणं प्रणवं प्रत्यञ्चं प्रतिपद्य कृतकृत्यो भवतीत्याह—एवं हीति । पूर्वार्धं व्याकरोति—आदीति । सर्वस्यैवोत्पद्यमानस्योत्पत्तिस्थितिलया यथोक्तप्रणवाधीना भवन्ति । अतस्तस्योक्तं विशेषणं युक्तमित्यर्थः । [1]तत्र परिणामवादं व्यावर्त्य विवर्तवादं द्योतयितुमुदाहरति—मायेति । अनेकोदाहरणमुत्पद्यमानस्यानेकविधत्वबोधनार्थं प्रणवस्य प्रत्यगात्मत्वं प्राप्तस्याविकृतस्यैव स्वमायाशक्तिवशाज्जगद्धेतुत्वमित्यत्र दृष्टान्तमाह—यथेति । यथा मायावी स्वगतविकारमन्तरेण मायाहस्त्यादेरिन्द्रजालस्य स्वमायावशादेव हेतुः । यथा वा रज्ज्वादयः स्वगतविकारविरहिणः स्वाज्ञानादेव सर्पादिहेतवस्तथाऽयमात्मा प्रणवभूतो व्यवहारदशायां स्वाविद्यया सर्वस्य हेतुर्भवति । [2]अतो युक्तं तस्य

---

१. तत्रेति—प्रणवस्यजगदुत्पादकत्वे इत्यर्थः । २. अतः इति—अविकारिण एव सतः सर्वव्यवहारहेतुत्वादविधयेत्यर्थः ।

प्रणवं हीश्वरं विद्यात्सर्वस्य हृदि संस्थितम् । सर्वव्यापिनमोंकारं मत्वा धीरो न शोचति ॥२८॥
अमात्रोऽनन्तमात्रश्च द्वैतस्योपशमः शिवः । ओंकारो विदितो येन स मुनिर्नेतरो जनः ॥२९॥

इति माण्डूक्योपनिषदर्थाविष्करणपरायां (सु) गौडपादीयकारिकायां (सु) प्रथममागमप्रकरणम् ॥१॥

ॐ तत्सत् ।

[सबके हृदय में स्थित प्रणव को ही ईश्वर जाने इस प्रकार आकाश तुल्य सर्वव्यापक ओंकार को जानकर बुद्धिमान् पुरुष शोक नहीं करता ॥२८॥]

[जिसने मात्रा रहित तथा अनन्त मात्रा वाले, निखिल द्वैत के उपशम स्वरूप मंगलमय ओंकार को जान लिया है वही (परमार्थतत्त्व का मन्ता होने से) मुनि है। (परशास्त्रज्ञ होते हुए भी) अन्य पुरुष मुनि नहीं है ॥२९॥]

सर्वप्राणिजातस्य स्मृतिप्रत्ययास्पदे हृदये स्थितमीश्वरं प्रणवं विद्यात्सर्वव्यापिनं व्योमवदोंकारमात्मानमसंसारिणं धीरो बुद्धिमान् मत्वा न शोचति। शोकनिमित्तानुपपत्तेः। "तरति शोकमात्मवित्" छा० ७।१।३ इत्यादिश्रुतिभ्यः ॥२८॥

अमात्रस्तुरीय ओंकारो मीयतेऽनयेति मात्रा परिच्छित्तिः साऽनन्ता यस्य सोऽनन्तमात्रः। नैता-

सम्पूर्ण प्राणिसमुदाय के स्मरणज्ञान के आश्रय हृदय में स्थित ईश्वर प्रणव को ही समझे। बुद्धिमान् साधक आकाश के समान सर्वव्यापक ओंकार को संसारधर्म से रहित आत्मस्वरूप समझकर शोकयुक्त नहीं होता। ऐसे ही "आत्मज्ञानी शोक को पार कर जाता है" इत्यादि श्रुतियों से ही सिद्ध होता है ॥२८॥

मुनि का लक्षण

पूर्वोक्तरीति से मात्रा रहित ओंकार और तुरीय को एकरूप से जिसने जान लिया है वही परमार्थतत्त्व का मनन करने वाला होने के कारण मुनि है। तत्त्व ज्ञान के अभाव में शास्त्रज्ञ होता हुआ भी दूसरा पुरुष मुनि नहीं कहला सकता। यहाँ पर जिससे मापा जाय उसे मात्रा यानी परिच्छित्ति कहते हैं और वह मात्रा जिसकी अनन्त हो वह अनन्तमात्रा वाला कहा गया है, क्योंकि इसके माप की सीमा का

परमार्थावस्थायां पूर्वोक्तविशेषणवत्त्वमित्यर्थः। द्वितीयार्धं विभजते—एवं हीति। पूर्वोक्तविशेषणसंपन्नमिति यावत्। ज्ञानस्य [1]मुक्तिहेतोः सहायान्तरापेक्षा नास्तीति सूचयति—तत्क्षणादेवेति। तदात्मभावमित्यत्र तच्छब्देनापूर्वादिविशेषणं परमार्थवस्तु परामृश्यते ॥२७॥

ब्रह्मबुद्धया प्रणवमभिध्यायतो हृदयाख्यं देशमुपदिशति—प्रणवमिति। परमार्थदर्शनस्तु देशाद्यनवच्छिन्नवस्तुदर्शनादार्थिकं शोकाभावं तत्र को मोहः कः शोक इत्यादिश्रुतिसिद्धमनुवदति—सर्वव्यापिनमिति। हृदयदेशे प्रणवभूतस्य ब्रह्मणो ध्येयत्वे हेतुं सूचयति—स्मृतिप्रत्ययेति। बुद्धिमानिति विवेकित्वमुच्यते। मत्वेति साक्षात्कारसंपत्तिर्विवक्ष्यते। विवेकद्वारा तत्त्वसाक्षात्कारे सति शोकनिवृत्तौ हेतुमाह—शोकेति। तस्य हि निमित्तमात्माज्ञानम्। तस्याऽऽत्मसाक्षात्कारतो निवृत्तौ शोकानुपपत्तिरित्यत्र प्रमाणमाह—तरतीति। आदिशब्देन भिद्यते हृदयग्रन्थिरित्यादिश्रुतिर्गृह्यते ॥२८॥

ओंकारं तुरीयभावमापन्नं यः [2]प्रतिपन्नस्तं स्तौति—अमात्र इति। यथोक्तप्रणवप्रतिपत्तिविहीनस्तु जननमरणमात्रभागो न पुरुषार्थभाग्भवतीति विद्यारहितं निन्दति—नेतर इति। पादविभागस्य मात्राविभागस्य चाभावादोंकारस्तुरीयः सन्नमात्रो भवतीत्याह—अमात्र इति। ननु कथमनन्ता परिच्छित्तिरोंकारस्य तुरीयस्योच्यते। न हि तत्र परिच्छित्तिरेवास्तीत्याशङ्क्याऽऽह—नैतावत्त्वमिति। अनर्थात्मकद्वैतसंस्पर्शाभावादप्रतिबन्धेन परमानन्दत्वं तस्मिन्नाविर्भ-

१. मुक्तिहेतोरिति—मोक्षोत्पादन इतिभावः। २. प्रतिपन्नः—प्रतिपत्त्याश्रय इत्यर्थः।

अथ गौडपादीयकारिकायां(सु)वैतथ्याख्यं द्वितीयं प्रकरणम्

हरिः ॐ

वैतथ्यं सर्वभावानां स्वप्न आहुर्मनीषिणः ।
अन्तःस्थानात्तु भावानां संवृतत्वेन हेतुना ॥१॥

[(स्वप्न में प्रतीत होने वाले) सभी पदार्थ शरीर के भीतर ही स्थित रहते हैं, वहाँ के संकुचित स्थान के कारण मनीषियों ने स्वप्न में दीखने वाले सभी पदार्थों का मिथ्यात्व बतलाया है ॥१॥]

वत्त्वमस्य परिच्छेत्तुं शक्यत इत्यर्थः । सर्वद्वैतोपशमत्वादेव शिवः । ओंकारो यथाव्याख्यातो विदितो येन स परमार्थतत्त्वस्य मननान्मुनिः । नेतरो जनः शास्त्रविदपीत्यर्थः ॥२९॥

इति श्रीगोविन्दभगवद्पूज्यपादशिष्यस्य परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्य शंकरभगवतः कृतावागमशास्त्रविवरणे गौडपादीयकारिकासहितमाण्डूक्योपनिषद्भाष्येप्रथमसमागसप्रकरणम् ॥ १ ॥

ॐ तत्सत् ।

ॐ । ज्ञाते द्वैतं न विद्यत इत्युक्तम् । एकमेवादितीयमित्यादिश्रुतिभ्यः । (छा० ६।२।१) आगममात्रं तत् । तत्रोपपत्त्याऽपि द्वैतस्य वैतथ्यं शक्यतेऽवधारयितुमिति द्वितीयं प्रकरणमारभ्यते—वैतथ्य-

---

निश्चय नहीं किया जा सकता। वैसे ही सम्पूर्ण द्वैत अनर्थ के शान्त हो जाने से ही यह ओंकार मंगलमय शिवस्वरूप है। इस प्रकार पूर्वोक्त रीति से बतलाये गये ओंकार को जाननेवाला साधक मुनि कहलाता है ॥२९॥

इस प्रकार आगमप्रकरण शांकरभाष्य की विद्यानन्दी मिताक्षरा समाप्त हुई ॥१॥

द्वितीय वैतथ्य प्रकरण प्रारम्भ

स्वप्न दृश्य पदार्थों का मिथ्यात्त्व

"एवमेवाद्वितीयम्" (सजातीय विजातीय स्वगतभेदशून्य एक अद्वैत सत् ही था) इत्यादि श्रुतियों के अनुसार पहले आगमप्रकरण में यह कहा जा चुका है कि अद्वैततत्त्व को जानलेने पर अद्वैत नहीं रह जाता। पर वह तो केवल आगमवचन मात्र ही था। अब युक्तियों से भी द्वैत में

वतीत्यभिप्रेत्याऽऽह—सर्वेति यथाव्याख्यातः पूर्वार्धेनोक्तविशेषणवानित्यर्थः । ननु यथोक्तप्रणवपरिज्ञानरहितस्यापि शास्त्रपरिज्ञानवत्त्वाच्च जन्मोपलक्षितसंसारभावत्वेन पुरुषार्थसिद्धिः । नैवम् । शास्त्रविदोऽपि । तत्त्वज्ञानाभावे मुख्यपुरुषार्थासिद्धि (द्धे)रित्यभिप्रेत्याऽऽह—नेतर इति । तदेव प्रणवद्वारेण निरुपाधिकमात्मानमनुसंदधानस्य पुरुषार्थ[1]परिसमाप्तिर्नेतरेषां बहिर्मुखाना(णा)मिति स्थितम् ॥२९॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीशुद्धानन्दपूज्यपादशिष्यभगवदानन्दज्ञानविरचितां माण्डूक्योपनिषदाविष्करणपरगौडपादीयकारिकाभाष्यटीकायां प्रथमभागप्रकरणम् ॥१॥

ॐ तत्सत् ।

ॐ । [2]आगमप्राधान्येनाद्वैतं प्रतिपादयता तत्प्रत्यनीकस्य द्वैतस्य मिथ्यात्व[3]मर्थादुक्तम् । इदानीं तन्मिथ्यात्वमुपपत्तिप्राधान्येनापि प्रतिपत्तुं सुशकमिति दर्शयितुं प्रकरणान्तरमवतारयन्नादौ दृष्टान्तसिद्धयर्थं तस्मिन्वृद्धसंमतिमाह—वैतथ्यमिति । न केवलमागमोक्तिवशादेव स्वप्नमिथ्यात्वं किंतु युक्तितोऽपीत्याह—अन्तःस्थानादिति । पूर्वोत्तरप्रकरणयोः

---

१. परि—समन्तात् सामग्र्येणेत्यर्थः । सम्यक्—संशयविपर्यादिराहित्येनाप्तिः—प्राप्तिरित्यर्थः । २. आगमप्राधान्येनेति—प्रधानतयागमप्रमाणमुपादायेति यावत् । ३. अर्थात्—अद्वैतप्रतिपादनान्यथानुपपत्त्येत्यर्थः ।

मित्यादिना। वितथस्य भावो वैतथ्यम्, असत्यत्वमित्यर्थः। कस्य। सर्वेषां बाह्याध्यात्मिकानां भावानां पदार्थानां स्वप्न उपलभ्यमानानाम्। आहुः कथयन्ति। मनीषिणः प्रमाणकुशलाः। वैतथ्ये हेतुमाह—अन्तःस्थानात्। अन्तः शरीरस्य मध्ये स्थानं येषाम्। तत्र हि भावा उपलभ्यन्ते पर्वतहस्त्यादयो न बहिः शरीरात्। तस्मात्ते वितथा भवितुमर्हन्ति। नन्वपवरकाद्यन्तरुपलभ्यमानैर्घटादिभिरनैकान्तिको हेतुरित्याशङ्क्याऽऽह—संवृतत्वेन हेतुनेति। अन्तःसंवृतस्थानादित्यर्थः। न ह्यन्तःसंवृते देहान्तर्नाडीषु पर्वतहस्त्यादीना संभवोऽस्ति। न हि देहे पर्वतोऽस्ति॥ १॥

मिथ्यात्व निश्चय कराया जा सकता है। इसीलिये यह वैतथ्यमित्यादि ग्रन्थ से द्वितीयप्रकरण प्रारंभ किया जा रहा है। वितथ के भाव को वैतथ्य कहते हैं, अर्थात् असत्यत्त्वमिथ्यात्त्व इसका भावार्थ होता है। "किसका मिथ्यात्त्व है" ऐसी आकांक्षा होनेपर कहते हैं कि स्वप्न में बाह्य और आन्तरिक सम्पूर्ण पदार्थों में प्रमाणकुशल तत्त्वदर्शियों ने मिथ्यात्त्व देखा है। इसलिये उसमें मिथ्यात्त्व निःसन्दिग्धरूप से वे बतलाते हैं। वे उनके मिथ्यात्त्व होने में "अन्तःस्थानात्" (शरीर के भीतर में स्थित होने से) इत्यादि हेतु भी दिया करते हैं, अर्थात् जिनका शरीर के मध्य में स्थान हो उन्हें अन्तःस्थान कहते हैं। क्योंकि स्वप्नस्थ पर्वत-हस्ति आदि पदार्थों की उपलब्धि शरीर से बाहर तो होती नहीं। इसीलिये शरीर के भीतर उपलब्धि होने के कारण वे पदार्थ मिथ्या होने चाहिये। यदि कहो कि "अन्तःस्थानत्व" यह हेतु व्यभिचारी है क्योंकि गृह आदि के भीतर दीखनेवाले घट आदि उक्त हेतु अनैकान्तिक देखे गये हैं। गृह के मध्य स्थित होते हुए भी जैसे घटादि मिथ्या नहीं है, वैसे ही शरीर मध्यवर्ती होने पर भी स्वप्न के पदार्थ मिथ्या नहीं कहे जा सकते। ऐसी आकांक्षा होने पर कहते हैं कि न केवल यह शरीर मध्यवर्ती होने के कारण उन्हें मिथ्या कह रहे हैं, किन्तु संकुचित स्थान होने के कारण से भी वे मिथ्या हैं। इसी को भीतर संकुचित स्थान आदि शब्द से मिथ्यात्व में हेतु बतलाया गया है। क्योंकि संकुचित देह के भीतर रहनेवाली, संकुचित नाड़ियों में पर्वत हस्ती आदि का रहना संभव नहीं है अर्थात् देह के मध्यवर्ती नाड़ियों में पर्वत नहीं रह सकता॥१॥

संबन्धसिद्ध्यर्थं पूर्वप्रकरणे वृत्तं संक्षिप्यानुवदति—[1]ज्ञात इति। आदिशब्देन यत्र हि द्वैतमिव भवतीत्यादिश्रुतिर्गृह्यते। तर्हि द्वैतमिथ्यात्वस्य प्रागेव सिद्धत्वादुत्तरं प्रकरणमनर्थकमित्याशङ्क्याह—आगमेति। यद्द्वैतमिथ्यात्वं पूर्वमुक्तं तदागममात्रम्। आगमप्राधान्येनाधिगतम्। न युक्तितः सिद्धम्। तस्मिन्नागमतोऽवगते युक्तिप्राधान्येनापि तन्मिथ्यात्वमवगन्तव्यमिति प्रकरणान्तरं प्रारब्धमित्यर्थः। प्रमाणानुग्राहकत्वात्तर्कस्यानुग्राह्यप्रमाणस्य [2]प्रधानत्वात्तदधीनविचारान्तरं तर्काधीनविचारस्य [3]सावकाशाद्युक्तं पौर्वापर्यं [4]पूर्वोत्तरप्रकरणयोरित्युक्तम्। संप्रति श्लोकाक्षराणि योजयति—वितथस्येत्यादिना। बाह्या घटादयः। सुखादयस्त्वाध्यात्मिका भावाः। शरीरान्तरवस्थानं स्वाप्नानां भावानामित्यत्रानुभवं प्रमाणयति—तत्र हीति। तेषामन्तरुपलभ्यमानत्वेऽपि न वैतथ्यं व्यभिचारादित्याशङ्कामनूद्य परिहरति—नन्वित्यादिना। हेत्वन्तरशङ्कां वारयति—अन्तरिति। यद्यपि देहान्तः संकुचिते देशे स्वाप्ना भावा भवन्ति तथाऽपि कथं तेषां मृषात्वमित्यत आह—न हीति। अन्तरित्युक्तं स्फुटयति—संवृत इति। तमेव संकुचितं देशं विशेषणान्तरेण स्फोरयति—देहान्तर्नाडीष्विति। उक्तमर्थं कैमुतिकन्यायेन स्फुटयति—न हीति। यदा देहेऽपि पर्वतादयो न संभाव्यन्ते तदा तदन्तर्वर्तिनीषु नाडीष्वतिसूक्ष्मासु तेषां संभावना नास्तीति किमु वक्तव्यमित्यर्थः। स्वाप्ना भावाः सत्या न भवन्ति, उचितदेशशून्यत्वाद्रजतभुजंगादिवदिति भावः॥१॥

१. ज्ञातइति—अवसर सङ्गतिरनेन सूचिताभवति। २. प्रधानत्वादिति—शेषित्वादितियावत्। ३. सावकाशत्वादिति—अवकाशलाभादिति यावत्। ४. पूर्वोत्तरप्रकरणयोरिति—श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभिरिति न्यायादितिभावः।

अदीर्घत्वाच्च कालस्य गत्वा देशान्न पश्यति । प्रतिबुद्धश्च वै सर्वस्तस्मिन्देशे न विद्यते ॥२॥

[काल की अदीर्घता के कारण स्वप्न द्रष्टा देह से बाहर जाकर उन देशों को नहीं देखता है। क्योंकि जागने पर सभी व्यक्ति उस देश में विद्यमान नहीं रहते, जहाँ वह स्वप्न में अपने को देखता था। (इससे देह से बाहर जाकर स्वप्न में देखना सिद्ध नहीं होता ॥२॥]

स्वप्नदृश्यानां भावानामन्तःसंवृतस्थानमित्येतदसिद्धम् । यस्मात् प्राच्येषु सुप्त उदक्षु स्वप्नान्पश्यन्निव दृश्येत । इत्येत[1]दाशङ्क्याऽऽह । न देहाद् बहिर्देशान्तरं गत्वा स्वप्नान्पश्यति । यस्मा[2]त्सुप्तमात्र एव देहदेशाद्योजनशतान्तरिते मासमात्रप्राप्ये देशे स्वप्नान्पश्यन्निव दृश्यते । न च तद्देशप्राप्तेरागमनस्य दीर्घः कालोऽस्ति । अतोऽदीर्घत्वाच्च कालस्य न स्वप्नदृग्देशान्तरं गच्छति । किञ्च प्रतिबुद्धश्च वै सर्वः स्वप्नदृक्स्वप्नदर्शनदेशे न विद्यते । यदि च स्वप्ने देशान्तरं गच्छेद्यस्मिन्देशे स्वप्नान्पश्येत्तत्रैव प्रतिबुध्येत न

"स्वप्न में दीखने वाले संकुचित स्थानवर्ती पदार्थ हैं" ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि पूर्वदिशा में सोया हुआ पुरुष उत्तरदिशा में स्वप्न देखता हुआ सा देखा जाता है। इससे यही सिद्ध होता कि स्वप्नद्रष्टा शरीर के बाह्यप्रदेश में जाकर उन वस्तुओं को देखता होगा। ऐसी शंका होने पर आगे की कारिका कहते हैं—

देह से बाहर देशान्तर में जाकर स्वप्न को नहीं देखता, क्योंकि एक मास में प्राप्त होने योग्य सौयोजन दूरी वाले देश में सोने के तत्क्षण बाद ही स्वप्नदृश्य वस्तुओं को देखता हुआ सा देखा जाता है। उस देश में पहुँचने और तू वहाँ से लौटने के लिये जितना दीर्घकाल अपेक्षित है वह व्यावहारिक काल भी वहाँ दीखता नहीं। अतः काल की अदीर्घता के कारण स्वप्नद्रष्टा देशान्तर में नहीं जाता है ऐसा मानना ही उचित प्रतीत होता है। इतना ही नहीं, निद्रा से जगे हुए सभी स्वप्नद्रष्टा स्वप्न दर्शनदेश में अपने को नहीं देखते अर्थात् जिस देश में स्वप्न देख रहा था जगने पर वह देश उसे नहीं दिखाई पड़ता। यदि स्वप्न में देशान्तर में स्वप्नद्रष्टा गया होता तो जिस देश में उसने स्वप्न देखा था उसी देश में जगने के वाद भी अपने को देखना चाहिये था, किन्तु ऐसा नहीं होता रात्रि में सोया हुआ व्यक्ति मानो दिन में स्वप्न देखता है और अकेला सोया हुआ बहुतों से मिलता है। जो स्वप्न में मिले थे जागने पर उनके द्वारा ज्ञान होना चाहिये था कि रात्रि में मेरी आपसे भेंट

देहाद्बहिरेव देशान्तरं गत्वा स्वाप्नानां भावानामुपलम्भात्तेषां देहान्तः संवृतनाडीप्रदेशे दर्शनमसंप्रतिपन्नमित्याशङ्क्य परिहरति—अदीर्घत्वाच्चेति । बहिःस्वप्नोपलब्धिपक्षे दोषान्तरमाह—प्रतिबुद्धश्चेति । व्यावर्त्यामाशङ्कामनुवदति—स्वप्नेति । तेषां देहान्तः संकुचिते नाडीदेशे [3]स्थितिदर्शनान्मिथ्यात्वमित्येतदप्यसंप्रतिपन्नमित्यत्र हेतुमाह—यस्मादिति । पश्यन्निवेति स्वप्नदर्शनस्य निरूपणे सत्याभासत्वमिवशब्देन द्योत्यते । एतच्छब्देन चोद्यं परामृश्यते । स्वप्नद्रष्टा गत्वा स्वप्नान्न पश्यतीत्यत्र हेतुमाह—यस्मादिति । इवशब्दस्तु पूर्ववत् । तथाऽपि कथं बहिः स्वाप्नोपलम्भो न भवतीति निर्धारितमित्याशङ्क्याऽऽह—न चेति । स्वप्नः सत्यो न भवति उचितकालविकलत्वा[4]त्संप्रतिपन्नवदित्यभिप्रेत्य फलितमाह—अत इति । इतश्च न देहाद्बहिर्देशान्तरे स्वप्नदर्शनमित्याह—किञ्चेति । सर्वोऽपि स्वप्नद्रष्टा देशान्तरे स्वप्नान्पश्यन्नकस्मादेव प्रतिबुद्धो न तत्रास्ति किन्तु शयनदेशे वर्तते तथाऽपि गत्वा स्वप्नदर्शने काऽनुपपत्तिरित्याशङ्क्याऽऽह—यदि चेति । अन्तरेव स्वप्नदर्शनमिति स्थिते स्वप्नमिथ्यात्वमुचितकालशून्यत्वादित्युक्तं प्रपञ्चयति—रात्राविति । यद्यपि रात्रौ निद्रामुपगतस्तथाऽपि भावानहनि पश्यन्निव तिष्ठति सुप्तः संहृतचक्षुरादिकरणोऽपि पश्यति ।

---

१. आशङ्क्येति—उद्भाव्येति यावत् । २. सुप्तमात्र एवेति—शयनसमनन्तरमेवेत्यर्थः । ३. स्थिति दर्शनादिति—स्थितिद्रष्टुस्तयास्वाप्नार्थानां दर्शनादित्यर्थः । ४. सम्प्रतिपन्नवदिति—माया विरचित नगराम्रादिवन् मनो राज्य निर्मित सौधादिवद्वेत्यर्थः

अभावश्च रथादीनां श्रूयते न्यायपूर्वकम् ।
वैतथ्यं [1]तेन वै प्राप्तं स्वप्न आहुः [2]प्रकाशितम् ॥ ३ ॥

[स्वप्न में दीखने वाले रथादि का अभाव तर्क पूर्वक श्रुतियों में सुना जाता है। अतः स्वप्न में युक्ति से सिद्ध मिथ्यात्व को ही श्रुति में स्पष्ट किया गया है, ऐसा ब्रह्मवेत्ता कहते हैं ॥ ३ ॥]

चैतदस्ति। रात्रौ सुप्तो[3]ऽहनीव भावान्पश्यति बहुभिः संगतो यैश्च संगतो भवति तैर्गृह्येत। न च गृह्यते गृहीतश्चेत्त्वामद्य [4]तत्रोपलब्धवन्तो वयमिति ब्रूयुः। न चैतदस्ति तस्मान्न देशान्तरं गच्छति स्वप्ने ॥२॥

इतश्च [5]स्वप्नदृश्या भावा वितथाः। यतोऽभावश्चैव रथादीनां स्वप्नदृश्यानां श्रूयते न्यायपूर्वकं युक्तितः श्रुतौ "न तत्र रथाः" बृ० ४।३।१० इत्यत्र। तेनान्तःस्थानसंवृतत्वादिहेतुना प्राप्तं वैतथ्यं तदनुवादिन्या श्रुत्या स्वप्ने स्वयंज्योतिष्ट्वप्रतिपादनपरया प्रकाशितमाहुर्ब्रह्मविदः ॥ ३ ॥

हुई थी। किन्तु ऐसा ज्ञान नहीं कराया जाता है। यदि स्वप्न में पदार्थों का सचमुच में दर्शन हुआ होता तो "हमने तुझे आज वहाँ देखा था" ऐसा कहना चाहिये था, पर ऐसा कोई कहता नहीं। अतः स्वप्न में स्वप्नद्रष्टा देशान्तर में जाकर स्वप्न को नहीं देखता, ऐसा युक्ति युक्त प्रतीत होता है ॥२॥

इसलिये भी स्वप्न में देखे गये पदार्थ मिथ्या हैं "स्वप्नावस्था में न रथ होता है न रथ के घोड़े न मार्ग ही होते हैं" इत्यादि श्रुतियों में युक्तिपूर्वक स्वप्न में देखे गये रथादि का अभाव ही सुना जाता है। अतः देह के मध्यवर्ती संकुचित स्थान में देखने से "स्वप्नदृश्य मिथ्या है" इत्यादि हेतुओं से मिथ्यात्व सिद्ध हुआ। उसीका अनुवाद करने वाली स्वप्न में आत्मा के प्रकाशत्व बतलाने वाली उक्त श्रुतियों से ब्रह्मवेत्ता पुरुषों ने पूर्वोक्त मिथ्यात्व को स्पष्ट किया है ॥३॥

शयानोऽपि पर्यटनं प्रतिपद्यते। यद्यपि सहायविहीनः सुप्तस्तथाऽपि बहुभिः सहायैः स्वप्नानुपलभते। तस्मादुचितस्य कालस्य करणस्य सहकारिणश्चाभावेऽपि स्वप्नदर्शनात्तस्मिन्मिथ्यात्वं सिद्धमित्यर्थः। स्वप्नमिथ्यात्वे हेत्वन्तरमाह—यैश्चेति। सहदर्शिभिरगृह्यमाणत्वं स्वप्नद्रष्टुरसंप्रतिपन्नमित्याशङ्क्याऽऽह—गृहीतश्चेदिति। पुरुषान्तरसंवादादर्शनाद्देशान्तरप्राप्तिद्वारा स्वप्नदर्शनमिति वक्तुमशक्यत्वादन्तरेव स्वप्नदर्शनमित्युचितदेशकालाभावात्तन्मिथ्यात्वं सिद्धमित्युपसंहरति—तस्मान्नेति ॥ २ ॥

स्वप्नदृश्यानां भावानां मिथ्यात्वे हेत्वन्तरमाह—अभावश्चेति। न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्तीत्यादि [6]श्रुत्या स्वप्ने स्वयंज्योतिष्ट्वमात्मनो दर्शयन्त्यां तत्र दृश्यानां रथादीनामभावो [7]योग्यदेशाद्यभावद्योतकन्यायपुरःसरं श्रूयते। [8]अतस्तेन न्यायेन प्राप्तमेव स्वप्नदृश्यभावानामस्ति मिथ्यात्वमन्यपरया श्रुत्या प्रकाशितमिति ब्रह्मविदो वदन्ति। तथा च स्वप्ने भावानां मिथ्यात्वं श्रुतियुक्तिभ्यां सिद्धमित्यर्थः। हेत्वन्तरपरत्वं श्लोकस्य दर्शयति—इतश्चेति। इतःशब्दार्थमेव स्फुटयति—यत इति। ज्ञेयाभावे ज्ञानाभावादर्थाज्ज्ञानस्यापि श्रुतमसत्त्वमिति वक्तुं चशब्दः। श्रूयते न तत्रेत्याद्यायां श्रुतादिति सम्बन्धः। न्यायपूर्वकमिति व्याचष्टे—युक्तित इति। योग्यदेशाद्यभावो युक्तिः। तर्हि न्यायसिद्धेऽर्थे किमन्यपरया श्रुत्या क्रियते तत्राऽऽह—तेनेति। अन्तःशरीरमध्येस्थानं नाडीलक्षणम्।

१. तेन वा इति—न्यायेनैवेत्यर्थः। २. प्रकाशितमिति—श्रुत्येत्यर्थः। आदावन्तः इत्यनयोरुत्पत्तेः प्राङ्नाशानन्तरमित्यर्थौ बोध्यौ। ३. अहनीवेति—जाग्रदिवदिवेव वेत्यर्थः। ४. उपलभ्येतेति—दृश्येतेति यावत्। ५. स्वप्नदृश्या इत्यादि—स्वाप्न भावावित्तथाः, स्वाभाववत्ति प्रतीय मानत्वात् रज्जुसर्पादिवदित्यनुमानमत्र सूचितं बोध्यम्। ६. श्रुत्येति—श्रुत्यां दर्शयन्त्यामिति सप्तम्यन्तः साधीयान्याह। ७. योग्येत्यादि—अत्रयोग्यदेशाद्यभावात्मकन्यायद्योतन पुरस्सरमिति युक्तः प्रनिभाति पाठः। ८. अतः—आद्यभावश्रवणादित्यर्थः।

अन्तःस्थानात्तु भेदानां तस्माज्जागरिते स्मृतम् । यथा तत्र तथा स्वप्ने संवृतत्वेन भिद्यते ॥४॥

[उक्त कारणों से ही जाग्रत् अवस्था में भी पदार्थों का मिथ्यात्व सिद्ध होता है। दृश्यत्त्व हेतु स्वप्न के समान जाग्रद् के पदार्थों में भी मिथ्यात्त्व सिद्ध कर रहा है। केवल शरीर के भीतर होना और संकुचित स्थान में रहना ही स्वप्न के पदार्थों में वैशिष्ट्य है ॥ ४ ॥]

जाग्रद्दृश्यानां भावानां [1]वैतथ्यमिति प्रतिज्ञा। दृश्यत्वादिति हेतुः। स्वप्नदृश्यभाववदिति दृष्टान्तः। यथा तत्र स्वप्ने [2]दृश्यानां भावानां वैतथ्यं [3]तथा जागरितेऽपि दृश्यत्वमविशिष्टमिति [4]हेतूपनयः। तस्माज्जागरितेऽपि वैतथ्यं स्मृतमिति निगमनम्। अन्तःस्थानात्संवृतत्वेन च स्वप्नदृश्यानां भावानां जाग्रद्दृश्येभ्यो भेदः। दृश्यत्वमसत्यत्वं चाविशिष्टमुभयत्र ॥ ४ ॥

जगत के दृश्य पदार्थ भी मिथ्या है।

"जाग्रत् अवस्था में दीखने वाले पदार्थ भी मिथ्या हैं"—ऐसी प्रतिज्ञा की जाती है क्योंकि उसमें भी दृश्यत्त्व हेतुविद्यमान है। यह हेतु है। स्वप्न दृश्यपदार्थ की भाँति यह दृष्टान्त है। जैसे स्वप्न में देखे गये पदार्थों में दृश्यत्व और मिथ्यात्व है, वैसे ही जाग्रत् के पदार्थों में भी दृश्यत्व समान ही है। इस प्रकार हेतु का उपनय भी हो जाता है। अतएव जाग्रत् में भी मिथ्यात्व कहा गया है, ऐसा निगमन भी है। भाव यह है कि जाग्रत् के पदार्थ मिथ्या हैं। दृश्य होने के कारण, स्वप्नदृश्य के समान। जैसे स्वप्न में मिथ्यात्व व्याप्य दृश्यत्व है वही दृश्यत्व जाग्रद में भी है। अतः जाग्रत् में भी मिथ्यात्व सिद्ध हो गया। अन्तःस्थ होना और संकुचित स्थान में होना केवल स्वप्न की इन्हीं बातों का जाग्रत् के दृश्य पदार्थों में भेद है। दृश्यत्व और मिथ्यात्व तो दोनों की अवस्थाओं में तुल्य है ॥४॥

तत्रातिसूक्ष्मे संवृतत्वेन [5]संकुचितत्वेनावस्थानं पर्वतादीनामुपलभ्यते ततश्चोचितदेशाभावो योग्यकालाभावश्चेत्यादिना प्रागुक्तेन हेतुना प्राप्तं स्वप्नदृश्यानां भावानां वैतथ्यं [6]तदेव तदनुवादिन्या श्रुत्याऽपि प्रकाशितमित्याहुर्ब्रह्मविदः। जाग्रदवस्थायामादित्यादिप्रकाशानां वागादिज्योतिषां च विद्यमानत्वादासनादिव्यवहारस्य तन्निमित्तत्वसंभवादात्मचैतन्यनिबन्धनो व्यवहारो न निर्धारयितुं शक्यते। स्वप्ने पुनः सूर्याद्यभावेऽपि व्यवहारदर्शनात्तस्य च निमित्तापेक्ष्य (क्ष) त्वादात्मचैतन्यस्य तन्निमित्तत्वनिर्णयात्तत्राऽऽत्मनः स्वयंज्योतिष्ट्वं प्रतिपादयितुं न तत्रेत्याद्या श्रुतिः। तया तत्परया न्यायसिद्धं स्वप्नमिथ्यात्वमनुवदन्त्या [7]तदप्रतिपादितमपि [8]प्रकाशितमिष्यते। तथा च श्रुतियुक्तिभ्यां प्रतिपन्नं स्वप्नमिथ्यात्वमिति दृष्टान्तसिद्धिरित्यर्थः ॥ ३ ॥

उक्तन्यायेन दृष्टान्ते सिद्धे फलितमनुमानमाह—अन्तःस्थानादिति। भेदानामित्यत्र सूचितमनुमानमारचयति—जाग्रदिति। तृतीयेन पादेन पक्षधर्मत्वं व्याप्तस्य हेतोरुच्यते तद्दर्शयति—यथेति। द्वितीयेन पादेन प्रतिकूलप्रमाणाभावसूचकं प्रतिज्ञोपसंहारवचनं निगमनं सूत्रितमित्याह—तस्मादिति सर्वद्वैतवैतथ्यवादिनां केन विशेषेण पक्षसपक्षविभागसिद्धिरित्याशङ्क्यान्तःस्थानात्तु संवृतत्वेन भिद्यत इत्यत्र विवक्षितमर्थमाह—अन्तःस्थानादिति। स्वप्नदृश्यानामन्तःस्थानं संवृतत्वं

---

१. वैतथ्यमिति—जाग्रद्भावा वितथा, दृश्यत्वात् ये ये दृश्यास्ते ते वितथाः यथा—स्वप्नभावाः, तथा चे मे—तथेत्यस्य मिथ्यात्व व्याप्यदृश्यत्ववन्तः इत्यर्थः, तस्मात्तथा—तस्मादित्यस्य मिथ्यात्व व्याप्यदृश्यत्वादित्यर्थः। तथेत्यस्य च वैतथ्यवन्तत्यनुमानमत्र बोध्यम्। २. दृश्यानां भावासां वैतथ्यमिति—स्वप्ने भावानां दृश्यत्वं बैतथ्यं चेत्यर्थः। अनेन दृश्यत्वस्य वैतथ्य वैतथ्यव्याप्यत्वभुक्तं भवति। ३. व्याप्यस्य पक्षवृत्तित्वमाह—तथेत्पादिना। तथेति वैतथ्यव्याप्यमिति यावत्। ४. हेतूपनय इति—हेतोःपक्षधर्मता—पक्षवृत्तित्वमिति यावत्। ५. संकुचितत्वेनेति—स्वायोग्यदेशवृत्तित्वेनेत्यर्थः। न हि पर्वतादीनां संकोचः संभवतीति भावः। ६. तदेवेत्यादि—तद्वत्तयाप्रतीयमाने तदभावबोधनादिति भावः। ७. अप्रतिपादितमिति—तात्पर्यविषयस्यैव प्रतिपादनं भवतीति भावः। ८. प्रकाशितमिष्यत इति—न हि स्वप्न भावानां मिथ्यात्वं विना स्वयं ज्योतिष्ट्वमात्मनः स्वप्ने शक्य बोधम्। स्वाप्नज्योतिर्भिरेव व्यवहारोपपत्तेरिति तन्मिथ्यात्वमपि श्रुत्यार्थाक्षिप्तत्वेन प्रकाशितमुच्यत इत्यर्थः।

स्वप्नजागरिते स्थाने ह्येकमाहुर्मनीषिणः । भेदानां हि समत्वेन प्रसिद्धेनैव हेतुना ॥५॥
[1]आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा । वितथैः सदृशाः सन्तोऽवितथा इव लक्षिताः ॥६॥

[दृश्यत्त्व और मिथ्यात्त्व तो उभयत्र समान है, इस प्रकार मिथ्यात्त्व के प्रयोजक दृश्यत्त्व रूप प्रसिद्ध हेतु पदार्थों में समान होने के कारण मनीषियों ने स्वप्न और जाग्रद् अवस्था को समान ही बतलाया है ॥ ५ ॥]

[जो वस्तु आदि और अन्त में असद् रूप है वह वर्तमान में भी असद् ही मानी जाती है। मृगतृष्णिकादि असद् वस्तुओं के समान होते हुए भी (अनात्मज्ञ पुरुषों द्वारा) वे सद्रूप समझे जाते हैं ।६।]

प्रसिद्धेनैव भेदानां ग्राह्यग्राहकत्वेन हेतुना समत्वेन स्वप्नजागरितस्थानयोरेकत्वमाहुर्विवेकिन इति पूर्वप्रमाणसिद्धस्यैव फलम् ॥ ५ ॥

इतश्च वैतथ्यं जाग्रद्दृश्यानां भेदानामाद्यन्तयोरभावाद्यदादावन्ते च नास्ति वस्तु मृगतृष्णिकादि तन्मध्येऽपि नास्तीति निश्चितं लोके । तथेमे जाग्रद्दृश्या भेदाः । आद्यन्तयोरभावाद्वितथैरेव मृगतृष्णिकादिभिः सदृशत्वाद्वितथा एव तथाऽप्यवितथा इव लक्षिता मूढैरनात्मविद्भिः ॥ ६ ॥

जैसे स्वप्न के पदार्थों में ग्राह्य ग्राहक भाव है, वैसे ही जाग्रत के पदार्थों में भी ग्राह्य-ग्राहक-भाव है। इस ग्राह्य-ग्राहक-भावरूप प्रसिद्ध हेतु के तुल्य होने से भी स्वप्न और जाग्रन् अवस्थाओं का विवेकी पुरुषों ने एकत्व बतलाया है। इस प्रकार पूर्वप्रमाण से सिद्ध हुए दृश्यत्व हेतु का मिथ्यात्व फल यहाँ पर बतलाया गया है ॥५॥

इसलिये भी जाग्रत् अवस्था में दीखने वाले पदार्थ मिथ्या हैं, क्योंकि आदि-अन्त में उन वस्तुओं का अभाव है। मृगतृष्णिकादि वस्तु आदि और अन्त में नहीं है। अतः मध्य में दीखती हुई भी वह नहीं है, ऐसा ही लोक में निश्चित किया गया है। ठीक वैसे ही जाग्रत् के दृश्य पदार्थ भी नहीं हैं, क्योंकि आदि-अन्त में मिथ्या मृगतृष्णिकादि के समान ही इनका भी अभाव देखा गया है। समान होने के कारण वे वास्तव में है तो मिथ्या किन्तु अनात्मज्ञ मूर्ख पुरुषों ने इन्हें सत्य के समान समझ रखा है ॥६॥

च न तथा जाग्रद्दृश्यानां [2]तेनोचितदेशाद्यभावात्तेषां तेभ्यो वैषम्यं स्फुटम् । सिद्धं हि योग्यदेशाद्यभावेन स्वप्नस्य मिथ्यात्वमिति सपक्षत्वम् । जागरितस्य पुनरुचितदेशादिसद्भावादस्फुटं मिथ्यात्वमिति पक्षत्वमित्यर्थः । [3]तर्हि सर्वथा वैषम्याद्दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकभावासिद्धिरित्याशङ्क्याऽऽह—दृश्यत्वमिति ॥ ४ ॥

स्वप्नवज्जागरितस्य मिथ्यात्वे स्वप्ननिद्रायुतावित्यादौ जागरिते स्वप्नशब्दप्रयोगो युक्तो भवतीत्याह—स्वप्नेति । उभयत्रैकत्वं विद्वदभिमतमित्यत्र हेतुमाह—भेदानामिति । भेदा भिद्यमाना भावः । तेषामवस्थाद्वयवर्तिनां [4]ग्राह्यत्वं ग्राहकत्वमविशिष्टम् । तेन दृश्यत्वेन हेतुना प्रसिद्धेनैव तेषां मिथ्यात्वेन समत्वं तेन स्थानयोरेकत्वं विवेकिनामभिप्रेतमिति यत्पूर्वमनुमानाख्यं प्रमाणं सिद्धं तस्यैव फलं साधनस्थानद्वयाविरोऽपमनेन श्लोकेनोक्तमिति श्लोकयोजनया दर्शयति—प्रसिद्धेनैवेति ॥ ५ ॥

जाग्रद्दृश्यनां भावानां मिथ्यात्वमित्यत्रानुमानान्तरमाह—आदाविति । यदि जाग्रद्दृश्या भावा मिथ्यात्वेन प्रसिद्धस्वप्नादिभिः समत्वान्मिथ्या कथं तर्हि तेषां घटः सन्पटः सन्नित्थम्भूतत्वेन प्रतीतिरित्याशङ्क्याऽऽह—वितथैरिति ।

---

१. आदावन्त इत्वनयोरुत्पत्तेः प्राङ् नाशानन्तरमित्यर्थौ बोध्यौ । २. तेनेति—जाग्रद्दृश्येष्वन्तः स्थानत्वाद्यभावेनेत्यर्थः । ३. तर्हीति—दृजाग्र दृश्यानामुचितदेशादिसत्वे । ४. ग्राह्यत्वमिति—अवस्थाद्वयेऽपि ग्राह्यत्वमनात्मनो ग्राहकत्वं चात्मनोऽविशिष्टमित्यर्थः ।

सप्रयोजनता तेषां स्वप्ने विप्रतिपद्यते।
तस्मादाद्यन्तवत्त्वेन मिथ्यैव खलु ते स्मृताः ॥७॥

[जाग्रत् के पदार्थों में सप्रयोजनता नहीं कर सकते। क्योंकि स्वप्न में उसके विपरीत देखा जाता है, अर्थात् स्वप्न की वस्तु से जाग्रत् में काम नहीं चलता और स्वप्न में जाग्रत् की वस्तु से काम नहीं चलता। अतएव आद्यन्तवत्त्व हेतु से निश्चय ही वे दोनों अवस्था के पदार्थ मिथ्या ही माने गये हैं ।७]

स्वप्नदृश्यवज्जागरितदृश्यानामप्यसत्त्वमिति यदुक्तं तदयुक्तम्। यस्माज्जाग्रद्दृश्या अन्नपानवाहनादयः क्षुत्पिपासादिनिवृत्तिं कुर्वन्तो गमनागमनादिकार्यं च सप्रयोजना दृष्टाः। न तु स्वप्नदृश्यानां तदस्ति। तस्मात्स्वप्नदृश्यवज्जाग्रद्दृश्यानामसत्त्वं मनोरथमात्रमिति। तन्न। कस्मात्। यस्मात् सप्रयोजनता दृष्टा याऽन्नपानादीनां सा स्वप्ने विप्रतिपद्यते। जागरिते हि भुक्त्वा पीत्वा च तृप्तो विनिवर्तिततृट्सुप्तमात्र एव [1]क्षुत्पिपासाद्यार्तमहोरात्रोषितमभुक्तवन्तमात्मानं मन्यते। यथास्वप्ने भुक्त्वा पीत्वा चातृप्तोत्थितस्तथा। तस्माज्जाग्रद्दृश्यानां स्वप्ने विप्रतिपत्तिर्दृष्टा। अतो मन्यामहे तेषाम [2]प्यसत्त्वं स्वप्नदृश्यवदनाशङ्कनीयमिति। [3]तस्मादाद्यन्तवत्त्वमुभयत्र समानमिति मिथ्यैव खलु ते स्मृताः॥ ७॥

पू०—स्वप्नदृश्य के समान जाग्रत् दृश्य में भी मिथ्यात्व है ऐसा जो आपने कहा वह ठीक नहीं है? क्योंकि जाग्रत् में देखे गये अन्न-पान और वाहन आदि क्षुधा-पिपासा निवृत्त करते हुए तथा गमनागमनादि कार्य सिद्ध करते हुए देखे गये हैं। अतः प्रयोजन वाले होने के कारण जाग्रत् दृष्टपदार्थ मिथ्या नहीं है। किन्तु स्वप्न की दृश्य वस्तुएं वैसी बात नहीं हैं। इसलिये स्वप्न दृश्य के समान जाग्रत दृश्यवस्तु में मिथ्यात्व मानना केवल मनोरथ मात्र है?

सि०—ऐसा कहना ठीक नहीं, क्यों? इसलिये कि जाग्रत् में जो अन्न-पानादि की सप्रयोजनता देखी गयी है वह स्वप्न में विपरीत हो जाती है। क्योंकि जाग्रत् में भरपेट खाकर और जल पीकर तृप्त हुआ तृष्णा से निवृत्त होकर सोने के तत्क्षणवाद ही स्वप्न में भूख-प्यास से अत्यन्त दुःखी दिन रात का उपवास किया हुआ और बिना खाया हुआ अपने को मानता है। जैसे स्वप्न में खा पीकर जगा हुआ व्यक्ति अपने को अतृप्त मानता है, ठीक वैसे ही जाग्रत में खाया-पीया व्यक्ति सोने के दूसरे क्षण ही स्वप्न में अपने को अतृप्त अनुभव करता है। अतः स्वप्न में जाग्रत के पदार्थों का विपरीत भाव देखा गया है। इसलिये हम स्वप्न के समान ही जाग्रत् की वस्तुओं में भी मिथ्यात्व मानते हैं। इस विषय में शंका करने की आवश्यकता नहीं है। अतः आद्यन्तवत् दोनों ही अवस्थाएँ समान हैं। इसलिये वे जाग्रत्-स्वप्न के सभी पदार्थ मिथ्या मानेंगे ॥७॥

---

[4]प्रकृते जाग्रन्मिथ्यात्वे हेत्वन्तरपरत्वं श्लोकस्योपन्यस्यति—इतश्चेति। विमतं मिथ्याऽऽदिकत्वादन्तवत्त्वात्स्वप्नादिवदित्यर्थः। उक्तानुमानद्रढिम्ने व्याप्तिं कथयति—यदादाविति। यदादिमदन्तवच्च तन्मिथ्या यथा मृगतृष्णिकादीत्यर्थः। व्याप्तिमतः साधनस्य पक्षधर्मतोपन्यासेन प्रतिज्ञोपसंहारवचनं दर्शयति—तथेति। अनुमानस्य घटादिषु सत्त्वग्राहकप्रत्यक्षविरोधमाशङ्क्य सद्गन्धर्वनगरमितिवत्तस्या[5]ऽऽपातिकसत्त्वविषयत्वान्नैवमित्याह—तथाऽपीति ॥ ६ ॥

स्वप्नस्य मिथ्यात्वमाद्यन्तवत्त्वान्न भवति किंतु [6]फलपर्यन्तत्वाभावाज्जागरितस्य फलपर्यन्तत्वान्न मिथ्यात्वमित्याशङ्क्याऽऽह—सप्रयोजनतेति। फलपर्यन्ततारहित्योपाधेः साधनव्यापकत्वे फलितमाह—तस्मादिति। जाग्रद्दृश्या भावा [7]बहूक्त्या गृह्यन्ते। श्लोकस्य व्यावर्त्यामुपाध्याशङ्कामुत्थापयति—स्वप्नेति। जाग्रद्दृश्यानामिव स्वप्नदृश्यानामपि

---

१. क्षुदित्यादि—क्षुत्पिपासाद्यार्तत्वेनाहो रात्रोषितमितियावत्। २. अपिरवधारणार्थः असत्त्वमित्यनन्तरं संबध्यते। ३. तस्मादिति–द्वयोरपि हेत्वोः सोपाधिकत्वाभावादित्यर्थः। ४. प्रकृत इति–आरब्धप्रतिपादने इत्यर्थः। ५. आपातिकेति—प्रातीतिकेत्यर्थः। ६. फलेत्यानि—फलं पर्यन्तेऽव्यवहितोत्तरकाले यस्येति विग्रहः। ७. बहूक्त्येति—ते इत्यनयेत्यर्थः।

अपूर्वं स्थानिधर्मो हि यथा स्वर्गनिवासिनाम्।
तानयं प्रेक्षते गत्वा यथैवेह सुशिक्षितः ॥८॥

[जैसे स्वर्ग निवासी इन्द्रादि देवों की सहस्र नेत्रत्वादि अपूर्व अवस्था सुनी जाती है। वैसे ही यह स्वप्न भी स्वप्न द्रष्टा का ही अपूर्व धर्म है। यह स्वप्न पदार्थों को जाकर वैसे ही देखता है जैसे कि इस लोक में देशान्तरीय मार्ग के सम्बन्ध में सुशिक्षित पुरुष नियत स्थान में जाकर अभीष्ट लक्ष्य को देखता है ॥८॥]

स्वप्नजाग्रद्भेदयोः समत्वाज्जाग्रद्भेदानामसत्त्वमिति यदुक्तं तदसत्। कस्मात्। दृष्टान्तस्यासिद्धत्वात्। कथम्। न हि जाग्रद्दृष्टा एवैते भेदाः स्वप्ने दृश्यन्ते। किं तर्हि। अपूर्वं स्वप्ने पश्यति चतुर्दन्तं गजमारूढमष्टभुजमात्मानं मन्यते। अन्यदप्येवंप्रकारमपूर्वं पश्यति स्वप्ने। तन्नान्येनासता सममिति सदेव। अतो दृष्टान्तोऽसिद्धः। तस्मात्स्वप्नवज्जागरितस्यासत्त्वमित्ययुक्तम्। तन्न स्वप्ने दृष्टमपूर्वं यन्मन्यसे न तत्स्वतःसिद्धम्। किं तर्हि। अपूर्वंस्थानिधर्मो हि स्थानिनोद्रष्टुरेव हि स्वप्नस्थानवतो धर्मः। यथा स्वर्गनिवासिनामिन्द्रादीनां सहस्राक्षत्वादि तथा स्वप्नदृशोऽपूर्वोऽयं धर्मः। न स्वतःसिद्धो

पूर्वपक्ष—आपने जाग्रत और स्वप्न के पदार्थों में समानता होने से जाग्रत के पदार्थों की असत्यता जो कही है वह ठीक नहीं है, क्योंकि इसमें दृष्टान्तसिद्धि दोष है। कैसे? तो सुन लो—जाग्रत् के देखे गये पदार्थ ही स्वप्न में देखे जाते हैं, ऐसी बात नहीं है। तो फिर क्या है? स्वप्न में अपूर्व वस्तुको देखता है। चार दाँत वाले हाथी पर चढ़ा हुआ और आठ भुजाओंवाला अपने को मानता है। ऐसे ही अन्य भी अनेक प्रकार की अपूर्व वस्तुओं को स्वप्न में देखता है, वह किसी अन्य असत्य वस्तु के समान नहीं होती। इसलिये स्वप्नदृष्ट पदार्थ सत्य ही है जो स्वप्नदृश्य रूप दृष्टान्त में मिथ्यात्व सिद्ध नहीं हुआ तो दृष्टान्त असिद्ध माना जायगा। अतः स्वप्न के समान जाग्रत् मिथ्या है ऐसा कहना बिलकुल ठीक नहीं।

सि०—इस पर कहते हैं, ऐसा कहना ठीक नहीं। स्वप्न में देखी गयी जिन वस्तुओं को तुम अपूर्व मानते हो, वे स्वतः सिद्ध नहीं हैं, तो फिर क्या है? वे स्थानी का अपूर्व धर्म हैं। स्वप्न में स्थानी

तुल्यं सप्रयोजनत्वमित्युपाधे[3]रसंभवमाशङ्क्याऽऽह—न त्विति। अनुमानस्य सोपाधिकत्वेनाऽऽसाधकत्वे फलितमाह—तस्मादिति। हेतोः सोपाधिकत्वं दूषयति—तन्नेति। साधनव्याप्त्यादिदोषाद्वते नोपाधिनिरसनं सुशकमित्याह—कस्मादिति। फलपर्यन्तताविरहित्वोपाधेः साधनव्याप्तिमाह—यस्मादित्यादिना। तामेव विप्रतिपत्तिं प्रकटयति—जागरिते हीति। उक्तमर्थं दृष्टान्तेन स्पष्टयति—यथेत्यादिना। उपाधेः साधनव्याप्तिं निगमयति—तस्मादिति। हेतोः सोपाधिकत्वाभावे फलितमाह—अत इति। हेतुद्वयमुपसंहरति—तस्मादिति ॥७॥

दृष्टान्तस्य साध्यविकलत्वं शङ्कित्वा परिहरति—अपूर्वमिति। यथा स्वर्गनिवसनशीलानामिन्द्रादीनां सहस्राक्षत्वादिधर्मस्तथा यदिदमपूर्वंस्वप्न[4]दर्शनं मन्यसे तदपि स्थानिनः स्वप्नस्थानवतो द्रष्टुरेव धर्मः। तेन दृष्टत्वात्तस्य मिथ्यात्वसिद्धिरित्यर्थः। कथं तेनैव दृष्टत्वं तत्राऽऽह—तानयमिति। यथैवेह व्यवहार[5]भूमौ सुशिक्षितो देशान्तरप्राप्तिमार्गस्तेन मार्गेण देशान्तरं गत्वा तत्रत्यान्पदार्थान्वीक्षते तथाऽयं स्वप्नद्रष्टा स्वप्नगतान्पदार्था[6]न्यथोक्तप्रकारान्प्रतिपद्यते। [7]ततश्च स्वप्नस्य स्थानिधर्मत्वाद्रज्जुसर्पादिवन्मिथ्यात्वमित्यर्थः। श्लोकव्यावर्त्यामाशङ्कामुपन्यस्यति—स्वप्नेति। सम-

१. स्थानिधर्म इति—स्थानिनः स्वप्नस्थानवतो द्रष्टुरेव धर्मः—स्थानिनि द्रष्टरि अधिष्ठानभूतेऽध्यस्त इत्यर्थः। तथा च मिथ्यात्वमव्याहतमेवेति भावः। २. अन्येनासतेति—रज्जुभुजङ्गादिनेत्यर्थः। ३. असंभवमिति— साध्याव्यापकत्वमित्यर्थः। ४. दर्शनम्—दृश्यते इत्यर्थः। ५. भूमौ—दशायाम्। ६. यथोक्तप्रकारानिति— मृगतृष्णिकादितुल्यानित्यर्थः। ७. तत इति—नाडीस्थ द्रष्टृस्थत्वादित्यर्थः।

[1]स्वप्नवृत्तावपि त्वन्तश्चेतसा कल्पितं [2]त्वसत् । बहिश्चेतोगृहीतं सद्दृष्टं वैतथ्यमेतयोः ॥९॥

यद्यपि स्वप्न अवस्था में भी चित्त के अन्तःकल्पित पदार्थ असत् और चित्त से बाहर इन्द्रियों द्वारा गृहीत पदार्थ सत् जान पड़ता है, तथापि इन दोनोंमें मिथ्यात्त्व समानरूप से ही देखा गया है ।९।

द्रष्टुः स्वरूपवत् । तानेवंप्रकारानपूर्वान्स्वचित्तविकल्पानयं स्थानी स्वप्नदृक्स्वप्नस्थानं गत्व प्रेक्षते । यथैवेह लोके सुशिक्षितो देशान्तरमार्गस्तेन मार्गेण देशान्तरं गत्वा तान्पदार्थान्पश्यति तद्वत् । तस्माद्यथा स्थानिधर्माणां रज्जुसर्पमृगतृष्णिकादीनामसत्त्वं तथा स्वप्नदृश्यानामपूर्वाणां स्थानिधर्मत्वमेवेत्यसत्त्व-मतो न स्वप्नदृष्टान्तस्यासिद्धत्वम् ॥ ८ ॥

अपूर्वत्वाशङ्कां निराकृत्य स्वप्नदृष्टान्तस्य पुनः स्वप्नतुल्यतां जाग्रद्भेदानां प्रपञ्चयन्नाह—स्वप्न-

---

स्वप्न द्रष्टा है उसी स्वप्न स्थान वाले स्वप्नद्रष्टा का वह धर्म है। जैसे स्वर्ग निवासी इन्द्रादि के सहस्र-नेत्रादि धर्म हैं, वैसे ही स्वप्नद्रष्टा का ही यह अपूर्व धर्म है। यह स्वप्नद्रष्टा के स्वरूप के समान स्वतः-सिद्ध नहीं है। इस प्रकार अपने मन से कल्पित उन अपूर्व धर्मों को स्थायी स्वप्नद्रष्टा स्वप्न-स्थान में जाकर देखता है। जैसे इस लोक में भली प्रकार शिक्षित व्यक्ति देशदेशान्तर मार्ग के विषय में उस मार्ग से देशान्तर को प्राप्त कर उन पदार्थों को देखता है, वैसे ही यह स्वप्नद्रष्टा भी देखता है। इसलिए जैसे स्थानी धर्म के रज्जुसर्प मृगतृष्णिकादि मिथ्या हैं वैसे ही अपूर्व स्वप्नदृश्य भी स्थानी के ही धर्म हैं। अतः वे भी मिथ्या हैं। इस प्रकार स्वप्नदृष्टान्त की असिद्धि नहीं कह सकते किन्तु दृष्टान्त में मिथ्यात्व पूर्वोक्त रीति से सिद्ध ही है। भाव यह है कि जैसे जाग्रत् में रस्सी में ही भ्रान्ति से दीखने वाला सर्प, ऊसर भूमि में दीखने वाली मृगतृष्णिका है वे देशान्तरीय नहीं हैं किन्तु अधिष्ठान देश में ही हैं इसलिए वे मिथ्या माने गये हैं। वैसे ही अपूर्व भी स्वप्नदृश्य पदार्थ अधिष्ठानभूत स्वप्नद्रष्टा के ही धर्म हैं कोई अन्य नहीं। अतः उसमें मिथ्यात्व सिद्ध होने केकारण दृष्टान्तसिद्धि को आशंका सर्वथा असंगत है ।।८।।

स्वप्नपदार्थ में द्वैविध्य

स्वप्न दृष्टान्त में अपूर्वत्व की आशंका दूर हो गयी। इसलिए अब जाग्रद् के पदार्थों में स्वप्न-सादृश्य का विस्तार बतलाते हुए कहते हैं।

त्वमाद्यतवत्त्वादि । अनुमानसिद्धस्यार्थस्यानुमानदोषोक्तिमन्तरेणासत्त्वमयुक्तमिति पृच्छति—कस्मादिति । [3]व्याप्तिभूमिं दूषयन्व्याप्तिभङ्गं दोषमाह—दृष्टान्तस्येति । असिद्धत्वं प्रश्नपूर्वकं विशदयति—कथमित्यादिना । अपूर्वदर्शनमेव विवृणोति—चतुर्दन्तमिति । अन्यदपि त्रिनेत्रत्वादि । दृष्टान्तस्य साध्यविकलत्वे सिद्धे प्रागुक्तानुमानानुपपत्तिरिति फलितमाह—तस्मादिति । दृष्टान्तसिद्धिं दूषयन्ननुमानं साधयति—तन्नेति । तत्किं स्वतःसिद्धं परतो वाः । नाऽऽद्यः जडस्य तदयोगादित्याह—न तदिति । द्वितीये तन्मिथ्यात्वमित्यभिप्रेत्य प्रश्नपूर्वकमाद्यपादमवतारयति—किं तर्हीति । तद्गतान्यक्षराणि व्याकरोति—स्थानिन इति । अपूर्वस्वप्नस्य स्थानिधर्मत्वं दृष्टान्तेन साधयति—यथेत्यादिना । अपूर्वदर्शनं स्वप्नद्रष्टृधर्मोऽपि चैतन्यवत्किं न स्यादित्याशङ्क्य बाधोपलब्धेर्मैवमित्याह—न स्वत इति । उत्तरार्धं विभजते—तानित्यादिना । अपूर्वाणां स्वप्नदृश्यानां स्थानिधर्मत्वेऽपि किमायातमित्याशङ्क्याऽऽह—तस्मादिति । स्वप्न-दृष्टान्तस्य साध्यविकलत्वाभावं निगमयति—अतो नेति । पूर्वस्यापूर्वस्य वा स्वप्नदर्शनस्य स्वप्नद्रष्टृधर्मत्वेन तदविद्या-विलसितत्वाद् दृष्टान्ते साध्यसंप्रतिपत्तेस्तथैव जाग्रद्भेदानां मिथ्यात्वं युक्तमित्यर्थः ॥ ८ ॥

---

१. स्वप्नवृत्तावपीत्यादि—स्वप्नेऽपिहि द्विविधाः पदार्थाः, केचन मनोमात्रकल्पिता असत्प्रतीतिगोचराः केचन च चक्षुरादिद्वारोपलभ्यमानत्वेन प्रतीयमानाः । एवञ्च सदसद् विभागमानसत्वेऽपि स्वप्ने भावानां मिथ्यात्वमेव, तथा जागरितेऽपि मिथ्यात्वम् । २. असदिति—कामसात्ररचितमित्यर्थः । ३. व्याप्तिभूमिमिति—व्याप्तिग्रहस्थलं दृष्टान्तमिति यावत् ।

जाग्रद्वृत्तावपि त्वन्तश्चेतसा कल्पितं त्वसत् ।बहिश्चेतो गृहीतं सद्युक्तं वैतथ्यमेतयोः ॥१०॥
उभयोरपि वैतथ्यं भेदानां स्थानयोर्यदि । क एतान्बुध्यते भेदान्को वै तेषां विकल्पकः ॥११॥

[स्वप्नवत् जाग्रदवस्था में भी चित्त के भीतर कल्पित पदार्थ असत् और चित्त से बाहर गृहीत पदार्थ सत् समझा गया है। किन्तु इन दोनों में ही मिथ्यात्व मानना उचित है ॥१०॥]

[यदि दोनों ही अवस्थाओं में दीखनेवाले पदार्थों में मिथ्यात्त्व है, तो इन पदार्थों को कौन जानता है और उनकी कल्पना करता है ॥११॥]

वृत्तावपि स्वप्नस्थानेऽप्यन्तश्चेतसा मनोरथसंकल्पितमसत् । संकल्पानन्तरसमकालमेवादर्शनात्तत्रैव स्वप्ने बहिश्चेतसा गृहीतं चक्षुरादिद्वारेणोपलब्धं घटादि सदित्येवमसत्यमिति निश्चितेऽपि सदसद्विभागो दृष्टः । उभयोरप्यन्तर्बहिश्चेतःकल्पितयोर्वैतथ्यमेव दृष्टम् ॥ ९ ॥

सदसतोर्वैतथ्यं युक्तम् । अन्तर्बहिश्चेतःकल्पितत्वाविशेषादिति । व्याख्यातमन्यत् ॥१०॥

चोदकश्चाऽऽह—स्वप्नजाग्रत्स्थानयोर्भेदानां यदि वैतथ्यं क एतानन्तर्बहिश्चेतःकल्पितान्बुध्यते ।

स्वप्नवृत्ति यानी स्वप्नस्थान में भी चित्त के भीतर मनोरथ मात्र से संकल्पित वस्तु असद् मानी जाती है क्योंकि वह संकल्पक्षण में ही रहती है। दूसरे क्षण में उसका अदर्शन हो जाता है। पर वहीं स्वप्नस्थान में चित्त से बाहर नेत्र आदि इन्द्रियों द्वारा देखे गये घटादि सत् माने जाते हैं। इस प्रकार स्वप्नदृश्य मिथ्या है ऐसा निश्चित हो जाने पर भी उक्तरीति से स्वप्न के पदार्थों में सत् और असत् का विभाग देखा गया है। किन्तु चित्त से कल्पित होने के कारण वे सभी स्वप्न की बाह्यान्तर वस्तुएँ मिथ्या होती हैं ॥९॥

जाग्रत् के पदार्थ में द्वैविध्य

सत् और असत् पदार्थों का मिथ्यात्व कहना उचित नहीं है क्योंकि चित्त के भीतर हो या बाहर; कल्पितत्त्व तो दोनों में समान ही है। अतः जाग्रत् में भी नेत्र के द्वारा देखे गये बाह्य घटादि और मनोरथ मात्र से दीखने वाले मनोराज्यादि में सत्-असत् विभाग होने पर भी मनः-कल्पितत्व तुल्य होने के कारण निःसन्देह मिथ्या है। शेष अन्य पदों की व्याख्या हो चुकी ॥१०॥

मिथ्या पदार्थ का कल्पक कौन है

उक्त सिद्धान्त पर पूर्वपक्षी आक्षेप करता है। यदि स्वप्न और जाग्रत् दोनों अवस्थाओं के पदार्थों

जाग्रद् दृश्यानां मिथ्यात्वं [1]तेषु सदसद्विभागप्रतिभान [2]विरुद्धमित्याशङ्क्य दृष्टान्तेन समाधत्ते—स्वप्नवृत्ताविति । श्लोकस्य तात्पर्यार्थमाह—अपूर्वं त्वेति । स्वप्नदृष्टान्तस्यापूर्वदर्शनत्वप्रयुक्ता साध्यविकलत्वशङ्का परिहृत्येति यावत् । स्वप्नस्थाने सर्वस्य मिथ्यात्वाविशेषेऽपीत्यर्थः । असत्त्वं परमार्थसद्विलक्षणत्वेन मिथ्यात्वम् । तत्रापि तर्हि विभागप्रतिभासविरोधात्कुतो मिथ्यात्वमित्याशङ्क्य बाधाविशेषादित्याह—उभयोरिति ॥ ९ ॥

दार्ष्टान्तिकमाह—जाग्रदिति । युक्तत्वे हेतुमाह—अन्तरिति । श्लोकस्थानामक्षराणां व्याख्यानमनपेक्षितं व्याख्यातप्रायत्वादित्याह—व्याख्यातमिति ॥१०॥

सर्वमिथ्यात्वे प्रमातृप्रमाणादिव्यवहारा[3]नुपपत्त्या विशेषमाशङ्कते—उभयोरिति । कर्तृकरणव्यवस्थानुपपत्त्याऽपि विरोधोऽस्तीत्याह—को वा इति । विकल्पको निर्मातेति यावत् । श्लोकस्य चोद्यपरत्वं प्रतिजानीते—चोदक इति अक्षरयोजनया प्रथमार्थापत्तिविरोधं स्फोरयति—स्वप्नेति । चतुर्थपादमवतार्यार्थापत्त्यन्तरविरोधं स्फुटयति—को

---

१. तेष्विति—शुक्तिरूप्यघटादिष्वित्यर्थः । २. विरुद्धमिति—सदसद्विभागप्रतिभानाऽन्यथाऽनुपपत्त्याविरुद्धमित्यर्थः ।
३. अनुपपत्त्याविशेषमिति—प्रमात्रादिव्यवहाराऽन्यथाऽनुपपन्नः सन् सत्यत्वमापादयतीत्यर्थापत्तिविरोधोबोध्यः ।

कल्पयत्यात्मनाऽऽत्मानमात्मा देवः स्वमायया ।
स एव बुध्यते भेदानिति वेदान्तनिश्चयः ॥१२॥

[स्वयंप्रकाश आत्मदेव माया से अपने को ही स्वयं अनेक भेदों में कल्पना करता है और उन भेदों को वही जानता भी है। बस, यही वेदान्त का निश्चय है ॥१२॥]

को वै तेषां विकल्पकः। स्मृतिज्ञानयोः क [1]आलम्बनमित्यभिप्रायः। न चेन्निरात्मवाद इष्टः ॥११॥

स्वयं स्वमायया स्वमात्मानमात्मा देव आत्मन्येव वक्ष्यमाणं भेदाकारं कल्पयति रज्ज्वादाविव सर्पादीन्। स्वयमेव च तान्बुध्यते भेदांस्तद्वदेवेत्येवं वेदान्तनिश्चयः। नान्योऽस्ति ज्ञानस्मृत्याश्रयः। न च निरास्पदे एव [2]ज्ञानस्मृती [3]वैनाशिकानामिवेत्यभिप्रायः ॥१२॥

में मिथ्यात्व है तो चित्त के बाहर और चित्त के भीतर कल्पित पदार्थों को जानता कौन है ? और उनका कल्पक कौन है ? अभिप्राय यह है कि स्मृतिरूप स्वप्न और अनुभवरूप जाग्रत्, इन दोनों का आलम्बन कौन है ? यदि इन दोनों का आलम्बन कोई नहीं है तो नैरात्म्यवाद अभीष्ट होने लगेगा ॥११॥

स्वप्न का कल्पक और द्रष्टा आत्मा ही है

स्वयंप्रकाश आत्मदेव अपनी माया से अपने-आप में ही आगे बतलाये जाने वाले भेद-भाव की कल्पना वैसे ही करता है जैसे रज्जु में सर्प की। पर रज्जु में कल्पित सर्प का द्रष्टा अधिष्ठान से भिन्न पुरुष होता है। यहाँ तो स्वयं अपने में कल्पित स्वप्नदृश्य का देखनेवाला स्वप्नद्रष्टा ही है। वही इन कल्पित पदार्थों को देखता भी है। इस प्रकार वेदान्त का निश्चय है। इसलिये ज्ञान और स्मृति अर्थात् जाग्रत् और स्वप्न इन दोनों का आश्रय भिन्न नहीं है। और ऐसा मान लेने पर बौद्धों के समान ज्ञान और स्मरण निरास्पद न होने से हमारे सिद्धान्त में नैरात्म्यवाद की प्रसक्ति नहीं। यही इसका अभिप्राय है ॥१२॥

वै तेषामिति। कर्ता हि पूर्वानुभूतं स्मृत्वा तज्जातीयान्निर्मिमीते [4]तेन स्मृत्यनुभवाश्रया [5]क्षेपेण कर्त्राक्षेपो विवक्षितस्तथा च कर्त्रादिव्यवहारानुपपत्तिः सर्वमिथ्यात्वे दुर्वारित्यर्थः। योऽध्यात्मं प्रमाता यश्चाधिदैवं कर्तेश्वरस्तावुभावपि मिथ्येत्यङ्गीकारात्प्रमात्रादेरसत्त्वमित्याशङ्क्याऽऽह—न चेदिति। यदि प्रमाता कर्ता वा नेष्यते तर्हि नैरात्म्यमिष्टमेवाऽऽपद्यते। न च तदेष्टुं शक्यत [6]आत्मनिराकरणस्य दुष्करत्वान्निराकर्तुरेवाऽऽत्मत्वादित्यर्थः ॥११॥

कर्तृकार्यादिव्यवस्थानुपपत्तिं परिहरति—कल्पयतीति। करणान्तरं व्यवच्छिनत्ति—आत्मनेति। कर्मान्तरं व्यावर्तयति—आत्मानमिति। कर्त्रन्तरं निवारयति— [7]आत्मेति। तस्य [8]द्योतकान्तरापेक्षां प्रतिक्षिपति—देव इति। विवर्तवादं द्योतयति—स्वमाययेति। सर्वस्य मिथ्यात्वेऽपि मायया [9]विकल्पितभेदानुरोधेन कर्तृत्वादिव्यवस्था सिध्यतीति भावः। प्रमातृप्रमाणादिव्यवहारानुपपत्तिं प्रत्याह—स एवेति। एकस्मिन्नेवाद्वितीये प्रतीचि वस्तुनि काल्पनिकभेदनिबन्धना सर्वा व्यवस्थेत्यत्र प्रमाणमाह—इति वेदान्तेति। यथा घटस्रष्टा कुलालो[10]ऽधिष्ठाता मृदोऽन्यो दृष्टो न तथेहान्योऽधिष्ठाताऽस्तीत्याह—स्वयमिति। यथा तत्र मृदाख्यमुपादानमधिष्ठातुरन्यत्र धिगतं न तथाऽत्रान्यदुपादानमस्ती-

१. आलम्बनमिति—आश्रय इत्यर्थः। २. क्षणिकविज्ञानवादं विध्वंसयितुं ज्ञानस्मृतीपृथगुपादत्ते—ज्ञान स्मृतीति। अनुभवस्मृतीत्यर्थः। ३. वैनासिकानामिति—वैनासिकानां मते सर्वस्यैवज्ञानत्वान् नहि ज्ञानस्मृत्योराश्रयान्तरमिति निरास्पदत्वम्। ४. तेनेति—स्मृत्यनुभाश्रयस्व निर्मातृत्वैवेनेत्यर्थः। ५. आक्षेप इति—निषेधाभिप्रायेण प्रश्नः इत्यर्थः। ६. आत्मनिराकरणस्येति—निराकर्ता हि प्रष्टव्यस्त्वमात्मानवेति, नासौ नेति ब्रूयादनात्मत्वभियेति दुःशकमात्मनिराकरणमित्यर्थः। ७. आत्मेति—स्वयमित्यर्थ। ८. द्योतकेति—प्रकाशेत्यर्थः कुलालस्यघटनिर्माणे प्रकाशापेक्षेति शंकोत्थानम्। ९. विकल्पितेति—विरचितेत्यर्थः। १०. अधिष्ठाता—निमित्तकारणम्।

विकरोत्यपरान्भावानन्तश्चित्ते व्यवस्थितान् ।
नियतांश्च बहिश्चित्त एवं कल्पयते प्रभुः ॥१३॥

समर्थ आत्मा अपने चित्त में वासना रूप से रहे हुए अन्य लौकिक पदार्थों को नाना रूप से विकृत कर देता है। ठीक वैसे ही वहिश्चित्त होकर सभी पृथिव्यादि व्यवहारिक और कल्पनाकाल में प्रतीत होने वाले अनियत रज्जु सर्पादि की भी वैसे ही कल्पना कर लेता है ॥१३॥]

संकल्पयन्केन प्रकारेण कल्पयतीत्युच्यते। विकरोति नाना करोत्यपराल्लौकिकान्भावान्पदार्थाञ्शब्दादीनन्यांश्चान्तश्चित्ते वासनारूपेण व्यवस्थितानव्याकृतान्नियतांश्च पृथ्व्यादीननियतांश्च कल्पन(ना)कालान्वहिश्चित्तः संस्तथाऽन्तश्चित्तो मनोरथादिलक्षणानित्येवं कल्पयति। प्रभुरीश्वर आत्मेत्यर्थः।१३।

पदार्थ कल्पना का प्रकार

वह द्रष्टा आत्मा चित्त में वासनारूप से स्थित अव्याकृत लौकिकशब्दादि पदार्थों को तथा पृथिव्यादि नियतपदार्थों को बहिर्मुख होकर नाना रूपों में विकृत करता है। एवं अन्तर्मुख होकर कल्पनाकाल में ही प्रतीत होने वाले मनोरथमात्र स्वरूप पदार्थों की भी कल्पना करता है। इस प्रकार वह समर्थ ईश्वर आत्मा बाह्याभ्यन्तर सभी पदार्थों की कल्पना कर लेता है ॥१३॥

त्याह—स्वमात्मानमिति। [1]तत्र च घटं कुर्वतो भूभागो भवत्याधारो न तथेहाऽऽधारोऽन्योऽस्तीत्याह— [2]आत्मन्येवेति। परिणामवादं व्यावर्त्य विवर्तवादं प्रकटयितुं स्वमाययेत्युक्तं तत्र दृष्टान्तमाह—रज्ज्वावाविति। मायाद्वारेण चिदात्मनो जगन्निर्मातृत्वमुक्त्वा तस्यैव बुद्धिप्रतिबिम्बितस्य प्रमातृत्वमित्याह—स्वयमेव चेति। न च प्रमातृत्वस्य तात्त्विकत्वं रज्ज्वादौ सर्पादिदर्शनवदेव मिथ्यात्वनिर्धारणादित्याह—तद्वदिति। कर्त्रादिभेदस्य प्रमात्रादिभेदस्य च मिथ्यात्वे नेह नानाऽस्तीत्यादिश्रुतिं प्रमाणयति—इत्येवमिति। स एवेत्येवकारार्थमाह—नान्योऽस्तीति। यो जगत्स्रष्टा यश्च प्रमाता ततोऽन्यो ज्ञानस्य स्मृतेश्चाऽऽश्रयो नास्ति। [3]चेतनभेदे मानाभावा [4]दनुभवस्मृत्योश्चैकाश्रयत्वस्य प्रसिद्धत्वादित्यर्थः। ज्ञानस्मृत्योराश्रयापेक्षा विषयापेक्षा वा नास्तीत्याशङ्क्या [5]बाधितप्रसिद्धिविरोधान्नैवमित्याह—न चेति ॥१२॥

[6]प्रकृतायां कल्पनायां विवक्षितं क्रममुपन्यस्यति—विकरोतीति। नियतांश्चेति चकारादनियतांश्चेति विवक्ष्यते। प्रतिपित्सितक्रमप्रतिपत्त्यर्थं पृच्छति—संकल्पयन्निति। श्लोकाक्षरयोजनया बुभुत्सितं क्रमं प्रत्याय[य]ति—उच्यत इत्यादिना। अन्यांश्चेति। [7]शास्त्रीयानिति यावत्। चित्तमध्ये वासनारूपेण व्यवस्थितान्। अनभिव्यक्तनामरूपत्वेन व्यवहारायोग्यत्वमाह—अव्याकृतानिति। कल्पनाकालान्विद्युदादीनस्थिरानित्यर्थः। बहिश्चित्तो [8]बहिर्मुखो बाह्यान्व्यवहारयोग्यान्पदार्थान्कल्पयति। अन्तश्चित्तस्तु तेभ्यो व्यावृत्तबुद्धिर्मनोरथादिलक्षणानात्मन्यवस्थितान्भावान्व्यवहारायोग्यान्कल्पयित्वा पुनर्बहिर्व्यवहारयोग्यतायै कल्पयतीत्यर्थः। एतदुक्तं भवति। यथा लोके कुलालो वा तन्तुवायो वा घटंपटं वा कार्यं चिकीर्षुरादौ व्यवहारायोग्यां व्यक्तिं बुद्धावाविर्भाव्य पश्चात्तामेव बहिर्नामरूपाभ्यां [9]संपादयति तथैवायमादिकर्ताऽपि माया लक्षणे स्वचित्ते नामरूपाभ्यामव्याकृतरूपेण स्थितान्स्रष्टव्यपदार्थान्प्रथमं सिसृक्षिताकारेणान्तर्विभाव्य पश्चाद्बहिः सर्वप्रतिपत्तृसाधारणरूपेण संपादयतीति कल्पनायां क्रमाधिगतिरिति ॥१३॥

१. तत्रेति—लोके—जटादिरचनायांवेत्यर्थः। २. आत्मन्येवेति—स्वरूपावस्थित एवेत्यर्थः। ३. स्रष्टृप्रमात्रोरभेदेहेतुमाह—चेतनभेदे मानाभावादिति सृष्ट्वा प्राविशदित्यादि श्रुतिविरोधात् प्रत्यक्षाद्यमानमिति भावः। एतेन तार्किकमतं विध्वस्तम्। ४. अनुभवस्मृत्याश्रयाभेदे हेतुमाह—अनुभवेत्यादिना। अनेन विज्ञान वादी परास्तः। ५. अबाधितप्रसिद्धिः—घटमहं जानामीत्यादि रूपे त्यर्थः। ६. प्रकृतायामिति—आरब्धनिरूपणायामित्यर्थः। ७. शास्त्रीयानिति—धर्माधर्मं सुमेर्वादीनित्यर्थः। ८. बहिर्मुख इति—बहिरनात्मविषयेषु व्यापृतबुद्धिरित्यर्थः। ९. संपादयति—संपन्नां करोतीत्यर्थः।

चित्तकाला हि येऽन्तस्तु [1]द्वयकालाश्च ये बहिः । कल्पिता एव ते सर्वे [2]विशेषो नान्यहेतुकः ॥१४॥

जो आन्तरिक स्वप्न दृश्यादि पदार्थ केवल कल्पना काल में रहते हैं और जो जाग्रद् के बाह्य पदार्थ दो काल वाले हैं, वे सभी कल्पित हैं। बाह्यपदार्थों में द्विकालिकत्वरूप विशेष भी कल्पना के कारण से ही है, अन्य कारण से नहीं ॥१४॥]

स्वप्नवच्चित्तपरिकल्पितं सर्वमित्येतदाशङ्क्यते। यस्माच्चित्तपरिकल्पितैर्मनोरथादिलक्षणैश्चित्तपरिच्छेद्यैर्वैलक्षण्यं बाह्यानामन्योन्यपरिच्छेद्यत्वमिति सा न युक्ताऽऽशङ्का। [3]चित्तकाला हि येऽन्तस्तु चित्तपरिच्छेद्याः। नान्यश्चित्तकालव्यतिरेकेण परिच्छेदकः कालो येषां ते चित्तकालाः। कल्पनाकाल एवोपलभ्यन्त इत्यर्थः। द्वयकालाश्च भेदकाला [4]अन्योन्यपरिच्छेद्याः। यथाऽऽगोदोहनमास्ते यावदास्ते

सभी बाह्याभ्यन्तर पदार्थ मिथ्या हैं

पूर्वपक्ष—स्वप्न के समान ही चित्त परिकल्पित सभी वस्तुएँ हैं। इस बात को सुनकर पूर्वपक्षी आशंका करता है—क्योंकि केवल चित्त से कल्पित और चित्त से ही जानने योग्य मनोराज्य की अपेक्षा बाह्य पदार्थों में विलक्षणता है। ये बाह्य पदार्थ तो अन्योन्य परिच्छेद्य हैं। क्योंकि "सोऽयं घटः" इत्यादि रूप से बाह्यवस्तु की प्रत्यभिज्ञा भी होती है। अतः स्वप्न के समान इसे मिथ्या कहना सर्वथा असंगत है।

सिद्धान्त—उक्त शंका ठीक नहीं। क्योंकि जो आन्तरिक पदार्थ केवल चित्त से जानने योग्य हैं वे चित्तकाल माने गये हैं अर्थात् जिनका बोध केवल कल्पना काल में ही होता है अन्यकाल में नहीं, इन्हें चित्तकाल कहा गया है। और बाह्य पदार्थ तो दो काल वाले हैं, जब हम उन्हें देखते हैं तब भी, और जब नहीं देखते हैं तब भी। इसीलिए इन्हें अन्योन्यपरिच्छेद्य कहा गया है। जैसे "गोदोहन पर्यन्त बैठता है" अर्थात् जब तक गो दुहता है तब तक बैठता है और जब तक बैठता है तब तक

कल्पितानां कल्पनाकालादन्यस्मिन्काले सत्त्वाभावाज्जाग्रद्भावानां च कल्पनाकालात्कालान्तरेऽपि प्रत्यभिज्ञया सत्त्वावगमादनुपपन्नं तेषां मिथ्यात्वमित्याशङ्क्याऽऽह—चित्तेति। ये कल्पनाकालभाविनो भावा मनस्यन्तर्वर्तन्ते ये च प्रत्यभिज्ञायमानत्वेन पूर्वापरकालभाविनो बहिरेव व्यवहारयोग्या दृश्यन्ते ते सर्वे कल्पिताः सन्तो मिथ्यैव भवितुमर्हन्ति। प्रत्यभिज्ञायमानत्वलक्षणो विशेषस्तु [5]नाकल्पितत्वप्रयुक्तः। कल्पितेऽपि तद्दर्शनादित्यर्थः। श्लोकव्यावर्त्यामाशङ्कां दर्शयति—स्वप्नवदिति। यथा स्वप्ने दृश्यमानं सर्वं कल्पितं मिथ्यैवेष्यते तथा जागरितेऽपि दृष्टं सर्वं [6]चित्तस्पन्दितं तेन कल्पितं मिथ्यैवेत्येतच्चाद्यापि निर्धारितमित्यत्र हेतुमाह—यस्मादिति। आत्माविद्या [7]विवर्तेन [8]चित्तेन तावदन्तर्विनिर्मिता मनोरथरूपा मनस्यन्तर्वर्तमाना वही रज्जुसर्पादयश्च ते चित्तेनैव परिच्छिद्यन्ते। ते हि कल्पनाकालमात्रभाविनो न प्रतीयन्ते। तैः सह वैलक्षण्यं मनसो बहिर्जाग्रद्दृश्यमानानां भावानामन्योन्यपरिच्छेद्यत्वं कालद्वयावच्छिन्नत्वेन प्रत्यभिज्ञागोचरत्वमिति यस्मादुपलभ्यते तस्मादयुक्तं जागरितस्य स्वप्नवन्मिथ्यात्वमित्यर्थः। श्लोकाक्षरैरुत्तरमाह—सा नेति। ये मनस्यन्तर्मनोरथरूपा भावास्ते चित्तकाला भवन्तीत्यन्न चित्तकालत्वं नि दर्शयति—चित्तेत्यादिना। वाच्यार्थ-

१. द्वयकाला इति—कालयोर्द्वयं द्वयकालस्ततोऽश आद्यचि, कालद्वयवन्त इत्यर्थः। २. विशेषः—प्रत्यभिज्ञाविषयस्वरूपो विशेषः। ३. चित्तेति—चित्तं कल्पनातत्परिच्छेद्यैस्तत्समकालीनैरित्यर्थः। ४. अन्योन्यपरिच्छेद्यत्वमिति—कल्पितत्त्वे हि यदा कल्पना तदाऽऽस्ते दोग्धिवेत्येव स्यान्नत्वासनदोहनयोर्मिथोऽवच्छेद्यादिभावः स्यान्न च सहकल्पितत्वादेव तथात्वमिति शक्यं कल्पयितुम्, तथा सति यदा कल्पना तदोभयमित्यस्यैव न्याय्यत्वादित्यभिप्रायः। ५. नाकल्पितत्वप्रयुक्त इति—तथा कल्पितानां तथाप्रतिभानात् कल्पनैव तत्र मूलं न सत्यत्वमिति भावः। ६. चित्तस्पन्दितमित्येतद् व्याचष्टे—तेन कल्पतमिति चित्तेन कल्पितमित्यर्थः। ७. विवर्तेनेति—परिणामेनेत्यर्थः। ८. चित्तेनेति—ननु पूर्वमात्मन एव कल्पकत्वमुक्तम्, "कल्पयत्यात्मनात्मानमि", तीह पुनश्चित्तस्य तदुच्यते इति पूर्वापरविरोध इत्यपनेतुमाशङ्कामात्माविद्याविवर्तत्वं चित्तविशेषम्, तथा च परम्परयात्मनैव तदिति तत्परिहारः।

अव्यक्ता एव येऽन्तस्तु स्फुटा एव च ये बहिः। कल्पिता एव ते सर्वे विशेषस्त्विन्द्रियान्तरे ॥१५॥

[वासनामात्रजन्य जो स्वप्नदृश्यादि आन्तरिक पदार्थ हैं, वे अव्यक्त ही हैं और जो बाह्य है वे चक्षुरादि इन्द्रियों से स्पष्ट प्रतीत होने वाले हैं, फिर भी वे सभी कल्पित ही हैं। उनकी विशेषता तो केवल इन्द्रियों के कारण से है अर्थात् एक इन्द्रियों से दूसरे इन्द्रियों के विना ही प्रतीत होते हैं ॥१५॥]

तावद् गां दोग्धि यावद् गां दोग्धि तावदास्ते। तावानयमेतावान्स इति परस्परपरिच्छेद्यपरिच्छेदकत्वं बाह्यानां भेदानां ते द्वयकालाः। अन्तश्चित्तकाला बाह्याश्च द्वयकालाः कल्पिता एव ते सर्वे। न बाह्यो द्वयकालत्वविशेषः कल्पितत्वव्यतिरेकेणान्यहेतुकः। अत्रापि हि स्वप्नदृष्टान्तो भवत्येव ॥१४॥

यदप्यन्तरव्यक्तत्वं भावानां मनोवासनमात्राभिव्यक्तानां स्फुटत्वं वा बहिश्चक्षुरादी[1]न्द्रियान्तरे विशेषो नासौ भेदानामस्तित्वकृतः स्वप्नेऽपि तथा दर्शनात्। किं तर्हीन्द्रियान्तरकृत एव। अतः कल्पिता एव जाग्रद्भावा अपि स्वप्नभाववदिति सिद्धम् ॥१५॥

गो दुहता है। उतने समय तक यह रहता है और उतने समय तक वह रहता है इस प्रकार गो दोहन और उसका आसन एक दूसरे के परिच्छेदक हैं। ऐसे ही जाग्रत् के दृश्य पर और अपर दोनों कालों से परिच्छिन्न माने गये हैं। इसीलिए बाह्य वस्तुओं में परस्पर परिच्छेद्य-परिच्छेदक भाव है। अतः वे दो काल वाले हैं। इसके विपरीत आभ्यन्तर पदार्थ केवल चित्त काल में ही रहते हैं। फिर भी ये चित्त काल वाले आभ्यन्तर पदार्थ और दो काल वाले बाह्य पदार्थ सभी कल्पित ही तो हैं। बाह्य पदार्थों में द्विकालिकत्वरूप ही तो विशेषता है वह कल्पना के सिवा और कुछ भी नहीं। उनमें द्विकालिकत्व भी तो कल्पना के कारण से ही है। इस विषय में भी स्वप्नदृष्टान्त दृष्टान्त बन ही जाता है। क्यों कि स्वप्न में भी बाह्य और आभ्यन्तर पदार्थ होते हैं, कुछ मनोरथ मात्र होते हैं और कुछ बाह्य इन्द्रियों से दिखाई पड़ते हैं। फिर भी कल्पितत्व की समानता होने से दोनों ही मिथ्या माने गये हैं। वैसे ही जाग्रत् के द्विविध पदार्थों में भी समझना चाहिये ॥१४॥

बाह्याभ्यन्तर पदार्थों में भेद का कारण केवल इन्द्रियाँ हैं। मन के वासना मात्र से प्रकट होने वाले पदार्थों का जो अन्तःकरण में अव्यक्तत्व है और बाह्य-चक्षुरादि अन्य इन्द्रियों से उपलब्ध होने के कारण बाह्य वस्तु में जो व्यक्तत्व है, उसका यह भेद पदार्थों के अस्तित्व के कारण से नहीं है।

मुक्त्वा विवक्षितार्थमाह—कल्पनेति। द्वितीयपादमवतार्य व्याकरोति—द्वयेति। ये मनसो बहिरुपलभ्यन्ते ते भेदकालाः कालस्य भेदो भेदकालः। स येषां ते तथेति व्युत्पत्तेः। ततश्चान्येन पूर्वेणान्येन चापरेण परिच्छेद्या भिन्नकालावच्छिन्नत्वेन प्रत्यभिज्ञायमाना इत्यर्थः। प्रत्यभिज्ञायमानत्वमुदाहरणनिष्ठतया स्फुटयति—यथेति। आगोदोहनं गोदोहनपर्यन्तमास्ते देवदत्तस्तिष्ठती[2]ति प्रत्यभिज्ञा शेषत्वेनाभिज्ञोदाहरणीया। यावता कालेनावच्छिन्नो वर्तते तावता कालेनावच्छिन्नो गोदोहनं निर्वर्तयतीत्यनेककालावस्थायित्वेन प्रत्यभिज्ञाविषयत्वं तस्य दर्शयति—यावदिति। यावता कालेनायं घटोऽर्थक्रियां निर्वर्तयितुं शक्नोति तावता कालेनावच्छिन्नः सन्नेव तिष्ठतीत्युदाहरणान्तरमाह—तावानिति। परोक्षतया स्थितो यावता कालेनावच्छिन्नः स्वकार्यं निर्वर्त्य तिष्ठतीति तावता कालेनावच्छिन्नः स तिष्ठतीत्यपरमुदाहरणमाह—एतावानिति। उक्तेन न्यायेन परेणापरेण च कालेन परिच्छेद्यत्वं जाग्रद्दृश्यानां भावानामुपलभ्यते कालद्वयस्य च परिच्छेदकत्वम्। तथा च ते सर्वे भावा बहिर्दृश्यमाना द्वयकालेन कालद्वयेन परिच्छेद्या भवन्तीत्यर्थः। तृतीयपादं व्याचष्टे—अन्तरिति। चतुर्थपादार्थमाह—नेत्यादिना। बाह्यो जाग्रद्दृश्येषु बाह्यपदार्थेषु व्यवस्थितो द्वयकालत्वेन कालद्वयावच्छेदेन कृतः प्रत्यभिज्ञायमानत्वरूपो विशेषोऽन्यहेतुको न भवति। कल्पितेऽपि तथाविधविशेषसंभवादित्यत्र दृष्टान्तमाह—अत्रापि हीति। यद्यपि सर्वं जाग्रद्भेदजातं कल्पितं तथाऽपि तत्र यथोक्तो विशेषः स्फुटः सिध्यति स्वप्ने सर्वस्य भेदजातस्य कल्पितत्वेऽपि प्रत्यभिज्ञायमानत्वाज्जागरितेऽपि तदुपपत्तेरित्यर्थः ॥ १४ ॥

---

१. निमित्तसप्तमीमाश्रित्याह—इन्द्रियान्तरकृत इति। २. इतीति—इत्येवेत्यर्थः, अभिज्ञेत्यन्वयः।

जीवं कल्पयते पूर्वं ततो भावान्पृथग्विधान् । बाह्यानाध्यात्मिकांश्चैव यथाविद्यस्तथास्मृतिः ॥१६॥

[(शुद्ध आत्मा में वह प्रभु) पहले कर्तृत्वादि विशिष्ट जीव की कल्पना करता है, तत्पश्चात् भिन्न-भिन्न प्रकार के बाह्य और आध्यात्मिक पदार्थों की कल्पना करता है। जीव जैसा विचारवाला होता है वैसी ही उसकी स्मृति भी होती है ॥१६॥]

बाह्याध्यात्मिकानां भावानामितरेतरनिमित्तनैमित्तिकतया कल्पनायां किं मूलमिति। उच्यते। जीवं [1]हेतुफलात्मकम्। अहंकरोमि ममसुखदुःखे इत्येवंलक्षणम्। अनेवंलक्षण एव शुद्ध आत्मनि रज्ज्वामिव सर्पं कल्पयते पूर्वम्। ततस्तादर्थ्येन क्रियाकारकफलभेदेन प्राणादीन्नानाविधान्भावान्बाह्यानाध्यात्मिकांश्चैव कल्पयते। तत्र कल्पनायां को हेतुरित्युच्यते। योऽसौ स्वयं कल्पितो जीवः सर्वकल्पनाया-

अर्थात् बाह्याभ्यन्तर जाग्रत के पदार्थों के अस्तित्व के कारण से नहीं है। बाह्याभ्यन्तर जाग्रत के पदार्थों में अव्यक्तत्व और व्यक्तत्व भेद पदार्थ सत्ता का भेदक नहीं हो सकता। क्योंकि स्वप्न में भी ऐसा ही देखा गया है। स्वप्न पदार्थ में कल्पितत्व समान रहने पर भी बाह्याभ्यन्तर भाव देखा गया है। तो भला इस भेद का कारण क्या है? यह भेद तो इन्द्रियों के कारण से ही है अर्थात् एक केवल चित्त से देखा गया दूसरा चक्षुरादि बाह्य-इन्द्रियों से देखा गया; कल्पितत्व तो दोनों में समान ही है अतः यह सिद्ध हो गया कि स्वप्न पदार्थ के समान जाग्रत् के पदार्थ भी कल्पित ही हैं ॥१५॥

पदार्थ कल्पना से पूर्व जीव की कल्पना

पूर्वपक्ष—बाह्य और आभ्यन्तर पदार्थों की परस्पर निमित्त और नैमित्तिक रूप से कल्पना होने में कारण क्या है? अर्थात् बाह्य वस्तु के कारण संस्कार पड़ता है और संस्कार से पुनः आभ्यन्तर पदार्थ की कल्पना होती है। उसी कल्पना से पुनः बाह्यपदार्थों में पारमार्थिकत्व दीखने लग जाता है। ऐसा होने में मूलकारण क्या है?

स्वप्नजागरितयोरुभयोरपि मिथ्यात्वे स्फुटास्फुटावभासविभागानुपपत्तेर्नाविशेषेण मिथ्यात्वमित्याशङ्क्याऽऽह—अव्यक्ता इति। ये मनस्यन्तर्भावनारूपत्वादस्फुटा ये च मनसो बहिरुपलभ्यमानाः स्फुटा भवन्ति ते सर्वे [2]मनःस्पन्दनमात्रत्वेन कल्पिताः मिथ्यैव अन्तर्बहिरिन्द्रियभेदनिमित्तः स्फुटत्वास्फुटत्वविशेषः। न मिथ्यात्वममिथ्यात्वं वा तत्रोपयुज्यते। मिथ्याभूतेष्वपि [3]तद्दर्शनादित्यर्थः। श्लोकाक्षराणि व्याकरोति—यदपीत्यादिना। मनस्यन्तर्मनोरथरूपाणां भावानामव्यक्तत्वमस्फुटत्वम्। तत्र हेतुमाह—मन इति। चक्षुरादिग्राह्यत्वेन मनसो बहिर्भावानां स्फुटत्वं दृष्टं तदेषाममिथ्यात्वकृतमिति शङ्कां वारयति—नासाविति। सर्वसंप्रतिपन्नमिथ्यात्वेऽपि [4]स्वप्ने स्फुटत्वास्फुटत्वविशेषप्रतिभानाचासौ विशेषो मिथ्यात्वममिथ्यात्वं वा [5]प्रयोजयितुं प्रभवतीत्याह—स्वप्नेऽपीति। अयं विशेषस्तर्हि केन सिध्यतीत्याशङ्क्य चतुर्थपादार्थमाह—किं तर्हीति। [6]मनोमात्रसंबन्धादन्तर्भावानां वासनामात्ररूपाणामस्फुटत्वम्। बहिर्भावानां तु चक्षुरादिबहिरिन्द्रियसंबन्धप्रयुक्तं स्फुटत्वं तदेव विशेषो मिथ्यात्वाविशेषेऽपि सिध्यतीत्यर्थः। स्फुटत्वास्फुटत्वप्रतिभासभेदस्य मिथ्यात्वेऽपि संभवात्प्राकृतमनुमानमविरुद्धमित्युपसंहरति—अत इति ॥१५॥

भवतु सर्वस्य कल्पितत्वम्। सा पुनः सर्वकल्पना केन द्वारेणेत्याशङ्क्याऽऽह—जीवमिति। आत्मा हि सर्वं मायावशेन कल्पयन्नादौ [7]विशिष्टरूपेण जीवं कल्पयति। (तत इति) तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशदिति तै० २।६ श्रुतेः स्वयमेव जीवभावमापद्यते। तद्द्वारेण पुनर्नानाविधान्भावान्निर्मिमीते। ज्ञानस्मृति [8]वैषम्यात्सत्कल्प्येषु भावेषु वैषम्यो-

१. हेतुफलात्मकमिति—कर्तृत्वाध्यासाधिष्ठानी सन् हेतु भोक्तृत्वाध्यासाधिष्ठानी संश्च फलमात्मैवेत्यर्थः। २. अन्तरमिन्द्रिय मनः। ३. तद्दर्शनादिति—स्फुटत्वास्फुटत्वदर्शनादित्यर्थः। ४. स्वप्नेऽपि मनोरथिका अस्फुटमवभासन्ते बाह्यास्त्रस्फुटमिति। ५. प्रयोजयितुमिति—प्रयोजकी कर्तुं साधयितुमिति वार्थः। ६. मनोमात्रसम्बन्धादित्यादि—मनसास्मर्यमाणस्य देवदत्तस्यास्फुटत्वं चक्षुषादृश्यमानस्य तु स्फुटमिति प्रसिद्धमेवेति भाव। ७. शुद्धरूपेण परमार्थत्वादाह—विशिष्टरूपेणेति। ८. वैषम्यात्—वैलक्षण्यादित्यर्थः।

अनिश्चिता यथा रज्जुरन्धकारे विकल्पिता।
सर्पधारादिभिर्भावैस्तद्वदात्मा विकल्पितः ॥१७॥

[जैसे (लोक में अपने रूप से) निश्चित न की गयी रज्जु अंधकार में सर्प, जलधारा तथा दण्डादि भावों से कल्पना की जाती है, वैसे ही आत्मा भी अनेक प्रकार से विकल्पका विषय बन रहा है ॥१७॥]

मधिकृतः स यथाविधो यादृशी विद्या विज्ञानमस्येति यथाविद्यस्तथाविधैव स्मृतिस्तस्येति तथास्मृतिर्भवति स इति। अतो हेतुकल्पनाविज्ञानात्फलविज्ञानं ततो हेतुफलस्मृतिस्ततस्तद्विज्ञानं [1]तदर्थक्रियाकारकतत्फलभेदविज्ञानानि तेभ्यस्तत्स्मृतिस्तत्स्मृतेश्च पुनस्तद्विज्ञानानीत्येवं बाह्यानाध्यात्मिकांश्चेतरेतरनिमित्तनैमित्तिकभावेनानेकधा कल्पयते ॥१६॥

तत्र जीवकल्पना सर्वकल्पनामूलमित्युक्तं सैव जीवकल्पना किंनिमित्तेति दृष्टान्तेन प्रतिपादयति—यथा लोके स्वेन रूपेणानिश्चिताऽनवधारितैवमेवेति रज्जुर्मन्दान्धकारे किं सर्प उदकधारा दण्ड इति वाऽनेकधा विकल्पिता भवति पूर्वं स्वरूपानिश्चय [2]निमित्तम्। यदि हि पूर्वमेव रज्जुः स्वरूपेण निश्चिता

सिद्धान्त—इस पर कहते हैं। "मैं कर्त्ता हूँ, मुझे सुख-दुख होता है" इस पर कर्तृत्व रूप हेतु और सुख दुःख रूप फल उभयभाव से परिवेष्टित जीव की कल्पना इससे विपरीत शुद्ध आत्मा में वैसे ही होती है जैसे रस्सी में सर्प की कल्पना होती है। फिर उसके लिए क्रिया-कारक-फलभेद प्राणादि नाना प्रकार के बाह्य और आभ्यन्तर पदार्थों की कल्पना करते हैं। आपने पूछा कि उस कल्पना में कारण क्या है? तो इसका उत्तर दे रहे हैं।

सम्पूर्ण कल्पनाओं का अधिकारी वह जीव ही है जो कि स्वयं कल्पित है। वह जैसे चिन्तन वाला और जैसे विज्ञान वाला होता है, वैसे ही उसे स्मृति हुआ करती है। इस प्रकार अन्नभक्षणादि के कारण अन्नभक्षण की कल्पना के विज्ञान से तृप्ति आदि फल का विज्ञान होता है और उस फलविज्ञान से दूसरे दिन तृप्ति के हेतु अन्न-भक्षणादि विज्ञान का स्मरण हो आता है। उसी स्मृति से उनका विज्ञान तथा अन्नभक्षणादि के लिए पाकादि कर्म कारक एवं उनकी तृप्ति आदि फल विशेष का ज्ञान होता रहता है। उससे पुनः उन्हीं वस्तुओं का स्मरण होता है और इस स्मरण से उनके कारण विज्ञान उत्पन्न होता है। इस प्रकार यह बेचारा जीव बाह्य और आन्तरिक पदार्थों की परस्पर निमित्त और नैमित्तिक भाव से अनेकविध कल्पना करता रहता है ॥१६॥

जीव कल्पना का कारण भी अज्ञान ही है।

पूर्वपक्ष—सम्पूर्ण कल्पनाओं का मूल कारण जीव कल्पना है। यही आपने पूर्व कारिका में बतलाया। पर जीव कल्पना का कारण क्या है?

पर्पालिरित्यर्थः। श्लोकव्यावर्त्यं प्रश्नमुत्थापयति—बाह्येति। पदार्थाः साध्यसाधनतया स्थिता बाह्याः सुखं दुःखं ज्ञानं रागद्वेषौ एवमादयस्त्वाध्यात्मिकास्तेषां परस्परं निमित्तनैमित्तिकताऽस्ति। बाह्यान्निमित्तीकृत्याऽध्यात्मिका भवन्ति। तानपि निमित्तीकृत्येतरे जायन्ते। तदेवमितरेतरनिमित्ततया नैमित्तिकतया च कल्पनायां मूलं वक्तव्यम्। निर्मूलकल्पनाया [3]मतिप्रसङ्गादित्यर्थः। श्लोकाक्षरयोजनया परिहरति—उच्यत इति। हेतुफलात्मकमित्युक्तमेव व्यनक्ति—अहमिति। हेतुफलभावविकलं परिशुद्धमात्मरूपं जीवकल्पनाधिष्ठानं दर्शयति—अनेनैवमिति (?)। आरोपस्याधिष्ठानापेक्षाऽस्तीत्यत्र दृष्टान्तमाह—रज्ज्वामिवेति। द्वितीयतृतीयपादौ विभजते—तत इति। तादर्थ्येन प्रथमं कल्पितस्य भोक्तुर्जीवस्य शेषत्वेनेत्यर्थः। यद्यपि जीवः सर्वकल्पनायां मूलभूतो हेतुस्तथाऽपि तस्य कल्पनाविशेषो विशेषहेतुव्यतिरेकेण न संभवतीति शङ्कते—तत्रेति। चतुर्थपादेनोत्तरमाह—उच्यत इति। कल्पितो विशिष्टरूपेणेति शेषः। अधिकृतः स्वामित्वेन सम्बद्धः

१. तदर्थक्रियेति—तृप्त्यादिफलार्थं पाकादिक्रियेत्यर्थः इति स्पष्ट टीकायाम्। २. निमित्तमिति—निमित्तादित्यर्थः "निमित्त पर्याय प्रयोगे सर्वासां प्रायदर्शनमिति" न्यायात् ॥ ३. अतिप्रसङ्गादिति—खपुष्पादाविति भावः।

निश्चितायां यथा रज्ज्वां विकल्पो विनिवर्तते ।
रज्जुरेवेति चाद्वैतं तद्वदात्मविनिश्चयः ॥१८॥

[यह रज्जु ही है, इस प्रकार रज्जु के निश्चय हो जाने पर जैसे उसमें सर्पादि विकल्प सर्वथा मिट जाता है और केवल रज्जु का निश्चय होता है वैसे ही आत्मा का निश्चय संपूर्ण कर्तृत्वादि विकल्प को समाप्त कर देता है ॥१८॥]

स्यात् । न सर्पादिविकल्पोऽभविष्यत् । यथा स्वहस्ताङ्गुल्यादिषु एष दृष्टान्तः । तद्वद्धेतुफलादिसंसारधर्मानर्थविलक्षणतयो स्वेन विशुद्धविज्ञप्तिमात्रसत्ताद्वयरूपेणानिश्चितत्वाज्जीवप्राणाद्यनन्तभावभेदैरात्मा विकल्पित इत्येष सर्वोपनिषदां सिद्धान्तः ॥१७॥

रज्जुरेवेति निश्चये सर्वविकल्पनिवृत्तौ रज्जुरेवेति चाद्वैतं यथा तथा "नेति नेति (बृ० ४।४।२२) इति सर्वसंसारधर्मशून्यप्रतिपादकशास्त्रजनितविज्ञानसूर्यालोककृतात्मविनिश्चयः "आत्मैवेदं सर्वम्"

सिद्धान्त—उसका उत्तर दृष्टान्त से देते हैं। जैसे लोक में अपने स्वरूप से "यह रज्जु है" इस प्रकार निश्चित नहीं होने पर वही रज्जु मन्द अन्धकार में सर्प, जलधारा, दण्ड, भूछिद्र आदि अनेक प्रकार से विकल्पित हो जाती है क्योंकि इस कल्पना से पूर्व इसके स्वरूप का निश्चय नहीं हो सका था। यदि पहले से रज्जु का स्वरूप निश्चित हो गया होता तो सर्पादि विकल्प सर्वथा नहीं होते। जैसे अपने हाथ की अंगुली में कभी भी विकल्प नहीं होता। यह एक ज्वलन्त उदाहरण है। वैसे ही हेतु फल भावादि सांसारिक धर्मरूप अनर्थ से विलक्षण स्वरूपतः विशुद्ध चैतन्य अद्वितीय सत्तामात्र जो ब्रह्म है, उसका स्वरूप से निश्चय न होने के कारण ही जीव एवं प्राणादि अनन्त भेद वाले पदार्थों की कल्पना होने लग जाती है। इन सभी भेदों से वह आत्मा ही विकल्पित हो रहा है। तात्पर्य यह है कि अधिष्ठान तत्त्व का अज्ञान ही अधिष्ठान के नाना रूप विकल्पितत्व होने में एक मात्र कारण देखा गया है। बस यही उपनिषदों का सिद्धान्त है ॥१७॥

ज्ञान की निवृत्ति अधिष्ठान आत्मज्ञान से होती है।

'यह रज्जु ही है' ऐसा निश्चय होने पर जैसे सर्पादि विकल्प की निवृत्ति हो जाती है, वैसे ही 'सम्पूर्ण विश्व अद्वितीय आत्मा ही है' इस प्रकार निश्चय हो जाने पर 'यह नहीं, यह नहीं' इत्यादि

इत्यर्थः । इतिशब्दः श्लोकाक्षरयोजनासमाप्तिद्योतनार्थः । प्रकृतकल्पनामेव प्रपञ्चयति—अत इत्यादिना । सत्यन्नपानाद्युपयोगे तृप्त्यादि भवति । असति न भवतीत्यन्वयव्यतिरेकरूपान्यायाद्भोजनादिकं हेतुरिति कल्पनाविज्ञानमुत्पद्यते । ततस्तृप्त्यादिकं फलमिति कल्पनाविज्ञानं जायते । ततोऽपरेद्युरुक्तयोरुभयोरपि हेतुफलयोः स्मृतिरुद्भवति ततश्च फलसाधनसमानजातीये कर्तव्यताविज्ञानम् । ततश्चाभिलषिततृप्त्यादिफलार्थत्वेन पाकादिक्रिया तत्कारकं तण्डुलादि तत्फलान्ननिष्पत्त्यादीनि [1]विशेषविज्ञानादीनि भवन्ति । ततो हेत्वादिस्मृतिः । ततस्तदनुष्ठानं ततश्च फलम् । इत्यनेन क्रमेण मिथो हेतुहेतुमत्तया कल्पना भवतीत्यर्थः । प्रकृतां कल्पनामुपसंहरति—एवमिति ॥१६॥

इदानीं जीवकल्पनानिमित्तं निरूपयति—अनिश्चितेति । श्लोकस्य तात्पर्यं दर्शयितुं वृत्तं कीर्तयति—तत्रेति । पूर्वश्लोकः सप्तम्यर्थः । जीवकल्पनाया [2]नित्यत्वायोगात्सनिमित्तत्वस्य वक्तव्यत्वात्तस्य च वस्तुत्वे निवृत्त्यनुपपत्तेः । अवस्तुत्वे च निमित्तत्वासिद्धेर्जीवकल्पनाया [3]दुर्घटत्वात्तत्कार्यभूताऽपि कल्पना [4]नावकल्प्यत इत्याशङ्क्ते—सैवेति । उत्तरत्वेन श्लोकाक्षराण्यवतार्य व्याचष्टे—दृष्टान्तेनेति । स्वप्नसाधारणं रूपं रज्जुत्वं तेनेति यावत् । अनवधारितत्वमेव स्फोरयति—एवमैवेति । रज्जुरेवेयमित्यनेन प्रकारेणेत्यर्थः । उक्तावधारणाराहित्ये कारणं सूचयति—मन्देति । पूर्वं

१. विशेषविज्ञानानीति—तत्कालादिविषयाणीत्यर्थः । २. नित्यत्वायोगादिति—नित्यत्वे हि निर्मोक्ष प्रसङ्ग—मोक्षाभाव इत्यर्थः । ३. दुर्घटत्वात्—दुरुपपादत्वादित्यर्थः । ४. अवकल्प्यते—अवकल्पते इति युक्तम् ।

प्राणादिभिरनन्तैश्च भावैरेतैर्विकल्पितः । मायैषा तस्य देवस्य यया संमोहितः स्वयम् ॥१९॥

[(आगे कहे जाने वाले) जो इन प्राणादि अनन्त पदार्थों के रूप से विकल्प के विषय बन रहे हैं, वह यह उस आत्मदेव की माया ही है। जिससे वह स्वयं भी मोहित हुए के समान मोह ग्रस्त हो रहा है ॥१९॥]

(छा० ७।२५।२) "अपूर्वोऽनपरोऽनन्तरोऽबाह्यः" (बृ० २।५।१६) "सबाह्याभ्यान्तरो ह्यजः" (मु० २।१।२) "अजरोऽमरोऽमृतोऽभय एक एवाद्वयः" (बृ० ४।४।२५) इति ॥१८॥

यद्यात्मैक एवेति निश्चयः कथं प्राणादिभिरनन्तैर्भावैरेतैः संसारलक्षणैर्विकल्पित इति । उच्यते शृणु मायैषा तस्याऽऽत्मनो देवस्य । यथा मायाविना विहिता माया गगनमतिविमलं कुसुमितैः सपलाशैस्तरुभिराकीर्णमिव करोति तथेयमपि देवस्य माया यथाऽयं स्वयमपि मोहित इव मोहितो भवति । मम माया दुरत्यया" गी० ७।१४ इत्युक्तम् ॥१९॥

श्रुतियों से सम्पूर्ण संसार भ्रमशून्यत्व के बोधक औपनिषदविज्ञानरूप सूर्य के प्रकाश से आत्मा का निश्चय हो जाता है। एवं 'यह सब आत्मा ही है', 'वह कार्य कारण से रहित बाह्य आभ्यन्तर भाव से शून्य है' 'बाहर भीतर सभी दृष्टियों से अजन्मा आत्मा ही तो है', 'वह जरारहित, मृत्युरहित अमृत एवं अभयरूप है', 'वह एक अद्वैत ही है' इत्यादि सभी श्रुतिवाक्यों से अधिष्ठानतत्त्व का बोध होता । यह बोध ही अधिष्ठान, अज्ञान एवं तज्जन्य निखिल भ्रान्ति का निवर्तक है ॥१८॥

समस्त विकल्पों का कारण माया ही है।

पूर्वपक्ष—'आत्मा एक ही है' यह बात यदि सुनिश्चित है तो भला इन प्राणादि संसाररूप अनेक भावों से विकल्प कैसे हो रहा है ऐसी स्थिति में तो केवल एक अद्वितीय आत्मा का भान होना चाहिये था।

सिद्धान्त पक्ष—इस पर सिद्धान्ती कहता है। उस आत्मदेव की यह माया ही सम्पूर्ण विकल्पों का एकमात्र कारण है। जैसे मायावी द्वारा की गई माया अत्यन्त स्वच्छ आकाश को पत्र पुष्प से पूर्ण वृक्षों के द्वारा व्याप्त कर देती है, वैसे ही यह भी आत्मदेव की माया ही है, जिससे कि यह स्वयं भी मोहित हुआ सा प्रतीत हो रहा है। ऐसी उस आत्मदेव की माया दूरत्यय है। इसलिए गीता में भी कहा है कि 'मेरी माया का पार पाना अत्यन्त कठिन है। इस वाक्य से माया को ही मोह का हेतु भगवान् ने बतलाया है ॥१९॥

रज्जुस्वरूपनिश्चयात्प्रागवस्थायामित्यर्थः । सर्पादिकल्पनायामन्वयव्यतिरेकसिद्धमुपादानमुपन्यस्यति—स्वरूपेति । एतदेव व्यतिरेकद्वारा विवृणोति—यदि हीति । देवदत्तस्य हस्ताद्यवयवेषु तद्रूपेणैव निश्चितेषु सर्पादिविकल्पो यथा नोपलभ्यते तथा पुरोवर्तिन्यपि रज्जुस्वरूपेण निश्चिते नासौ युक्तस्तथा च रज्ज्वज्ञानादेव स भवतीत्यर्थः । उपपादितं दृष्टान्तमनूद्य दार्ष्टान्तिकमभिदधानश्चतुर्थपादार्थमाह—एष इति । हेतुफलादीत्यादि[illegible] कर्तृत्वभोक्तृत्वरागद्वेषादि गृह्यते । विलक्षणत्वमेव स्फुटयति—स्वेनेति । अनारोपितेनेति यावत् । विज्ञप्तेर्विशुद्धत्वं जन्मादिराहित्यमाकारान्तरशून्यत्वं तन्मात्रत्वं चेत्यर्थः । [1]तन्मात्रत्वमयुक्तं [2]सामान्यविशेषभावादित्याशङ्क्याऽऽह सतेति । न च तत्रान्यदस्ति सुखमिति मत्वा विशिनष्टि--अद्वयेति । सच्चिदानन्दाद्वयात्माविद्याविलासितं द्वैतमित्यत्र प्रमाणं सूचयति—इत्येष इति । अद्वैतश्रुतयस्तावत्तत्रोपलभ्यन्ते यत्र हि द्वैतमिव भवतीत्याद्याश्च द्वैततत्प्रतिभासयोर्मृषात्वमावेदयन्त्यः श्रुतयः श्रूयन्ते तेनाद्वैतं तत्त्वं द्वैतमविद्याविजृम्भितमिति प्रमाणसिद्धमित्यर्थः ॥१७॥

अविद्याकृता जीवकल्पनेत्यन्वयमुखेनोक्तं तदेवेदानीं व्यतिरेकमुखेन (ण) दर्शयति—निश्चितायामिति । रज्जुरेवेति । रज्ज्वां निश्चितायां तदज्ञाननिवृत्तेस्तदुत्थसर्पादिविकल्पः सर्वथा निवर्तते रज्जुमात्रं चावशिष्यते तद्वदात्मनि

---

१. तन्मात्रत्वमिति—आत्मन इति शेषः । २. सामान्येत्यादि—धर्माधर्मिभावादित्यर्थः—तार्किकमतेनेदम् ।

प्राण इति प्राणविदो भूतानीति च तद्विदः ।
गुणा इति गुणविदस्तत्त्वानीति च तद्विदः ॥२०॥

[हिरण्यगर्भादि प्राण के उपासक मानते हैं कि प्राण ही जगत् का हेतु है । भूतज्ञ चार्वाक आदि कहते हैं कि पृथिव्यादि भूत चतुष्टय ही जगत् का कारण है । गुणज्ञ सांख्यवादी मानते हैं कि सत्वादि तीन गुण ही सृष्टि के कारण हैं और तत्त्वविद् शैवों का कहना है कि (आत्मा, अविद्या तथा शिव ऐसे संक्षेपतः) ये तीन तत्त्व ही जगत के प्रवर्तक हैं ॥२०॥]

उक्त विषय में विभिन्न मतवाद

'समष्टि प्राण जगत् का बीज है' ऐसा विद्वान् कहते हैं। उसी के कार्यभेद स्थितिपर्यन्त सम्पूर्ण विकल्प हैं। ये सभी वादियों से कल्पना किये गये अनेक अन्य मत-मतान्तर उस आत्मा के स्वरूप का निश्चय न होने के कारण वैसे ही हो रहे हैं जैसे रज्जु का स्वरूप निश्चय न होने के कारण सर्पादि विकल्प होते रहते हैं। वास्तव में तो उक्त सभी विकल्पों से शून्य आत्मस्वरूप है, उस स्वरूप के अनिश्चय होने से ही अविद्या से परिकल्पित उक्त सभी वाद हैं यह उन उपयुक्त श्लोकों का पिण्डीभूत अर्थ है।

'प्राण इति प्राणविदः' इत्यादि श्लोकों के प्रत्येक पदार्थ अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। इसलिए उनके व्याख्यान का कोई खास प्रयोजन नहीं। अतः हमने इनके व्याख्यान के लिए कोई प्रयत्न नहीं किया ॥२०-२८॥

श्रौतो निश्चयो यदा संपद्यते तदा सर्वस्याऽऽत्माविद्याकल्पितस्य जीवादिविकल्पस्य व्यावृत्तेरद्वैतमेवाऽऽत्मतत्त्वं परिशिष्यते । तस्मादात्माविद्याविजृम्भिता जीवकल्पनेत्यर्थः । दृष्टान्तभागं व्याचष्टे—रज्जुरिति । तद्वदित्यादि व्याकरोति—तथेति । सर्वस्यापि संसारात्मनो धर्मस्याऽऽत्मन्यारोपितस्यासत्त्वावेदकं यन्निषेधशास्त्रं तेन जनितं विज्ञानमेव सूर्यालोकस्तत्कृतो योऽयमात्मविनिश्चयः स एवाद्वितीयः शिष्यते । द्वैतं पुनः सर्वमेव व्यावृत्तं भवतीत्यर्थः । आत्मविनिश्चयमेव विशिनष्टि—[1]आत्मैवेति । सर्वमिदमात्मैवेत्युक्तेः पूर्णत्वं तस्योच्यते पूर्वभाविना कारणेन संस्पर्शशून्योऽपूर्वः पश्चाद्भाविना कार्येण संबन्धविधुरोऽनपरमनन्तरं छिद्रं तच्छून्योऽनन्तरश्चिदेकरसस्तस्यैव प्रत्यक्त्वमबाह्यत्वं कार्यकारणास्पृष्टमुभयकल्पनाधिष्ठानत्वेन ततोऽर्थान्तरत्वादित्याह—सबाह्येति । [2]विशेषणत्रयं कौटस्थ्यव्यवस्थापनार्थम् । जन्मादिसंबन्धाभावे कारणमविद्यासंबन्धराहित्यं दर्शयति—अभय इति । न खल्वविद्या तत्र कारणत्वेन संबन्धमनुभवति । तस्य पूर्णत्वेन कारणानपेक्षत्वादित्याह—एक इति । [3]द्वैताद्वैतव्यावृत्त्यर्थमवधारणं न विद्यायाः । निराश्रयत्वोपपत्तेः । आश्रयान्तरस्य चासत्त्वात् । तत्रैव सा प्रवशतीति चेदसत्यम् । अविद्वद्दृष्टया तस्यास्तत्र प्रवेशेऽपि वस्तुदृष्टया नासौ तस्मिन्प्रवेष्टुं प्रभवतीत्याह—अद्वय इति ॥१८॥

आत्मनोऽद्वितीयत्वे [4]कथमनेकैर्भावैस्तस्य विकल्पितत्वमित्यभिप्रायाप्रतिपत्त्या प्रत्यवतिष्ठते—प्राणादिभिरिति । सिद्धान्ती स्वाभिसंधिमुद्घाटयन्नुत्तरमाह—मायेति । चोद्यभागं विभजते—यदीति । उत्तरार्धमुत्तरत्वेन व्याकरोति—उच्यत इति । मायामेव दृष्टान्तेन स्पष्टयति—यथेति । तामेव मायां कार्यद्वारा [5]स्फोरयति—ययेति । यया लौकिको मोहितो मोहपरवशो दृश्यते [6]तथाऽयमात्मा स्वयमेव मायासंबन्धान्मोहितो भवति । [7]अतो मोहद्वाराऽऽत्मन्येव मायाधिगतिरित्यर्थः । मायाया मोहहेतुत्वं भगवताऽपि सूचितमित्याह—ममेति ॥१९॥

---

१. आत्मैवेति-आत्मव्याप्तमिदमित्यर्थः । २. विशेषणत्रयमिति—अजरादीत्यर्थः । ३. द्वैताद्वैतेति—अद्वैतं द्वैताभावः सोऽपि न तत्रस्वरूपापत्तिरिक्तः इतिभावः । ४. कथमिति—अद्वैतेऽनेकाभावात् कथमनेकात्मना प्रतीतिरित्यर्थः । ५. स्फोरयतीति—न हि मायाप्रत्यक्षविषयः इति कार्यद्वारातदधिगतिं कारयतीत्यर्थः । ६. तथायमात्मेति—अयमात्मैव स्वयं तथामोहितः । मोहितो लौकिकोऽयमेवस्वयमिति यावत् । ७. अतः इति—मायाकार्यस्य मोहस्यात्मन्यनुभूयमानत्वादित्यर्थः ।

पादा इति पादविदो विषया इति तद्विदः।
लोका इति लोकविदो देवा इति च तद्विदः ॥२१॥

एक आत्मा के विश्वादि पाद ही सम्पूर्ण व्यवहार के हेतु हैं ऐसा पादवेत्ता मानते हैं। वात्स्यायन आदि विषयवेत्ता कहते हैं—शब्दादि विषय ही तात्त्विक वस्तु है। लोक वेत्ता पौराणिकों का कहना है कि भूर्भुवः स्वः ये लोक ही सत्य हैं और देव उपासक मानते हैं कि इन्द्रादि देवता ही कर्म फल प्रदान करके सृष्टि का संचालन कर रहे हैं ॥२१॥

ते के प्राणादयोऽनन्ता भावा यैरात्मा विकल्प्यते माययेत्यपेक्षायां प्राणादिविकल्पनामुदाहरति–प्राण इति। प्राणो हिरण्यगर्भ [1]स्तटस्थेश्वरो वा स जगतो हेतुरिति प्राणविदो हैरण्यगर्भाद्या वैशेषिकादयश्च कल्पयन्ति। तदिदं कल्पनामात्रम्। स्वतन्त्रस्य हिरण्यगर्भस्य सर्वजगद्धेतुत्वे मानाभावात्। [2]पौरुषेयागमस्यापौरुषेयश्रुतिविरोधे स्वार्थे मानत्वायोगात्तटस्थेश्वरवादस्य च [3]प्रमाणयुक्तिविहीनस्य प्रतिपत्तुमशक्यत्वादित्यर्थः। कल्पनान्तरं दर्शयति–भूतानीति चेति। पृथिव्यप्तेजोवायवस्तत्त्वानि तानि च चत्वारि भूतानि जगत्कारणानीति लोकायतिकास्तदपि कल्पनामात्रम्। न हि भूतानि स्वतः सिद्धानि जडत्वविरोधात्। नापि [4]परतः सिद्धानि। स्वगुणस्य [5]चैतन्यस्य स्वग्राहकत्वायोगाद्वह्निगतौष्ण्यस्य वह्निविषयत्वादर्शनात्। [6]अतो भूतानि जगत्कर्तॄणीति कल्पनैवेत्यर्थः। सत्त्वरजस्तमांसि त्रयो गुणा साम्येनावस्थिता जगतो महदादिलक्षणस्य कारणमिति सांख्यास्तदपि कल्पनामात्रम्। साम्येन स्थितानां कारणत्वे प्रलयाभावप्रसङ्गात्। वैषम्यभजनस्य च निर्हेतुकत्वे सदा तदापात्। सहेतुकत्वे हेतोर्नित्यत्वे प्राचीनदोषानुषङ्गादनित्यत्वे हेत्वन्तरापेक्षायामनवस्थानादित्याह–गुणा इतीति। कल्पनान्तरमाह— तत्त्वानीति चेति। आत्माऽविद्या शिव इति संक्षेपतस्त्रीणि तत्त्वानि सर्वजगत्प्रवर्तकानीति शैवा मन्यन्ते तदपि कल्पनामात्रम्। आत्मनो भिन्नत्वे शिवस्य घटादितुल्यत्वप्रसङ्गादभिन्नत्वे तत्त्वानां त्रित्वव्याघातादित्यर्थः।

एकस्याऽऽत्मनो विश्वादयः पादाः सर्वव्यवहारहेतवो भवन्तीत्यपि कल्पनामात्रम्। निरंशस्याऽऽत्मनोंऽशभेदानुपपत्तेरित्याह—पादा इतीति। वात्स्यायनप्रभृतीनां कल्पनां कथयति–विषया इतीति। शब्दादयो विषया भूयो भूयो भुज्यमानास्तत्त्वमिति विभ्रममात्रम्। "विषस्य विषयाणां च दूरमत्यन्तमन्तरम्। उपभुक्तं विषं हन्ति विषयाः स्मरणादपि" इति विषयानुसंधानस्य निन्दितत्वादेषां पारमार्थिकतत्त्वभावानुपपत्तेरित्यर्थः भूर्भुवः स्वरिति त्रयो लोका वस्तुभूताः सन्तीति पौराणिकाः। तदपि कल्पनामात्रम्। [7]स्थानभेदेन त्रित्वे [8]तदानन्त्यस्य दुरुत्तरत्वात्स्वातन्त्र्यस्य चासिद्धत्वादित्याह—लोका इतीति। अग्नीन्द्रादयो देवास्तत्तत्फलदातारो नेश्वरस्तथेति देवताकाण्डीयाः। तदपि कल्पनामात्रम्। [9]अस्मदादिप्रयत्नमपेक्ष्य फलदातृत्वे तेषां भृत्येभ्यो विशेषाभावप्रसङ्गात्। स्वातन्त्र्येणोपकारकत्वे तदाराधनवैयर्थ्यात्। [10]तद्भक्तानामपि विप्रतिपत्तिदर्शनात्तत्प्रसादस्याकिंचित्करत्वादित्याह—देवा इति चेति।

---

१. तटस्थेति—ताटस्थ्यमीश्वरस्यजीवोपादानभिन्नत्वं निमित्तमात्रत्वमिति यावत्। २. ननु हिरण्यगर्भोपासकप्रणीतागमानामेव तस्यतथात्वेमानत्वमित्याशङ्कांवारयति—पौरुषेयेत्यादिना। ३. प्रमाणेत्यादि–"क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि" इत्यादितात्पर्यवद्वाक्यान्तरानुरोधेन, "ईश्वरः सर्वभूतानामित्यादि वचसां कल्पित भेद विषयत्वात् आत्मभिन्नत्वेन जडत्वभियाभेद साधक युक्तेश्चानुदयादिति दिक्। ४. परत इति—स्वकीयगुणभूतचैतन्यादित्यर्थः। ५. चैतन्यस्येति—भूतानां चैतन्यविशिष्टत्वेन चैतन्यग्राह्यत्वे विशिष्टवृत्तिधर्मस्य विशेषणवृत्तित्वनियमाच्चैतन्यस्यापि चैतन्यग्राह्यत्वमायातम्, तन्न युज्यते इत्यर्थः। स्वस्यस्वग्राह्यत्वस्य वह्न्यादावदर्शनादिति भावः। ६. अत इति—स्वतः परतो वाऽसिद्धत्वात् तादृशस्य च कारणत्वादर्शनादित्यर्थः। ७. स्थानभेदेनेत्यादि—भूतसमुदायात्मकलोकस्य समुदायैक्येनैकत्वस्यैवौचित्यात् स्थानभेदेन समुदायभेदे ग्रामनगरादेरपि लोकत्वप्रसङ्गादिति भावः। ८. तदानन्त्यस्येति—स्थानानामानन्त्येनतेषामप्यानन्त्यमिति भावः। ९. अस्मदातीति—कर्म सापेक्षफलदातृत्वे सति जीवभिन्नत्वं भृत्यकल्पत्वसाधकमिष्यत इति नाद्वितीयेश्वरवादिनामयं दोषः इत्यवधेयम्। १०. तद्भक्तानामिति—उपासका हि स्वस्वेष्टदेवतां प्रशसन्तो देवतान्तराणिनिन्दन्तः खण्डयन्तीत्येवं विवादप्रशमनेऽप्यसमर्थस्य तत्प्रसादस्याकिञ्चित्करत्वमित्यर्थः।

वेदा इति वेदविदो यज्ञा इति च तद्विदः ।
भोक्तेति च भोक्तृविदो भोज्यमिति च तद्विदः ॥२२॥
सूक्ष्म इति सूक्ष्मविदः स्थूल इति च तद्विदः ।
मूर्त इति मूर्तविदोऽमूर्त इति च तद्विदः ॥२३॥

ऋगादि चारों वेद ही पारमार्थिक वस्तु हैं—ऐसा वेद पारायणों में तत्पर वेदज्ञ मानते हैं। ज्योतिष्टोम आदि यज्ञ ही संसार के मूल कारण हैं—ऐसा याज्ञिक कहते हैं। आत्मा केवल भोक्ता है कर्त्ता नहीं—ऐसा भोक्तात्मवादी सांख्य मानते हैं और भोज्यवादी सूपकारादि भोज्य को ही परमार्थ तत्त्व कहते हैं ॥२२॥

आत्मा परमाणु के समान सूक्ष्म है ऐसा सूक्ष्म वेत्ता मानते हैं। स्थूलवादी चार्वाक कहते हैं 'स्थूलदेहोऽहम्' इस प्रतीति से स्थूल ही परमार्थ तत्त्व है। साकार उपासक मूर्तात्मवादी कहते हैं कि परमार्थ वस्तु साकार है और शून्य वादियों का कहना है कि वह परमार्थ वस्तु आकार रहित है ॥२३॥

ऋग्वेदादयो वेदाश्चत्वारस्तत्त्वानीति [1]पाठका वदन्ति। तदपि कल्पनामात्रम्। न हि वेदा लौकिकवर्णव्यतिरिक्ता दृश्यन्ते। [2]क्रमवतामेव वर्णानां वेदशब्दवाच्यत्वाङ्गीकारात्। क्रमश्चोच्चारणोपलब्ध्योरन्यतरगतो वर्णेष्वारोप्यते। तथा च तथाविधक्रमवतां वर्णानामारोपितरूपेण वेदशब्दवाच्यत्वात्कुतो वेदानां परमार्थतेत्याह—वेदा इति। ज्योतिष्टोमादयो यज्ञा वस्तुभूता भवन्तीति बौधायनप्रभृतयो याज्ञिका मन्यन्ते। तदपि भ्रान्तिमात्रम्। यज्ञं व्याख्यास्यामो [3]द्रव्यं देवता त्याग इत्यत्रैकैकस्मिन्यज्ञविज्ञानाभावात्समुदायस्या[4]वस्तुत्वादित्याह—यज्ञा इति। चेति। भोक्तैवाऽऽत्मा न कर्तेति सांख्याः। तत्र भोगो यदि विक्रिया स्वीक्रियते तर्हि कथं नानित्यत्वादिप्रसङ्गः स्वभावत्वे सदा स्या[5]दिति विषयसंनिधौ भोक्तृत्वं [6]भ्रान्तिरेवेत्याह—भोक्तेति चेति। सूपकारास्तु भोज्यं वस्त्विति प्रतिजानते। तदपि न। मधुरादिरसव्यञ्जनादेस्तदैवान्यथात्वदर्शनादैकरूप्यासंभवादित्याह—भोज्यमिति चेति।

आत्मा सूक्ष्मोऽणुपरिमाणः स्यादिति [7]केचित्। तन्न। युगपदशेषशरीरव्यापिवेदनानुसंधानसिद्धेरित्याह—सूक्ष्म इति। स्थूलो देहो [8]ऽहंप्रत्ययादात्मेति लोकायतभेदः। तच्च न। मृतसुप्तयोरपि संघाताविशेषाच्चैतन्यप्रसङ्गात्। एकैकस्य च भूतस्य चैतन्यादर्शनात्संघातस्य [9]चावस्तुत्वादित्याह—स्थूल इति चेति। मूर्तस्त्रिशूलादिधारी महेश्वरश्चक्रादिधारी वा परमार्थो भवतीत्यागमिकाः। तदपि भ्रान्तिमात्रम्। अस्मदादिशरीरवत्तस्यापि शरीरस्य [10]पाञ्चभौतिकत्वात्। [11]लीलाविग्रहकल्पनं च विग्रहाभावे लीलाभावादयुक्तमित्याह—मूर्त इति। अमूर्तः सर्वाकारशून्यो [12]निःस्वभावः परमार्थ इति शून्यवादिनस्तदपि कल्पनामात्रम्। परमार्थो निःस्वभावश्चेति व्याघातादित्याह—अमूर्त इति चेति।

---

१. पाठकाः अर्थानुसंधानं विनैव केवलपाठमात्ररता इत्यर्थः। २. क्रमवतामिति—कल्पकल्पान्तरेष्वपि पूर्वपूर्वकल्पस्थक्रमवतामित्यर्थः। ३. द्रव्यमित्यादि—बौधायनीयसूत्रमेतत्। ४. अवस्तुत्वादिति—समुदायिव्यतिरेकेणेत्यादिः। ५. इति—हेतुमाह। ६. भ्रान्तिरेवेति—स्फटिकलौहित्यवदित्यर्थः। ७. केचिदिति—दिगम्बरा इत्यर्थः। ८. अहं प्रत्ययादिति—अहंप्रतीति गोचरत्वादित्यर्थः। ९. अवस्तुत्वादिति—अवयवतो भिन्नत्वेन हि न किञ्चिद् वस्त्ववयवीति भावः। १०. पाञ्चभौतिकत्वादिति—मिथ्यात्वाविशेषादिति भावः, तथा च साक्षान्माया कार्यत्वमतेनाविरोधः। वस्तु तस्तु साक्षान्मायिकस्य भूतमात्रावद् व्यवहारानर्हत्वादन्यथा पञ्चीकरणकल्पनाऽयोगात् यथा श्रुतमेव सम्यक्। न चैवमीश्वरत्वापायः, पाञ्चभौतिकदेहत्वाविशेषेऽपि प्रजातो राज्ञ इव मनुष्येभ्यो देवानामिव चैश्वर्यस्य शक्तिविशेषादेवोपपत्तेः न च स्वाप्नस्य साक्षादाविद्यकत्वे व्यवहार्यत्ववदेवस्यादिति वाच्यम्, तथा सति तद्वदेव क्षणिकत्वाद्यापत्तेः। न च सर्वज्ञत्वाद्यनुपपत्तिर्योगेन योगिनामिव माययेश्वरस्यापि संभवात्। न च भौतिक देहस्य न मायाशक्तिः इन्द्रजालदर्शनादित्यवधेयम्। ११. लीलेति—लीलार्थमेव भगवतो विग्रहः इति तदभिमतम्। १२. निः स्वभाव इति—अवस्त्वित्यर्थः।

काल इति कालविदो दिश इति च तद्विदः।
वादा इति वादविदो भुवनानीति तद्विदः ॥२४॥
मन इति मनोविदो बुद्धिरिति च तद्विदः।
चित्तमिति चित्तविदो धर्माधर्मौ च तद्विदः ॥२५॥

कालज्ञ ज्योतिषी लोग कहते हैं, काल ही परमार्थ तत्त्व है। स्वरोदय शास्त्री का कहना है कि केवल दिशाएँ परमार्थ है। वाद के रहस्य वेत्ता कहते हैं कि धातुवाद, मन्त्रवाद आदि परमार्थ तत्त्व हैं और भुवनकोश के रहस्य वेत्ता का कहना है कि चौदह भुवन ही सार तत्त्व है ॥२४॥

मनोवेत्ता मानते हैं कि मन ही आत्मा है और बौद्धों का कहना है कि बुद्धि ही आत्मा है। चित्त ही परमार्थ तत्त्व है ऐसा चित्तज्ञ कहते हैं, तथा धर्माधर्म के रहस्यवेत्ता मीमांसक धर्माधर्म को ही सत्य मानते हैं ॥२५॥

कालः परमार्थत इति ज्योतिर्विदः। तच्च न। कालैक्ये [1]मुहूर्तादिव्यवहारायोगात्। तन्नानात्वेऽपि न स्वातन्त्र्यम्। [2]अन्यविषयत्वेन प्रतीतेः। उदयकाल इत्यादिना क्रियाधर्मत्वेन प्रतीतेः स्फुटत्वात्। [3]न च क्रियाधर्मत्वं कालेऽपि [4]तदुत्पत्तिदर्शनादन्यथा कालानवच्छिन्नत्वेन क्रियानित्यत्वापातादित्याह—काल इतीति। स्वरोदयविदस्तु दिशः परमार्था इत्याहुः। तदपि भ्रान्तिमात्रम्। [5]तद्विदामपि पराजयदर्शनादित्याह—दिश इति चेति। धातुवादो मन्त्रवादश्चेत्यादयो वादा वस्तुभूता भवन्तीति केचित्। तदपि कल्पनामात्रम्। तांत्रादिस्वभावे स्थिते नष्टे च कनकादिस्वभावासंभवात्। मन्त्रवादेऽपि कालहृष्टो न जीवति अकालहृष्टः स्वयमेवोत्थास्यतीत्यभ्युपगमाद्व्यामोहमात्रमित्याह—वादा इतीति। भुवनानि चतुर्दश वस्तूनीति [6]भुवनकोशविदः। तदपि कल्पनामात्रम्। तेषामदृष्टत्वात्। न च [7]तेभ्यस्तद्दर्शनम्। तेषां मिथो विप्रतिपत्तिदर्शनादित्याह—भुवनानीति।

मन एवाऽऽत्मेति लोकायतभेदः। तदपि भ्रान्तिमात्रम्। तस्य स्वातन्त्र्ये क्लेशप्राप्त्यनुपपत्तेः अस्वातन्त्र्ये च घटवदनात्मत्वात्करणत्वाच्च दीपवदात्मत्वायोगादित्याह—मन इति। बुद्धिरेवाऽऽत्मेति बौद्धाः। तेषामपि भ्रान्तिमात्रमेव। तत्सुषुप्ते व्यभिचाराद्वेद्यस्य च [8]घटवदतिरिक्तवेद्यत्वादित्याह—बुद्धिरिति। चित्तमेव [9]बाह्याकारशून्यं विज्ञानम्। तदेवाऽऽत्मेत्यपरे। तत्रापि प्रागुक्तन्यायाविशेषात्तुल्यं भ्रान्तित्वमित्याह—चित्तमिति। धर्माधर्मौ विधिनिषेधचोदनागम्यौ परमार्थाविति मीमांसकाः। तदपि कल्पनामात्रम्। [10]देशकालादिषु [11]धर्माधर्मयोर्विप्रतिपत्तिदर्शनादित्याह—धर्मेति।

---

१. मुहूर्तादिति—व्यवहारस्यौपाधिकत्वे तु व्यवहारहेतोः कालस्यौपाधिसम्बन्धेनातात्त्विकत्वात्। उपाध्यसम्बद्धस्य च व्यवहाराहेतुत्वेन कल्पनाऽयोगादित्यवधेयम्। २. अन्यविषयत्वेनेति—अन्याश्रयकत्वेनेति यावत्। ३. न च क्रियाधर्मत्वमपि तत्र विचारं सहते इत्याह—न चेत्यादि। ४. तदुत्पत्तीति—क्रियोत्पत्तीत्यर्थः। ५. तद्विदामिति—दिक्शकुनादि दृष्ट्वा विजयार्थं गतानामिति शेषः। ६. भुवनकोशेति—भुवनान्येव कोशाः भुवनानिकोशा वेत्यर्थः। ७. तेभ्य इत्यादि—भुवनविद्भ्यस्सकाशात् तदवलोकनमित्यर्थः। ८. घटवदिति—घटो हि स्वातिरिक्तस्य वेद्यस्तद्वदित्यर्थः। ९. बाह्याकारशून्यमिति—अनेनालयविज्ञानं विवक्षितं भवति। १०. कालादिष्विति—आदिर्ज्वराद्याक्रान्तावस्थामाह। ११. धर्मेति—यथा शीतोदकस्नानं ज्वरितस्याधर्मः इतरेषां तु धर्म इत्येवमन्यदप्यूह्यम्।

पञ्चविंशक इत्येके षड्विंश इति चापरे। एकत्रिंशक इत्याहुरनन्त इति चापरे ॥२६॥
लोकाँल्लोकविदः प्राहुराश्रमा इति तद्विदः। स्त्रीपुंनपुंसकं लैङ्गाः परापरमथापरे ॥२७॥

(पुरुष प्रधान महतत्त्व, अहंकार, पञ्चतन्मात्रा एकादश इन्द्रियाँ और मन तथा पंच विषय ये) पच्चीसतत्त्व को सांख्यवादी मानते हैं और पातञ्जलमतावलम्बी ईश्वर को भी छब्बीसवें तत्त्व रूप में मानते हैं। पाशुपतमतावलम्बी उक्त पच्चीसतत्त्वों के अतिरिक्त राग, अविद्या, नियति, काल, कला और माया इन छः तत्त्वों को भी मानते हैं। एवं अन्यवादी परमार्थ वस्तु को अनन्त भेद वाला मानते हैं ॥२६॥

लोकानुरंजन को लौकिक पुरुष तात्त्विक बतलाते हैं और दत्तादि आश्रमवादी आश्रम को ही प्रधान मानते हैं। लिङ्गवादी वैयाकरण स्त्रीलिङ्ग पुल्लिङ्ग और नपुंसक लिङ्गों को ही परमार्थ बतलाते हैं तथा दूसरे लोग परात्परब्रह्म को तत्त्व मानते हैं ॥२७॥

प्रधानं मूलप्रकृतिः। महदहंकारतन्मात्राणीति सप्त प्रकृतिविकृतयः। पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि। पञ्च कर्मेन्द्रियाणि। पञ्चविषयाः। मनश्चैकमिति षोडश विकाराः। पुरुषस्तु दृशिस्वभाव इति पञ्चविंशतिसंख्याकः प्रपञ्चो वस्त्विति सांख्याः। तच्च कल्पनामात्रम्। पञ्चविंशतिविशेषणस्याव्यावर्तकत्वे वैयर्थ्याद्व्यावर्तकत्वे च [1]व्यावर्त्यप्रमित्यप्रमित्योरनुपपत्तेरित्याह—पञ्चविंशक इति। पातञ्जलाः पुनरीश्वरमधिकं पश्यन्तः षड्विंशतिपदार्था इति कल्पयन्ति। तदयुक्तम्। ईश्वरस्य [2]पुरुषान्तर्भावादधिकत्वानुपपत्तेः। अनन्तर्भावे च घटवदनीश्वरत्वप्रसङ्गादित्याह—षड्विंश इति चेति। पाशुपतास्तु रागाविद्यानियतिकालकलामायाधिकास्त एवैकत्रिंशत्पदार्था इति ब्रुवते। तन्न। क्लेशत्वेऽपि रागाविद्ययोरवान्तरभेदवदस्मितादेरपि तद्भिन्नत्वेन संख्यातिरेकात्तस्य रागोपलक्षितत्वे तस्याप्यविद्योपलक्षितत्वेन न्यूनतापाताद्विद्यामाययोश्चैकत्वादवान्तरभेदे च [3]नियतावपि तदुपपत्तेः संख्यातिरेकतादवस्थ्यम्। [4]कालकलासु च तत्प्रसिद्धेरित्याह—एकत्रिंशक इति। अनन्तः पदार्थभेदो न नियतोऽस्तीति केचित्। तदपि न। वादिनां विवाददर्शनात्। विवादस्य [5]चाज्ञानमूलकत्वादित्याह—अनन्त इतीति।

लोकानुरञ्जनमेव तत्त्वमिति लौकिकाः। तदपि विभ्रममात्रम्। लोकस्य भिन्नरुचित्वात्तदनुरञ्जन [6]स्येश्वरेणापि कर्तुमशक्यत्वादित्याह—लोकानिति। दत्तप्रभृतयस्त्वाश्रमाः परमार्था इति समर्थयन्ते। तदसत्। वेषस्याऽऽश्रमशब्दार्थत्वे शूद्रादेरपि प्रसङ्गा[7]ज्जातेश्च दुर्विवेचत्वात्तन्मूलस्याऽऽश्रमस्य दर्शयितुमशक्यत्वात्संस्कारस्य च देहसमवायित्वे पारलौकिकत्वायोगादसङ्गे चाऽऽत्मनि तदसमवायादित्याह—आश्रमा इतीति। वैयाकरणास्तु स्त्रीपुंनपुंसकं शब्दजातं तत्त्वमिति वर्णयन्ति। तदप्ययुक्तम्। [8]स्त्र्यादेः शब्दस्वभावत्वे सर्वादीनां त्रिलिङ्गत्वायोगादेकस्यानेकस्वभावत्वासंभवादौपाधिकधर्मत्वे च [9]तस्यावस्तुत्वप्रसङ्गादित्याह—स्त्रीपुंनपुंसकमिति। द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये परं चापरं चेति केचित्। तच्च न। परिच्छेदे क्वचिदपि ब्रह्मत्वायोगाद्वस्तुतोऽ[10]परिच्छिन्नस्य तद्भावादित्याह—परापरमिति।

---

१. व्यावर्त्यप्रमितीति—तत्वानां पञ्चविंशतित्वविशेषणं न्यूनाधिकसंख्याव्यावर्तनाय न्यूनाधिक सख्या च यदि प्रमिता तदा न सा व्यावृत्तिभाक्, नहि प्रमाणसिद्धवस्त्वपलपितुं पार्य्यं, यदि त्वप्रमिता सा तदा विनापि विशेषणं व्यावृत्तेति विशेषणवैयर्थ्यमित्यर्थः। २. पुरुषान्तर्भावादिति—सांख्येऽपि पुरुषस्याभ्युपगतत्वाद्। ३. नियतावपीति—नियतिर्दैवं तत्रापि शुभाशुभत्वाभ्यामवान्तरभेदसत्वेन संख्यातिरेकापत्तेरिति यावत्। ४. कालकत्वास्वित्यादि—कालावयवेषु च मासर्त्वाद्यवान्तरभेदस्य प्रसिद्धत्वादित्यर्थः। ५. अज्ञानेति—तथा चाज्ञानविषयस्य भ्रान्तिविषयत्वेन तात्त्विकत्वं न संभवतीति। न चैवं ब्रह्मण्यपिवादिविवाददर्शनात्तस्याप्यतात्विकत्वं स्यादिति वाच्यम्, सत्यं तस्यश्रुतियुक्तिसिद्धत्वादित्यवधेयम्। ६. ईश्वरेणेति—समर्थेन प्रार्थिवादिनेत्यर्थः। ७. जातेश्चेति—तत्तज्जातिमत्पुंरेतोभवत्वस्य जातिविवेचन साधनत्वेतत्पुंसस्तज्जातीयत्वे तत्पूर्वपुमपेक्षेत्येवमनवस्थया सदृशो नाश्वासएव जातावित्यर्थः। ८. स्त्र्यादेरिति—भावप्रधान निर्देशोऽयम्। ९. तस्य—सर्वादेरित्यर्थः। १०. अपरिच्छिन्नस्य—वस्तुपरिच्छेदरहितस्येत्यर्थः।

सृष्टिरिति सृष्टिविदो लय इति च तद्विदः।
स्थितिरिति स्थितिविदः सर्वे चेह तु सर्वदा ॥२८॥
यं भावं दर्शयेद्यस्य तं भावं स तु पश्यति।
तं [1]चावति स [2]भूत्वाऽसौ तद्ग्रहः समुपैति तम् ॥२९॥

[सृष्टि ही सत्य है, ऐसे सृष्टिवादी कहते हैं। लयवादी लय को ही परमार्थ मानते हैं और स्थितिवेत्ता स्थिति को सत्य मानते हैं। इस प्रकार उक्तानुक्त वाद आत्मतत्व में कल्पित हैं ॥२८॥]

[(आचार्य) प्राणादि में जिस किसी भाव को परमार्थ तत्त्वरूप से दिखला देता है, वह साधक उसी को आत्मभूत हुआ देखता है। तथा इस प्रकार देखने वाले उस व्यक्ति की भी वह पदार्थ तद्रूप होकर रक्षा करता है, फिर तो उसमें उत्पन्न अभिनिवेश उसके आत्म स्वरूप को प्राप्त कर लेता है ॥२९॥]

प्राणः प्राज्ञो [3]बीजात्मा तत्कार्यभेदा हीतरे स्थित्यन्ताः। अन्ये च सर्वे लौकिकाः सर्वप्राणिपरिकल्पिता भेदा रज्ज्वामिव सर्पादयः। [4]तच्छून्य [5]आत्मन्यात्मस्वरूपानिश्चयहेतोरविद्यया कल्पिता इति पिण्डीकृतोऽर्थः। प्राणादिश्लोकानां प्रत्येकं पदार्थव्याख्याने [6]फल्गुप्रयोजनत्वाद्यत्नो न कृतः ॥२०॥ ॥२१॥२२॥२३॥२४॥२५॥२६॥२७॥२८॥

किं बहुना प्राणादीनामन्यतममुक्तमनुक्तं वान्यं भावं पदार्थं दर्शयेद्यस्याऽऽचार्योऽन्यो वाऽऽप्त इदमेव तत्त्वमिति स तं भावमात्मभूतं पश्यत्ययमहमिति वा ममेति वा तं च द्रष्टारं स भावोऽवति यो

विशेष क्या कहें। जिसका गुरु या अन्य कोई आप्त पुरुष उक्त प्राणादि में से किसी एक को अथवा अनुक्त किसी पदार्थ को भी 'यही परमार्थ तत्त्व है' इस प्रकार दिखला देवे तो वह उसी में तन्मय हो देखता है। 'यही मैं हूँ अथवा यही मेरा स्वरूप है' और गुरुपदिष्ट भाव पदार्थ ही तद्रूप

सृष्टिर्वा लयो वा स्थितिर्वा तत्त्वमिति पौराणिकाः। तदपि कल्पनामात्रम्। सतोऽसतश्चोत्पत्त्याद्यभावस्य [7]वक्ष्यमाणत्वादिति मत्वाऽऽह—सृष्टिरित्यादिना। यथोक्तकल्पनानामधिष्ठानं सूचयति—सर्वे चेति। उदाहृताश्चानुदाहृताश्च कल्पनाभेदायावन्तो विद्यन्ते ते सर्वेऽपि प्रकृतात्मन्येव [8]कल्पनावस्थायां कल्प्यन्ते नाऽऽत्मनः कल्पितत्वम्। सर्वस्य कल्पितत्वेनाधिष्ठानत्वायोगादित्यर्थः।

प्राणादिश्लोकेषु प्राणशब्दार्थमाह—प्राण इति। तस्यैव बीजात्मनो विकारविशेषत्वा[9]दितरेषां न ततोऽत्यन्तभिन्नतेत्याह —तत्कार्येति। अन्तिमपदार्थं स्फुटयति—अन्य इति। कुलधर्मो ग्रामधर्मो देशधर्मश्चेत्येते सर्वशब्देन गृह्यन्ते। तेषामात्मनि तदज्ञानादेव कल्पितत्वं सदृष्टान्तं स्पष्टयति—रज्ज्वामिति। आत्मनोऽधिष्ठानयोग्यतार्थं कल्पनाशून्यत्वमाह-तच्छून्य इति। किमिति समुदायार्थः श्लोकानामुच्यते। श्लोकान्तरेष्विव प्रत्येकं पदार्थव्याख्यानमेतेषु किं न स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—प्रत्येकमिति ॥२०॥२१॥२२॥२३॥२४॥२५॥२६॥२७॥२८॥

---

१. अवतीति—अस्य स्वस्मिन्नभिनिविष्टं कृत्वाऽन्यत्र प्रवृत्तेरुपरमयतीत्यर्थः। २. भूत्वेति—साधकतादात्म्यापन्नो भूत्वेत्यर्थः। ३. बीजात्मेति—ईश्वराभिन्न इत्यर्थः। ४. तच्छून्य इति—अकल्पित इति यावत्। ५. आत्मस्वरूपानिश्चयहेतुरिति—आत्मस्वरूपानिश्चयस्तदभावः तद्धेतुर्मूलाज्ञानंतत्प्रयुक्ताऽविद्याभ्रान्तिस्तया कल्पिता विषयीकृता इति यावत्। अनिश्चयो मूलाज्ञानंतस्माद्धेतोरिति वा व्याख्येयम्। ६. फल्गुप्रयोजनत्वादिति—अत्यल्पप्रयोजनत्वादिति यावत्। अल्पस्य च समुदायार्थव्याजेनोक्तत्वादिति भावः। न चैवं टीकाकृतापि तत्त्याज्यतामिति शङ्क्यम्। तथापि मन्दबुद्धिनामुपकाराय यत्यते इति प्रतिज्ञानादितिध्येयम्। ७. वक्ष्यमाणत्वादिति—२७-२८ कारिकायामद्वैतप्रकरणे। २२ कारिकायामलातशान्तिप्रकरणे। ८. कल्पनावस्थायामिति अविद्यावस्थायामित्यर्थः। ९. इतरेषामिति—भूतादीनामित्यर्थः।

एतैरेषोऽपृथग्भावैः पृथगेवेति लक्षितः ।
एवं यो वेद तत्त्वेन कल्पयेत्सोऽविशङ्कितः ॥३०॥

[सर्वाधिष्ठान होने के कारण यह आत्मा इन प्राणादि अपृथक् भावों से पृथक् ही है ऐसा लक्षित हो रहा है। (विवेकियों की दृष्टि में तो सब कुछ आत्मा ही है) इस बात को जो तात्त्विक रूप से जानता है वह निशंक होकर (श्रुति और युक्ति से वेदार्थ की) कल्पना करता है ॥३०॥]

दर्शितो भावोऽसौ भूत्वा रक्षति। स्वेनाऽऽत्मना सर्वतो निरुणद्धि। तस्मिन्ग्रहस्तद्ग्रहस्तदभिनिवेशः। इदमेव तत्त्वमिति स तं ग्रहीतारमुपैति। तस्याऽऽत्मभावं निगच्छतीत्यर्थः ॥२९॥

एतैः प्राणादिभिरात्मनोऽपृथग्भूतैरपृथग्भावैरेष आत्मा रज्जुरिव सर्पादिविकल्पनारूपैः पृथगेवेति लक्षितोऽभिलक्षितो निश्चितो मूढैरित्यर्थः। विवेकिनां तु रज्ज्वामिव कल्पिताः सर्पादयो नाऽऽत्मव्यतिरेकेण प्राणादयः सन्तीत्यभिप्रायः "इदं सर्वं यदयमात्मा" (बृ० २।४।६, ४।५।७) इति श्रुतेः। एवमात्मव्यतिरेकेणासत्त्वं रज्जुसर्पवदात्मनि कल्पितानामात्मानं च केवलं निर्विकल्पं यो वेद तत्त्वेन श्रुतितो

होकर उस द्रष्टा साधक की रक्षा करता है। ज्ञानी अपने स्वरूप से, सर्वथा उसे निरुद्ध कर डालता है। उसकी श्रद्धा एक मात्र उसी में हो जाती है। वह तो एक मात्र उसी में अभिनिवेश कर लेता है कि बस यही पारमार्थिकतत्त्व है। अन्त में वह भाव पदार्थ उस साधक को प्राप्त भी हो जाता है। यावज्जीवन तन्मयता से पारमार्थिक रूप में उस तत्त्व का चिन्तन जो साधक करता है वह अन्त में उसी के स्वरूप को प्राप्त हो जाता है ॥२९॥

सर्वाधिष्ठान आत्मा को जानने वाला ही तत्त्वदर्शी है

सर्प रज्जु से अपृथक् होता हुआ भी अज्ञानियों को पृथक् दीखता है अर्थात् रस्सी और सर्प वहाँ पर भिन्न-भिन्न हैं, वैसे ही यह आत्मा अपने से अपृथक् प्राणादि भावों से पृथक् ही अविवेकियों को प्रतीत होता है। वह समझता है कि आत्मा भी पारमार्थिक पदार्थ है और उससे उत्पन्न प्राणादि प्रपञ्च भी पारमार्थिक है। किन्तु विवेकियों की दृष्टि में अधिष्ठान की सत्ता से कल्पित वस्तु की सत्ता भिन्न नहीं मानी गयी है। अतः उनकी दृष्टि में जैसे रज्जु में कल्पित सर्पादि रज्जु की सत्ता से भिन्न सत्ता वाले नहीं हैं वैसे ही सर्वाधिष्ठान आत्मा की सत्ता से प्राणादि विकल्प भिन्न सत्ता वाले नहीं। यही इसका अभिप्राय है। इसीलिए यह जो कुछ है वह आत्मा है ऐसा श्रुति भी कह रही है। इस प्रकार रज्जु में कल्पित सर्प की भाँति आत्मा में कल्पित पदार्थ आत्मा से भिन्न रूप में असत् हैं और कल्पना-

---

लौकिकानां परीक्षकाणां च कतिपयकल्पनाभेदानुदाहृत्यानन्तत्वादशेषतस्तेषामुदाहर्तुमशक्यत्वं दृष्ट्वा संक्षेपमात्रमाचष्टे—यं भावमिति। पादत्रयं विभजते—किं बहुनेत्यादिना। तमेव भावं विशिनष्टि—यो दर्शित इति। स कथं द्रष्टारं रक्षतीत्यपेक्षायामाह—असाविति। साधकपुरुषतादात्म्यमापद्येत्यर्थः। रक्षणप्रकारं प्रकटयति—स्वेनेति। [1]साक्षादसाधारणरूपत्वेन [2]तत्रैव [3]निष्ठामापाद्य ततोऽन्यत्र प्रवृत्तिमुपासकस्य निवारयतीत्यर्थः। चतुर्थपादं व्याचष्टे—तस्मिन्निति ॥२९॥

एतेनान्यत्र प्रवृत्तिनिरोधे हेतुरुक्तस्तर्हि प्राणादीनामात्मवदेव तात्त्विकत्वं प्राप्तमित्याशङ्क्य कल्पितानामधिष्ठानातिरेकेणावस्तुत्वान्नैवमित्याह—एतैरिति। उक्तज्ञानस्तुत्यर्थमाह—एवमिति। पूर्वार्धं व्याकरोति—एतैरिति। कल्पितानामधिष्ठानातिरेकेण सत्तास्फुरणयोरभावात्तद्[4]द्वारेणाऽऽत्मनि भेददर्शनमविवेकिनामस्तु तदन्येषां कथमुपलब्धिरित्या-

---

१. साक्षादिति—साधकनिष्ठाया अन्यदीयनिष्ठानधीनत्वमुक्तम्। २. तस्यैव स्पष्टीकरणमाह—तत्रैवेति। ३. निष्ठान्तराभावमाह—असाधारणरूपत्वेनेति। ४. द्वारेणेति—कल्पितप्राणादिद्वारेणेत्यर्थः।

स्वप्नमाये यथा दृष्टे गन्धर्वनगरं यथा।
तथा विश्वमिदं दृष्टं वेदान्तेषु विचक्षणैः ॥३१॥

[जैसे (न होते हुए भी अविवेकियों द्वारा) स्वप्न और माया देखे गये हैं तथा जैसे गन्धर्व नगर देखते देखते अकस्मात् विलीन होता देखा गया है, वैसे ही विचक्षण पुरुषों ने श्रुतियों में इस जगत् को देखा है ॥३१॥]

युक्तितश्च सोऽविशङ्कितो वेदार्थं विभागतः कल्पयेत्कल्पयतीत्यर्थः। इदमेवंपरं वाक्यमदोऽन्यपरमिति। न ह्यनध्यात्मविद्वेदाञ्ज्ञातुं शक्नोति तत्त्वतः। न ह्यनध्यात्मवित्कश्चित्क्रियाफलमुपाश्नुत (मनु० स्मृ० ६।८२) इति हि मानवं वचनम् ॥३०॥

यदेतद्द्वैतस्यासत्त्वमुक्तं युक्तितस्तदेतद्वेदान्तप्रमाणावगतमित्याह। स्वप्नश्च माया च स्वप्नमाये असद्वस्त्वात्मिके असत्यौ सद्वस्त्वात्मिके इव लक्ष्येते अविवेकिभिः। यथा च प्रसारितपण्यापणगृहप्रासाद [1]स्त्रीपुंजनपदव्यवहाराकीर्णमिव गन्धर्वनगरं दृश्यमानमेव सदकस्मादभावतां गतं दृष्टम्। यथा च स्वप्नमाये दृष्टे असद्रूपे तथा विश्वमिदं द्वैतं समस्तमसद्दृष्टम्। क्वेत्याह। वेदान्तेषु। "नेह नानाऽस्ति किंचन" (क० २।१।११ बृ० ४ ४।१९)। "इन्द्रो मायाभिः" (बृ० २।५।१९)। "आत्मैवेदमग्र

शून्य केवल आत्मा ही सत्य है। उस आत्मा को तत्त्वतः श्रुति और युक्ति से जो जानता है वह निःशंक होकर 'यह वाक्य इस अर्थ का प्रतिपादक है और वह वाक्य अन्य अर्थ का प्रतिपादक है' इस प्रकार विभाग पूर्वक वेदार्थ की कल्पना कर सकता है। अध्यात्मज्ञान से शून्य कोई भी व्यक्ति वेदों को तत्त्वतः नहीं जान सकता। इसीलिये मनु का भी वचन है कि "अध्यात्म तत्त्व को न जानने वाला कोई पुरुष क्रिया फल को प्राप्त नहीं करता है क्योंकि अग्निहोत्रादि क्रिया का अन्तिम फल सत्त्वशुद्धि द्वारा तत्त्वज्ञान ही तो है ऐसे तत्त्वज्ञानरूप फल को अविवेकी नहीं प्राप्त कर सकता यही मनु का अभिप्राय है।३०।

द्वैत मिथ्यात्व वेदान्तगम्य है

'यह जो द्वैत का मिथ्यात्व युक्तिपूर्वक बतलाया गया, वह केवल वेदान्त प्रमाण से ही जाना जा सकता है इसी अभिप्राय से आगे की कारिका कहते हैं। स्वप्न और माया, जो असद्वस्तु स्वरूप है, उन्हें अविवेकियों ने सद्वस्तु की भाँति देखा है। वे स्वप्न और माया से दिखलाये गये दुकान, बाजार, घर, महल और नगर निवासी स्त्री-पुरुषों के व्यवहार से भरपूर सा नगर देखते देखते ही जैसे अभाव को प्राप्त होता देखा गया है ऐसे ही तत्त्वज्ञानियों की दृष्टि में देखते देखते ही इस संसार का अभाव देख लिया गया है। ऐसी स्थिति में जैसे स्वप्न और माया असद्रूप देखे गये हैं, वैसे ही यह सम्पूर्ण द्वैत जगत् असद्रूप देखा गया। कहीं पर देखा गया और किसने देखा? इस पर कहते हैं कि श्रुतियों में

शङ्कचाऽऽह—विवेकिनां त्विति। प्राणादीनामात्मातिरेकेणासत्त्वे प्रमाणमाह—इदामिति। उत्तरार्धं योजयति—एवमिति। तत्त्वेनाऽऽत्मवेदनोपायं सूचयति—तत्त्वेनेति। स्वप्नदृश्यवज्जाग्रद्दृश्यानां मिथ्यात्वसाधको दृश्यत्वादिहेतुरत्र युक्तिरित्युच्यते। यथोक्तविज्ञानवान्वेदर्किकरो न भवति किन्तु स यं वेदार्थं ब्रूते स एव वेदार्थो भवतीत्यर्थः। विभागतो वेदार्थव्याख्यानमभिनयति—इदमिति। ज्ञानकाण्डं साक्षादद्वैतवस्तुपरम्। कर्मकाण्डं तु साध्यसाधनसंबन्धबोधनद्वारा परम्परया तस्मिन्पर्यवसितम्। सर्वे वेदा यत्पदमामनन्तीति श्रुतेरित्यर्थः। आत्मविदो वेदार्थवित्त्वमुक्तं व्यनक्ति—न हीति। तदेव हि वेदार्थतत्त्वं यत्प्रत्यगात्मस्वरूपमतश्चाध्यात्मविदेव यथात्म्येन तत्त्वज्ञाने प्रभवतीत्यर्थः। उक्तेऽर्थे स्मृतिमुदाहरति—न हीति। क्रियाशब्देन प्रमाणमुच्यते। तत्फलं तत्त्वज्ञानमग्निहोत्रादिक्रियायाश्च शुद्धिद्वारा तस्मिन्पर्यवसानादित्यर्थः ॥३०॥

---

१. स्त्रीत्यादि—स्त्रियश्च पुमांसश्च जनपदाश्चेति विग्रहः इति समासान्ता भावः। भवेज्जनपदो जनपदोऽपि जनदेशयोरिति विश्वमेदिन्यौ।

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः। न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता ॥३२॥

[न प्रलय है, न उत्पत्ति है, और न संसारीबद्धजीव है, न मोक्ष का साधन ही है तथा न मुमुक्षु हैं, न बन्धन मुक्त ही है। बस! यही परमार्थता है ॥३२॥]

आसीत्" (बृ० १।४।१७)। "ब्रह्मैवेदमग्र आसीत्" (बृ० १।४।१०)। "[1]द्वितीयाद्वै भयं भवति" (बृ० १।४।२)। "न तु तद्द्वितीयमस्ति (बृ० ४।३।२३)। "यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्" (बृ० ४।५।१५) इत्यादिषु। विचक्षणैर्निपुणतरवस्तुदर्शिभिः पण्डितैरित्यर्थः।

"तमः श्वभ्रनिभं दृष्टं वर्षबुद्बुदसंनिभम्। नाशमायं सुखाद्धीनं नाशोत्तरमभावगम्" ॥ इति व्यासस्मृतेः ॥ ३१ ॥

प्रकरणार्थोपसंहारार्थोऽयं श्लोकः। यदा वितथं द्वैतमात्मैवैकः परमार्थतः संस्तदेदं निष्पन्नं भवति सर्वोऽयं लौकिको वैदिकश्च व्यवहारोऽविद्याविषय एवेति तदा न विरोधः। निरोधनं निरोधः प्रलय उत्पत्तिर्जननं बद्धः संसारी जीवः साधकः साधनान्मोक्षस्य मुमुक्षुर्मोचनार्थी मुक्तो विमुक्तबन्धः। उत्पत्तिप्रलययोरभावाद्बद्धादयो न सन्तीत्येषा परमार्थता। कथमुत्पत्तिप्रलयोरभाव इत्युच्यते। द्वैतस्यासत्त्वात्। "यत्र हि द्वैतमिव भवति" (बृ० २।४।१४)। "य इह नानेव पश्यति" (क० २।१।१०।११)। "आत्मैवेदं सर्वम्" (छा० ७।२५।२)। "ब्रह्मैवेदं सर्वम्" (नृसिंहोत्तर) 'एकमेवाद्वितीयम्' (छा० ३।२।१)।

निपुणतमतत्त्व दर्शियों ने देखा है। यथा "यहाँ नाना कुछ नहीं है", "परमेश्वर ने मायासे"; "सृष्टि से पहले यह सम्पूर्ण जगत् आत्मा ही था"; "उत्पत्ति से पहले यह सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म ही था", "निःसन्देह ही भेद से भय होता है", "उस ब्रह्म से भिन्न कुछ भी नहीं है" "यहाँ तो उस तत्त्वदर्शी के लिए सब आत्मा ही हो गया" इत्यादि श्रुतियों में निपुणतर वस्तुतत्त्वदर्शी पण्डितों द्वारा द्वैत में मिथ्यात्व देखा गया है। यही इसका अभिप्राय है।

मन्द अन्धकार में अधिष्ठान में सर्पादि भ्रान्ति के समान घने अज्ञानान्धकार में यह जगत् वर्षा की बूँदों के समान नाश हो जाने वाले सुखादि से शून्य, नाश के बाद अभाव को प्राप्त हो जाने वाला तत्त्वदर्शियों से देखा गया है" इस व्यास स्मृति से भी वही बात सिद्ध होती है ॥३१॥

पारमार्थिक वस्तु यह है

आगे का यह श्लोक इस प्रकरण के विषय के उपसंहारार्थ है। जब द्वैत असत् है और एकमात्र आत्मा ही परमार्थतः सत् है तब यह सिद्ध हो जाता है कि यह सम्पूर्ण लौकिक वैदिक व्यवहार अविद्याविषयक ही है।

याभिर्युक्तिभिरस्मिन्प्रकरणे द्वैतस्य मिथ्यात्वं कथ्यते तासां प्रमाणानुग्राहकत्वादनाभासत्वमवसेयमित्याह—स्वप्नेति। श्लोकस्य तात्पर्यार्थमाह—यदेतद्द्वैतस्येति। असत्त्वे सत्त्ववत्प्रतिभानं कथमित्याशङ्क्य श्लोकाक्षराणि व्याचष्टे—स्वप्नश्चेति। प्रसारितानि तत्र तत्र प्रकटतां प्रापितानि पण्यानि क्रयविक्रयद्रव्याणि येषामापणेषु हट्टेषु ते प्रसारितपण्यापणास्ते च गृहाश्च प्रासादाश्च स्त्रीपुंजनपदाश्चैतेषां व्यवहारास्तैराकीर्णमिति योजना। दृष्टान्तत्रयमनूद्य दार्ष्टान्तिकमाह—यथा चेति गन्धर्वनगराकारं चकारार्थः। नेह नानाऽस्ति किंचनेत्यादयो वेदान्ताः। द्वैतस्य वस्तुतोऽसत्त्वे स्मृतिमपि दर्शयति—तम इति। तमसि मन्दान्धकारे रज्ज्वामधिष्ठाने भूच्छिद्रमिति यद्भ्रान्त्या भाति तन्निभं तत्तुल्यं विवेकिभिर्विश्वं दृष्टं तच्चातीव चञ्चलमालक्षितं नाशप्रायं वर्तमानकालेऽपि तद्योग्यतासत्त्वात्। न च द्वैतं कदाचिदपि सुखकरमुपलभ्यते दुःखाक्रान्तं तु दृश्यते। तच्च नाशग्रस्तम्। नाशादूर्ध्वमसत्त्वमेवापगच्छति न तर्हि तस्य परमार्थत्वं प्रमाणाभावादित्यर्थः ॥३१॥

---

१. द्वितीयाद्वै भयं भवतीति द्वितीयं निन्दंस्यस्यातात्विकत्वमभिप्रैतीत्यभिप्रायः। न हि तात्त्विकं निन्दामर्हतीति।

'इदं सर्वं यदयमात्मा' (बृ० २।४।६, ४।५।७)। इत्यादिना श्रुतिभ्यो द्वैतस्यासत्त्वं सिद्धम्‌। [1]सतो ह्युत्पत्तिः प्रलयो वा स्यान्नासतः शशविषाणादेः। नाप्यद्वैतमुत्पद्यते लीयते वा। अद्वयं चोत्पत्तिप्रलयवच्चेति विप्रतिषिद्धम्‌। यस्तु पुनर्द्वैतसंव्यवहारः स रज्जुसर्पवदात्मनि प्राणादिलक्षणः कल्पित इत्युक्तम्‌। न हि [2]मनोविकल्पनाया रज्जुसर्पादिलक्षणाया रज्ज्वां प्रलय उत्पत्तिर्वा। न च मनसि रज्जुसर्पस्योत्पत्तिः प्रलयो वा न चोभयतो वा। तथा मानसत्वाविशेषाद्द्वैतस्य। न हि [3]नियते मनसि

व्यवहारमात्र अविद्या विषयक होने से परमार्थ अवस्था में न निरोध है (अर्थात् प्रलय नहीं है), न उत्पत्ति है, न बँधा हुआ संसारी जीव है, न मोक्ष के साधन से सम्पन्न साधक ही है, न मोक्षाभिलाषी मुमुक्षु है और न बन्धन से छूटा हुआ मुक्त ही है। जब उत्पत्ति और प्रलय का अभाव है तो बद्ध आदि भी नहीं हैं। बस यही पारमार्थिक तत्त्व है।

उत्पत्ति और प्रलय का अभाव कैसे है? इस पर कहते हैं कि द्वैत के मिथ्यात्व होने से तदन्तःपाती उत्पत्ति और प्रलय का भी अभाव है। "जहाँ द्वैत की भाँति होता है"; "जो यहाँ पर द्वैत की भाँति देखता है", "यह सब आत्मा ही है", "यह सब ब्रह्म ही है", "एक ही अद्वितीय ब्रह्म है", "वह जो कुछ है सब आत्मा ही है इत्यादि अनेक श्रुतियों से द्वैत में मिथ्यात्व सिद्ध होता है।

सत् की ही उत्पत्ति या प्रलय हो सकती है। शशशृङ्गादि असत् वस्तु की न उत्पत्ति और न प्रलय ही होता है। वैसे ही अद्वैत भी न उत्पन्न होता है और न नष्ट ही होता है। 'अद्वितीय हो और उत्पत्तिनाश वाला भी हो ऐसा कहना तो सर्वथा विरुद्ध है। किन्तु जो प्राणादिरूप द्वैत व्यवहार है वह रज्जु में सर्प की भाँति अधिष्ठान आत्मा में कल्पित है। ऐसा पहले कहा जा चुका है। रज्जु सर्पादिरूप मनःकल्पित वस्तु का ही रज्जु में उत्पत्ति या प्रलय नहीं होता और न मन में रज्जु सर्प की उत्पत्ति या प्रलय होता है। वैसे ही मन और रज्जु दोनों में ही रज्जु सर्प की उत्पत्ति या प्रलय नहीं कह सकते। ऐसे ही द्वैत का मनोमयत्व भी समान ही है। क्योंकि मन के समाहित हो जाने पर या सुषुप्तिकाल में द्वैत

प्रमाणयुक्तिभ्यां द्वैतमिथ्यात्वप्रसाधनेनाद्वैतमेव पारमार्थिकमिति स्थिते निर्धारितमर्थं संगृह्णाति—नेत्यादिना। श्लोकस्य तात्पर्यार्थमाह—प्रकरणेति। कोऽसौ प्रकरणार्थस्तस्य वा संग्रहे किं सिध्यति तदाह—यदेति। व्यवहारमात्रस्याविद्याविषयत्वेऽपि किं स्यादिति चेत्तदाह—तदेति। चतुर्थपादार्थमाह—उत्पत्तीति। उक्तमेवार्थं प्रश्नप्रतिवचनाभ्यां प्रपञ्चयति—कथमित्यादिना। द्वैतासत्त्वं श्रुत्यवष्टम्भेन स्पष्टयति—यत्र हीति। द्वैतस्यासत्त्वे कथमुत्पत्तिप्रलयौ न स्यातामित्याशङ्क्य [4]किं द्वैतस्य तौ किं वाऽद्वैतस्येत्याद्यं विकल्पं दूषयति—सतो हीति। द्वितीयं प्रत्याह—नापीति। व्यावहारिकद्वैताङ्गीकारात्तस्यैवोत्पत्तिप्रलयावित्याशङ्क्याऽऽह—यस्त्विति। विमतस्तत्त्वतो नोत्पत्तिप्रलयवान्कल्पितत्वाद्रज्जुसर्पवदित्यत्र दृष्टान्तासिद्धिमाशङ्क्य रज्जुसर्पस्य रज्ज्वामुत्पत्तिप्रलयौ मनसि वा द्वयोर्वेति विकल्प्य प्रथमं प्रत्याह—न हीति। रज्जुं पश्यतां सर्वेषामुपलब्धिप्रसङ्गादित्यर्थः। द्वितीयं दूषयति—न चेति। बहिरुपलब्धिविरोधादित्यर्थः। तृतीयं निरस्यति—न चेति। उभयतो मनोरज्जु[5]लक्षणे न रज्जुसर्पस्योत्पत्तिप्रलयौ युक्तौ द्वयाधारत्वानुपलम्भादित्यर्थः। रज्जुसर्पवद्द्वैतस्य [6]मानसत्वाविशेषान्न तत्त्वतो जन्मविनाशौ दर्शयितुं शक्याविति दार्ष्टान्तिकमाह—तथेति। द्वैतस्य न कुतश्चित्तात्त्विकौ जन्मविनाशाविति शेषः। मानसत्वासिद्धिमाशङ्क्याऽऽह—न हीति। अन्वयव्यतिरेकाभ्यां द्वैतं मनोविकल्पनामात्रमिति निगमयति—अत इति। न च मनो द्वैतस्य दर्शनमात्रे निमित्तमिति युक्तम्‌। भ्रमसिद्धस्याज्ञातसत्तायां प्रमाणाभावादित्यभिप्रेत्य प्रकृतमुपसंहरति—तस्मादिति।

१. सतः—विद्यमानस्येत्यर्थः। २. मन इत्यादि—मनः परिणामरूपाया इत्यर्थः। ३. नियत इति समाधिना निरुद्धे सतीत्यर्थः। ४. किं द्वैतस्येत्यादि-कार्यस्य कारणस्य वा ताविति भावः। ५. लक्षण इति—धर्मिद्वय इति शेषः। ६. मानसत्त्वम्—मनः स्फुरणत्वम्।

सुषुप्ते वा द्वैतं गृह्यते। अतो मनोविकल्पनामात्रं द्वैतमिति सिद्धम्। तस्मात्सूक्तं द्वैतस्यासत्त्वान्निरोधाद्यभावः परमार्थतेति।

यद्येवं द्वैताभावे शास्त्रव्यापारो नाद्वैते विरोधात्। तथा च सत्यद्वैतस्य वस्तुत्वे प्रमाणाभावाच्छून्यवादप्रसङ्गः। द्वैतस्य चाभावान्न रज्जुसर्पादिविकल्पनाया निरास्पदत्वानुपपत्तिरिति प्रयुक्तमेतत्कथमुज्जीवयसीत्याह। रज्जुरपि सर्प[1]विकल्पस्याऽऽस्पदभूता विकल्पितवेति [2]दृष्टान्तानुपपत्तिः। न। विकल्पनाक्षये [3]ऽविकल्पतस्याविकल्पितत्वादेव सत्त्वोपपत्तेः। रज्जुसर्पवदसत्त्वमिति। चेत्। न। एकान्तेनाविकल्पितत्वादविकल्पितरज्ज्वंशवत्प्राक्सर्पाभावविज्ञानात्। [4]विकल्पयितुश्च प्राग्विकल्पनोत्पत्तेः सिद्धत्वाभ्युपगमादसत्त्वानुपपत्तिः।

का भान सर्वथा नहीं होता। अतः अन्वय व्यतिरेक से यह सिद्ध हुआ कि द्वैत मन की कल्पना मात्र है। इसलिए यह भी ठीक ही कहा गया है कि द्वैत के मिथ्या होने से निरोध आदि का अभाव ही पारमार्थिकत्व है।

पूर्वपक्ष—यदि ऐसी बात है तो शास्त्रव्यापार द्वैत के अभाव प्रतिपादन में है, अद्वैत-बोध में नहीं। क्योंकि अद्वैत बोध में शास्त्र व्यापार मानने पर द्वैत प्रसक्ति रूप विरोध आता है। ऐसी स्थिति में अद्वैत के पारमार्थिकत्व होने में कोई प्रमाण न मिलने के कारण शून्यवाद का प्रसंग आ जाता है। क्योंकि द्वैत का अभाव है और अद्वैत बोध में कोई प्रमाण नहीं।

सिद्धान्त पक्ष—ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि रज्जु सर्पादि विकल्प का अधिष्ठान के बिना होना संभव नहीं। वैसे ही अधिष्ठान के बिना प्रपञ्च की कल्पना भी नहीं हो सकती। इस प्रकार शून्यवाद का निराकरण हम पहले भी कर आये हैं फिर उस निराकृत प्रश्न का उत्थापन क्यों करते हो?

पू० प०—इस पर शून्यवादी कहता है कि जब सम्पूर्ण विश्व कल्पित है तो विश्व की अन्तःपाती रज्जु भी कल्पित है। फिर भला रज्जु सर्प का दृष्टान्त विश्वकल्पना के लिए कैसे सम्भव होगा?

सि० प०—ऐसा कहना भी ठीक नहीं। क्योंकि कल्पना के नष्ट हो जाने पर अविकल्पित आत्मा की सत्ता अविकल्पितत्व के कारण ही सिद्ध हो जाती है। यह निर्विवाद है कि किसी भी कल्पना का अधिष्ठान अवश्य होना चाहिए। यदि कहो कि अद्वैत भी असत् है, अप्रामाणिक होने से, रज्जुसर्प की भाँति। तो ऐसा कहना ठीक नहीं। रज्जुसर्प के मिथ्या होने में भ्रान्ति विषयत्व प्रयोजक है। आत्मा

निरोधाद्यभावस्य परमार्थत्वे तत्रैव शास्त्रव्यापारादद्वैते तदव्यापारादभावबोधने व्यापृतस्य भावबोधने व्यापारविरोधादद्वैतमप्रामाणिकं प्राप्तमिति शङ्कते—यद्येवमिति। अद्वैतस्य प्रामाणिकत्वाभावे किं स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—तथा चेति। अद्वैतस्याप्रामाणिकत्वेऽपि कुतः शून्यवादो द्वैतस्य सत्त्वादित्याशङ्क्याऽऽह—द्वैतस्येति। नाप्रामाणिकशून्यवादो युक्तो यथा रज्ज्वामारोपितसर्पादे रज्जुरधिष्ठानम्। न हि निरधिष्ठानो भ्रमोऽस्ति। तथा द्वैतकल्पनाया निरधिष्ठानत्वायोगात्तदधिष्ठानत्वेनाद्वैतमास्थेयमित्योंकारप्रकरणे परिहृतमेतच्चोद्यं कथमुद्भावयसीति सिद्धान्तवाद्याह—

निरोधाद्यभावस्य परमार्थत्वे तत्रैव शास्त्रव्यापारादद्वैते तदव्यापारादभावबोधने व्यापृतस्य भावबोधने व्यापारविरोधादद्वैतमप्रामाणिकं प्राप्तमिति शङ्कते—यद्येवमिति। अद्वैतस्य प्रामाणिकत्वाभावे किं स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—तथा चेति। अद्वैतस्याप्रामाणिकत्वेऽपि कुतः शून्यवादो द्वैतस्य सत्त्वादित्याशङ्क्याऽऽह—द्वैतस्येति। नाप्रामाणिकशून्यवादो युक्तो यथा रज्ज्वामारोपितसर्पादे रज्जुरधिष्ठानम्। न हि निरधिष्ठानो भ्रमोऽस्ति। तथा द्वैतकल्पनाया निरधिष्ठानत्वायोगात्तदधिष्ठानत्वेनाद्वैतमास्थेयमित्योंकारप्रकरणे परिहृतमेतच्चोद्यं कथमुद्भावयसीति सिद्धान्तवाद्याह—

---

१. विकल्पस्य—आरोपितधर्मस्य। २. विकल्पितव—आरोपितवेत्यर्थः। ३. अविकल्पितस्य—अनारोपितस्येत्यर्थः। ४. विकल्पयितुरिति—आरोपाधिष्ठानस्येत्यर्थः।

कथं पुनः स्वरूपे व्यापाराभावे शास्त्रस्य द्वैतविज्ञाननिवर्तकत्वम्। नैष दोषः। रज्ज्वां सर्पादिवदात्मनि द्वैतस्याविद्याध्यस्तत्वात्। कथं सुख्यहं दुःखी मूढो जातो मृतो जीर्णो देहवान्पश्यामि [1]व्यक्तोऽव्यक्तः कर्ता फली संयुक्तो वियुक्तः क्षीणो वृद्धोऽहं ममैत इत्येवमादयः सर्वे आत्मन्यध्यारोप्यन्ते। आत्मैतेष्वनुगतः सर्वत्राव्यभिचारात्। यथा सर्पधारादिभेदेषु रज्जुः। यदा चैवं विशेष्यस्वरूपप्रत्ययस्य सिद्धत्वान्न कर्तव्यत्वं शास्त्रेण। [2]अकृतकर्तृ च शास्त्रं [3]कृतानुकारित्वेऽप्रमाणम्। यतोऽविद्याध्यारोपितसुखित्वादिविशेषप्रतिबन्धादेवाऽऽत्मनः स्वरूपेणानवस्थानं स्वरूपावस्थानं च न श्रेय इति।

भ्रम का साक्षी है न कि भ्रम का विषय। अतः अविकल्पित रज्जु अंश के समान सर्पाभाव ज्ञान से पहले वह सर्वथा अविकल्पित ही है। विकल्प में ही रज्जु का सामान्य अंश कल्पित सर्प के साथ तादात्म्य होकर भासता है। फिर भी वह सामान्य अंशस्वरूप से कल्पित नहीं है, केवल उसका तादात्म्य संसर्ग ही कल्पित है। इसके अतिरिक्त विकल्प करने वाले की सत्ता विकल्प उत्पत्ति से पूर्व भी सिद्ध मानी गई है। अतः विकल्प के अधिष्ठान आत्मा की असत्ता किसी भी प्रकार से नहीं मानी जा सकती।

पू० प०—जब आत्मस्वरूप में शास्त्र का व्यापार ही नहीं है तो फिर भला द्वैत विज्ञान का निवर्तक शास्त्र कैसे हो सकता है?

सि० प०—यह दोष भी ठीक नहीं क्योंकि जैसे रज्जु में सर्पादि अज्ञान से कल्पित हैं वैसे ही आत्मा में द्वैत प्रपञ्च अविद्या से कल्पित हैं। कैसे? "मैं सुखी हूँ, दुःखी हूँ, मूर्ख हूँ, उत्पन्न हुआ हूँ, मैं मर गया, मैं बूढ़ा हो गया, देहधारी हूँ, देखता हूँ, अव्यक्त हूँ, कर्त्ता हूँ, फलवाला हूँ, संयुक्त हूँ, वियुक्त हूँ, क्षीण हूँ, वृद्ध हूँ, ये मेरे हैं इत्यादि विकल्प आत्मा में कल्पित किए जाते हैं और आत्मा इन सभी विकल्पों में अनुगत है।

नेत्यादिना। [4]तत्र शून्यवादी स्वमतानुसारेण दृष्टान्तासम्प्रतिपत्त्या चोदयति—आहेति। [5]स्वमतसंमतस्यैव दृष्टान्ततेत्यनियमात्प्रसिद्धिमात्रेण परप्रतिबोधनसंभवाद्भ्रमबाधे परिशिष्यमाणस्यावधेः सत्यताया रज्ज्वादौ दृष्टत्वाद्द्वैतभ्रम-[6]बाधसाक्षितया स्फुरतश्चैतन्यस्याकल्पितत्वादेव सत्त्वान्न शून्यताप्रसक्तिरित्युत्तरमाह—नेत्यादिना। [7]अद्वैतमसदप्रामाणिकत्वाद्रज्जुसर्पवदिति [8]तदकल्पितत्वासिद्धिं शङ्कते—रज्ज्वेति। रज्जुसर्पस्यासत्त्वे [9]भ्रान्तिविषयत्वं प्रयोजक[10]मात्मनस्तु [11]भ्रमसाक्षित्वा[12]न्नियमेन भ्रमाविषयत्वान्नासत्त्वमित्युत्तरमाह—नैकान्तेनेति। अप्रामाणिकत्वहेतोरनैकान्तिकत्वं दोषान्तरमाह—अविकल्पितेति। नायं सर्पो रज्जुरेवेति सर्पाभावज्ञानपूर्वकपुरोवर्तिरज्जुत्वनिश्चयात्प्रागवस्थायां प्रामाणिकत्वाभावेऽपि सन्नेवाज्ञातो रज्ज्वंशोऽभ्युपगम्यते। तथा सदैव प्रामाणिकत्वाभावेऽपि सन्नेवाऽऽत्मा भविष्यतीत्यर्थः। आत्मनोऽसत्त्वाभावे हेत्वन्तरमाह—विकल्पयितुश्चेति।

आत्मनो द्वैतभ्रमाधिष्ठानत्वेन संभावितत्वाद्बाधसाक्षित्वेन परिशिष्टत्वात्पूर्वं भ्रमोत्पत्तेः स्वतः सिद्धत्वाच्च प्रमाणाविषयत्वेऽपि नास्ति शून्यतेत्युक्तम्। इदानीं [13]प्रमिते धर्मिणि प्रतिषेधदर्शनादात्मनोऽप्रमितत्वे तत्र द्वैताभाव-

---

१. व्यक्तः—विदितः। अव्यक्तः—अविदितः। २. अकृतकर्त्रिति—अज्ञातज्ञापकमित्यर्थः। ३. कृतेत्यादि—सिद्धानुवादित्वे इत्यर्थः। ४. तत्रेति—सिद्धान्तिमते। ५. स्वमतेति—सिद्धान्तिमतेत्यर्थः। ६. बाधसाक्षितयेति—अद्वैतमकल्पितम्, बाधकालेऽपि स्फुरत्वाद्रज्जुवदिति भावः। ७. अद्वैतमसदित्यादि—भ्रान्तिविषयत्वमत्रोपाधिर्द्रष्टव्यः। ८. सत्त्वाकल्पितत्वे एकीकृत्याह—तदकल्पित्वेति। ९. भ्रान्तिविषयत्वं प्रयोजकमिति—तथा चोक्तमप्रामाणिकत्वमप्रयोजकमेव। प्रामाणस्यासत्वाभावेऽप्यनवस्थाभयात् प्रमाणसिद्धत्वानर्हतया अनुकूलतर्कविधुरत्वादितिभावः। १०. ननु वस्तु तर्हि भ्रान्तिविषयत्वादेवात्मनोऽसत्त्वमित्याशङ्क्याह—आत्मनस्त्विति। ११. कदाचित्भ्रमविषयत्वमप्रयोजकं सर्पभ्रमकाले रज्ज्वा अपि तद्विषयत्वेऽप्यसत्वाभावात्। भ्रमविषयत्वव्याप्यंसत्ताकत्वस्य च, असत्वप्रयोजकस्यात्मन्यसिद्धत्वादिति भावः। १२. नियमेन भ्रमाविषयत्वे हेतुमाह—भ्रमसाक्षित्वादिति। भ्रमबाधे परिशिष्यमाणत्वादिति यावत्। १३. प्रमिते—प्रमाणसिद्धे।

सुखित्वादिनिवर्तकं शास्त्रमात्मन्यसुखित्वादिप्रत्ययकरणेन नेति नेत्यस्थूलादिवाक्यैरात्मस्वरूपवदसुखित्वाद्यपि सुखित्वादिभेदेषु नानुवृत्तोऽस्ति धर्मः। यद्यनुवृत्तः स्यान्नाध्यारोपितसुखित्वादिलक्षणो विशेषः। यथोष्णत्वविशेषवत्यग्नौ शीतता। [1]तस्मान्निर्विशेष एवाऽऽत्मनि सुखित्वादयो विशेषाः कल्पिताः। [2]यत्त्वसुखित्वादिशास्त्रमात्मनस्तत्सुखित्वादि[3]विशेषानिवृत्त्यर्थमेवेति सिद्धम्। "[4]सिद्धं तु निवर्तकत्वात्" इत्यागमविदां सूत्रम् ॥३२॥

विकल्पों का परस्पर व्यभिचार होते हुए भी अहं तत्त्व आत्मा का सर्वत्र अव्यभिचार है। जैसे सर्प, जलधारादि विकल्पों से रज्जु का अव्यभिचार है क्योंकि रज्जु के इदमंश की प्रतीति सभी विकल्पों के साथ होती ही है।

जब ऐसी बात है तो विकल्प विशेषणों के विशेष्य रूप ब्रह्म के स्वरूप बोध में शास्त्र का कुछ भी कर्त्तव्य नहीं क्योंकि अहं प्रतीति के विषय आत्मा रूप विशेष्य का सदा भान हो रहा ही है। शास्त्र तो अज्ञात का ज्ञापक होता है और सिद्ध वस्तु के अनुवाद करने पर शास्त्र अप्रमाण हो जायगा। इसलिए यह मानना ही ठीक है कि द्वैत निषेध में शास्त्र प्रमाण, अद्वैत बोध में नहीं क्यों कि अविद्या से कल्पित सुखित्व आदि रूप विशेष प्रतिबन्धकों के कारण ही आत्मा का स्वरूपतः अवस्थान नहीं हो रहा है और स्वरूपतः अवस्थान को ही मोक्ष कहा है। इसलिए 'नेति नेति' एवं 'अस्थूलमनणु' इत्यादि वाक्यों से आत्मा में असुखित्व आदि बोध कराकर सुखित्व आदि कल्पित धर्म को निवृत्त कर डालता है। जिस प्रकार आत्मा का स्वरूप सुखित्वादि विकल्प भेद में अनुवृत्त नहीं होता वैसे ही असुखित्वादि धर्म भी कल्पित भेद में अनुस्यूत नहीं होता। यदि असुखित्वादि का भान आत्मस्वरूप के समान ही होने लग जाय तो कल्पित सुखित्वादि रूप विशेष का भान ही न हो। जैसे उष्णत्व धर्म

प्रमापकं शास्त्रमुक्तमिति शङ्कते—कथमिति। [5]प्रतिपन्ने धर्मिणि प्रतिषेधात्प्रमिते प्रतिषेधस्य [6]विशेषणवैफल्यादेवानभ्युपगमादात्मनश्च सर्वकल्पनास्वधिष्ठानाकारेण स्फुरणाङ्गीकरणात्तस्मिन्प्रतिपन्ने द्वैतप्रतिषेधः संभवतीति परिहरति—नैष दोष इति। अमाविषयस्याऽऽत्मनोऽध्यासानुगततया स्फुरणमघटमानमित्याक्षिपति—कथमिति। स्वप्रकाशत्वेन स्वतो निर्विकल्पकस्फुरणेऽपि सविकल्पक[7]व्यवहारे [8]समारोपितसंसृष्टाकारेण भ्रमविषयत्वमविरुद्धमित्याह—सुख्यहमित्यादिना। उक्तन्यायेनाऽऽत्मप्रतीतेः सिद्धत्वात्प्रतिपन्ने तस्मिन्द्वैतप्रतिषेधस्य सुकरतेति फलितमाह—यदा चेति। न केवलमारोपितविशेषणैर्विशेष्यस्याऽऽत्मनः स्वरूपस्फुरणस्य सिद्धत्वादेव न शास्त्रेण कर्तव्यत्वमनुवादत्वेनाप्रामाण्यप्रसङ्गाच्चैवमित्याह—अकृतेति। स्फुरत्यात्मनि द्वैतनिषेधकत्वेऽपि शास्त्रस्य फलाभावादप्रामाण्यं तदवस्थमित्याशङ्क्याऽऽह—अविद्येति। प्रतिषेधशास्त्रादपनीते प्रतिबन्धे स्वरूपावस्थानं फलतीत्यर्थः। निःशेषदुःखनिवृत्तिर्निरतिशयानन्दावाप्तिश्च परं श्रेयो न स्वरूपावस्थानमित्याशङ्क्याऽऽह—स्वरूपेति। इति प्रसिद्धं मोक्षशास्त्रेष्विति शेषः।

---

१. तस्मादिति—निःसामान्यविशेषत्वेनात्मनोऽखिलधर्मानास्कन्दितत्वादित्यर्थः। २. आत्मनो वस्तुतो निर्विशेषत्वे सुखित्वादिविशेषवदेवास्थूलमित्यादि शास्त्रोक्ता असुखित्वादयोऽपि विशेषत्वाविशेषात् कल्पिता एव विशेषाः स्युरित्याशङ्क्याह—यत्त्वसुखित्वादि शास्त्रमित्यादि। ३. विशेषनिवृत्त्यर्थमेवेति—न त विशेषतयाऽसुखित्वादि प्रतिपादनार्थम्, तेषामात्मस्वरूपत्वेन विशेषत्वस्यैवाभावादिति भाव इत्येव कृत्यम्। ४. पदशक्तिसहकारेणैव शास्त्रस्य प्रमितिजनकत्वम्, अखिलधर्मशून्ये ब्रह्मात्मनि न कस्यापि पदस्य शक्तिरस्ति धर्मवत एव शक्यत्वात् तथा शास्त्रस्य न तत्र प्रामाण्यसंभव इत्यत आह—सिद्धं त्विति। ५. प्रतिपन्ने—सिद्धे। सिद्धत्वं च प्रत्यक्षादिना स्वप्रकाशत्वेन वेत्यनाग्रहः। ६. विशेषणेति—प्रमिते प्रतिषेध इत्यस्य प्रमाणसिद्धे प्रतिषेध इत्यर्थः। तत्र च प्रमाणविशेषणं विफलमित्यर्थः ७. व्यवहार इति—आविद्यकेऽहं सुख्यादिव्यवहार इत्यर्थः। ८. समारोपितेति—समारोपितोऽध्यस्तो यस्तादात्म्यसंसर्गस्तद्विशिष्टाकारेणेत्यर्थः।

भावैरसद्भिरेवायमद्वयेन च कल्पितः।
भावा अप्यद्वयेनैव [1]तस्मादद्वयता शिवा ॥३३॥

[रज्जु सर्प की भाँति यह आत्मतत्त्व प्राणादि अनन्त असद् भावों से और अद्वैतरूप से कल्पित है। वे प्राणादि असद् भाव भी अद्वैत सत्स्वरूप आत्मा में ही कल्पना किये गये हैं। अतः अद्वैत भाव ही मंगलमय है ॥३३॥]

पूर्वश्लोकार्थस्य हेतुमाह—यथा रज्ज्वामसद्भिः सर्पधारादिभिरद्वयेन च रज्जुद्रव्येण सताऽयं सर्प इयं धारा दण्डोऽयमिति वा रज्जुद्रव्यमेव कल्प्यत एवं प्राणादिभिरनन्तैरसद्भिरेवाविद्यमानैः, न

विशेष वाले अग्नि में शीतता का आरोप नहीं होता। अतः निर्विशेष आत्मा में सुखित्वादि रूप विशेष कल्पित हैं। इससे यह भी सिद्ध हो गया कि जो आत्मा के विषय में असुखित्वादि बोधक शास्त्र है वह भी केवल सुखित्वादि कल्पित विशेषनिवृत्ति के लिए ही है।

इसी विषय में शास्त्रवेत्ता द्रविडाचार्य का सूत्र भी है। असुखित्वादि रूप कल्पित धर्मों का निवर्तक होने से शास्त्र प्रामाणिक है। स्वाभाविक द्वैताभाव के बोधन से अध्यस्त वस्तु को निवृत्ति हो जाने के कारण शास्त्र को प्रमाण माना है ॥३२॥

अद्वैत भाव ही मङ्गलमय है।

पूर्वश्लोक के अर्थ को सिद्ध करने के लिए हेतु दिखलाते हैं जैसे रज्जु में असत् सर्प जलधारादि भावों से एवं सत् अद्वितीय रज्जु-द्रव्य रूप से यह सर्प है, यह जलधारा है या यह दण्ड है। इस प्रकार रज्जुद्रव्य ही कल्पित किया जाता है। ऐसे ही परमार्थ दृष्टि से अविद्यामान असंख्य प्राणादि रूप से आत्मा ही कल्पित हो रहा है। अर्थात् उन सम्पूर्ण कल्पनाओं का अधिष्ठान आत्मा ही है क्योंकि मन

द्वैतनिवर्तकत्वे शास्त्रस्य [2]कारकत्वं स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—[3]सुखित्वादीति। असुखित्वादेः स्वाभाविकत्वादात्मनि स्फुरत्यस्फुरणमनुपपन्नमित्याशङ्क्य भ्रमविषयशुक्तीदमंशादेश्च स्वाभाविकोऽपि रजतादिभेदो दोषमाहात्म्याद्यथा न प्रतिभाति तथाऽचिन्त्यशक्त्यविद्याप्रभावादात्मनि स्फुरत्यपि सुखित्वाद्यध्यासविरोध्यसुखित्वादिरूपेणास्फुरणमविरुद्धमित्याह—आत्मेति। विपक्षे भ्रमानुपपत्तिरित्याह—यदीति। उक्तमर्थं संक्षिप्य निगमयति—तस्मादिति। असुखित्वादेरकल्पितत्वमसिद्धमाशङ्क्य निरस्यति—यत्त्विति। अस्थूलम[4]शोकान्तरमित्यादि वाक्यं शास्त्रशब्देन गृह्यते। [5]उक्तेऽर्थे द्रविडाचार्यसंमतिमाह—सिद्धं त्विति। ब्रह्मणि पदानां [6]व्युत्पत्त्यभावेऽपि सिद्धमेव शास्त्रप्रामाण्यमभावबोधनव्युत्पन्नञ्पदसंसृष्टैः [7]स्थूलादिव्युत्पन्नपदैः स्वाभाविकद्वैताभावबोधनेनाध्यस्तनिवर्तकत्वादिति सूत्रार्थः ॥३२॥

यदुक्तं निरोधाद्यभावस्य परमार्थतेति तदयुक्तम्। [8]सामान्यविशेषात्मकं वस्तु [9]नानारसमिति [10]मते निरोधादेः सुसाध्यत्वादित्याशङ्क्याऽऽह—भावैरिति। भावा व्यावृत्ता [11]विशेषाः। ते च व्यभिचारित्वादसन्तो रज्जुसर्पवत्।

---

१ तस्मादिति—सर्वकल्पनाधिष्ठानत्वादित्यर्थः।

२. कारकत्वम्—कारकत्वं चेह ज्ञानेतर जनकत्वमवगन्तव्यम्। ३. सुखित्वादितीति—यथा च शास्त्रजन्यज्ञानस्य सुखित्वादि निवर्तकत्वेन शास्त्रे तन्निवर्तकत्वव्यवहार औपचारिक इति भाव इति शेषः। ४. शोकान्तरमिति—शोकवर्जितं शोकमध्यं वार्थः शोकमध्यमित्यस्य च शोकस्यापि प्रत्यगात्मरूपमित्यर्थः। ५. उक्तेऽर्थे—आत्मनोऽखिलधर्मशून्यत्वरूपेऽर्थे इत्यर्थः। ६. व्युत्पन्नेति—शक्त्येत्यर्थः। ७. स्थूलादिव्युत्पन्नपदैः—स्थूलाद्यर्थबोधनशक्तैः। ८. सामान्यविशेषात्मकमिति—धर्मधर्म्यात्मकमित्यर्थः। घटत्वघटादिरूपमिति यावत्। ९. नानारसम्—अनेकविधम्। १०. मते—भर्तृप्रपञ्चादिमते इत्यर्थः। ११. विशेषा इति—धर्मिरूपा घटादयो भेदा इत्यर्थः।

परमार्थतः । न ह्यप्रचलिते मनसि कश्चिद्भाव उपलक्षयितुं शक्यते केनचित् । न चाऽऽत्मनः प्रचलनमस्ति । प्रचलितस्यैवोपलभ्यमाना भावा न परमार्थतः सन्तः कल्पयितुं शक्याः । अतोऽसद्भिरेवः प्राणादिभावैरद्वयेन च परमार्थसताऽऽत्मना रज्जुवत्सर्वविकल्पास्पदभूतेनायं स्वयमेवाऽऽत्मा कल्पितः सदैकस्वभावोऽपि संस्ते च प्राणादिभावा अप्यद्वयेनैव सताऽऽत्मना विकल्पिताः । न हि निरास्पदा

के कल्पना शून्य हो जाने पर किसी भी व्यक्ति से कोई भी भाव देखा नहीं जा सकता । आत्मा में प्रचलन रूप धर्म नहीं है जो प्रचलित होता है ऐसे चित्र से दीखने वाले पदार्थ परमार्थतः सत्य है ऐसी कल्पना नहीं की जा सकती । अतः आत्मा स्वयं सत् स्वरूप है वह रज्जु की भाँति परमार्थ सत अद्वितीयरूप है । उसी अपने रूप में रहते हुए ही असत् स्वरूप प्राणादि सम्पूर्ण विकल्पों के आश्रय रूप से रज्जु की भाँति कल्पित हो रहा है और स्वयं एक मात्र सत्स्वरूप ही है तात्पर्य यह कि अनेक कल्पनाओं के होने पर भी रज्जु स्वरूप से अविकल्पित होती हुई सर्पादि रूप से कल्पित मानी गयी है । वैसे स्वरूपतः विकल्पशून्य होता हुआ भी आत्मा प्राणादिरूप से अज्ञानियों द्वारा कल्पित हो गया है ।

---

[1]अद्वयमनुवृत्तं सामान्यं विशेषाकारैरवस्तुभूतैः सामान्याकारेण च तादृशेनाय[2]अव्यावृत्तानुगतपूर्णसत्ताचिदेकतानः सन्नात्मैव मूढैर्मोहमाहात्म्यात्कल्प्यते । न वस्तुतः सामान्यविशेषभावोऽस्ति [3]परस्पराश्रयत्वादित्यर्थः विशेषाणामसत्त्वे कथं सत्त्वेन व्यवहारः स्यादित्याशङ्क्य सत्तातादात्म्येन कल्पितत्वात्तेषां सत्त्वेन व्यवहारोपपत्तिरित्याह—भावा इति । अनुगतसत्ताकारेण कल्पिताः सत्त्वव्यवहारा भवन्तीति शेषः । सामान्यविशेषभावस्य कल्पितत्वादखण्डैकरसत्वे वस्तुनः सिद्धे निरोधादेर्दुःसाधनत्वमुचितमिति फलितमाह—तस्मादिति । श्लोकतात्पर्यं दर्शयति—पूर्वेति । निरोधादिसर्वविशेषाभावोपलक्षितं वस्तु वस्तुभूतमिति पूर्वश्लोकार्थस्तस्य [4]सामान्यविशेषात्मके वस्तुनि विशेषानाश्रित्य निरोधादेः सुसाधनत्वादसत्त्वमाशङ्क्यते [5]तेन तस्य [6]साधनापेक्षायां तत्प्रदर्शनपरोऽयं श्लोक इत्यर्थः । तत्र पूर्वार्धगतान्यक्षराणि दृष्टान्तावष्टम्भेन व्याचष्टे—यथेत्यादिना संसृष्टरूपेण कल्पितत्वेऽपि स्वरूपेणानारोपितत्वाद्रज्जुद्रव्यस्य [7]व्यावहारिकसत्यत्वमुन्नेयम् । अविद्यमानैरयमात्मा कल्प्यते न परमार्थस्तेषां सत्त्वमिति शेषः । कथं प्राणादीनां परमार्थतोऽसत्त्वमित्याशङ्क्यान्वयव्यतिरेकाभ्यां तेषां मनःस्पन्दितमात्रत्वप्रतीतेर्मृषात्वं स्वप्नवदित्याह—न हीति । आत्मपरिणामत्वान्मनश्चलनमन्तरेणापि प्राणादिभावानां परमार्थतः सत्त्वमित्याशङ्क्याऽऽह—न चेति । न हि विभोरात्मनो नभोवच्चलनं [8]वास्तवमवकल्पते । न च तदभावे निरवयवस्य परिणामसंभावनेत्यर्थः । प्राणादीनामात्मपरिणामत्वासंभवे फलितमाह—प्रचलितस्येति । प्रगतं चलितं यस्य स तथा कूटस्थस्यैवाऽऽत्मनो भासमाना भावा न परमार्थतः सन्तो भवितुमुत्सहन्ते । दृश्यत्वजडत्वाविना स्वप्नवन्मिथ्यात्वसिद्धेरित्यर्थः । एवं प्राणादिभावानां मिथ्यात्वं प्रसाध्य फलितं दर्शयन्पूर्वार्धाक्षराणां व्याख्यानमुपसंहरति—अत इति । अद्वयस्य परमार्थत्वात्तदात्मना कथमात्मा कल्पितः स्यादित्याशङ्क्य स्वरूपेणाकल्पितस्य [9]संसृष्टरूपेण कल्पितत्वमिष्टमित्याह—परमार्थसतेति । अविद्याव[illegible]ादिष्टा कल्पना न स्वभाववशादित्याह—सदेति । प्राणादीनामसत्त्वे सत्त्वेन कथं व्यवहारगोचरत्वमित्याशङ्क्य तृतीयपादार्थमाह–ते चेति । कल्पितानां

---

१. अद्वयमित्यस्य व्याख्यानमनुवृत्तमित्यनुगतमित्यर्थः । २. अव्यावृतेत्योदि—अव्यावृत्तविशेषणेन व्यावृताकारा घटादयो विशेषा व्यावर्तन्ते, अनुगतविशेषणेन च अनुगतं सामान्यं गोत्वादि व्यावर्त्यते ।

३. परस्पराश्रयत्वादि—ज्ञप्तावन्योन्याश्रयत्वादित्यर्थः । सामान्यं हि घटत्वादि सकलघट व्यक्तिवृत्ति, नहि तत् सकलघटज्ञानं विनाज्ञातुं शक्यं घटाश्च घटत्वविशिष्टा इति तज्ज्ञाने घटत्वज्ञानमपेक्षते इत्यन्योऽन्याश्रयः । ४. सामान्येति—धर्मधर्मिरूपेत्यर्थः । ५. तेनेति—तत्सत्वस्याशङ्कितत्वेनेत्यर्थ । ६. साधनापेक्षायामिति—पूर्वश्लोकोक्तार्थस्योपपादनापेक्षायानित्यर्थः । ७. व्यावहारिकेति—भाष्यस्य सतेति विशेषणोपपादनार्थमिदम् । ८. अवकल्पते—संभवतीत्यर्थ । ९. संसृष्टरूपेणेति—आरोपितप्राणादितादात्म्येनेत्यर्थः ।

नाऽऽत्मभावेन नानेदं न स्वेनापि कथंचन।
न पृथङ्नापृथक्किंचिदिति तत्त्वविदो विदुः ॥३४॥

[अद्वितीयब्रह्म में यह नानात्त्व न परमार्थआत्मस्वरूप से है और न अपने जगद् रूप से ही कुछ है। कोई भी वस्तु न ब्रह्म से भिन्न है और न अभिन्न है। ऐसा तत्त्वज्ञानी जानते हैं ॥३४॥]

काचित्कल्पनोपलभ्यते। अतः सर्वकल्पनास्पदत्वात्स्वेनाऽऽत्मनाऽद्वयस्याव्यभिचारात्कल्पनावस्थाया-मप्यद्वयता शिवा। कल्पना एव त्वशिवाः। रज्जुसर्पादिवत्त्रासादिकारिण्यो हि ताः। अद्वयताऽभयाऽत सैव शिवा ॥३३॥

कुतश्चाद्वयता शिवा। नानाभूतं पृथक्त्वमन्यस्यान्यस्माद्यत्र दृष्टं [1]तत्राशिवं भवेत्। न ह्यत्राद्वये परमार्थसत्यात्मनि प्राणादिसंसारजातमिदं जगदात्मभावेन परमार्थस्वरूपेण निरूप्यमाणं नाना वस्त्व-

---

वे प्राणादि पदार्थ भी अद्वितीय सत्स्वरूप आत्मा से ही कल्पना किये गये हैं क्योंकि कोई भी कल्पना आधार के बिना नहीं देखी गयी। अतः सम्पूर्ण कल्पनाओं का अधिष्ठान होने से स्वरूपतः अद्वैत तत्त्व का व्यभिचार नहीं होता। विशेष क्या? कल्पना अवस्था में भी परमार्थतः अद्वितीयता ही मङ्गलमयी है। केवल कल्पना ही अमङ्गलमयी मानी गई है क्योंकि रज्जु-सर्प की भाँति वे भय कम्पादि के कारण हैं और अद्वितीयता अभयस्वरूप है। अतः इस अद्वयरूप को मङ्गलमय मानना सर्वथा उचित ही है ॥३३॥

तत्त्वज्ञानी की दृष्टि में नानात्व है।

अद्वितीयता क्यों मङ्गलमयी है? जहाँ एक से दूसरे का पार्थक्य देखा गया है वहाँ अमंगल होता है। किन्तु इस अद्वितीय परमार्थ सत्यस्वरूप आत्मा में यह प्राणादि संसार समुदाय जगत् परमार्थस्वरूप आत्मभाव से निरूपण किये जाने पर नानावस्त्वन्तर नहीं रह जाता। उस समय तो आत्मा ही अवशिष्ट रहता है। जैसे प्रकाश में रज्जु रूप से देखने पर कल्पित सर्पादि भेद नहीं रहता वैसे ही परमार्थ दृष्टि से आत्मतत्त्व का निरूपण करने पर भेद प्रपञ्च नहीं रह जाता है। और न अपने

प्राणादिभावानामधिष्ठानसत्तया न सत्ताऽवकल्प्यते तेषामधिष्ठानापेक्षानियमाभावादित्याशङ्क्याऽऽह—न हीति। सर्वविकल्पना साधिष्ठानैव दृश्यते। न [2]चासतोऽधिष्ठानत्वमारोपितानुवेधाभावात्तदनुवेधात्तु [3]सतोऽधिष्ठानत्व-मेष्टव्यम्। [4]तथा च प्राणादिभावानां वस्तुतोऽसत्त्वेऽपि सति कल्पितानां सत्त्वेन व्यवहारसिद्धिरित्यर्थः। चतुर्थ-पादार्थमाह—अत इति। स्वेनेति विशेषणं संसृष्टरूपेण व्यभिचाराङ्गीकारार्थम्। कल्पनाराहित्यदशायामेवाद्वयता शिवेत्याशङ्क्य कल्पनामात्रस्याशिवत्वान्मैवमित्याह—कल्पनेति। त्रासादीत्यादिशब्देन हर्षशोकादयो गृह्यन्ते। यदुक्तम-द्वयता शिवेति तदुपपादयति—अद्वयतेति ॥३३॥

किंच किमिदं नानाभूतं द्वैतमात्मतादात्म्येन वा सिध्यति [5]स्वातन्त्र्येण वेति विवेक्तव्यम्। नाऽऽद्य इत्याह—नाऽऽत्मभावेनेति। इदं हि नानाभूतं द्वैतं नाऽऽत्मतादात्म्येन सेद्धुमर्हति। जडाजडयोर्विरुद्धस्वभावयोस्तादात्म्यायोगात्। भेदादशून्यात्मतादात्म्ये च द्वैतस्य नानात्वासिद्धेरित्यर्थः। द्वितीयं दूषयति—न स्वेनेति। स्वेन सत्ताप्रतीत्योरन्यानपेक्षता-लक्षणस्वातन्त्र्येणापि नेदं द्वैतं सेद्धुं पारयति। [6]तथा स्वातन्त्र्ये सत्यात्मत्वप्रसङ्गादनात्मनोऽद्वैतत्वापातादित्यर्थः। किंच किमिदं द्वैतमन्योन्यं पृथगपृथग्वेति विवेक्तव्यं नाऽऽद्य इत्याह—न पृथगिति। न हि किंचिदपि द्वैतं परस्परं पृथगेव

---

१. शिवेति—निरतिशयानन्दरूपेत्यर्थः। २. असतः—शून्यादेरित्यर्थः। ३. तुरेवार्थकः ४. तथा चेति—सत एवाधिष्ठानत्वे इत्यर्थः। ५. स्वातन्त्र्येणेति—स्वीयसत्तास्फूर्त्योरन्यानपेक्षत्वरूपेणेति भावः। ६. तथेति—आत्मवदित्यर्थः।

न्तरभूतं भवति। यथा रज्जुस्वरूपेण प्रकाशेन निरूप्यमाणो न नानाभूतः कल्पितः सर्पोऽस्ति तद्वत्। नापि स्वेन प्राणाद्यात्मनेदं विद्यते कदाचिदपि रज्जुसर्पवत्कल्पितत्वादेव। तथाऽन्योन्यं न पृथक्प्राणादि वस्तु यथाऽश्वान्महिषः पृथग्विद्यत एव। अतोऽसत्त्वान्नापृथग्विद्यतेऽन्योन्यं परेण वा किंचिदिति एवं परमार्थतत्त्वमात्मविदो ब्राह्मणा विदुः। अतोऽशिवहेतुत्वाभावादद्वयतैव शिवेत्यभिप्रायः ॥३४॥

प्राणादि रूप से ही जगत् रह जाता है क्योंकि रज्जु सर्प की भाँति वह तो सदा से कल्पित ही रहा है। अतः परमार्थ तत्त्व के बोध काल में अधिष्ठान दृष्टि से और अध्यस्त दृष्टि से भी कल्पित वस्तु का अभाव ही सिद्ध होता है।

एवं जैसे घोड़े से भैंसा पृथक् है, वैसे प्रमादि वस्तु परस्पर पृथक् नहीं हैं और असत् होने से परस्पर या किसी अन्यरूप से कोई भी वस्तु अपृथक् नहीं है ऐसा आत्मदर्शी ब्राह्मण लोग परमार्थ तत्त्व को जानते हैं। अतः अमंगल के कारण का अभाव हो जाने से अद्वय भाव ही मङ्गलमय है। यह इसका अभिप्राय है ॥३४॥

सिध्यति पृथक्त्वस्य धर्मिप्रतियोगि[1]रूपावच्छिन्नत्वे[2]नान्योन्याश्रयत्वाद्ध[3]र्मत्वस्वरूपत्वयोर्दुर्वचनत्वादित्यर्थः। नापि किंचिदन्योन्यमपृथग्भूत्वा सिध्यति। घटपटादिशब्दानां पर्यायत्वप्रसङ्गाद्व्यवहारलोपापातादित्याह—नापृथगिति। [4]अतो वास्तवाकारेण सर्वथा [5]निरूपणासहमेव द्वैतमिति फलितमाह—इति तत्त्वेति। युक्तमद्वयता शिवेति तत्र हेत्वन्तरोपन्यासपरत्वं श्लोकस्य दर्शयति—कुतश्चेति। [6]तदेव स्फुटयति—नानाभूतमित्यादिना। नानाभूतमित्यस्य पर्यायोपादानं पृथक्त्वमिति तस्य भयकारणत्वं प्रकटयति—अन्यस्येति। तत्र व्याघ्रचोरादाविति यावत्। तद्भयकारणं भेददर्शनमद्वये वस्तुनि नास्तीत्याह—न हीति। अध्यस्तमधिष्ठानरूपेण तत्त्वतो निरूप्यमाणमसदेव भवतीत्यत्र दृष्टान्तमाह—यथेति। प्रदीपप्रकाशेनाधिष्ठानमात्रतया समारोपितः सर्पो यदा निरूप्यते तदा नासौ तद्व्यतिरेकेण सिध्यति। तथा जगदपीदं तदात्मस्वरूपेण निरूप्यमाणं नान्यत्वेन सिध्येदित्यर्थः। एवं प्रथमपादं व्याख्याय द्वितीयपादं व्याचष्टे—नापीति। कदाचिदपीति। कल्पनावस्थायां प्रागूर्ध्वं चेत्यर्थः। न पृथगित्यस्यार्थमाह—तथेति। पृथक्त्वस्यान्योन्याश्रयत्वेन दुर्वचनत्वात्। वैधर्म्योदाहरणं तु प्रातीतिकं पृथक्त्वमधिकृत्याविरुद्धम्। नापृथगित्यादि व्याकरोति—अत इति। द्वैतस्य प्रागुक्तन्यायेनासत्त्वान्न तदन्योन्यं वा परेणाऽऽत्मना वा सहापृथग्भूत्वा सेद्धुमर्हति। अतो दुर्निरूपत्वान्न किंचिदद्वैतं नामास्तीति ब्रह्मविदां मतमित्यर्थः। दृष्टं हि द्वैतं भयहेतुस्तदस्पृष्टं पुनरद्वैतमभयमेवेत्युपसंहरति—अत इति ॥३४॥

---

१. रूपावच्छिन्नत्वेनेति—तदवच्छिन्नत्वमिह तन्निरूप्यत्वमित्यर्थः। २. अन्योन्याश्रयत्वादिति-न पृथक्त्वबुद्धिर्घटते प्रमाणतो विना च धर्मिप्रतियोगिसंविदा। न पृथकत्वबुद्धि विरहय्य कल्पते तथैव धर्मिप्रतियोगिधीरपि, इत्यन्योऽन्याश्रयो बोध्यः धर्मिप्रतियोगिज्ञाने पृथक्त्वज्ञान पृथक्त्वज्ञाने च तयोर्ज्ञानमिति ज्ञप्तावन्योऽन्याश्रयः। ३. धर्मत्वेत्यादि—प्रतियोगिविशिष्टस्य पृथक्त्वस्य धर्मत्वे घटादेरपि पटादिधर्मत्वप्रसङ्गः, स्वरूपत्वं तु तस्येतरसापेक्षत्वादेव न संभवतीति संक्षेपः। पृथक्त्वस्य धर्मत्वे धर्मिणः सकाशात्तस्य पृथक्त्वं वाच्यम्। अपृथग्भूतयोस्तयो धर्मधर्मिभावायोगादित्येकानवस्था, तथा पृथक्त्वं किं पृथक्त्ववति वर्तते तद्रहिते वा। नान्त्यो, व्याघातात्। आद्येऽपि किं तेनैव पृथक्त्वे नाश्रयस्य तद्वत्वं पृथक्त्वान्तरेणवा। नाद्यः, आत्माश्रयात्। न द्वितीयः, अन्योऽन्याश्रयाद्यापत्तेरिति धर्मत्वस्य दुर्वचनत्वम्। एवं पृथक्त्वस्य स्वरूपत्वे स्वरूपग्रहणे गृहीतत्वात् पृथक्त्वस्य संशयानुपपत्तिः धर्मिप्रतियोगि सापेक्षत्वानुपपत्त्यादयश्च दोषा द्रष्टव्या इति। ४. अतः—पृथक्त्वादिना द्वैतस्य निरूपयितुमशक्यत्वादित्यर्थः। ५. निरूपणासहम्—विचारासहिष्णुः। ६. तदेवेति—हेत्वन्तरमेवेत्यर्थः।

वीतरागभयक्रोधैर्मुनिभिर्वेदपारगैः ।
निर्विकल्पो ह्ययं दृष्टः प्रपञ्चोपशमोऽद्वयः ॥३५॥
तस्मादेवं विदित्वैनमद्वैते योजयेत्[1]स्मृतिम् ।
अद्वैतं समनुप्राप्य जडवल्लोकमाचरेत् ॥३६॥

[जिनके राग, भय और क्रोधादि समस्त दोष मिट गये हैं, ऐसे वेद के पार गामी मननशील विवेकियों द्वारा ही यह निर्विकल्पप्रपञ्चोपशम अद्वैत देखा गया है ॥३५॥

इसलिये इस अद्वैत आत्मतत्त्व को इस प्रकार से जानकर अद्वैत में ही मन को लगावे, तथा सर्वलोक व्यवहारातीत अद्वैततत्त्व को भली प्रकार से प्राप्त कर लोक में जड़वत् आचरण करे ॥३६॥]

तदेतत्सम्यग्दर्शनं स्तूयते । विगतरागभयद्वेषक्रोधादिसर्वदोषैः सर्वदा मुनिभिर्मननशीलैर्विवेकिभिर्वेदपारगैरवगतवेदार्थतत्त्वैर्ज्ञानिभिर्निर्विकल्पः [2]सर्वविकल्पशून्योऽयमात्मा दृष्टा उपलब्धो वेदान्तार्थतत्परैः प्रपञ्चोपशमः प्रपञ्चो द्वैतभेदविस्तारस्तस्यपशमोऽभावो यस्मिन्स आत्मा प्रपञ्चोपशमोऽत एवाद्वयः । विगतदोषैरेव पण्डितैर्वेदान्तार्थतत्परैः संन्यासिभिः परमात्मा द्रष्टुं शक्यो नान्यैरागादिकलुषितचेतोभिः स्वपक्षपातिदर्शनैस्तार्किकादिभिरित्यभिप्रायः ॥३५॥

यस्मात्सर्वानर्थप्रशमरूपत्वादद्वयं शिवमभयमत एवं विदित्वैनमद्वैते स्मृतिं योजयेत् । अद्वैता-

वीत राग तत्त्वदर्शी उक्त रहस्य का ज्ञाता है ।

अब इस सम्यक् दर्शन की स्तुति की जाती है । जिनके राग, भय द्वेष, क्रोधादि सम्पूर्ण दोष निवृत्त हो चुके हैं उन सर्वदा मनशील विवेकी मुनियों और वेद पारंगत वेदार्थ के मर्म जानने वाले औपनिषदर्थ के तत्त्वज्ञों द्वारा यह आत्मा जाना गया है, जो कि सम्पूर्ण विकल्पों से रहित प्रपञ्च-उपराम रूप है । द्वैत-विस्तार को प्रपञ्च कहते हैं । वह प्रपञ्च जिसका निवृत्त हो गया हो ऐसी आत्मा को प्रपञ्च उपराम कहते हैं । इसी लिए वह अद्वयस्वरूप है । वही आत्मा वेदान्तार्थ में तत्पर दोषहीन तत्त्वदर्शी संन्यासियों द्वारा देखा जाना वाक्य है । अन्य रागादि दोष से दूषित चित्त वाले अपने पक्ष में मिथ्या दुराग्रह रखने वाले तार्किकों से इस आत्मा का देखा जाना सर्वथा शक्य नहीं है यह इसका तात्पर्य है ॥३५॥

तत्त्वज्ञानी का व्यवहार

जब कि सम्पूर्ण अनर्थों के सर्वथा रूप होने से अद्वैत ही मङ्गलमय और अभय रूप है । इसीलिए

किमिति यथोक्तमद्वैतं सर्वेषां न प्रतीतिगोचरतामाचरतीत्याशङ्क्याऽऽह—वीतेति । रागादिप्रतिबन्धविधुराणामेव यथोक्तमद्वैतदर्शनं न सर्वेषामित्यर्थः । श्लोकस्य तात्पर्यमाह—तदेतदिति । स्तुतिश्च तदुपायप्रवृत्तावुपकरोतीति शेषः । आदिपदेन सम्यग्दर्शनप्रतिबन्धकाः सर्वे दोषाः संगृह्यन्ते । रागादिविमोको यदा कदाचिदनधिकारिणामपि संभवत्यतो विशिनष्टि—सर्वदेति । सदा रागादिव्यावृत्तौ विवेकं हेतुं प्रपञ्चयति—मुनिभिरिति । विवेके च पदशक्तेर्वाक्यतात्पर्यस्य च परिज्ञानं कारणमित्याह—वेदेति । एवं सम्यग्ज्ञानाधिकारिणं साधनचतुष्टयसंपन्नमुक्त्वा तद्विषयं निरूपयति—निर्विकल्प इति । आत्मनश्चाक्षुषत्वशङ्कां वारयति—उपलब्ध इति । हिशब्दद्योत्यमर्थमाह—वेदान्तेति । सर्वविकल्पशून्यत्वमात्मनः स्फुटयितुं प्रपञ्चोपशमविशेषणम् । आत्मनोऽभावत्वं बहुव्रीहिणा प्रत्युदस्यते । हेतुहेतुमद्भावेन पुनरुक्तिं विशेषणयोर्व्यासेधति—अत एवेति । सम्यग्दर्शनाधिकारिणो दर्शितानुपसंहरति—विगतेति । अनधिकारिणो दर्शयन्वैशेषिकवैनाशिकादिशास्त्राभिज्ञानामपि तदन्तर्भावं सूचयति—नान्यैरिति ॥३५॥

१. स्मृतिमिति—निदिध्यासनरूपामित्यर्थः । २. सर्वेत्यादि—प्राणाद्यारोपितधर्मशून्य इत्यर्थः ।

निस्तुतिर्निर्नमस्कारो निःस्वधाकार एव च।
चलाचलनिकेतश्च यति [1]र्यादृच्छिको भवेत् ॥३७॥

तत्त्वदर्शी यति को, स्तुति, नमस्कार, स्वधाकार आदि सम्पूर्ण कर्मों से रहित हो चल (शरीर) और अचल (आत्म तत्त्व) में ही विश्राम लेना चाहिये तथा यदृच्छा लाभ संतुष्ट होना चाहिये ॥३७॥

वगमायैव स्मृतिं कुर्यादित्यर्थः। तच्चाद्वैतमवगम्याहमस्मि परं ब्रह्मेति विदित्वाऽशनाद्यतीतं साक्षादपरोक्षादजमात्मानं सर्वलोकव्यवहारातीतं जडवल्लोकमाचरेत्। अप्रख्यापयन्नात्मानमहमेवंविध इत्यभिप्रायः ॥३६॥

कया चर्यया लोकमाचरेदित्याह—स्तुतिनमस्कारादिसर्वकर्मवर्जितस्त्यक्तसर्वबाह्यैषणः प्रतिपन्नपरमहंसपारिव्राज्य इत्यभिप्रायः। "एतं वै तमात्मानं विदित्वा"(बृ० ३।५।१) इत्यादिश्रुतेः। "तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः"(गी० ५।१७) इत्यादिस्मृतेश्च। चलं शरीरं प्रतिक्षणमन्यथाभावात्।

इस प्रकार जानकर अद्वैत तत्त्व में मन को लगाये। ज्ञानी अद्वैतबोध के लिए सदा अद्वैत तत्त्व का ही चिन्तन करे और इस अद्वैत को जानकर "मैं परब्रह्मस्वरूप हूँ" ऐसा जानकर क्षुधा पिपासा से अतीत सम्पूर्ण लौकिक व्यवहार से अतीत आत्मा को साक्षात् अपरोक्ष अनुभव कर तत्त्वज्ञ पुरुष जडवत् लोकाचरण करे। भाव यह है कि 'मैं इस प्रकार का हूँ" ऐसा अपने को न बतलाता हुआ अज्ञ के समान लोक में व्यवहार करे।

किस चर्या से लोक व्यवहार करे? इस पर आगे कहते हैं। स्तुति नमस्कारादि सम्पूर्ण कर्मों का त्याग कर बाह्य सर्वेषणा से मुक्त परमहंस पारिव्राज्य भाव को प्राप्त हुआ लोक व्यवहार करे। क्योंकि "निःसन्देह इस आत्मा को जानकर" इत्यादि श्रुति तथा "जिनकी बुद्धि, आत्मा और निष्ठा एक मात्र परमात्मा में ही लगी हुई है, तथा जो उसी के परायण हो चुके हैं" इस स्मृति से भी यही सिद्ध होता है। यह शरीर चल है क्यों कि यह प्रतिक्षण बदलता रहता है। किन्तु आत्मतत्त्व अचल है। इसी

मिथ्याज्ञान[2]प्रचयसंस्काराद्वेदान्तार्थतात्पर्यवतां पण्डितानामपि नाद्वैते प्रत्ययदार्ढ्यं सिध्यतीत्याह—तस्मादिति। शास्त्रादद्वैतमवगम्य स्मृतिसंततिं कुर्वतो लोकानुवर्तने [3]विधिनियममाह—अद्वैतमिति। तस्मादित्यस्यार्थमाह—यस्मादिति। एवमिति निर्विकल्पत्वादिपरामर्शः। विदित्वा शास्त्रतोऽवगम्येत्यर्थः। अद्वैतावगतिदार्ढ्यार्थं स्मृतिसंततिकर्तव्यतायां नियमविधि[4]मभ्यनुजानाति—अद्वैतमित्याद्युत्तरार्धं विभजते—तच्चेति। जडसादृश्यस्य कथं [5]लोकाचरणमबुद्धिपूर्वकारित्वादित्याशङ्क्याऽऽह—सर्वलोकेति। लौकिकव्यवहारानतीत्य विदुषो जडवदाचरणं कीदृशमित्यपेक्षायां चतुर्थं पादमनूद्य तात्पर्यमाह—जडवदिति। एवंविधोऽहमित्यात्मानं विद्याभिजनादिभिरप्रख्यापयजडवदेव विद्वाँल्लोकमाचरेदिति योजना ॥३६॥

ननु परापरदेवयोः स्तुतिपूर्वकप्रमाणस्य श्राद्धादिक्रियायाश्च कर्तव्यतया प्रतिज्ञातत्वात्कथं विदुषो जडवदाचरणमिति तत्राऽऽह—निस्तुतिरिति। तथाऽपि जीवता क्वापि स्थातव्यत्वादाश्रयमुद्दिश्य प्रवृत्तेरावश्यकत्वात्कुतो जडसादृश्यमित्याशङ्क्याऽऽह—चलेति। चलं चाचलं च चलाचले ते निकेतो यस्याऽऽश्रयः स तथेति यावत्। तथाऽपि कौपीनाच्छादनाशनपानादिदेहस्थितिप्रयोजकापेक्षया प्रवृत्तिध्रौव्यान्न विदुषो जडतुल्यतेत्याशङ्क्याऽऽह—यतिरिति। आकाङ्क्षापूर्वकं

---

१. यादृच्छिक इति शास्त्राननुमतप्रयत्नव्यतिरेको यदृच्छा, तया संतुष्टो यादृच्छिकः। यदृच्छालब्धमात्रेणैव संजातालंप्रत्यय इति यावत्। २. प्रचयेति—दार्ढ्यमित्यर्थः। ३. विधिनियमम्—नियमविधिमिति भावः। ४. अभ्यनुजानातीति—तस्य संमतिं दर्शयतीत्यर्थः। ५. लोकाचरणमिति—लोकव्यवहारानुकूलव्यवहारमित्यर्थः।

तत्त्व [1]माध्यात्मिकं दृष्ट्वा तत्त्वं दृष्ट्वा तु [2]बाह्यतः ।
तत्त्वीभूतस्तदारामस्तत्त्वादप्रच्युतो भवेत् ॥३८॥
इति गौडपादीयकारिकायां(सु) वैतथ्याख्यं द्वितीय प्रकरणम् ॥२॥

[तत्त्वज्ञानी आध्यात्मिकतत्त्व को देखकर और पृथिव्यादि बाह्यतत्त्व को भी समझकर तत्त्वीभूत हो तत्त्व में ही रमण करने वाला होकर कभी भी तत्त्व से प्रच्युत न हो ॥ ३८ ॥

अचलमात्मतत्त्वम् । यदा कदाचिद्भोजनादिव्यवहारनिमित्तमाकाशवदचलं—स्वरूपमात्मतत्त्वमात्मनो निकेतमाश्रयमात्मस्थितिं विस्मृत्याहमिति मन्यते यदा तदा चलो देहो निकेतो यस्य सोऽयमेवं चलाचलनिकेतो विद्वान्न पुनर्बाह्यविषयाश्रयः । स च याद्दच्छिको भवेत् । यदृच्छाप्राप्तकौपीनाच्छादनग्रासमात्रदेहस्थितिरित्यर्थः ॥३७॥

बाह्यं पृथिव्यादि तत्त्वमाध्यत्मिकं च देहादिलक्षणं रज्जुसर्पादिवत्स्वप्नमायादिवच्चासत् । "वाचाऽऽरम्भणं विकारो नामधेयम्" (छा० ६।१।४) [3]इत्यादिश्रुतेः । "आत्मा च सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजो-

---

आत्मतत्त्व में तत्त्वज्ञ स्थित रहता है यदा कदाचित् भोजनादि व्यवहार निमित्त से अपने स्वरूप भूत आकाश के समान अचल आत्मतत्त्व को जो अपना आश्रय है ऐसी आत्मस्थिति को भूलकर "मैं हूँ" ऐसा अभिमान करता है तब चल देहरूप निकेत वाला हो जाता है । इस प्रकार वह तत्त्वज्ञ कभी देह रूप चल निकेत वाला और कभी आत्मतत्त्व रूप अचल निकेत वाला होकर रहता है । अर्थात् बाह्य विषयों का आश्रय न लेकर 'यदृच्छा लाभ सन्तुष्ट' हो जाता है । भाव यह कि बिना इच्छा किये हुए अनायास प्राप्त कौपीन आच्छादन और ग्रास मात्र से जिसकी देह की स्थिति हो, ऐसा वह तत्त्वज्ञानी हो जाता है ॥३७॥

अचल तत्त्वनिष्ठा का प्रभाव

पृथिव्यादि बाह्य तत्त्व और देहादि रूप आध्यात्मिक तत्त्व रज्जु, और माया के समान मिथ्या हैं क्यों कि "नाम रूप वाणी से कहने मात्र के लिए" इत्यादि श्रुति भी बतला रही है । आत्मा बाह्य आभ्यन्तर सर्वत्र, विद्यमान, अजन्मा कार्य कारण भाव से रहित परिपूर्ण, आकाश के समान सर्वव्यापक,

---

पूर्वार्धाक्षराणि व्याचष्टे—कयेत्यादिना । वर्णाश्रमाभिमानवतस्तत्तत्कर्मसु वर्तमानस्य कथमिदं विशेषणमित्याशङ्क्याऽऽह—त्यक्तेति । परमहंसस्य पारिव्राज्यं प्रतिपत्तुमशक्यमप्रामाणिकत्वादिति चेन्नैवं श्रुतिस्मृतिसिद्धत्वादित्याह—एतमिति । विदित्वेत्या [4]पातिकं वेदनं व्युत्थानहेतुत्वेनोच्यते । तस्मिन्नेव परस्मिन्वस्तुनि विषयान्तरेभ्यो व्यावृत्ता बुद्धिर्येषामिति तथा । तदेव परं वस्त्वात्मा निरुपचरितं स्वरूपं येषां ते तथोच्यन्ते । तस्मिन्नेव परस्मिन्नात्मनि निष्ठा निश्चयेन स्थितिर्येषां ते तथेत्याह—तन्निष्ठा इति । तदेवाऽऽत्मभूतं परं वस्तु परमयनं परा गतिर्येषां ते तथेत्याह—तत्परायणा इति । आदिशब्देन सर्वकर्माणि मनसेत्यादिवाक्यं गृह्यते । कदा पुनश्चलो देहो विदुषो निकेतो भवति तत्राऽऽह—यदेति । अधिवक्षिते हि कालविशेषे विवक्षितं व्यवहारं निमित्तीकृत्याऽऽत्मस्थितिमुक्तविशेषणवती [5]विस्मृत्याहंकारममकारपरवशो यदा विद्वानवतिष्ठते तदेति योजना । स्वभावतस्त्वचलमात्मस्वरूपमेवास्य निकेतनम् । चलं पुनः शरीरमुपदर्शितविस्मरणद्वारेणेति निगमयति—सोऽयमिति । अविदुषो विशेषार्थं व्यावर्त्यं कीर्तयति—न पुनरिति । चतुर्थपादार्थमाह—स चेति ॥३७॥

अहमेव परं ब्रह्म न मत्तोऽन्यदस्ति किंचिदिति [6]स्मृतिसंततिकरणमपि न कालविशेषनियतं किंतु नैरन्तर्येण कर्तव्यमित्याह—तत्त्वमिति । आध्यात्मिकं शरीरादिकल्पितं तत्त्वमधिष्ठानमात्रं दृष्ट्वा बाह्यतो देहाद्बहिरवस्थितं पृथि-

---

१. आध्यात्मिकमिति—शरीराधिष्ठानमित्यर्थः २. बाह्यतः इति—आकाशादिबाह्यानामधिष्ठानमित्यर्थः । ३. इत्यादयः पौनरुक्त्यसूचनाशङ्काः ॥ ४. आपातिकमिति—अप्रामाण्यज्ञानास्कन्दितमित्यर्थः । संशयादिग्रस्तमिति यावत् । ५. विस्मृत्येति—ततो विमुखीभूय इत्यर्थः । ६. स्मृतिसंततिकरणम्—प्रत्ययप्रवाहानुकूलप्रयत्नः ।

ऽपूर्वोऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्न आकाशवत्सर्वगतः सूक्ष्मोऽचलो निर्गुणो निष्कलो निष्क्रियस्तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि" (छा० ८.१६) इति श्रुतेः इत्येवं तत्त्वं दृष्ट्वा तत्त्वीभूतस्तदारामो न बाह्यरमणो यथाऽतत्त्वदर्शी कश्चिच्चित्तमात्मत्वेन प्रतिपन्नश्चित्तचलन[1]मनु चलितमात्मानं मन्यमान[2]स्तत्त्वाच्चलितं देहादिभूतमात्मानं कदाचिन्मन्यते प्रच्युतोऽहमात्मतत्त्वा[3]दिदानीमिति। [4]समाहिते तु मनसि कदाचि[5]त्तत्त्वभूतं प्रसन्नात्मानं मन्यत इदानीमस्मि [6]तत्त्वीभूत इति। न तथाऽऽत्मविद्भवेत्। आत्मन एकरूपत्वात्स्वरूपप्रच्यवनासंभवाच्च। सदैव ब्रह्मास्मीत्यप्रच्युतो भवेत्तत्त्वात्सदाऽप्रच्युतात्मतत्त्वदर्शनो भवेदित्यभिप्रायः। "शुनि चैव श्वपाके च (गी० ५।१८")। "समं सर्वेषु भूतेषु (गी० १३।२७") इत्यादिस्मृतेः ॥३८॥

इति श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यस्य परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्य शंकरभगवतः कृतौ गौडपादीयागमशास्त्रभाष्ये वैतथ्याख्यं द्वितीयप्रकरणम् ॥२॥

सूक्ष्म, चलनादि क्रिया से रहित, निर्गुण, निरवयव और निष्क्रिय है। क्योंकि "वही सत्य है, वही आत्मा है, वही तू है" ऐसी श्रुति भी है। इस प्रकार तत्त्व को जानकर तद्रूप हो उसी में रमनेवाला बाह्यविषयों में न रमनेवाला हो जाता है। जैसे कोई अतत्त्वदर्शी चित्त को ही आत्मभाव से जाननेवाला चित्त के चञ्चल होने पर आत्मा को चलायमान मानता हुआ, तत्त्व से विचलित होकर देहादि को ही कदाचित् आत्मा मानने लगता है और इस समय 'मैं आत्मा तत्त्व से च्युत हो गया हूँ, ऐसा मानता है। वही किसी समय मन के समाहित होनेपर अपने को तत्त्वरूप और प्रसन्न समझता है कि, "इस समय मैं यथार्थ तत्त्व में स्थित हूँ।" किन्तु आत्मतत्त्वदर्शी वैसा नही होता। क्योंकि आत्मा सर्वदा एक रूप है, इसका स्वरूपसे प्रच्युत होना कभी भी संभव नहीं है। अतः तत्त्वज्ञ तो "मैं ब्रह्म हूँ" ऐसा सदा निश्चय कर तत्त्व से कभी प्रच्युत न हो ऐसा आदेश है। इसविषय में "कुत्ते, चाण्डालमें भी विद्वान् समान दृष्टिवाले होते हैं" "सभी भूतों में समान भाव से स्थित परमात्मा को देखता है, इत्यादि स्मृति भी प्रमाण हैं ॥३८

इस प्रकार वैतथ्य प्रकरण शांकरभाष्य की विद्यानन्दी मिताक्षरा समाप्त हुई।

व्यादि च कल्पितत्वेनावस्तुत्वादधिष्ठानमात्रमेवेत्यनुभूय स्वयमपि द्रष्टा परमार्थवस्तुस्वभावमापन्नस्तत्रैवाऽऽसक्तचेता बाह्येभ्यो विषयेभ्यो व्यावृत्तबुद्धिस्तस्मिन्नेव तत्त्वे परमार्थभूते प्रतिष्ठितस्तद्दर्शननिष्ठः स्यादित्यर्थः। पृथिव्यादेश्च प्रत्येकं परमार्थत्वसंभवे कथमद्वैतनिष्ठा सिध्येदित्याशङ्क्य व्याचष्टे—बाह्यमित्यादिना। किं तदुभयोस्तत्त्वं तदाऽऽह—रज्जुसर्पवदिति। उक्तस्य विकारजातस्यासत्त्वे प्रमाणमाह—वाचाऽऽरम्भणमिति। द्रष्टुरात्मनोऽपि [7]दृश्यप्रतियोगित्वात्तुल्यं वाचाऽऽरम्भणत्वमित्याशङ्क्याऽऽह—आत्मा चेति। भवतु परस्याऽऽत्मन[8]स्तत्तदागमवचननिर्देशादुक्तलक्षणत्वं तथाऽपि द्रष्टुरात्मनो न यथोक्तरूपत्वमित्याशङ्क्याऽऽह—तत्सत्यमिति। विशेषणानि तु प्राचीनानि तत्तदागमोपात्तान्यपुनरुक्तानि। द्वितीयार्धं व्याचष्टे—इत्येवमिति। आत्मारामत्वं कथमित्याशङ्क्य बाह्यविषयसक्तिं त्यक्त्वा प्रत्यगात्मन्येव परितृप्तत्वादित्याह—न बाह्येति। तत्त्वादप्रच्युतो भवतीत्येतद्व्यतिरेकमुखेन(ण) व्याकरोति—यथेत्यादिना। अतत्त्वदर्शीति च्छेदः। आत्मविदो नाव्यवस्थितमात्मदर्शनमित्यत्र हेतुमाह—आत्मन इति। सति स्वरूपे स्वरूपात्प्रच्युतेरप्रसक्तत्वात्तत्प्रतिषेधो युक्तो न भवतीत्याशङ्क्याऽऽह—सदेति। वस्तुनः सदैकरूपत्वे स्मृतिमुदाहरति—शुनि चेति। समदर्शिनः सदैकरूपवस्तुदर्शिन एव पण्डिता नान्ये तथेत्यर्थः स्वरूपाप्रच्यवने च स्मृतिं दर्शयति—सममिति। तत्र हि विनश्यत्स्वविनश्यन्तमिति स्वरूपाप्रच्यवनमुक्तम् ॥ ३८ ॥

इति श्रीशुद्धानन्दपूज्यपादशिष्यभगवदानन्दज्ञानविरचितायां गौडपादीयकारिकाभाष्यटीकायांवैतथ्याख्यं द्वितीयप्रकरणम् ॥२॥

---

१. अनुलक्ष्यीकृत्य निश्चित्येत्यर्थः। २. तत्त्वादिति–स्थूलादिनिजस्वरूपादिति भावः। ३. इदानीमिति–काश्यावस्थायामित्यर्थः। ४. समाहितमिति–शास्त्रोपदेशादिवशादिति भावः। ५. तत्त्वभूतम्–अबाधितस्वरूपम्। ६. तत्त्वीभूतः–ब्राह्मीभूतः। ७. दृश्यप्रतियोगित्वादिदृश्यसापेक्षत्वादित्यर्थः। ८. तत्तदागमेति–एकवाक्योपात्तानां हि समानार्थकानां पौनरुक्त्य भवतीति भावः।

इति श्रीमत्प० प० स्वामिगोविन्दानन्दगिरिपूज्यपादशिष्यविद्यावाचस्पतिस्वामिविष्णुदेवानन्दगिरिविरचितायां गोविन्दप्रसादिन्याख्यटिप्पण्यां वैतथ्यनामकं द्वितीयं प्रकरणम् ॥२॥

अथ गौडपादीयकारिकास्वद्वैताख्यं तृतीयं प्रकरणम् ।

ॐ उपासनाश्रितो धर्मो जाते ब्रह्मणि वर्तते ।
प्रागुत्पत्तेरजं सर्वं तेनासौ कृपणः स्मृतः ॥१॥

[(मैं उपासक हूँ, ब्रह्म मेरा उपास्य है इस प्रकार मोक्ष के साधनरूप से) उपासना का आश्रय लेने वाला जीव कार्यब्रह्म में रह जाता है। एवं उत्पत्ति से पूर्व सब अजन्मा ब्रह्मरूप था। (उत्पत्ति के बाद नहीं), इसी कारण से वह साधन तत्त्वदर्शियों द्वारा दीन माना गया है ॥ १ ॥]

ओंकारनिर्णय उक्तः प्रपञ्चोपशमः शिवोऽद्वैत आत्मेतिप्रतिज्ञामात्रेण। ज्ञाते द्वैतं न विद्यत इति च तत्र द्वैताभावस्तु वैतथ्यप्रकरणेन स्वप्नमायागन्धर्वनगरादिदृष्टान्तैर्दृश्यत्वाद्यन्तवत्त्वादिहेतुभिस्तर्केण च प्रतिपादितः। अद्वैतं किमागममात्रेण प्रतिपत्तव्यमाहोस्वित्तर्केणापीत्यत आह। शक्यते तर्केणापि ज्ञातुम्। तत्कथमित्यद्वैतप्रकरणमारभ्यते। उपास्योपासनादिभेदजातं सर्वं वितथं केवलश्चाऽऽत्माऽद्वयः परमार्थ इति स्थितमतीते प्रकरणे। यतः उपासनाश्रित उपासनामात्मनो मोक्षसाधनत्वेन गत उपासकोऽहं ममोपास्यं ब्रह्म। तदुपासनं कृत्वा जाते ब्रह्मणीदानीं वर्तमानोऽजं ब्रह्म शरीरपातादूर्ध्वं प्रतिपत्स्ये प्रागुत्पत्तेश्चाजमिदं सर्वमहं च। यदात्मकोऽहं प्रागुत्पत्तेरिदानीं जातो जाते ब्रह्मणि च वर्तमान

अथ तृतीय अद्वैत प्रकरण प्रारम्भ

भेददर्शी दीन होता है।

'आत्मा प्रपञ्च का आशयस्वरूप, मङ्गलमय अद्वैतरूप है' ऐसी प्रतिज्ञा मात्र से पहले प्रकरण में ओंकारार्थ का निर्णय किया गया था और "अद्वैततत्त्व को जान लेने पर द्वैत नहीं रह जाता" ऐसा भी कहा गया था। पुनः वैतथ्य प्रकरण द्वारा स्वप्न, माया, गन्धर्वनगरादि दृष्टान्त से एवं दृश्यत्व आद्यन्तवत् आदि हेतुओं से तर्क द्वारा द्वैतप्रपञ्च का अभाव बतलाया गया। क्या श्रुतिप्रमाण मात्र से ही अद्वैत जाना जा सकता है। या तर्क से भी ऐसा प्रश्न होने पर कहते हैं कि तर्क से भी वह जाना जा सकता है। कैसे? तो इसी प्रश्न का उत्तर देने के लिए यह अद्वैत प्रकरण प्रारम्भ किया जा रहा रहा है। उपास्य उपासनादि सम्पूर्ण भेदसमुदाय है और केवल अद्वितीय आत्मा ही परमार्थ वस्तु है।

तर्कावष्टम्भेन द्वैतवैतथ्यनिरूपणं परिसमाप्याद्वैतमार्थिकमपि तर्कतः संभावयितुं प्रकरणान्तरं प्रारिप्सुरुपास्यो[1]पासकभेददृष्टिं तावदपवदति—उपासनेति। देहस्य धारणाद्धर्मो जीवो [2]भूतसंघाताकारेण [3]जाते ब्रह्मणि [4]तदभिमानित्वेन वर्तते। स प्रागुत्पत्ते[5]रजं सर्वमित्येवं कालावच्छिन्नं वस्तु मन्यते। स पुनरुपासना पुरुषार्थसाधनत्वेनाऽऽश्रितस्तदेव ब्रह्म प्रतिपत्स्ये शरीरपातादूर्ध्वमित्येवं यतो मिथ्याज्ञानवानवतिष्ठते तेनासौ कृपणोऽल्पको ब्रह्मविद्भिः स्मृतश्चिन्तित इत्यर्थः। प्रकरणान्तरमवतारयन्वृत्तमनुद्रवति—ओंकारेति। [6]तस्य हि निर्णये प्रथमे प्रकरणे प्रपञ्चोपशमः शिवोऽद्वैत इति विशेषणैरात्मा प्रतिज्ञामात्रेणाद्वितीयो व्याख्यात इत्यर्थः। द्वितीयप्रकरणार्थं संक्षिप्यानुवदति—ज्ञात इति। तत्रैवाऽऽद्ये प्रकरणे ज्ञाते द्वैतं न विद्यत इत्यत्र प्रतिज्ञामात्रेण द्वैताभाव उक्तः। स तु द्वितीयेन प्रकरणेन हेतुदृष्टान्तात्मकेन तर्केण च प्रतिपादितो नात्र प्रतिपादयितव्यमवशिष्टमस्तीत्यर्थः। तृतीयं प्रकरणमाकाङ्क्षापूर्वकमव-

१. उपास्योपासकेति—उपासकैर्भेदस्य परमार्थत्वाभ्युगमादिति भावः। २. धर्मपदस्य यथोक्तव्युत्पत्त्या जीवपरत्वे गमकत्वे नोत्तरं वाक्यं व्याचष्टे—भूतसंघाताकारेणेति—देहात्मनेति यावत्। ३. जात इति—जाते ब्रह्मणीत्युपासकाभिप्रायम्, स हि ब्रह्मैव जगदात्मना परिणतं तत्पुनर्ब्रह्मदृष्ट्योपास्यमानं ब्रह्मसंपद्यत इति मन्यत इति भावः। ४. तदभिमानित्वेति—देहमात्रेऽहंममाभिमानित्वेनेति यावत्। ५. अजमिति-अजब्रह्मरूपमित्यर्थः। ६. तस्य—ओंकारस्येत्यर्थः।

उपासनया पुनस्तदेव प्रतिपत्स्य इत्येवमुपासनाश्रितो धर्मः साधको येनैवं [1]क्षुद्रब्रह्मवित्तेनासौ कारणेन कृपणो दीनोऽल्पकः स्मृतो नित्याजब्रह्मदर्शिभिरित्यभिप्रायः। "यद्वाचाऽनभ्युदितं येन वागभ्युद्यते तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते" (के०।१।७) इत्यादिश्रुतेस्तलवकाराणाम् ॥ १ ॥

यह पहले प्रकरण में निश्चित हो चुका है। क्योंकि, उपासना को आत्मा की मुक्ति की साधना रूप से मानने वाले उपासनाश्रित कहे गये हैं। मैं उपासक हूँ, ब्रह्म मेरा उपास्य है, उसकी उपासना कर जो आज तक मैं कार्य ब्रह्म में स्थित हूँ, वही शरीर-पात के बाद अजन्मा ब्रह्म को प्राप्त कर लूँगा। जगत् उत्पत्ति से पूर्व यह सम्पूर्ण संसार तथा हम अजन्मा ब्रह्म ही थे। सृष्टि उत्पत्ति से पूर्व जैसा रूप वाला मैं था, अब उत्पन्न होकर इस समय कार्य ब्रह्म में रह रहा हूँ। पुनः उपासना से उसी अजन्मा ब्रह्म को प्राप्त कर जाऊँगा इस प्रकार उपासना का आश्रय लेने वाला साधक कृपण, दीन, 'यानी' क्षुद्र माना गया है। क्योंकि वह क्षुद्र ब्रह्म को जानता है। इसी से वह उपासक नित्य अजन्मा ब्रह्म दर्शियों द्वारा दीन कहा गया है। यह इसका भाव है।

ऐसे ही "जो वाणी से प्रकाशित नहीं होता किन्तु जिसके द्वारा वाणी प्रकाशित होती है, उसी को ब्रह्म समझो। जिस उपाधि परिच्छिन्न ब्रह्म की उपासना लोग करते हैं वह ब्रह्म नहीं है।" इत्यादि तलवकार शाखीय श्रुति भी प्रमाण है ॥१॥

तारयति—अद्वैतमिति। नैषा तर्केण मतिरापनेयेति श्रुतेरद्वैतं कथं तर्केण ज्ञातुं शक्यमित्याक्षिपति—तत्कथमिति। [2]स्वतन्त्रतर्काप्रवेशेऽपि तस्मिन्ना[3]गमिकतर्कस्य सहकारितया संभावनाहेतुत्वात्तर्केणापि ज्ञातुं शक्यमिति [4]व्यवहारोपपत्तिरिति मत्वाऽऽह—अद्वैतेति। यदि तर्केणाद्वैतं संभावयितुं प्रकरणमारभ्यते तर्हि किमित्युपासकनिन्दा प्रथमं प्रस्तूयते तत्राऽऽह—उपास्येति। [5]उक्तवक्ष्यमाणविरोधित्वादुपासकस्य [6]तन्निन्दा प्रकृतोपयोगिनीत्यर्थः। कथं तर्हि तत्र तत्राजत्वमात्मनो दर्शयन्ती [7]श्रुतिर्घटिष्यते तत्राऽऽह—प्रागवस्थायां सर्वमिदमजमहं च तथेत्युपासको यतो मन्यतेऽतश्च प्रागवस्थब्रह्मविषया भविष्यत्यजत्वश्रुतिरित्यर्थः। कार्यस्थित्यवस्थायां यदि ब्रह्म [8]तन्मात्रमिष्टं तर्हि किमुपासनया प्राप्तव्यमित्याशङ्क्याऽऽह—यदात्मक इति। इदानीमुत्पत्त्यवस्थायां जातो जाते ब्रह्मणि स्थित्यवस्थायां वर्तमानोऽहं प्रागुत्पत्तेर्यदात्मकः सन्नासं तदेव पुनः प्रलयावस्थायामुपासनया प्रतिपत्स्ये [9]यत्क्रतुन्यायादिति संबन्धः। तलवकाराणां शाखायामुपास्यस्य ब्रह्मत्वनिषेधदर्शनाच्चोपासकनिन्दा [10]युक्तेत्याह—यद्वाचेति। अनभ्युदितमनभिप्रकाशितमभ्युद्यतेऽभिप्रकाश्यत उपासते वाचा विषयीकुर्वन्तीत्यर्थः। आदिशब्देन यन्मनसेत्यादि गृह्यते ॥ १ ॥

---

१. क्षुद्रेत्यादि—कालपरिच्छिन्नेत्यर्थः। २. स्वतन्त्रेत्यादि—आगमाननुरोधीत्यर्थः। ३. आगमिकेति-आगमानुकूलेत्यर्थः। ४. व्यवहारोपपत्तिरिति—एवं भूतशब्दप्रयोगोपपत्तिरित्यर्थः। ५. उक्तेत्यादि-स हि द्वैतं ब्रह्मणस्तात्त्विकपरिणामं मन्यते, इति भवत्यद्वैतविरोधीति भावः। ६. तन्निन्देति—अद्वैतसिद्धिं वांछता क्रियमाणाद्वैतसत्यत्ववादिनिन्दा पाण्डवजयं कांक्षता शल्येन कृता कर्णनिन्देव भवत्येव स्वाभीष्टार्थोपयोगिनीति भावः। ७. श्रुतिरिति—न जायते इत्यादिरूपेत्यर्थः। ८. तन्मात्रम्—कार्यमात्रमित्यर्थः। ९. तत्क्रतुन्यायादिति—अथ खलु क्रतुमयः पुरुषो यथा क्रतुरस्मिंल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति। स क्रतुं कुर्वीतेति छान्दोग्य श्रुतिः। क्रतुशब्दार्थश्चेहाध्यवसायः। तथा चास्मिंल्लोके यत्क्रतुर्भवति परलोके तदेव प्राप्नोतीति श्रुतिस्मृतिप्रसिद्धेरित्यर्थः। लोके—शरीरे। यत्क्रतुर्यद्विषयकाध्यवसायवान्। स्मृतिश्च—"यं यं वापि स्मरन् भावमि"त्यादि। १०. युक्तेति—श्रुतिविरुद्धं वदतो निन्दा न निन्द्येति भावः।

अतो वक्ष्याम्य [1]कार्पण्यमजाति [2]समतां गतम् ।
यथा न जायते किंचिज्जायमानं समन्ततः ॥ २ ॥

[इसलिये अब मैं सर्वत्र समानता को प्राप्त अजन्मा, अदीन भाव का निरूपण करता हूँ। जिससे कि यह समझ में आ जावे कि रज्जु सर्प की भाँति आविद्यक दृष्टि के कारण) सभी ओर से उत्पन्न होता हुआ भी जिस प्रकार कुछ उत्पन्न नहीं होता है ॥ २ ॥]

सबाह्याभ्यन्तरमजमात्मानं प्रतिपत्तुमशक्नुवन्नविद्यया दीनमात्मानं मन्यमानो जातोऽहं जाते ब्रह्मणि वर्ते तदुपासनाश्रितः सन्ब्रह्म प्रतिपत्स्य इत्येवं [3]प्रतिपन्नः कृपणो भवति यस्मादतो वक्ष्याम्यकार्पण्यमकृपणभावमजं ब्रह्म। तद्धि कार्पण्यास्पदम् "[4]यत्रान्योऽन्यत्पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद्विजानाति [5]तदल्पं मर्त्यमसत् (छा० ७।२४।१)" "वाचाऽऽरम्भणं विकारो नामधेयम् (छा० ६।१।४)" इत्यादिश्रुतिभ्यः। तद्विपरीतं सबाह्याभ्यन्तरमजमकार्पण्यं भूमाख्यं ब्रह्म यत्प्राप्याविद्याकृतसर्वकार्पण्यनिवृत्तिस्तदकार्पण्यं वक्ष्यामीत्यर्थः। तदजाति, अविद्यमाना जातिरस्य। समतां गतं [6]सर्वसाम्यं गतम्। कस्मात्। अवयववैषम्याभावात्। यद्धि सावयवं वस्तु तदवयवै[7]वैषम्यं गच्छ-

---

अदैन्यनिरूपण की प्रतिज्ञा

बाहर भीतर सर्वत्र विद्यमान अजन्मा आत्मा को अविद्या के कारण प्राप्त न कर सकने के कारण अपने आप को दीन मानता हुआ पुरुष ऐसा कहता है कि, "मैं उत्पन्न हुआ हूँ इस समय कार्यब्रह्म में विद्यमान हूँ और उपासना का आश्रय लेकर ही अजन्मा ब्रह्म को प्राप्त करूँगा। बस इसी भावना के कारण वह दीन है। इसलिए मैं अब "अकार्पण्य, दीनता से शून्य, अजन्मा ब्रह्म" को बतलाऊँगा। क्योंकि, "जो दीनता का आश्रय होता है उसे जहां अन्य अन्य को देखता है, अन्य अन्य को सुनता है, अन्य अन्य को जानता है, वह अल्प है मरने वाला है एवं असत् है" कार्य वाणी से आरम्भ होने वाले नाम मात्र के लिए हैं" इत्यादि श्रुतियों से नश्वर एवं तुच्छ कहा गया है। उससे विपरीत बाहिर भीतर सर्वत्र विद्यमान 'अजन्मा भूमा' नामक ब्रह्म को अकार्पण्यरूप कहा गया है। जिसे प्राप्त कर अविद्याकृत सम्पूर्ण दीनता की निवृत्ति हो जाती है। उसी दीन भाव से शून्य ब्रह्म को मैं बतलाऊँगा।

जिसकी जाति न हो उसे अजाति कहते हैं। वह अजाति ही सर्वसाम्य भाव को प्राप्त है। क्यों?

भेददर्शिनमुपासकमद्वैतविरोधिनं निन्दित्वा संप्रत्यद्वैतप्रतिज्ञां करोति—अत इति। जातिर्जन्म तद्रहितमजाति। तत्र हेतुमाह—समतामिति। जन्मराहित्यं साधयति—यथेति। अतःशब्दार्थमाह—सबाह्येति। प्रतिज्ञाभागं विभजते—अकृपणेति। [8]तदेव व्यतिरेकमुखेन(ण) स्फोरयति—तद्धीति। [9]दर्शनादिविशेषव्यवहारगोचरीभूतं कार्यजातं तत् परिच्छिन्नं नाशि चोच्यते। तदेव कृपणत्वालम्बनमित्यर्थः। तच्च मिथ्याभूतमित्यत्र प्रमाणमाह—वाचाऽऽरम्भणमिति। कार्पण्यमुक्त्वा [10]तदभावरूपमकार्पण्यं प्रकटयति—तद्विपरीतमिति। प्राप्य ज्ञात्वेति यावत्। द्वितीयपादं व्याचष्टे—तदजातीत्यादिना। सर्वात्मना साम्यं निर्विशेषत्वं गतमित्यत्र हेतुं पृच्छति—कस्मादिति। निर्विशेषत्वे हेतुमाह—अवयवेति। हेतुमेव प्रकटयन्व्यतिरेकमुखेन(ण)जत्वं प्रपञ्चयति—यद्धीत्यादिना। समन्तत इति [11]पूर्णत्वसंकीर्तनम्।

---

१. अकार्पण्यमिति—कार्पण्यं भेदो द्वैतमिति यावत्, तद्भाववदकार्पण्यमद्वैतं ब्रह्मेति यावत्। २. समतां गतम्—निर्विशेषतां प्राप्तमित्यर्थः। ३. प्रतिपन्नः—अधिकारीतिशेषः। ४. यत्रेति—अविद्याकार्ये प्रपञ्चे इत्यर्थः। ५. तदिति—अविद्याकार्यमित्यर्थः। ६. सर्वसाम्यगतम्—निर्धर्मकतां गतमित्यर्थः। ७. वैषम्यम्—उपचयापचयात्मकम्। ८. तदेवेति—अहं ब्रह्मेवेत्यर्थः। ९. वाक्योत्थवृत्तिं व्यवच्छिनत्ति—दर्शनादिविशेषेति। १०. तदभावरूपम्—तदभावोपलक्षितमिति यावत्। ११. पूर्णत्वेति—तथा च पराभ्युपगतपरमाणुपरिच्छेद इति भावः।

आत्मा [1]ह्याकाशवज्जीवैर्घटाकाशैरि [2]वोदितः।
घटादिवच्च संघातैर्जातावेतन्निदर्शनम् ॥ ३ ॥

[परमात्मा ही आकाश के समान सूक्ष्म निरवयव और व्यापक है। वह घटाकाशों के समान क्षेत्रज्ञ जीव रूप से उत्पन्न हुआ कहा गया है, एवं मिट्टी से घटादि के समान देह संघात रूप में भी उत्पन्न हुआ कहा जाता है। (बस, आत्मा से जीवादि की) उत्पत्ति के विषय में यही दृष्टान्त है ॥३॥]

ज्जायत इत्युच्यते। इदं तु निरवयवत्वात्समतां गतमिति न कैश्चिदवयवैः [3]स्फुटत्यतोऽजात्यकार्पण्यम्। समन्ततः समन्ताद्यथा न जायते किंचिदल्पमपि न स्फुटति रज्जुसर्पव [4]दविद्याकृतदृष्ट्या [5]जायमानं येन प्रकारेण न जायते सर्वतोऽजमेव ब्रह्म भवति तथा तं प्रकारं शृणुवित्यर्थः ॥२॥

अजाति ब्रह्माकार्पण्यं वक्ष्यामिति प्रतिज्ञातं तत्सिद्ध्यर्थं हेतुं दृष्टान्तं च वक्ष्यामीत्याह—आत्मा परो हि यस्मादाकाशवत्सूक्ष्मो निरवयवः सर्वगत आकाशवदुक्तो जीवैः क्षेत्रज्ञैर्घटाकाशैरिव घटाकाशतुल्यैः उदित उक्तः। स एषाऽऽकाशसमः पर आत्मा। अथवा घटाकाशैर्यथाऽऽकाश उदित उत्पन्नस्तथा परो

क्योंकि, उसमें अवयव की विषमता नहीं है। "जो वस्तु सावयव होती है, वही अवयव-वैषम्य को प्राप्त हो जन्मती है ऐसा कहा गया है। यह ब्रह्म तो निरवयव होने से समता को प्राप्त है। इसलिए इन्हीं अवयवों के कारण परिस्फुटित नहीं होता। अतः यह अजन्मा ब्रह्म ही दीन भाव से रहित है। जैसे कोई भी वस्तु सभी ओर से उत्पन्न नहीं होती और न नष्ट ही होती है। रज्जुसर्प की भांति अविद्या दृष्टि से उत्पन्न होता हुआ भी, जिस प्रकार उत्पन्न नहीं होता और इसीलिए सभी ओर से अजन्मा ब्रह्म ही रहता है। उस प्रकार को तो सुनो मैं बतलाता हूँ। यह इसका तात्पर्य है ॥२॥

जीव की उत्पत्ति में दृष्टान्त

दीन भाव से शून्य अजन्मा ब्रह्म को मैं बतलाऊँगा ऐसी जो प्रतिज्ञा की थी उसकी सिद्धि के लिए आगे हेतु एवं दृष्टान्त बतलाऊँगा इस आशय से कहते हैं। क्योंकि परमात्मा आकाश के समान सूक्ष्म निरवयव और सर्वव्यापक कहा गया है। वह महाकाश से घटाकाश की भांति क्षेत्रज्ञ जीव रूप से उत्पन्न हुआ कहा गया है। अतः वह परमात्मा ही आकाश के समान माना गया है। अथवा जैसे घटाकाश के रूप में महाकाश उत्पन्न होता है वैसे ही जीवात्मा के रूप में परमात्मा ही उत्पन्न होता

द्वितीयार्धं व्याचष्टे—यथेत्यादिना। यथा रज्ज्वां सर्पो भ्रान्त्या जायते तथा सर्वं भ्रान्तिदृष्ट्या जायमानत्वेन भासमानमपि यथा येन प्रकारेण वस्तुतो न जायते किंतु सर्वतो देशतः कालतो वस्तुतश्च पूर्णं कूटस्थमेव वस्तु भवति तथा तं प्रकारमिति संबन्धः ॥ २ ॥

प्रतिज्ञावाक्ये [6]ब्रह्मशब्देन परमात्मा प्रकृतः स कीदृगित्यपेक्षायामाह—आत्मा हीति। जीवभेदप्रतीतिस्तर्हि कथमित्याशङ्क्याऽऽह—जीवैरिति। यथाऽऽकाशो विभुत्वादिधर्मः स्वगततात्त्विकभेदवान्न भवति तथा परमात्मा [7]विशेषाभावात्। यथा च महाकाशो घटाकाशाकारेण प्रतीतिगोचरो भवतीत्यर्थः। कथं संघातानां परस्मादुत्पत्तिरित्याशङ्क्याऽऽह—घटादिवदिति। यथा मृदः सकाशाद्घटादयो जायन्ते तथा परमात्मैव पृथिव्यादिसंघाताकारेण जायत इत्यर्थः। यदाऽऽत्मनो जीवादीनामुत्पत्तिरिष्टा तदा तस्यामुत्पत्तौ दृष्टान्तवचनमेतदित्याह—जाताविति। श्लोकस्य वृत-

---

१. आकाशवदिति—स्वगतसजातीयभेदशून्य इत्यर्थः। २. उदित इति—प्रतीत इति यावत्। ३. स्फुटति—अभिव्यज्यते। ४. अविद्येत्यादि—अविद्याजनितया भ्रान्तिरूपयेत्यर्थः। ५. जायमानम्—जायमानत्वेनोपलभ्यमानम्। ६. ब्रह्मशब्देनेति—ब्रह्मशब्द्यतेऽनेनेतिव्युत्पत्त्याऽकार्पण्यशब्देनेत्यर्थः। ७. विशेषाभावादिति—विभुत्वादिभिराकाशेनाविलक्षणत्वात्।

घटादिषु प्रलीनेषु घटाकाशादयो यथा ।
आकाशे संप्रलीयन्ते तद्वज्जीवा इहाऽऽत्मनि ॥४॥

जैसे घटादि के नष्ट होने पर घटाकाशादि महाकाश में लीन हो जाते हैं वैसे ही देहादि संघात के लय होने पर जीव इसी आत्मा में लीन हो जाते हैं ॥४॥]

जीवात्मभिरुत्पन्नो जीवात्मनां परस्मादात्मन उत्पत्तिर्या श्रूयते [1]वेदान्तेषु सा महाकाशाद्घटाकाशोत्पत्तिसमा न परमार्थत इत्यभिप्रायः। तस्मादेवाऽऽकाशाद्घटादयः संघाता यथोत्पद्यन्त एवमाकाशस्थानीयात्परमात्मनः पृथिव्यादिभूतसंघाता आध्यात्मिकाश्च कार्यकारणलक्षणा रज्जुसर्पवद्विकल्पिता जायन्ते। [2]अत उच्यते घटादिवच्च संघातैरुदित इति। यदा मन्दबुद्धिप्रतिपिपादयिषया श्रुत्याऽऽत्मनो जातिरुच्यते जीवादीनां तदा जातावुपगम्यमानायामेतन्निदर्शनं दृष्टान्तो यथोदिताकाशवदित्यादि ॥३॥

यथा घटाद्युत्पत्त्या घटाकाशाद्युत्पत्तिः। यथा च घटादिप्रलये घटाकाशादिप्रलयस्तद्वद्देहादि-

---

है। भाव यह कि श्रुतियों में परमात्मा से जीवात्माओं की उत्पत्ति जो सुनी जाती है वह महाकाश से घटाकाश की उत्पत्ति के समान ही है परमार्थतः नहीं। इसी महाकाश जैसे घटादि संघात उत्पन्न होते हैं ऐसे ही महाकाश स्थानीय परमात्मा से रज्जु सर्प की भांति पृथिव्यादि भूतसंघात और शरीर इन्द्रियादि रूप आध्यात्मिक कल्पित पदार्थ उत्पन्न होते हैं। इसीलिए घटादि के समान देहादि संघात रूप से उत्पन्न होना कहा गया है। जब मन्दबुद्धि पुरुषों के लिए प्रतिपादन करने की इच्छा से श्रुति ने जीवात्मा की उत्पत्ति कही है, तब उनकी उत्पत्ति मानने में यह पूर्वोक्त आकाशादि के समान ही दृष्टान्त समझना चाहिये। परमात्मा से जीव उत्पत्ति में अन्य दृष्टान्त का आश्रय लेने पर अपसिद्धान्त होने लग जायगा ॥३॥

जीव के विलय में दृष्टान्त

जैसे घटादि रूप उपाधि की उत्पत्ति से घटाकाश की उत्पत्ति मानी है और घटादि के नाश से

नुवादपूर्वकं तात्पर्यमाह—अजातीत्यादिना। प्रथमपादस्याक्षरार्थमाह—आत्मेत्यादिना। विमतः [3]स्वगततात्त्विकभेदशून्यः सूक्ष्मत्वान्निरवयत्वाद्विभुत्वादाकाशवत्। न च [4]परमाण्वादौ [5]सूक्ष्मत्वादेर्व्यभिचारः। [6]तस्यैवासंमतत्वात्। क्वचिदपि [7]तात्त्विकभेदासंप्रतिपत्तेश्चेत्यर्थः। जीवैरित्यादि व्याचष्टे—जीवैरिति। जीवाकारेण परमात्मैवोक्तः। "क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि" इति स्मृतेरित्यर्थः। उदितशब्दश्चेदुत्पन्नार्थस्तर्हि परस्यैवाऽऽत्मनः संघातरूपेणो[8]क्तत्वे सप्रपञ्चत्वं प्रसज्येतेत्याशङ्क्याऽऽह—अथवेति। तर्हि [9]नाऽऽत्माऽश्रुतेरितिन्यायविरोध स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—जीवात्मनामिति। तृतीयपादं व्याचष्टे—तस्मादेवेति। उक्तेऽर्थे वाक्यमवतारयति—अत इति। आकाशस्यावकाशप्रदानेन घटाद्युत्पत्तौ कारणत्वं निर्विकारस्यैव दृष्टमिति द्रष्टव्यम्। जातावित्यादेरर्थमाह—यदेति ॥ ३ ॥

---

१. वेदान्तेष्विति—यथा सुदीप्तात् पावकाद्विस्फुलिङ्गाःसहस्रशः प्रभवन्ते सरूपा इत्यादिषु वेदान्तेष्वित्यर्थः। २. अतः आकाशवद् घटादिकारणत्वात्। ३. स्वगतेति—सजातीयस्याप्युपलक्षणम्। आत्मनो विजातीयभेदाभावेऽपि दृष्टान्ते साध्यवैकल्यवारणायैतदित्यवधेयम्। ४. परमाण्वादावित्यादिना सांख्याभिमतप्रधानपरिग्रहः। ५. सूक्ष्मत्वादेर्व्यभिचार इति—परमाणौ स्वगतरूपादिभेदसत्त्वेऽपि सूक्ष्मत्वनिरवयवत्वयोरुपगमात्। प्रधानस्य च स्वगतगुणभेदवत्त्वे सूक्ष्मत्वादिकं संगिरन्ते सांख्यास्तथा हि तदार्या—हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम्। सावयवं परतन्त्रं व्यक्तं विपरीतमव्यक्तमिति कारिका १०। ६. तस्यैवेति—परमाण्वादेरेवेत्यर्थः। ७. तात्त्विकेति—पराभ्युपगततात्त्विकभेदस्याभावः साध्यते इति न प्रतियोग्यप्रसिद्ध्या साध्याप्रसिद्धिरिति ध्येयम्। ८. उक्तत्व इति—उक्तेः प्रमाणरूपत्वादिति भावः। ९. "नात्माश्रुतेः"—"नित्यत्वाच्च ताभ्यः" इति ब्रह्मसूत्रमात्मा नोत्पद्यते तदुत्पत्तेरश्रवणात् तस्यनित्यत्वाच्च ताभ्यः श्रुतिभ्यः इति तदर्थः।

यथैकस्मिन्घटाकाशे रजोधूमादिभिर्युते ।
न सर्वे संप्रयुज्यन्ते तद्वज्जीवाः सुखादिभिः ॥५॥

[जैसे एक घटाकाश के धूलि धूमादि से युक्त होने पर सभी घटाकाश उनसे संयुक्त नहीं होते, वैसे (एक जीव के सुखादिमान् होने पर) सभी जीव सुखादियुक्त नहीं होते ॥५॥]

संघातोत्पत्त्या जीवोत्पत्तिस्तत्प्रलये च जीवानामिहाऽऽत्मनि प्रलयो न स्वतः इत्यर्थः ॥४॥

सर्वदेहेष्वात्मैकत्व एकस्मिञ्जननमरणसुखादिमत्यात्मनि सर्वात्मनां तत्संबन्धः क्रियाफलसांकर्यं च स्यादिति य आहुर्द्वैतिनस्तान्प्रतीदमुच्यते । यथैकस्मिन्घटाकाशे रजोधूमादिभिर्युते संयुक्ते न सर्वे घटाकाशादयस्तद्रजोधूमादिभिः संयुज्यन्ते तद्वज्जीवाः सुखादिभिः ।

नन्वेक एवाऽऽत्मा । बाढम् । ननु न श्रुतं त्वयाऽऽकाशवत्सर्वसंघातेष्वेक एवाऽऽत्मेति । यद्येक

घटाकाशादि का नाश माना है । वैसे ही देहादि संघात की उत्पत्ति से जीव की उत्पत्ति और उनके नाश से इस अपरोक्ष आत्मा में विलय माना गया है । स्वरूप से महाकाश की भांति जीव की न उत्पत्ति होती है और न नाश ही होता है ॥४॥

आत्मा असंग है

सभी देहों में एक आत्मा के होने पर तो एक आत्मा के जन्म मरण सुखादिमान् होने पर सभी संघातों में विद्यमान आत्मा को जन्ममरणादि के साथ सम्बन्ध होने लग जायगा और ऐसा जिस द्वैतवादी ने कहा है उनके प्रति अब कहते हैं—

जैसे एक घटाकाश के धूलि-धूमादि से संयुक्त होने पर सभी घटाकाश उस धूलि धूमादि से युक्त नहीं होते । ठीक इसी प्रकार सुखादि से एक जीव के युक्त होने पर भी आप सभी जीव उन सुखादिकों से लिप्त नहीं होते ।

पूर्वपक्ष—आत्मा तो एक ही है फिर आत्मभेद मानकर आप कैसे समाधान दे रहे हो ?

सिद्धान्त—यह बात ठीक है । क्या आप ने यह नहीं सुना कि सभी संघातों में आकाश के समान व्यापक आत्मा एक ही है ?

अद्वैतस्य जीवसृष्टिश्रुतिविरोधं परिहृत्य तस्यैव [1]जीवप्रलयश्रुत्या विरोधमाशङ्क्य परिहरति घटादिष्विति । औपाधिकौ जीवानामुत्पत्तिप्रलयौ न स्वाभाविकौ तथा चोत्पत्तिश्रुत्या विरोधाभाववदद्वैतस्य प्रलयश्रुत्याऽपि न विरोधोऽस्तीति श्लोकाक्षरव्याख्यानेन प्रकटयति—यथेत्यादिना ॥ ४ ॥

इदानीमद्वैतस्य व्यवस्थानुपपत्त्या विरोधमाशङ्क्य परिहरति—यथैकस्मिन्निति । उक्तदृष्टान्तवशादेकस्मिञ्जीवे सुखादिसंयुक्ते सत्यपरे जीवास्तैरेव सुखादिभिर्न संयुज्यन्त औपाधिकभेदादित्याह—तद्वदिति । श्लोकव्यावर्त्यमाशङ्कां दर्शयति—सर्वदेहेष्विति । ऐकात्म्ये कर्तर्येकस्मिन्कर्तारः सर्वे भोक्तरि चैकस्मिन्भोक्तारः सर्वे भवेयुरित्यव्यवस्थान्तरमाह—क्रियेति । व्यवस्थानुपपत्त्या द्वैतमेष्टव्यमिति वदन्तं प्रत्युत्तरत्वेन श्लोकमवतारयति—तान्प्रतीति । किमिदमैकात्म्ये सांकर्यं [2]किमेकस्मिञ्जीवे [3]व्यवस्थितेन सुखादिना [4]जीवान्तराणां तद्वत्त्वं स्यादित्युच्यते [5]किंवा सर्वोपाधिष्वात्मैक्यात्तस्य [6]स्वरूपेण सर्वसुखादिमत्त्वं स्यादित्यापाद्यते तत्राऽऽद्यं प्रत्याह—तद्वदिति ।

१. जीवप्रलयश्रुत्या—तत्र चैवापियन्तीतिरूपया । २. किमेकस्मिन्निति—यथाकाशैक्ये भेर्याकाशव्यवस्थितेन शब्देन वीणाकाशस्य तद्वत्त्वमुच्यते तद्वदित्यर्थः । ३. व्यवस्थितेन—नियतेन । ४. जीवान्तराणाम्—औपाधिकभेदभिन्नानामिति भावः । ५. किं वेति भेर्यादिषु सर्वत्राकाशैक्यात्—सर्वशब्दवत्त्वमेकस्यैवाकाशस्य यथाऽऽपद्यते तथेत्यर्थः । ६. स्वरूपेणेति—सर्वानुस्यूतस्वीयरूपेणेत्यर्थः ।

एवाऽऽत्मा तर्हि सर्वत्र सुखी दुःखी च स्यात्। न चेदं सांख्यचोद्यं संभवति। न हि सांख्य आत्मनः सुखदुःखादिमत्त्वमिच्छति। बुद्धिसमवायाभ्युपगमात्सुखदुःखादीनाम्। न चोपलब्धिस्वरूपस्याऽऽत्मनो भेदकल्पनायां प्रमाणमस्ति। भेदाभावे प्रधानस्य पारार्थ्यानुपपत्तिरिति चेत्। न। प्रधानकृतस्यार्थस्याऽऽत्मन्यसमवायात्। यदि हि प्रधानकृतो बन्धो मोक्षो वाऽर्थः पुरुषेषु भेदेषु समवैति ततः प्रधानस्य पारार्थ्यमात्मैकत्वे नोपपद्यत इति युक्ता पुरुषभेदकल्पना। न च सांख्यैर्बन्धो मोक्षो वाऽर्थः पुरुषसमवेतोऽभ्युपगम्यते। निर्विशेषाश्च चेतनमात्रा आत्मानोऽभ्युपगम्यन्ते। [1]अतः पुरुषसत्तामात्रप्रयुक्तमेव प्रधानस्य पारार्थ्यं सिद्धं न तु पुरुषभेदप्रयुक्तमिति।

अतः पुरुषभेदकल्पनायां न प्रधानस्य पारार्थ्यं हेतुः। न चान्यत्पुरुषभेदकल्पनायां प्रमाणमस्ति सांख्यानाम्। परसत्तामात्रमेव चैतन्निमित्तीकृत्य स्वयं बध्यते च प्रधानम्। परश्चोपलब्धिमात्रसत्तास्व-

---

पूर्वपक्ष—यदि आत्मा एक ही है तो सभी संघातों में स्थित उस एक आत्मा को सुखी दुःखी होना चाहिये।

सिद्धान्त—सांख्यों की यह शंका ठीक नहीं। क्योंकि वह आत्मा में सुखदुःखादि स्वीकार नहीं करता। सुखदुःखादि तो बुद्धि में माने गये हैं, वे आत्मा के धर्म नहीं। इसके अतिरिक्त ज्ञानस्वरूप आत्मा में भेद कल्पना में कोई प्रमाण भी नहीं है।

यदि कहो कि आत्मा में भेद न रहने पर प्रधान की परार्थता सिद्ध नहीं होगी तो ऐसा कहना ठीक नहीं। क्योंकि प्रधान द्वारा सम्पादित प्रयोजन का आत्मा से कोई सम्बन्ध नहीं है। यदि प्रधानकृत बन्ध या मोक्ष पुरुष में पृथक् पृथक् समवेत होते हैं तो आत्मा के एकत्व मान लेने पर प्रधान की परार्थता युक्तिसंगत नहीं हो सकती और ऐसी स्थिति में पुरुषनानात्व कल्पना ठीक ही मानी जायगी। पर सांख्यों ने बन्ध या मोक्ष पुरुष में माना नहीं वे आत्मा को निर्विशेष, असंग, चेतन मात्र ही मानते हैं। अतः प्रधान में परार्थता पुरुष सत्तामात्र से प्रयुक्त ही सिद्ध है न कि पुरुष भेद प्रयुक्त। अतः पुरुषों में भेद कल्पना करने पर प्रधान की परार्थता में कोई हेतु नहीं रह जाता। इसके अतिरिक्त पुरुष भेदकल्पना में सांख्यों के पास कोई प्रमाण भी नहीं है। आत्मा की सत्तामात्र को निमित्त बनाकर यह स्वयं प्रधान ही बँधता है और मुक्त भी होता है। प्रधान की प्रवृत्ति में ज्ञान मात्र सत्ता स्वरूप से ही

आत्मनः सर्वत्रैकत्वात्तस्य स्वरूपेण सर्वसुखादिमत्त्वमिति द्वितीयं पक्षं विवक्षन्नाशङ्कते—नन्विति। सर्वत्राऽऽत्मैकत्वमुक्तमङ्गीकरोति—बाढमिति। तदेकत्वमुपपत्तिशून्यं कथमङ्गीकृतमित्याशङ्क्याऽऽह—ननु नेति। यदि [2]सर्वत्रैकत्वं नियतमिष्यते तर्हि तत्र तत्र सुखित्वं दुःखित्वं च तस्यैवैकस्य प्राप्तमिति [3]व्यवस्थासिद्धिरिति चोदयति—यद्येक एवेति। [4]आत्मस्वरूपस्य सर्वत्रैकत्वेऽपि कल्पितभेदाद्व्यवस्थासिद्धिरित्यभिप्रेत्य किमिदं सांख्यस्य चोद्यं किंवा वैशेषिकादेरिति विकल्प्याऽऽद्यं प्रत्याह—न चेदमिति। किंचैकात्म्यं दूषयता सांख्येन[5] तद्भेदोऽभ्युपगम्यते। स च नाभ्युपगन्तुं शक्यते तन्मानाभावादित्याह—न चेति। प्रधानं हि कस्यचिद्भोगमपवर्गं च कस्यचिदादधत्पुरुषशेषमिष्यते। तच्च पुरुषभेदाभावे नोपपद्यते। तेनार्थापत्त्या पुरुषभेदः सिध्यतीति शङ्कते—भेदेति। अर्थापत्तेरनुदयं वदन्नुत्तरमाह—नेत्यादिना। संक्षिप्तमेवोक्तं विवृणोति—यदि हीति। प्रधानस्य पारार्थ्यसामर्थ्यादेव पुरुषेषु कश्चिदतिशयो भविष्यतीत्याशङ्क्यापसिद्धान्तप्रसङ्गान्मैवमित्याह—निर्विशेषा इति।

---

१. अत इति—पारार्थ्यस्यान्यथाप्युपपन्नत्वादित्यर्थः। २. सर्वत्रैकत्वनियतमिति—अनेन स्वकर्मजन्यदेहभेदेषु आत्माऽभेदो मयापीष्यत इति ध्वन्यते। ३. व्यवस्थाऽसिद्धिरिति—एकस्य युगपद् विरुद्धानेकधर्माश्रयत्वनियमो व्यवस्था तदनुपपत्तिरित्यर्थः। ४. आत्मस्वरूपस्येत्यादि—वृक्षैकत्वेऽपि शाखामूलाद्यवच्छेदकभेदेन संयोगतदभावादिविरुद्धधर्मव्यवस्थावदिति भावः ५. तेनेति—पारार्थ्यस्य पुरुषभेदोपपाद्यत्वेनेत्यर्थः।

रूपेण प्रधानप्रवृत्तौ हेतुर्न केनचिद्विशेषेणेति केवलमूढतयैव पुरुषभेदकल्पना भेदार्थपरित्यागश्च। ये त्वाहुर्वैशेषिकादय इच्छादय आत्मसमवायिन इति। तदप्यसत्। स्मृतिहेतूनां संस्काराणामप्रदेशवत्यात्मन्यसमवायात्।

आत्मनः संयोगाच्च स्मृत्युत्पत्तेः [1]स्मृतिनियमानुपपत्तिः। युगपद्वा सर्वस्मृत्युत्पत्तिप्रसङ्गः। न च भिन्नजातीयानां स्पर्शादिहीनानामात्मनां मन आदिभिः संबन्धो युक्तः। न च द्रव्याद्रूपादयो गुणाः कर्मसामान्यविशेषसमवाया वा भिन्नाः सन्ति [2]परेषाम्। यदि ह्यत्यन्तभिन्ना एव द्रव्यात्स्युरिच्छादयश्चाऽऽत्मनस्तथा च सति द्रव्येण तेषां संबन्धानुपपत्तिः। अयुतसिद्धानां समवायलक्षणः संबन्धो न विरुध्यत इति चेत्। न। इच्छादिभ्योऽनित्येभ्य आत्मनो नित्यस्य पूर्वसिद्धत्वान्नायुतसिद्धत्वोपपत्तिः। आत्मना-

---

पुरुष हेतु माना गया है अन्य किसी विशेष के कारण नहीं। अतः केवल मूढता के कारण ही पुरुष भेद की कल्पना सांख्यों ने की है और वेदार्थ का परित्याग किया है। इसके अतिरिक्त वैशेषिक आदि मतवादियों ने जो कहा है कि इच्छादि आत्मा में समवाय सम्बन्ध से रहते हैं, ऐसा उनका कहना सर्वथा असंगत है। स्मृति के असाधारण कारण संस्कारों का निरवयव आत्मा के साथ समवाय सम्बन्ध नहीं हो सकता। आत्मा और मन के संयोग मात्र से स्मृति की उत्पत्ति मानने पर तो स्मृति-नियम की सिद्धि न हो सकेगी और एक साथ सभी स्मृतियों की उत्पत्ति का प्रसंग भी आ जायगा। अतः स्मृति के प्रति संस्कार को असाधारण कारण मानना ही पड़ेगा। जिसका निरवयव आत्मा में समवाय सम्बन्ध मानना असंभव है। इसके अतिरिक्त स्पर्शादि हीन भिन्न-भिन्न प्रकार वाले आत्माओं का मन आदि के साथ सम्बन्ध मानना युक्ति संगत भी नहीं है। द्रव्य से रूपादि गुण कर्म सामान्य विशेष या समवाय अन्य मतावलम्बियों की दृष्टि में भिन्न नहीं है। यदि वेदान्तियों के मत में इच्छादि

किंच प्रधानस्य पारार्थ्यं परं शेषिणमपेक्षते। न तस्मिन्भेदमपि काङ्क्षते। अतोऽन्यथाऽप्युपपत्तिरित्याह—अत इति। जन्ममरणादिव्यवस्थानुपपत्त्या पुरुषभेदकल्पनमपि न युक्तं [3]व्यधिकरणत्वादिति मत्वाऽऽह—न चेति। न केवलं प्रमाणशून्या पुरुषभेदकल्पना किंतु प्रयोजनशून्या चेत्याह—परेति। ननु न पुरुषसत्तामात्रं निमित्तीकृत्य प्रधानं प्रवर्तते किंत्वीश्वराधिष्ठितमिति सेश्वरवादिमतमाशङ्क्य तस्यापि [4]पुरुषत्वाविशेषादुपलब्धिमात्रत्वमभ्युपेत्याऽऽह—परश्चेति। वेदार्थो वेदप्रतिपाद्यमद्वैतम्। द्वितीयमुत्थापयति—ये त्विति। बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मसंस्कारा नव विशेषगुणाः। ते च प्रत्येकमात्मसु [5]व्यवस्थया समवेताः स्वीक्रियन्ते। तेषां व्यवस्थानुपपत्त्या प्रतिदेहमात्मभेदसिद्धिरित्यर्थः। किं बुद्ध्यादयो रूपादिव[6]दात्मव्यापिनः किंवा संयोगादिवदेकदेशवृत्तयः। नाऽऽद्यः। ज्ञानादिगुणानां [7]माश्रयव्यापिनामाश्रयसंयुक्ते सर्वस्मिन्[8]पर्यायेण [9]ज्ञाततादिव्यवहारजनकत्वप्रसङ्गादित्याह—तदप्यसदिति। द्वितीये त्वेकदेशः सत्योऽसत्यो वा प्रथमे घटादिवदात्मनः सत्येकशदेशत्वा[10]त्कार्यत्वादिप्रसङ्गः। द्वितीये कल्पितैकदेशानामेव ज्ञानादिगुणवत्त्वमात्मनस्तु न तद्वत्त्वं सिध्यतीत्याह—स्मृतीति। स्मृतिहेतवः संस्कारा भावनाख्यास्तेषां ग्रहणमितरेषामुपलक्षणार्थं तेषामात्मनि समवायाभावात्परस्य सिद्धान्तासिद्धिरिति शेषः।

---

१. स्मृतिनियमानुपपत्तिः—अनुभवकाले स्मृत्यभावनियमानुपपत्तिरित्यर्थः। २. परेषामिति—वेदान्तिनामित्यर्थः। ३. व्यधिकरणत्वादिति—जन्ममरणेदेहनिष्ठ इति जन्ममरणभेदानां वैयधिकरण्यं तस्मादित्यर्थः। ४. पुरुषत्वेत्यादि—पुरुषत्वाधिकरणत्वेन पुरुषतुल्यत्वादित्यर्थः ५. व्यवस्थया समवेता इति—देवदत्तात्मसमवेतबुद्धिसुखादिभिः, स एव बुद्धिसुखादिमानिति नियमो व्यवस्था तयेत्यर्थः। ६. आत्मव्यापिनः—व्याप्यवृत्तयः। एकदेशवृत्तयः-अव्याप्यवृत्तयः। ७. आश्रयसंयुक्ते सर्वस्मिन्निति—ज्ञानविशिष्टदेशावच्छेदेनात्मसंयुक्ते घटादौ ज्ञातृता व्यवहारदर्शनादितिभावः ८. अपर्यायेणेति—तथा च सर्वज्ञत्वापत्तिरिति भावः। ९. ज्ञाततादीति—कर्तरि क्तप्रत्ययेन ज्ञातृत्वादि तदर्थ आदिना सुखादिवदेकात्मसंयुक्ते सर्वदेहेषु सुखित्वादिव्यवहारसंग्रहः। १०. कार्यत्वादिति—आदिना विनाशित्वादयो ग्राह्याः।

ऽयुतसिद्धत्वे चेच्छादीनामात्मगतमहत्त्ववन्नित्यत्वप्रसङ्गः। स चानिष्टः आत्मनो [1]ऽनिर्मोक्षप्रसङ्गात्।

समवायस्य च द्रव्यादन्यत्वे सति द्रव्येण संबन्धान्तरं वाच्यं यथा द्रव्यगुणयोः। समवायो [2]नित्यसंबन्ध एवेति न वाच्यमिति चेत्तथा च समवायसंबन्धवतां नित्यसंबन्धप्रसङ्गा [3]त्पृथक्त्वानुपपत्तिः। [4]अत्यन्तपृथक्त्वे च द्रव्यादीनां [5]स्पर्शवदस्पर्शद्रव्ययोरिव षष्ठ्यर्थानुपपत्तिः। इच्छाद्युपजनापायवद्गुणवत्त्वे चाऽऽत्मनोऽनित्यत्वप्रसङ्गः। देहफलादिवत्सावयवत्वं विक्रियावत्त्वं च देहादि-

---

आत्मरूप द्रव्य से अत्यन्त भिन्न ही हों तो फिर उस द्रव्य के साथ उन इच्छादि का सम्बन्ध सिद्ध न हो सकेगा।

यदि कहो कि अयुतसिद्ध पदार्थों का समवाय सिद्ध मानने में कोई विरोध नहीं है तो ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि अनित्य इच्छादि से नित्य आत्मा पहले से ही सिद्ध है। अतः इनका अयुतसिद्धत्व सर्वथा सम्भव नहीं है। यदि इच्छादि आत्मा के साथ अयुतसिद्ध हैं तो आत्मा में जैसे समवाय सम्बन्ध से रहने वाला परम महत् परिमाण नित्य है वैसे ही उसी समवाय सम्बन्ध से रहने वाले इच्छादि भी नित्य होने लग जायंगे जो कि इष्ट नहीं है क्योंकि ऐसा मानने पर आत्मा में मोक्षाभाव का प्रसंग आ जायगा।

यदि समवाय सम्बन्ध अपने समवायी द्रव्य से भिन्न है तो उसके द्रव्य के साथ सम्बन्ध मानने में अन्य सम्बन्ध की कल्पना करनी पड़ेगी। जैसे द्रव्य से भिन्न गुण द्रव्य में समवाय सम्बन्ध से रहता है, ऐसे ही द्रव्य से भिन्न समवाय सम्बन्ध को भी किसी न किसी सम्बन्ध से ही रहना चाहिए। यदि कहो कि समवाय नित्य सम्बन्ध स्वरूप ही है अतः द्रव्य में समवाय को रहने के लिए किसी

---

[6]किंचाऽऽत्ममनः संयोगासमवायिकारणाज्ज्ञानानामुत्पत्तिरिष्टा। तथा च सति [7]ग्रहणसमये स्मृतिर्न संभवत्येवेति नियमो नोपपद्यते ग्रहणकारणसंयोगेनैव स्मृत्युपपत्तिसंभवादित्याह—आत्मेति। किंचाऽऽत्ममनसोः संयोगादेकस्मादेकस्याः स्मृतेः समुत्पत्तिसमये स्मृत्यन्तराण्यपि समुत्पद्येरन्। असमवायिकारणस्य तुल्यत्वात्। न च समुद्बुद्धसंस्कारायौगपद्याद्युगपदनुत्पत्तिः तेषां [8]तदुद्बोधस्य चा[9]ऽऽत्मनि विप्रतिपन्नत्वेन स्मृतिसामग्र्यन्तर्भावासंभवादित्यभिप्रेत्याऽऽह—युगपद्वेति। किंच [10]समानजातीयानां [11]स्पर्शादिमतां च परस्परं संबन्धो दृष्टः। यथा [12]मल्लानां मेषाणां रज्जुघटादीनां च तदुभयाभावादात्मना मनआदिभिः संबन्धासिद्धेर्नोक्तादसमवायिकारणाद्बुद्ध्यादिगुणोत्पत्तिः सिध्यतीत्याह—न चेति। गुणादीनां साजात्यस्य स्पर्शादिमत्त्वस्य चाभावेऽपि द्रव्येण संबन्धवदात्मनो मनआदिभिः

---

१. अनिर्मोक्षप्रसङ्गादिति—इच्छादिर्हि बन्धः, आत्मनि स च नित्यः स्यात्तर्हि सदैवात्माबद्धः स्यादित्यर्थः। २. नित्यसम्बन्ध एवेति—नित्यसम्बन्ध एवेत्यत्र एवकारेण समवायस्य सम्बन्धवत्ता निषिध्यते एवकारश्चाय नित्यपदस्वारस्यलभ्यः प्रयुक्तः इत्यवधेयम्। ३. पृथक्त्वानुपपत्तिरिति—अनेनाभेदः प्रतिपादितः। ४. अत्यन्तपृथक्त्वे चेत्यादिना मनाग्भेदः तथा च तादात्म्यं लभ्यते इत्यवधेयम्। ५. स्पर्श इत्यादि—शीतोष्णस्पर्शवती ये मिथोऽसम्बद्ध द्रव्ये हिमवद्विन्ध्यात्मके तयोरिवेत्यर्थः। अहिमवत्वाद्विन्ध्यस्योष्णत्वं प्रसिद्धं स्पर्शवद्घटादि। अस्पर्शं च गगनादि तयोरिवेति कश्चित्। तदसत्, टीकाविरोधात् घटगगनादेः सम्बन्धस्य परोपगतत्वेन तं प्रति तथा दृष्टान्तयितुमशक्यत्वाच्चेत्यलम्। ६. अद्वैतिमतेऽव्यवस्थामापादयतो वैशेषिकादेरपि सा व्यवस्थानिरस्तारः इत्याशयेन भाष्यमवतारयतिकिंचेति ७. ग्रहणसमये—अनुभवसमये। ८. तदुद्बोधस्य—तदुद्बोधकस्येत्यर्थः। ९. आत्मनि विप्रतिपन्नत्वेनेति—व्यापित्वाव्यापित्वविकल्पेन निरस्तत्वाच्चेति भावः। अस्मदनभिमततया विवादग्रस्तत्वेनेति यावत्। १०. समानजातीयानाम्—तत्तदसाधारणधर्मेण तुल्यानामित्यर्थः। ११. स्पर्शादिमताम्—भूतचतुष्टयवृत्तिगुणवतामित्यर्थः। १२. सजातीयोदाहरणे-मल्लानां मेषाणामिति—वैजात्येऽपि स्पर्शादिमतामुदाहरणं रज्जुघटादीनाम्।

वदेवेति दोषावपरिहार्यौ। यथा त्वाकाशस्याविद्याध्यारोपितरजोधूममलवत्त्वादिदोषवत्त्वं तथाऽऽत्मनोऽविद्याध्यारोपितबुद्ध्याद्युपाधिकृतसुखदुःखादिदोषवत्त्वे बन्धमोक्षादयो व्यावहारिका न विरुध्यन्ते। सर्ववादिभिरविद्याकृतव्यवहाराभ्युपगमात्परमार्थानभ्युपगमाच्च। तस्मादात्मभेदपरिकल्पना वृथैव तार्किकैः क्रियत इति॥ ५॥

सम्बन्ध को मानने की आवश्यकता नहीं। तो ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि ऐसी अवस्था में समवाय सम्बन्ध वालों का सम्बन्ध नित्य होने के कारण उनकी पृथक्ता सिद्ध न हो सकेगी। इसके अतिरिक्त द्रव्यादि को परस्पर अत्यन्त भिन्न मानोगे तो जैसे स्पर्शवान् और अस्पर्शशून्य द्रव्यों में परस्पर सम्बन्ध नहीं होता वैसे ही उनके सम्बन्ध की भी युक्तिपूर्वकसिद्धि न हो सकेगी। और कदाचित् इच्छादि उत्पत्ति विनाशशील गुणों वाला आत्मा को मानोगे तो आत्मा अनित्य होने लग जायगी।

देह और फलादि के समान आत्मा को सावयव और विकारी मानने पर तो उन दोनों दोषों का परिहार न हो सकेगा। जैसे आकाश का अविद्याकल्पितधूलिधूममलवत्वादि दोषवत्ता है वैसे ही आत्मा में अविद्या से कल्पित बुद्ध्यादि उपाधि के कारण सुखदुःखादि दोष हैं। ऐसी स्थिति में बन्ध

संबन्धः सिध्येदिति चेन्नेत्याह—न चेति। [1]स्वतन्त्रं सन्मात्रं द्रव्यशब्देनात्र विवक्षितं न ततो भेदेन गुणादयो वेदान्तिमते विद्यन्ते। शुक्लः पटः [2]खण्डो गौरित्यादिसामानाधिकरण्यदर्शनात्। द्रव्यमेव तु कल्पनया तत्तदाकारेण भातीत्यभ्युपगमात्। अतो दृष्टान्तासंप्रतिपत्तिरित्यर्थः। विपक्षे दोषमाह—यदि हीति। गुणादयो द्रव्या [3]दत्यन्तभिन्ना हिमवद्विन्ध्ययोरिव यदि स्युर्यदि चात्ऽऽत्मनः सकाशादिच्छादयोऽत्यन्तं भिन्ना भवेयुस्तदा गुणादीनां द्रव्येण तद्वदेव संबन्धानुपपत्तेः। इच्छादीनां चाऽऽत्मना तदयोगा [4]त्पारतन्त्र्यासिद्धिरित्यर्थः। अत्यन्तभिन्नानामपि समवायसंबन्धा [5]त्पारतन्त्र्योपपत्तिरिति शङ्कते—अयुतेति। [6]किमिदमयुतसिद्धत्वमपृथक्कालत्वं किंवा अपृथग्देशत्वमुताऽपृथक्स्वभावत्व[7]माहोस्वित्संयोगविभागायोग्यत्वम्। नाऽऽद्यः। विकल्पासहत्वात्। [8]किमिच्छाद्यपेक्षयाऽपृथक्कालत्वं किंवाऽऽत्मापेक्षयेच्छादीनामिति विकल्प्याऽऽद्यं दूषयति—नेत्यादिना। यद्यात्मना सहापृथक्कालत्वमिच्छादीनां तदाऽऽत्मनोऽनादित्वात्तद्गतमहत्त्ववन्नित्यत्वं तेषामापततीत्याह—आत्मनेति। प्रसङ्गस्येष्टत्वमाशङ्क्य निराचष्टे—स चेति।

---

१. ननु द्रव्याद्रूपादय इति द्रव्यमभ्युपगच्छता द्रव्यगुणादिभेदोऽभ्युपगत एव भवति। यतो गुणकर्माश्रयत्वं द्रव्यस्य लक्षणम्, न चान्तरेण भेदमाश्रयाश्रयिभावः सम्भवति तथा च द्रव्याद्रूपादयो न- भिन्नाः सन्तीति व्याहतं वचः इत्याशङ्क्य विवक्षितं द्रव्यलक्षणमुपक्षिपति—स्वतन्त्रं सन्मात्रमिति। अनाश्रितं सत्वेन प्रतीत्यर्हं चेत्यर्थः। तथा च ब्रह्मैव द्रव्य रूपादीनां च रज्ज्वाद्यवच्छेदेन सर्पादिवत् पृथिव्याद्यवच्छेदेन ब्रह्मण्येवाध्यस्तत्वात्तदभेदः। पृथिव्यादीनां तु ज्ञानावच्छेदकत्वात् वृत्तेर्ज्ञानत्वमिवद्रव्यावच्छेदकत्वादेव द्रव्यत्व रूपाद्यपेक्षया स्वातन्त्र्यमादाय लक्षणसमन्वयः। न चैवं रूपत्वाद्यपेक्षया स्वातन्त्र्यमादाय—रूपादावति व्याप्तिरिति शङ्क्यम्, न हि लक्षणमस्तीति व्यवहारः प्रसञ्जनीयो भवति। द्रव्यव्यवहारोपपत्तय एव लक्षणनिर्माणादिति। अत्र चालीकवारणाय सन्मात्रमिति। मात्रशब्दो गुणाश्रयत्वादिवारणार्थः। गुणादिवारणाय स्वतन्त्रमिति।

२. गुणसामानाधिकरण्यमुक्त्वा कर्मसामानाधिकरण्यमाह—खण्डो गौरिति। खण्डनं खण्डः क्रिया। ३. अत्यन्तभिन्ना इति—तदेव भेदस्यात्यन्तत्वं नाम यन्मिथः सम्बन्धानर्हधर्मिप्रतियोगिकत्वमिति भावः। ४. पारतन्त्र्येति—आत्माश्रितत्वेत्यर्थः। ५. पारतन्त्र्येति—गुणादीनां द्रव्याश्रितत्वेत्यर्थः। ६. ययोर्द्वयोर्मध्ये एकमपराश्रितमेवावतिष्ठते तावयुत्तसिद्धाविति हि नैयायिक समयः। स च पारतन्त्र्यमेवार्थतः फलति तदिह विकल्प्यते—किमिदमित्यादिना। ७. आहोस्विदिति—ननु नैकमपि भवदुक्तेषु ययोर्द्वयोर्मध्ये एकमपराश्रितमेव तावयुतसिद्धावित्यभ्युपगमादिति चेन्नैवम्, समवायसिद्धेः प्रागाश्रितत्वघटितलक्षणस्य वक्तुमयोगात्। समवायसिद्धावाश्रितत्वम्, तस्मिँश्च सेत्यन्योऽन्याश्रयादिति ध्येयम्। ८. किमित्यादि—इच्छादिकालान्यकालासिद्धत्वं, किं वा आत्मकालसमानकालत्वमात्मनः इति शेषः।

रूपकार्यसमाख्याश्च भिद्यन्ते तत्र तत्र वै। आकाशस्य न भेदोऽस्ति तद्वज्जीवेषु निर्णयः ॥६॥

[जैसे आकाश में घटमठादि उपाधियों के कारण जहाँ तहाँ अलपत्वादि रूप जलानयनादि कार्य और उनके घटाकाशादि नामों में भेद हो जाता है, फिर भी आकाश में कोई भेद नहीं होता, वैसे ही जीवों के सम्बन्ध में निर्णय समझना चाहिये ॥ ६ ॥]

कथं पुनरात्मभेदनिमित्त इव व्यवहार एकस्मिन्नात्मन्यविद्याकृत उपपद्यत इति। उच्यते। यथेहाऽऽकाश एकस्मिन्घट[1]करकापवरकाद्याकाशानामल्पत्वमहत्त्वादिरूपाणि भिद्यन्ते तथा कार्यमुदका-

---

मोक्षादि व्यावहारिक मानने में कोई विरोध नहीं, क्योंकि सभी वादियों ने व्यवहार को अविद्याकृत माना है। पारमार्थिक नहीं माना है। आत्मा में मनुष्यत्व आदि धर्म जब कल्पित हैं तो तत्प्रयुक्त लौकिक वैदिक व्यवहार भी कल्पित ही माने जायेंगे इसी अभिप्राय से कहा गया कि सभी वादियों ने व्यवहार को अविद्याकृत माना है। अतः तार्किक जीव भेद की कल्पना व्यर्थ ही करते हैं ॥५॥

जीव भेद पारमार्थिक नहीं

पूर्वपक्ष—जो व्यवहार आत्मा को भिन्न-भिन्न मानने पर होता है वही व्यवहार भला एक ही आत्मा में अविद्या के कारण कैसे सम्भव होगा ?

न चापृथग्देशत्वमयुतसिद्धत्वम्। तन्तुपटादीनां [2]पृथग्देशानामयुतसिद्ध्यभावप्रसङ्गात्। न चापृथक्स्वभावत्वमयुतासिद्धत्वम्। भेदपक्षपरिक्षयात्। न च संयोगविभागायोग्यत्वमयुतसिद्धत्वम्। देवदत्तस्य हस्तादीनां चायुतसिद्ध्यभावापातादित्यभिप्रेत्य समवायस्य द्रव्यादन्यत्वे तावन्मात्रत्वेन तत्संबन्धत्वव्याघातात्ततोऽन्यत्वेन संबन्धान्तरमस्ति न वेति विकल्प्याऽऽद्ये स्यादनवस्थेति मत्वाऽऽह—समवायस्येति। द्वितीयं शङ्कते—समवाय इति। न वाच्यं संबन्धान्तरमितिशेषः समवायस्य नित्यसंबन्धत्वे समवायवतां द्रव्यगुणादीनामपि तद्वत्त्वाद्भेदस्य कदाचिदप्यनुपलम्भा [3]त्पृथक्त्वप्रथानुपपत्तिरिति दूषयति—तथा चेति। [4]संयोगस्यापि समवायसाम्यं चकारेण सूच्यते। समवायस्यसमवायिभिर्गुणादीनां च द्रव्येणात्यन्तभेदे हिमवद्विन्ध्ययोरिव संबन्धानुपपत्तेस्तेषु परतन्त्रताव्यवहारासिद्धिरित्याह—अत्यन्तेति। किंचेच्छादयो नाऽऽत्मगुणा उपजननापायवत्त्वाद्रूपादिवत्। यद्वाऽऽत्मा नानित्यगुणवान्नित्यत्वाद्व्यतिरेकेण देहादिवदित्याह—इच्छादीति। न केवलमात्मनोऽनित्यगुणत्वेऽनित्यत्वप्रसक्तिरेव दोषः। किंत्वन्यदपि दोषद्वयं दुष्परिहरमिति बाधकान्तरमाह—सावयवत्वमिति। यद्यात्मनो नेच्छादिगुणवत्त्वं तदा तस्य बन्धाभावान्मोक्षो न स्यादतो बन्धमोक्षव्यवस्थानुपपत्त्या प्रतिदेहं सुखदुःखादिविशिष्टात्मभेदसिद्धिरित्याशङ्क्याऽऽह—यथा त्विति। अवस्तुत्वादविद्यायास्तत्कृतव्यवहारायोगाद्व्यावहारिकबन्धाद्यभ्युपगमासिद्धिरित्याशङ्क्याऽऽह—सर्ववादिभिरिति। अविद्याकृतमनुष्यत्वाद्यारोपेण लौकिकवैदिकव्यवहारः सर्ववादिभिरिष्यते तत्कृता च [5]व्यवस्थाऽऽस्थीयते। [6]तस्मादस्माकमपि तथैव सर्वमविरुद्धमित्यर्थः। परमार्थे च मोक्षे केनापि वादिना व्यवहारो नाभ्युपगम्यते। तथा च मोक्षे [7]परेषां व्यवहारस्यैवाभावान्निर्विषयः पारमार्थिकभेदाभ्युपगमो वृथेत्याह—परमार्थेति। कल्पितभेदवशादपि पूर्वोक्तसर्वव्यवस्थासौस्थ्यात्पारमार्थिकात्मभेदकल्पना प्रमाणप्रयोजनशून्येत्युपसंहरति—तस्मादिति ॥ ५ ॥

---

१. करकः—कमण्डलुः, अपवरकः—मठ इति। २. पृथग्देशानामिति—स्वस्वावयवदेशानामित्यर्थः। ३. पृथक्त्वप्रथा—भेदव्यवहार इति यावत्। ४. सयोगस्यापि समवायसाम्यमिति—यदि समवायोऽपि समवायान्तरेणतिष्ठेद्द्रव्यादिषु तदाऽनवस्था स्यादिति तद्वारणाय समवायस्य नित्यसम्बन्धत्वमभ्युपगम्यते नैयायिकैस्तथा चासौ स्वरूपेणैवावतिष्ठते तद्वत्संयोग एव स्वरूपेणावतिष्ठतां नाम किं समवाय दुर्व्यसनेनेति संयोगस्य समवाय साम्यमिहाशूचि। किं च संयोगस्यापि समवाय एव सम्बन्धस्तथा च सयोगोऽपि नित्यः, न हि नित्यसम्बन्धवाननित्यः, सम्बन्धिविरहे सम्बन्धायोगात्। एवञ्च संयोगस्यापि नित्यत्वे सति सम्बन्धत्वं समवायसाम्यमिति। ५. व्यवस्थेति—'वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत' इत्येवमादिरूपा व्यवस्थेहाभ्यूहनीया। ६. तस्मात्—आविद्यकव्यवहारस्य सर्वसम्मतत्वादित्यर्थः। ७. परेषामिति—वादिनामित्यर्थः।

नाऽऽकाशस्य घटाकाशो विकारावयवौ यथा । नैवाऽऽत्मनः सदा जीवो विकारावयवौ तथा ॥७॥

[जैसे महाकाश का विकार या अवयव घटाकाश नहीं है, वैसे ही परमात्मा का विकार या अवयव किसी भी अवस्था में जीव नहीं है ॥ ७ ॥]

हरणधारणशयनादिसमाख्याश्च घटाकाशकरकाकाश इत्याद्यास्तत्कृताश्च भिन्ना दृश्यन्ते । तत्र तत्र वै [1]व्यवहारविषय इत्यर्थः । सर्वोऽयमाकाशे रूपादिभेदकृतो [2]व्यवहारो न परमार्थ एव । परमार्थतस्त्वाकाशस्य न भेदोऽस्ति । न चाऽऽकाशभेदनिमित्तो व्यवहारोऽस्त्यन्तरेण परोपाधिकृतं द्वारम् । यथैतत्तद्वद्देहोपाधिभेदकृतेषु जीवेषु घटाकाशस्थानीयेष्वात्मसुनिरूपणात्कृतो बुद्धिमद्भिर्निर्णयो निश्चय इत्यर्थः ॥ ६ ॥

ननु तत्र [3]परमार्थकृत एव घटाकाशादिषु रूपकार्यादिभेदव्यवहार इति । नैतदस्ति । यस्मा-

सि०—इस पर कहते हैं। जैसे एक ही आकाश में घट कमण्डलु और मठादि अवच्छिन्न आकाशों के अल्पत्व-महत्वादि रूप भिन्न-भिन्न होते हैं। एवं जहां तहां व्यवहार में उनके लिए जल लाना, जल धारण करना और शयन करना आदि कार्य तथा घटाकाश, करकाकाश, मठाकाशादि नाम भिन्न-भिन्न देखे गये हैं। आकाश में यह सभी व्यवहार रूपादि-भेद के कारण ही हैं, परमार्थतः नहीं; क्योंकि परमार्थ दृष्टि से आकाश में भेद निमित्तक व्यवहार अन्य उपाधि के कारण से ही है। उपाधि के बिना आकाश में भेद होना सर्वथा असम्भव है। जैसा यह भेद औपाधिक है, वैसे ही देहादि उपाधि भेद के कारण ही घटाकार स्थानीय जीवात्मा में भेद माना है। ऐसा बुद्धिमानों ने निश्चय किया है। इससे यही सिद्ध हुआ कि घटाकाश के समान आत्मा में दीखने वाला भेद और तत्प्रयुक्त सभी व्यवहार औपाधिक हैं, पारमार्थिक नहीं ॥६॥

जीवात्मा निर्विकार और निरवयव है

पूर्वपक्ष—घटाकाशादि में रूपकार्यादि का भेद व्यवहार पारमार्थिक ही है ?

सिद्धान्तपक्ष—ऐसा कहना ठीक नहीं। क्योंकि पारमार्थिक आकाश का घटाकाश विकार नहीं

अद्वैतस्य [4]श्रुत्यादिविरोधाभावेऽप्य[5]नुमानविरोधमाशङ्क्यानैकान्तिकत्वेनानुमानं दूषयति—रूपेति । श्लोकव्यावर्त्यामाशङ्कामाह—कथमिति । यथाऽऽत्मभेदवादे तद्भेदनिमित्तो [6]रूपादिव्यवहारस्तथैकस्मिन्नेवाऽऽत्मन्यात्मैक्यपक्षे रूपादिव्यवहारो नोपपद्यते । तथा च विमता जीवास्तत्त्वतो भिद्यन्ते भिन्ननामकत्वाद्भिन्नकार्यकरत्वाद्भिन्नरूपत्वाद्घटपटादिवदित्यनुमानविरुद्धमद्वैतमित्यर्थः। घटाकाशादिष्वनैकान्तिकत्वं विवक्षित्वा श्लोकाक्षराणि व्युत्पादयति—उच्यत इत्यादिना। शयनादि भिद्यत इति संबन्धः । तत्कृताश्चेत्यत्र तच्छब्देन विकल्पितो घटाकाशभेदो गृह्यते । चकारोऽवधारणार्थः घटाकाशादीनामुक्तहेतुमत्वेऽपि विपक्षत्वाभावे कथमनैकान्तिकत्वमित्याशङ्क्याऽऽह—सर्वोऽयमिति । उक्तेऽर्थे तृतीयं पादं विभजते—न चेति । परोपाधिशब्देन घटकरकादिरुच्यते । दृष्टान्तमनूद्य दार्ष्टान्तिकं व्याचष्टे—यथैतदित्यादिना ॥ ६ ॥

घटाकाशादीनां विपक्षत्वाभावमाशङ्क्य परिहरति—नेत्यादिना । घटाकाशादिराकाशस्य विकारोऽवयवो वेत्यङ्गीकारात्तत्रापि [7]भेदस्य तात्त्विकत्वान्न विपक्षतेति श्लोकस्य व्यावर्त्यं चोद्यमुत्थापयति—नन्विति । आकाशस्य

१.—व्यवहारविषय इति—घटेन जलमाहर, करके जलं धारय, मठे शेष्व, इत्येवमादौ व्यवहार इति यावत् । २. व्यवहारो—व्यवहारभेदः । ३. परमार्थ कृतः—वस्तुस्वरूपप्रयुक्त इत्यर्थः । ४. श्रुत्यादिति—तत्र भेदानां तात्त्विकत्वानपेक्षणात् कल्पितत्वमादायाप्युपपत्तेरिति । जीवानामुत्पत्तिलयप्रतिपादकश्रुतिरत्र ग्राह्याऽऽदिना सुखदुःखादिव्यवस्थापि ग्राह्येति भावः । ५. अनुमानविरोधमिति—अनुमानस्य तात्त्विकभेदावगाहित्वादिति भावः । ६. रूपादिव्यवहार इति—गौरः कृष्ण इत्यादिरूपव्यवहारः, आदिना पाचकः पाठकः इत्यादि कार्यव्यवहारो, देवदत्तो यज्ञदत्त इत्यादि समाख्याव्यवहारश्च ग्राह्याः । ७. भेदस्यतात्त्विकत्वादिति—घटाकाशादीनां महाकाशविकारत्वाभ्युपगमे तदवयवत्वाभ्युपगमे वा अवयवितो भेदाभावेऽपि घटाकाशादीनां परस्परं भेदस्य तात्त्विकत्वादित्यर्थः ।

यथा भवति बालानां गगनं मलिनं मलैः।
तथा भवत्यबुद्धानामात्माऽपि मलिनो मलैः ॥८॥

[जैसे अविवेकियों की धूमादि मल के कारण आकाश मल युक्त प्रतीत होता है, वैसे ही अविवेकियों की दृष्टि में परमात्मा भी रागद्वेषादि मल से मलिन प्रतीत होता है। (आत्मज्ञानियों की दृष्टि में नहीं) ॥ ९ ॥]

[1]तत्परमार्थाकाशस्य घटाकाशो न विकारः। यथा सुवर्णस्य [2]रुचकादिर्यथा वाऽपां फेनबुद्बुदहिमादिः। नाप्यवयवो यथा वृक्षस्य शाखादिः। न तथाऽऽकाशस्य घटाकाशो विकारावयवौ यथा तथा नैवाऽऽत्मनः परस्य परमार्थसतो महाकाशस्थानीयस्य घटाकाशस्थानीयो जीवः सदा सर्वदा यथोक्तदृष्टान्तवन्न विकारो नाप्यवयवः। अत आत्मभेदकृतो व्यवहारो मृषैवेत्यर्थः ॥ ७ ॥

यस्माद्यथा घटाकाशादिभेदबुद्धिनिबन्धनो रूपकार्यादिभेदव्यवहारस्तथा देहोपाधिजीवभेदकृतो जन्ममरणादिव्यवहारस्तस्मात्तत्कृतमेव क्लेशकर्मफलमलवत्त्वमात्मनो न परमार्थत इत्येतमर्थं दृष्टान्तेन प्रतिपिपादयिषन्नाह—यथा भवति लोके बालानामविवेकिनां गगनमाकाशं घनरजो [3]धूमादिमलैर्मलिनं

है। जैसे सुवर्ण के विकाररुचकादि आभूषण और जैसे जल के विकार फेन बुद्बुदादि हैं, वैसे विकार घटाकाश मठाकाश का नहीं। और जैसे वृक्ष के शाखादि अवयव होते हैं,वैसे अवयव घटाकाश महाकाश के नहीं हैं। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार घटाकाश महाकाश के विकार या अवयव नहीं है, वैसे ही महाकाश स्थानीय परमार्थ सत्य परमात्मा का घटाकाश स्थानीय जीव किसी भी परिस्थिति में विकार या अवयव जरा भी नहीं है। इस विषय में दृष्टान्त और दार्ष्टान्त की समानता है। अतः आत्म भेद के कारण उत्पन्न हुआ व्यवहार आत्मा में मिथ्या ही है, पारमार्थिक नहीं ॥७॥

अविवेकियों के दृष्टि में ही आत्मा मलिन है

क्योंकि जैसे घटाकाशादि भेदबुद्धि के कारण रूपकार्यादि भेद व्यवहार है, वैसे ही देहरूप उपाधि से उपहित जीव भेद के कारण जन्म मरणादि व्यवहार है। अतएव आत्मा का अविद्यादि क्लेश शुभाशुभ कर्म तत्फल रूप मल से युक्त होना भी औपाधिक ही है, पारमार्थिक नहीं। इस अर्थ को दृष्टान्त द्वारा बतलाने की इच्छा से कहते हैं।

निर्विकारत्वं निरवयवत्वं च लोकसिद्धं गृहीत्वा परिहरति—नैतदस्तीति। अत्र वैधर्म्योदाहरणद्वयमाह—यथेति। घटाकाशादिराकाशाख्यस्य महाकाशस्यावयवो न भवतीत्यत्र व्यतिरेकदृष्टान्तमाह—यथा वृक्षस्येति। उक्तदृष्टान्तानां दार्ष्टान्तिकमाह—न तथेति। घटाकाशस्य महाकाशं प्रति विकारत्वमवयवत्वं च नास्तीत्युक्तं दृष्टान्तत्वेनानूद्य दार्ष्टान्तिकं दर्शयन्नुत्तरार्धं व्याकरोति—यथेत्यादिना। [4]अनेकान्तिकत्वेनानुमानस्यामानत्वे स्थिते फलितमाह—अत इति ॥ ७ ॥

जीवो ब्रह्मणो नांशो न विकारोऽपि तु ब्रह्मैवोपाध्यनुप्रविष्टं जीवशब्दितमित्युक्तं तदयुक्तं ब्रह्मणः शुद्धत्वाज्जीवस्य रागादिमलवत्त्वादनेकत्वायोगादित्याशङ्क्य परमार्थतो जीवस्यापि नास्ति। मलवत्त्वमित्याह—यथेति। श्लोकस्य तात्पर्यमाह—यस्मादिति। घटाकाशो मठाकाशः सूचीपाशाकाशश्चेत्युपाधिनिमित्तो भेदस्तद्विषया बुद्धिस्तत्प्रयुक्तो रूपभेदोऽर्थक्रियाभेदो नामभेदश्चेति व्यवहारो नभसि यथोपलभ्यते तथा देहाद्युपाधिभेदप्रयुक्तो जीवभेदस्त-

१. परमार्थाकाशस्य—अनौपाधिकमहाकाशस्येत्यर्थः। २. रुचकेति—रुचकं ग्रीवाभरणं सांव्यावहारिकं वा रूपकं निष्कापरपर्यायम्। ३. धूमादीत्यत्र—आदिना नीहारो ग्राह्यः। ४. अनैकान्तिकत्वेनेति—तदभिन्नाभिन्नस्य तदभिन्नत्वनियमेन मिथो भेदस्याप्यतात्त्विकत्वादिति भावः।

मरणे संभवे चैव गत्यागमनयोरपि ।
स्थितौ सर्वशरीरेषु [1]आकाशेनाविलक्षणः ॥ ९ ॥

[सभी शरीर में आत्मा जन्म, मरण, गमन, आगमन और स्थितिकाल में घटाकाश के समान ही है, विलक्षण नहीं ॥ ९ ॥]

मलवन्न गगनं मलवद्याथात्म्यविवेकिनाम्, तथा भवत्यात्मा [2]परोऽपि यो विज्ञाता [3]प्रत्यक्क्लेशकर्मफलमलैर्मलिनोऽबुद्धानां प्रत्यगात्मविवेकरहितानां नाऽऽत्मविवेकवताम् । न ह्यूषरदेशस्तृड्वत्प्राण्यध्यारोपितो [4]दकफेनतरङ्गादिमांस्तथा नाऽऽत्माऽबुधारोपितक्लेशादिमलैर्मलिनो भवतीत्यर्थः ॥ ८ ॥

पुनरप्युक्तमेवार्थं प्रपञ्चयति—घटाकाशजन्मनाशगमनागमनस्थितिवत्सर्वशरीरेष्वात्मनो जन्ममरणादिरा [5]काशेनाविलक्षणः प्रत्येतव्य इत्यर्थः ॥ ९ ॥

लोक में जैसे अविवेकी पुरुषों की दृष्टि में आकाश, बादल, धूलि और धूमादिरूप मलों के कारण मलिन हो जाता है, आकाशतत्त्वदर्शी विवेकियों की दृष्टि में नहीं, वैसे ही परमात्मा जो विज्ञाता प्रत्यक् तथा सर्वसाक्षी है। वह प्रत्यगात्म विवेक से शून्य अज्ञानियों की दृष्टि में ही क्लेश, कर्म और फलरूप मल से मलिन हो जाता है, आत्म-ज्ञानियों की दृष्टि में नहीं। भाव यह है कि जैसे मरुभूमि प्यासे प्राणी के द्वारा कल्पना किये गये फेन-तरङ्गादि के कारण उनसे युक्त नहीं होती वैसे ही आत्मा भी अज्ञानियों द्वारा कल्पित उक्त क्लेशादि मलों से मलिन नहीं होती ॥८॥

फिर भी पूर्वोक्त अर्थ को ही विस्तार से बतलाते हैं। घटाकाश के जन्म, नाश, आगमन और स्थिति जिस प्रकार है, उसी प्रकार आत्मा के जन्म मरणादि भी हैं। अर्थात् जन्म-मरणादि व्यवहार से सर्वथा विलक्षण के समान आत्मा को समझना चाहिए ॥९॥

त्कृतो जननमरणसुखदुःखादिव्यवहारो व्यवस्थितो यस्मादास्थीयते तस्मात्तेनाविद्याविद्यमानेन कृतमेवाऽऽत्मनो रागादिमलवत्त्वं न वस्तुतोऽस्तीत्येतमर्थं दृष्टान्तद्वारा प्रतिपिपादयिषन्नादौ दृष्टान्तमाहेति योजना । दृष्टान्तभागनिविष्टान्यक्षराणि व्याचष्टे—यथेत्यादिना । दार्ष्टान्तिकभागगतानामक्षराणामर्थमाह—तथेति । यो हि प्रत्यगात्मा विज्ञाता सोऽप्यबुद्धानां मलिनो भवतीति संबन्धः । अबुद्धानामित्येतद्व्याचष्टे—प्रत्यगात्मेति । अविवेकिभिरध्यारोपितेऽपि प्रत्यगात्मनो मलवत्त्वे मलप्रयुक्तं फलं तत्र वास्तवं भविष्यतीत्याशङ्क्याऽऽह—न हीति ॥ ८ ॥

ननु जीवो मरणानन्तरं धर्मानुरोधेन स्वर्गं गच्छति । अधर्मवशाच्च नरकं प्रतिपद्यते । धर्माधर्मयोश्च भोगेन क्षये पुनरागत्य योनिविशेषे संभवति । तत्र यावद्भोगं स्थित्वा पुनरपि परलोकाय प्रतिष्ठते । एवमिह लोकपरलोकसंचरणव्यवहारविरुद्धमद्वैतमिति तत्राऽऽह—मरण इति । श्लोकस्य तात्पर्यमाह—पुनरपीति । आत्मनि सर्वो व्यवहारोऽविद्याकृतो वास्तवो नेत्युक्तोऽर्थः । आत्मनो हि गगनोपमस्य गत्यादेर्वस्तुतोऽसंभवादविद्याकृतस्तस्मिन्गत्यादिरित्यर्थः ॥ ९ ॥

---

१. आकाशेनाविलक्षण इति—आत्मेत्यनुवर्तते । भाष्यं त्वात्मनो मरणादौ प्रतीयमाने सत्यपि मरणादिगणः आकाशीयमरणाद्यविलक्षणः । २. परः—अज्ञानतत्कार्यासंस्पृष्टः । ३—प्रत्यगिति—अत्र प्रत्यङ्ङिति युक्तः पाठः । आगमशास्त्रस्यानित्यत्वात् नुमभावो वा । अक् अग् कुटिलायां गताविति धात्वन्तरानुसरणं वेत्यलम् । निखिलवृत्तिसाक्षी तदर्थः । ४. उदकफेनेति—यदुदकं तेनेति विग्रहः । ५. आकाशेनाविलक्षण इति—आकाशीयजन्मादितुल्य इति यावत् ।

संघाताः स्वप्नवत्सर्वे [1]आत्ममायाविसर्जिताः ।
आधिक्ये सर्वसाम्ये वा नोपपत्तिर्हि विद्यते ॥१०॥
रसादयो हि ये कोशा [2]व्याख्यातास्तैत्तिरीयके ।
तेषामात्मा परो जीवः खं यथा संप्रकाशितः ॥ ११ ॥

[सभी देहादि संघात स्वप्न में दीखने वाले देहादि के समान आत्मा की माया से ही रचे हुए हैं । स्वप्न की अपेक्षा जाग्रत् देहादि के उत्कर्ष या सबकी समानता में कोई युक्ति नहीं है ॥ १० ॥]

[तैत्तिरीयक शाखोपनिषद् में अन्नरसमयादि कोशों की स्पष्ट विवेचना की गई है । आकाश के समान परमात्मा ही उनके अन्तरतम जीव रूप से बतलाया गया है ॥ ११ ॥]

घटादिस्थानीयास्तु देहादिसंघाताः स्वप्नदृश्यदेहादिवन्मायाविकृतदेहादिवच्चाऽऽत्ममायाविसर्जिता आत्मनो मायाऽविद्या तया प्रत्युपस्थापिता न परमार्थतः सन्तीत्यर्थः यद्याधिक्यम [3]धिकभावस्तिर्यग्देहाद्यपेक्षया देवादिकार्यकारणसंघातानां यदि वा सर्वेषां समतैव नैषामुपपत्तिः संभवः सद्भावप्रतिपादको हेतुर्विद्यते । [4]नास्ति हि यस्मात्तस्मादविद्याकृता एव न परमार्थतः सन्तीत्यर्थः ॥ १० ॥

उत्पत्त्यादिवर्जितस्याद्वयस्याऽऽत्मतत्त्वस्य श्रुतिप्रमाणकत्वप्रदर्शनार्थं वाक्यान्युपन्यस्यन्ते । रसादयोऽन्नरसमयः प्राणमयः इत्येवमादयः कोशा इव कोशा अस्याऽऽदेरिवोत्तरोत्तरस्यापेक्षया बहिर्भावात्पूर्व-

घटादि स्थानीय देहादि संघात स्वप्न में दीखने वाले देहादि के समान मायावी के रचे गये देहादि के समान ही आत्मदेव की माया से बनाये गये हैं । आत्मा की माया अविद्या है । उसी अविद्या के कारण देहादि-संघात खड़े किये गये हैं, परमार्थ दृष्टि से ये नहीं हैं । यदि तिर्यग् आदि देहों की अपेक्षा से देवतादिक के कार्य करण संघात में कुछ अधिकता दीखती हो, या यदि परमार्थ दृष्टि से सबमें समानता ही प्रतीत होती हो, तो भी इनकी सत्ता का प्रतिपादक कोई तर्कपूर्ण हेतु नहीं है । जबकि ऐसी बात है, इसलिए वे देहादि संघात अविद्याकृत ही हैं, परमार्थतः नहीं । यही इसका भाव है ॥ १० ॥

उत्पत्ति आदि से रहित अद्वितीय आत्मतत्व के श्रुति प्रमाणकत्व दिखलाने के लिये कुछ श्रुति वाक्यों का उल्लेख आगे की कारिका में करते हैं । अन्न-रसमय एवं प्राणमय इत्यादि कोशों की

ननु संघातशब्दितानामुपाधीनां सत्यत्वात्तत्प्रयुक्तभेदस्यापि तथात्वादद्वैतानुपपत्तिर्तादवस्थ्यमिति चेत्तत्राऽऽह—संघाता इति । देवादिदेहानां पूज्यतमत्वेनाऽऽधिक्याभ्युपगमान्नासत्यत्वसिद्धिरित्याशङ्क्य देहभेदेषु केषुचिदाधिक्ये मूढदृष्ट्या कल्पितेऽपि विवेकदृष्ट्या सर्वदेहानां पञ्चभूतात्मकत्वाविशेषादशेषसाम्ये वा स्वीकृते नास्ति संघातेषु सत्यत्वे [5]काचिदुपपत्तिरित्याह—आधिक्य इति । पूर्वार्धाक्षराणि योजयति—घटादीति । मणिमन्त्रादिरूपां माया [6]मिन्द्रजालप्रयोजकभूतां व्यावर्तयति—अविद्येति । विमता देहा न सत्या देहत्वा [7]त्संप्रतिपन्नवदित्यर्थः । [8]ब्रह्मादिदेहानामुत्कृष्टत्वान्नाविद्याकृतत्वमित्याशङ्क्य द्वितीयार्धं व्याचष्टे—यदीत्यादिना ॥ १० ॥

जीवस्याद्वितीयब्रह्मत्वमुपपत्त्यवष्टम्भेनोपपादितम् । इदानीं तत्रैव तैत्तिरीयश्रुतेस्तात्पर्यमाह—रसादयो हीति ।

१. आत्ममायेति—आत्माश्रया तद्विषया चेत्यर्थः । २. व्याख्याताः—'स वा एष पुरुषोऽन्नरसमय इत्येवमादिना व्याख्याता इति यावत् । ३. अधिकभावः—उत्कृष्टतेति यावत् । ४. नास्तीति—मनुष्यादिदेहेष्वप्युत्कृष्टसत्वेन हेतोरनैकान्तिकत्वादिति भावः । ५. कदाचिदिति—उत्कृष्टत्वापकृष्टत्वयोर्मिथ्या भूतेषु रजतादिष्वपि दर्शनात् न हि तावन्मात्रेण सत्यत्वासत्यत्वे साधयितुं शक्ये इति भावः । ६. इन्द्रजालेति—चमत्कारविशेषेत्यर्थः । ७. सम्प्रतिपन्नवदिति—स्वप्नदृश्यादिदेहवदित्यर्थः । ८. ब्रह्मादीत्यादि—अत्राऽयं प्रयोगो ब्रह्मादिदेवदेहाः सत्याः उत्कृष्टत्वात् व्यतिरेकेण मनुष्यादिदेहवदिति ।

द्वयोर्द्वयोर्मधुज्ञाने परं ब्रह्म प्रकाशितम्। पृथिव्यामुदरे चैव यथाऽऽकाशः प्रकाशितः ॥१२॥

[लोक में जैसे ही पृथिवी और उदर में एक ही आकाश अनुमान से बतलाया गया है, वैसे ही बृहदारण्योक्त मधु ब्राह्मण के (अध्यात्म और अधिदैव इन) दोनों स्थलों में एक ही ब्रह्म प्रकाशित किया गया है ॥ १२ ॥]

पूर्वस्य व्याख्याता विस्पष्टमाख्यातास्तैत्तिरीयके तैत्तिरीयकशाखोपनिषद्वल्ल्यां तेषां कोशानामात्मा येनाऽऽत्मना पञ्चापि कोशा आत्मवन्तोऽन्तरतमेन। स हि सर्वेषां जीवननिमित्तत्वाज्जीवः। कोऽसावित्याह— पर एवाऽऽत्मा यः पूर्वम् "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म"(तै० २।१) इति प्रकृतः। यस्मादात्मनः [1]स्वप्नमायादिवदाकाशादिक्रमेण रसादयः कोशलक्षणाः संघाता [2]आत्ममायाविसर्जिता इत्युक्तम्। स आत्माऽस्माभिर्यथा खं तथेति संप्रकाशित आत्मा ह्याकाशवदि (अद्वैत न० ३) त्यादि श्लोकैः। न तार्किकपरिकल्पितात्मव [3]त्पुरुषबुद्धिप्रमाणगम्य इत्यभिप्रायः ॥११॥

किंचाधिदैवमध्यात्मं च तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषः पृथिव्याद्यन्तर्गतो यो विज्ञाता पर एवाऽऽत्मा

व्याख्या तैत्तिरीय शाखोपनिषद् की वल्ली में स्वष्टरूप से की गई है। वे कोश तलवार के कोश के समान ही आत्मा को ढकने वाला होने के कारण उत्तर उत्तर की अपेक्षा पूर्व पूर्व कोश में बहिर्भाव है; ऐसा दिखलाया गया है। उन कोशों का जो आत्मा है, जिस अन्तर्तम आत्मा से ये पांचो कोश आत्मवान् हो रहे हैं, वही एकमात्र सबके जीवन का निमित्त होने के कारण जीव कहा गया है। आखिर वह है कौन ? इस पर कहते हैं कि वह परमात्मा ही है जिसका पहले 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि वाक्य से प्रसंग प्रारम्भ किया गया था, और जिस आत्मा से स्वप्न एवं मायादि की भाँति आकाशादि क्रम से कोश रूप अन्नमयादिमय संघात रचे गये हैं, उसमें भी आत्मा की माया से ही उनकी रचना हुई थी, ऐसा तैत्तिरीयक में कहा गया है। इस आत्मा को हमने भी "आत्मा आकाश के समान है" इत्यादि कारिकाओं में जैसा आकाश है, वैसा ही व्यापक बतलाया गया है। हमने तार्किकों से परिकल्पित आत्मा के समान पुरुष बुद्धि रुप प्रमाणगम्य परमात्मा को नहीं कहा, यह इसका अभिप्राय है। वैसे ही अधिद्वैत और अध्यात्म भेद से तेजोमय अमृतमय पुरुष पृथिव्यादि के भीतर जो बतलाया गया है, वह विज्ञाता परब्रह्म परमात्मा ही ब्रह्म सब कुछ है इस प्रकार सम्पूर्ण द्वैत के विलय पर्यन्त अध्यात्म

श्लोकस्य तात्पर्यमाह—उत्पत्त्यादीति। अक्षरार्थं कथयति—रसादय इति। आदिशब्देन मनोमयविज्ञानमयानन्दमया गृह्यन्ते। खड्गादेर्यथा कोशास्तदपेक्षया बहिर्भवन्ति तद्वदेते पञ्च कोशा व्यपदिश्यन्ते। तत्र हेतुमाह—उत्तरोत्तरस्येति। पूर्वपूर्वस्यान्नमयादेरुत्तरोत्तरप्राणमयाद्यपेक्ष्य बहिर्भावाद्ब्रह्म सर्वान्तरं प्रतिष्ठाभूतमपेक्ष्याऽऽनन्दमयस्यापि बहिर्भावविशेषादविशिष्टं पञ्चानामपि कोशत्वमित्यर्थः। अवशिष्टान्यक्षराणिव्याचष्टे—व्याख्याता इत्यादिना। तत्र जीवशब्दप्रवृत्ति व्युत्पादयति—स हीति। विशिष्टं जीवशब्दार्थमाकाङ्क्षाद्वारा व्यावर्तयति—कोऽसावित्यादिना। [4]प्रकरणाविच्छेदनार्थं [5]प्रकरणमनुसंधत्ते—यस्मादिति। प्रकृतस्य परस्याऽऽत्मनः श्रौतत्वे फलितमाह—नेत्यादिना ॥११॥

मनुष्योऽहं प्राण्यहं प्रमाताऽहं कर्ताऽहं भोक्ताऽह [6]मिति पञ्चानां [7]विशिष्टानां यदेकं स्वरूप [8]मनुगतं प्रत्य-

---

१. स्वप्नमायादीति—स्वप्नदृश्यदेहादिवन्मायाविरचितदेहादिवच्चेत्यर्थः। २. ननु युष्मत् प्रकरणे श्रुतिसाम्याभावात् कथमैक्यमत्यं तयोरित्याशंक्याह—आत्ममायाविसर्ज्जिता इत्युक्तमिति। ३. पुरुषबुद्धीति—बुद्धिजनकप्रमाणमिन्द्रियं तद्गम्यः, यद्वा पुरुषबुद्ध्युद्भावितं प्रमाणमनात्मशास्त्रं तद्गम्यः इत्यर्थः। ४. प्रकरणविच्छेदनार्थमिति—सत्यमित्यादिब्रह्मप्रकरणं पृथक् ततो भिन्नमेव च कोशप्रकरणम्, तथा च नाद्वितीयब्रह्मपरत्वं कोशवाक्यानामित्याशंक्येत्यादि। उपक्रान्तात्मप्रकरणविभागाभावबोधनार्थं तत्र प्रकरणेति पदम्। ५. प्रकरणमनुसंधत्ते—प्रकरणैक्यं चिन्तयतीति। ६. इति—प्रतीयमानानामित्यर्थः। ७. विशिष्टानाम्—देहादिविशिष्टतया भासमानानाम्। ८. अनुगतम्—विशेष्यभूतमिति यावत्।

ब्रह्म सर्वमिति द्वयोर्द्वयोरा [1]द्वैतक्षयात्परं [2]ब्रह्म प्रकाशितम्। क्वेत्याह—ब्रह्मविद्याख्यं मध्वमृतममृतत्वं मोदनहेतुत्वाद्विज्ञायते यस्मिन्निति मधुज्ञानं मधुब्राह्मणं तस्मिन्नित्यर्थः। किमिवेत्याह—पृथिव्यामुदरे चैव यथैक आकाशोऽनुमानेन प्रकाशितो लोके तद्वदित्यर्थः॥१२॥

अधिदैव दोनों स्थलों में परब्रह्म ही बतलाया गया है। किस स्थल में उक्त उपदेश किया गया है? इस पर कहते हैं—कि जिस प्रसंग में ब्रह्मविद्यानामक मधु अर्थात् अमृत का ज्ञान जो कि आनन्द के हेतु रूप से जाना गया है उसी में मधुज्ञान अर्थात् मधु ब्राह्मण बतलाया गया है। क्या बतलाया गया है? क्या और किस की भांति बतलाया गया है। इस पर कहते हैं कि जैसे लोक में पृथ्वी और उदर के भीतर अनुमान द्वारा एक ही आकाश जाना गया है। वैसे ही श्रुति और युक्ति से अध्यात्म, अधिदैव दोनों स्थल में एक ही आत्मतत्व प्रकाशित किया गया है। यह इसका तात्पर्य है॥१२॥

श्चैतन्यं तद्ब्रह्मं वेति जीवपरयोरैक्ये तैत्तिरीयश्रुतेस्तात्पर्यमुक्त्वा तत्रैव बृहदारण्यकश्रुतेरपि तात्पर्यमाह—द्वयोरिति। [3]मधुब्राह्मणे बहुषु पर्यायेष्वधिदैवाध्यात्मविभक्तयोः स्थानयोरयमेव स इति परं ब्रह्म प्रत्यक्प्रकाशितम्। [4]अतोऽस्मिन्बृहदारण्यकश्रुतेरपि ब्रह्मात्मैक्ये तात्पर्यमित्यर्थः। तत्र दृष्टान्तमाह—पृथिव्यामिति। न केवलमैक्ये तैत्तिरीयश्रुतेरेव तात्पर्यं किंतु बृहदारण्यकश्रुतेरपीत्याह—किंचेति। अधिदैवं पृथिव्यावावध्यात्मं च शरीरे तेजोमयो ज्योतिर्मयश्चैतन्यप्रधानोऽमृतमयोऽमरणधर्मा पुरुषः पूर्णः पृथिव्यादौ शरीरे चान्तर्गतो यो विज्ञाता स पर एवाऽऽत्मा। [5]तेन स विज्ञाता सर्वं पूर्णमपरिच्छिन्नं ब्रह्मं वेति परं ब्रह्म प्रकाशितमिति संबन्धः। [6]अपवादावस्थायामध्यःरोपासंभवाद्द्वयोर्द्वयोरिति कथमुच्यते तत्राऽऽह—[7]आद्वैतक्षयादिति। द्वैतक्षयपर्यन्तं ब्रह्म प्रकाशितम्। द्वयोर्द्वयोरिति पुनर[8]नुवादमात्रमित्यर्थः। मधुज्ञानस्यैव प्रकाशितं न ब्रह्मेत्याशङ्क्य मधुज्ञानशब्दार्थं व्युत्पादयति—क्वेत्यादिना। [9]शब्दस्य क्वचिदाश्रितत्वं रूपवदनुमीयते। तच्च शब्दाधिकरणं सामान्यतः सिद्धं पारिशेष्यादाकाशमिति सिद्धमिति। तच्च कल्पना[10]लाघवादेकमेवेति गम्यते। तथा च बहिरन्तश्चैकमेवाऽऽकाशमनुमानप्रामाण्यादधिगतम्। तथाऽधिदैवमध्यात्मं च ब्रह्म प्रत्यग्भूतं सिद्धमित्युत्तरार्धं व्याचष्टे—किमे(मि)वेत्यादिना॥ १२॥

---

१. आद्वैतक्षयादिति—द्वैतकालीनत्वात् ब्रह्मोपदेशस्य तदानीं द्वयोर्द्वयोरिति द्वैतोक्तिरविरुद्धा साप्यनुवादरूपा न पुनः प्रतिपादिकेति भावः। बाधात्प्रागवस्थितमध्यारोपकालीनमेव द्वैतं द्वयोर्द्वयोरित्यनूद्यते न तु मोक्षकालेऽपि तत्सत्त्वं विवक्ष्यते। २. किं तर्हि तत्र प्रतिपिपादयिषितं तदाह—ब्रह्मप्रकाशितमिति प्रतिपादितमित्यर्थः। ३. मधुब्राह्मण इति—द्वितीयाध्यायस्य पञ्चमे ब्राह्मणे 'इयं पृथिवी सर्वेषां भूतानां मध्वस्यै पृथिव्यै सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायं पृथिव्या तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं शारीरस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मा इदममृतमिदं ब्रह्मेदं सर्वमित्येवमादिरूप इत्यर्थः। ४. अत इति—एकस्यैव स्फुटाभिधानादित्यर्थः। ५. तेनेति—विज्ञातुर्ब्रह्मविशेषणवत्वकथनेनेत्यर्थः। ६. अपवादावस्थायामिति—द्वैतप्रतिषेधरूपेऽस्मिन्नद्वैतप्रकरणे तथाभूते मधुब्राह्मणे वेत्यर्थः। ७. आद्वैतक्षयादिति—अत्र मर्यादायामाङिति बोध्यम्। ८. अनुवादमात्रमिति—निषेध्यसमर्पणार्थमिति बोध्यम्। ९. शब्दस्येति—शब्दो गुणः चक्षुर्ग्रहणायोग्यत्वे सति बहिरिन्द्रियग्राह्यजातिमत्वात् स्पर्शवदित्यनुमानेन शब्दस्य गुणत्वे-सिद्धे शब्दः क्वचिदाश्रितो गुणत्वात् रूपवदिति सामान्यतः शब्दाधिकरणं सिद्धम्। शब्दो न स्पर्शवद्विशेषगुणः। अग्निसंयोगासमवायिकारणकत्वाभावे सति अकारणगुणप्रत्यक्षत्वात् सुखवत्। पाकजरूपादौ व्यभिचारवारणाय सत्यन्तम्, पटरूपादौ व्यभिचारवारणायाकारणगुणपूर्वकेति। जलीयपरमाणुरूपादौ व्यभिचारवारणाय प्रत्यक्षेति। शब्दो न दिक्कालमनसा गुणः विशेषगुणत्वाद्रूपवत्, नाप्यात्मविशेषगुणः, बहिरिन्द्रिययोग्यत्वात् रूपवत्। इत्थं च शब्दाधिकरणं नवमं द्रव्यं गगनात्मकं सिद्धमिति। १०. लाघवादिति—तथा च लाघवरूपतर्कानुगृहीतं सदनुमानमाकाशैक्ये पर्यवस्यतीति भावः।

जीवात्मनोरनन्यत्वमभेदेन प्रशस्यते ।
नानात्वं निन्द्यते यच्च तदेवं हि समञ्जसम् ॥१३॥

[क्योंकि श्रुति युक्ति से जीव और परमात्मा के एकत्व की एक स्वर से प्रशंसा की गई है और शास्त्रबाह्य नानात्व की निन्दा भी की गई है। अतः एकत्व ही श्रुति एवं न्याय संगत सिद्धान्त है ॥१३॥]

यद्युक्तितः श्रुतितश्च निर्धारितं जीवस्य परस्य चाऽऽत्मनो जीवात्मनोरनन्यत्व [1]मभेदेन प्रशस्यते स्तूयते शास्त्रेण व्यासादिभिश्च। यच्च सर्वप्राणिसाधारणं [2]स्वाभाविकं शास्त्रबहिष्कृतैः कुताकिकैर्विरचितं नानात्वदर्शनं निन्द्यते ; "न तु तद्द्वितीयमस्ति (बृ० ४।३।२३)" "द्वितीयाद्वै भयं भवति (बृ० १।४।२)" "उदरमन्तरं कुरुते। अथ तस्य भयं भवति (तै० २।७।१)" "इदं सर्वं यदयमात्मा (बृ० २।४।६, ४।५।७)" "मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इव नानेव पश्यति (क० २।१।१०)" इत्यादिवाक्यैश्चान्यैश्च

आत्म-एकत्व ही युक्ति संगत है ।

जीवात्मा परमात्मा के जिस एकत्व का निश्चय श्रुति और युक्ति से किया गया है, उसी एकत्व की प्रशंसा एकस्वर से शास्त्र और व्यासादि ऋषियों ने भी की है। इसके विपरीत शास्त्र बहिष्कृत कुतार्किकों से रचित सर्वप्राणी साधारण स्वाभाविक जो नानात्व दर्शन है, उसकी निन्दा 'उसके अतिरिक्त दूसरा कोई नहीं है' 'निःसन्देह दूसरे से भय होता है' जो थोड़ा भी भेद करता है, उसे अवश्य भय होता है', "यह जो कुछ भी नामरूप है, सब आत्मा ही है" यहाँ जो नाना की भाँति देखता है, वह मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त होता है" इत्यादि श्रुति वाक्यों से तथा अन्य ब्रह्म ज्ञानियों द्वारा बार-बार निन्दा की गई है। यह जो एकत्व हमने बतलाया, वह इसी प्रकार सरल रूप से बोधगम्य यानी न्याय संगत हो सकता

इतश्चैकत्वे श्रुतीनां तात्पर्यमित्याह—जीवात्मनोरिति। अभेदेन ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवतीत्यादिना ब्रह्मभाव[3]फलवादेनेत्यर्थः। यत्प्रशस्यते तद्विधेयमित्यादिन्यायादेकत्वदर्शने [4]फलवादोपपत्त्युपलम्भादेकत्वं प्रशस्तत्वाद्विवक्षितमिति भावः। यच्चानेकत्वं [5]सर्वप्राणिसाधारणं तन्निन्द्यमानं दृश्यते। यन्निन्द्यते तन्निषिध्यत इति न्यायान्नानात्वं शास्त्रार्थो न भवतीत्याह—नानात्वमिति। तदुभयमेकत्वप्रशंसनं नानात्वनिन्दनं चैकत्वमेव शास्त्रीयमित्यभ्युपगमे सति युक्तमिति फलितमाह—तदेवं हीति। श्लोकाक्षराणि व्याचष्टे—यदिति। [6]अनन्यत्वभावशङ्कां व्यावर्त्यैकरसत्वं दर्शयति—अभेदेनेति। तत्प्रशस्यते [7]शास्त्रेणेति तत्पदमा[8]दाय व्याख्येयम्। शास्त्रेणा[9]भेदवेदनेन फलवादेनेत्यर्थः। व्यासपाराशरादिभिश्च वेदार्थं व्याचक्षाणैरेकत्वं स्तूयते "वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः", "[10]अहं हरिः सर्वमिदं जनार्दनो नान्यत्ततः कारणकार्यजातम्" इत्यादिवाक्यैरित्याह—व्यासादिभिश्चेति ×। द्वितीयार्धं विभजते—यच्चेति। तन्निन्द्यत इति यच्छब्देनोपक्रमाद्द्रष्टव्यम्। "अविद्यामोहितात्मानः पुरुषा भिन्नदर्शिनः"। "किं तेन न कृतं पापं चोरेणाऽऽत्मापहारिणा" [11]इत्यादिवाक्यैर्व्यासादयोऽपि द्वैतदर्शनं निन्दन्तीत्याह—अन्यैश्चेति। एवमनेकत्वदर्श-

१. अभेदेन प्रशस्यत इति—एकरसत्वेन विवक्ष्यत इति यावत्। २. स्वाभाविकम्—आविद्यकम्।
३. फलेति—अभेदज्ञानस्य फलेत्यर्थः। ४. फलेति—फलवादश्चोपपत्तिश्च तयोरुपलम्भादित्यर्थः। ५. सर्वेत्यादि—सर्वप्राण्यधिगतमित्यर्थः। ६. अनन्यत्वाभावेति—अनन्यत्वमन्यत्वाभावरूपं भवेदित्याशङ्कामित्यर्थः। भावेति पाठे त्वनन्यत्वमुभयोधर्मः स्यादित्याशङ्कामित्यर्थः। ७. शास्त्रेणेति—अभेदज्ञाननिमित्तकफलकथनेनेत्यर्थः। ८. आदाय अध्याहृत्य। ९. अभेदवेदनेनेति—अभेदो विद्यते ज्ञायतेऽनेनेति विग्रहः। १०. अहमिति—ईदृङ्मनो यस्य न तस्य भूयो भवोद्भवा द्वन्द्वगदा भवन्तीत्युत्तरार्धम्। ११. इत्यादीति—'योऽन्यथा संतमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते' इति पूर्वार्द्धम्। एवं 'प्रायश्चित्ताद्भवेच्छुद्धिर्नृणां गोवधकारिणाम्। आत्मापहारिणां पुंसां प्रायश्चितो न विद्यते'।

जीवात्मनोः पृथक्त्वं यत्प्रागुत्पत्तेः प्रकीर्तितम्। भविष्यद्वृत्त्या गौणं तन्मुख्यत्वं हि न युज्यते ॥१४॥

[उत्पत्तिबोधक श्रुतिवाक्यों से पहले कर्मकाण्ड में जीव और परमात्मा का पृथक्त्व कहा गया है, वह भविष्यद्वृत्ति से गौण है, उसे मुख्यार्थ मानना उचित नहीं है ॥१४॥]

ब्रह्मविद्भिः। यच्चैतत्तदेवं हि समञ्जसमृज्ववबोधं[1] न्याय्यमित्यर्थः। यास्तु तार्किकपरिकल्पिताः कुदृष्टयस्ता अनृज्व्यो[2] निरूप्यमाणा न घटनां[3] प्राञ्चन्तीत्यभिप्रायः ॥१३॥

ननु श्रुत्याऽपि जीवपरमात्मनोः पृथक्त्वं यत्प्रा गुत्पत्तेरुत्पत्त्यर्थोपनिषद्वाक्येभ्यः[4] पूर्वं प्रकीर्तितं कर्मकाण्डे[5]। अनेकशः कामभेदत इदंकामोऽदःकाम इति। परश्च 'स दाधार पृथिवीं द्याम्' (ऋ० सं० १०।१२१।१ इत्यादिमन्त्रवर्णैः। तत्र[6] कथं कर्मज्ञानकाण्डवाक्यविरोधे[7] ज्ञानकाण्डवाक्यार्थस्यैवै-

---

है एवं तार्किकों से परिकल्पित जो कुदृष्टियाँ हैं, वे सरल भी नहीं हैं और निरूपण किये जाने पर प्रसंगानुरूप नहीं घटते। तात्पर्य यह इसका है ॥ १३ ॥

जीव ब्रह्म का भेद श्रुति गौण रूप से कहा गया है।

पूर्वपक्ष—जब श्रुति ने भी जीवात्मा परमात्मा का पृथक् तत्त्व बोध से पहले कर्मकाण्ड में सृष्टि-बोधक उपनिषद् वाक्यों द्वारा "इदं कामः, अदः कामः" इत्यादि प्रकार से अनेकों कामनाओं के भेद से जीवात्मा परमात्मा का भेद कहा है। क्योंकि कामनाओं के भेद से कर्म का भेद होता है, और कर्म के भेद से, उसके अधिकारी पुरुष का भेद हो जाता है। कर्मकाण्ड में बतलाये गये यह भेद जीवात्म परमात्म एकत्व मानने पर असंगत हो जायगा। ऐसे ही जीव से पृथक् परमात्मा का 'उस परमेश्वर ने पृथ्वी और द्युलोक को धारण किया' इत्यादि मन्त्रवर्णों से पृथक् बोध कराया गया है। ऐसी परिस्थिति में जो कर्म और ज्ञान काण्ड के वाक्यों का विरोध जब स्पष्ट दीखता है, तो केवल ज्ञान काण्ड के वाक्यों में कहे गये एकत्व की युक्ति-युक्तता कैसे निश्चित की जा सकती है। क्या ज्ञानकाण्डोक्त

नस्य निन्दितत्वेन निषिद्धत्वान्नानेकत्वं शास्त्रीयमित्युक्त्वा चतुर्थपादार्थमाह—यच्चेतदिति। विषयभेदेन प्रशंसनं निन्दनं चेत्यर्थः। एवं हीति। द्वैतस्याशास्त्रीयत्वमद्वैतस्यैव तत्तात्पर्यगम्यत्वमित्यङ्गीकारे सतीत्यर्थः। भेददृष्टीनामपि न्याय्यत्वाविशेषाद्भेददर्शननिन्दनस्य कुतो न्याय्यत्वमित्याशङ्क्याऽऽह—यास्त्विति।

या वेदबाह्याः[8] स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टयः[9]। सर्वास्ता निष्फलाः प्रेत्य[10] तमोमूला[11] हि ताः स्मृताः ॥

इति मनुवचनादित्यर्थः। न्यायविरोधादपि भेदवादानामसमञ्जसत्वमित्याह—निरूप्यमाणा इति। वैशेषिकवैनाशिकादिकल्पना भेदानुसारिण्यो भेदश्च परस्पराश्रयतादिदोषदूषितो[12] न प्रमीयते। तेन भेदवादानामुत्प्रेक्षामूलानामसमञ्जसतेत्यर्थः ॥१३॥

न भेदवादानामुत्प्रेक्षामात्रमूलत्वं श्रुतिमूलत्वादित्याशङ्क्य परिहरति—जीवात्मनोरिति। उत्पत्तिरुत्पत्तिः सम्यग्ज्ञानं तदर्थोपनिषदां प्रवृत्त्यपेक्षया प्रावप्रवृत्तकर्मकाण्डेन यत्परापरयोर्नानात्वमुक्तं तदोदनं पचतीति भविष्यद्वृत्त्या

---

१. ऋज्ववबोधम्—सुखावसेयमित्यर्थः। २. अनृज्व्यः—अन्याय्याः इत्यर्थः। ३. घटनाम्—संभावनाम्-प्राञ्चति—नोपपन्ना भवतीत्यर्थः। ४. उत्पत्त्यर्थोपनिषद्वाक्येभ्यः पूर्वमिति—तथा चोत्पत्त्यर्थकोपनिषद्वाक्यैरेव न भेदः प्रतीयते किं तर्हि ततः प्राक् प्रवृत्तैः कर्मकाण्डवाक्यैरपि स्पष्टमुक्तः इति न स घटाकाशादि दृष्टान्तैरन्यथानेतुं शक्यः इति भावः। ५. कर्मकाण्डे—'चित्रया यजेत पशुकामः'। 'कारीर्यायजेतवृष्टिकामः' इत्यादिवाक्यैरिति बोध्यम्। ६. तत्रेति—एकत्वानेकत्वयोरुभयोरपि वेदार्थत्व इत्यर्थः। ७. कर्मज्ञानकाण्डेति—अत्र ज्ञानकाण्डेत्युपनिषद् गताद्वैतप्रकरणोक्तिः सृष्ट्यादिवाक्यवर्जमिति भावः। ८. वेदबाह्याः—वेदविरुद्धप्रतिपादका इत्यर्थः। ९. कुदृष्टयः—वेदविरुद्धार्थशास्त्राणीत्यर्थः। १०. प्रेत्येति—निष्फला इत्यन्वयः। मरणानन्तरं सत् फलशून्यार्थबोधका इत्यर्थः। ११. तमोमूला—भ्रममूला इत्यर्थः। १२. परस्पराश्रयतादोषेति—एतच्च वैतथ्यप्रकरणे ३४ श्लोके टिप्पण्यां स्पष्टम्।

कत्वस्य सामञ्जस्यमवधार्यत इति। अत्रोच्यते—'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' (तै० ३.१) 'यथाऽग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गाः' (बृ० २।१।२०)। 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः' (तै० २।१।२)। 'तदैक्षत' (छा० ६।२।३)। 'तत्तेजोऽसृजत' (छा० ६।२।३) इत्याद्युत्पत्त्यर्थोपनिषद्वाक्येभ्यः प्राक्पृथक्त्वं कर्मकाण्डे प्रकीर्तितं यत्तन्न परमार्थम्। किं तर्हि गौणम्। महाकाशघटाकाशादिभेदवत्। यथौदनं पचतीति [1]भविष्यद्वृत्त्या तद्वत्। न हि भेदवाक्यानां कदाचिदपि मुख्यभेदार्थत्वमुपपद्यते। स्वाभाविकाविद्यावत्प्राणिभेददृष्ट्यनुवादित्वादात्मभेदवाक्यानाम्। [2]इह चोपनिषत्सूत्पत्तिप्रलयादिवाक्यैर्जीवपरमात्मनोरेकत्वमेव प्रतिपिपादयिषितम्। 'तत्त्वमसि' (छा० ६।८।१६) 'अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद (बृ० १।४।१०) इत्यादिभिः। [3]अत उपनिषत्स्वेकत्वं श्रुत्या प्रतिपिपादयिषितं भविष्यतीति भाविनी [4]मेकत्ववृत्तिमाश्रित्य

अर्थ ही वेदार्थ है, और कर्मकाण्डोक्त अर्थ वेदार्थ नहीं? दोनों में प्रामाण्य समान रूप से रहने पर एक काण्ड का आलम्बन कर सिद्धान्त स्थापित करना उचित नहीं है।

सिद्धान्त—इस पर कहते हैं। 'जिससे ये सभी भूत उत्पन्न होते हैं', 'जैसे अग्नि से छोटी २ चिनकारियां निकलती हैं', 'उसी इस आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ', 'उसने ईक्षण किया', 'उसने तेज की सृष्टि की' इत्यादि सृष्टिबोधक उपनिषद्वाक्यों से पहले कर्म काण्ड में जो पृथक्त्व कहा गया है, वह पारमार्थिक नहीं है। तो फिर क्या है? वह तो महाकाश से घटाकाशादि के भेद के समान गौण है। जैसे 'भविष्य में भात पकेगा' इस भविष्यत् वृत्ति के कारण वर्तमान काल में भी भात पकता है, ऐसा लोक व्यवहार होते देखा गया है। उसी के समान कर्मकाण्डशास्त्रोक्त भेद को भी समझना चाहिए, अर्थात आगे सृष्टि-श्रुति से महाकाश घटाकाशादि भेद के समान जो भेद प्रतिभासित होगा, उसी औपाधिक भेद को कर्मकाण्ड वाक्यों से कहा गया है। अतः कर्मकाण्डोक्त भेद के गौण ही है। आत्मभेद वाक्यों का मुख्य भेद बोधकत्व कभी भी सिद्ध नहीं होता, क्योंकि आत्मभेद बोधक वाक्य स्वाभाविक अज्ञानी प्राणी की भेद दृष्टि का अनुवाद मात्र करते हैं।

वहां उपनिषदों में उत्पत्ति प्रलयादि बोधक वाक्यों से जीव ब्रह्मका एकत्व ही बतलाना ही इष्ट है। ऐसे ही 'तू वह है, वह धन्य है, 'मैं अन्य हूँ ऐसा समझने वाला वस्तुतः नहीं जानता है, इत्यादि

---

[5]तण्डुलेष्वोदनत्ववद्[6]गौणमेव न [7]मुख्यभेदार्थत्वं श्रुतेर्युज्यते। भेदस्यापूर्वत्वपुरुषार्थत्वयोरभावादित्यर्थः। श्लोकव्यावर्त्यामाशङ्कामाह—नन्विति। न केवलमस्माभिरुत्प्रेक्षितमिदं किंतु श्रुत्याऽपि दर्शितमित्यपरोऽर्थः। भेदं वदन्त्याः श्रुतेस्तात्पर्यलिङ्गमभ्यासं सूचयति—अनेकश इति। कर्मकाण्डे तत्तत्कामनाभेदेन नियोज्यभेदसिद्धावपि कथं जीवपरयोर्भेदः सिध्यति परस्य तत्रानुक्तत्वादित्याशङ्क्याऽऽह—परश्चेति। हिरण्यगर्भः समवर्ततात्र इति मन्त्रे प्रकृतो हिरण्यगर्भः सर्वनाम्ना परामृश्यते। स इमां पृथिवीं द्यामपि धृतवान्। अन्यथा गुरुत्वात्तयोरवस्थानायोगात्। न च हिरण्यगर्भातिरिक्तमीश्वरं परे बुध्यन्ते मन्त्रवर्णैः। परश्च प्रकीर्तित इति संबन्धः। कर्मकाण्डार्थं ज्ञानकाण्डार्थस्यैवैकत्वस्य सामञ्जस्यमवधार्यतामित्याशङ्क्य बाध्यबाधकभावनिर्धारणे कारणानवधारणान्नैवमित्याह—तत्रेति। श्लोकाक्षरैरुत्तरमाह—अत्रेत्यादिना। पृथक्त्वस्य गौणत्वे प्रागुक्तमेव दृष्टान्तमाह—महाकाशेति। तत्रैव श्लोकसूचितमुदाहरणमाह—यथेति। मुख्यत्वं हीत्यादिव्याचष्टे—न हीति। भेदस्यापूर्वत्वाद्यभावाच्च वाक्यानां तत्परत्वं तत्परातत्परयोश्च तत्परं वाक्यं बलवदिति न्यायादखण्डवाक्यार्थस्यैव सामञ्जस्यमित्यर्थः। अद्वैतवाक्यानामपि कथमद्वैते तात्पर्यमित्याशङ्क्यापूर्वार्थत्वा-

---

१. भविष्यद्वृत्त्येति—उत्तरत्रोत्पत्त्यादि वाक्यैर्महाकाशघटाकाशादिभेदतुल्यो यो भेदः प्रतिभासते स एव पुरस्तात्कर्मवाक्यैरुक्तः इति गौण एवेति भावः। २. इहेति—यतो वेत्याद्युपयुक्ताद्वैतप्रकरणे इत्यर्थः। ३. भविष्यद्वृत्त्येत्यस्यार्थान्तरमाह—अत इत्यादिना। ४. एकत्ववृत्तिम्—अबाधितैकत्वावगतिमित्यर्थः। ५. तण्डुलेष्वित्यादि—अनोदनेषु तण्डुलेषु यथौदनव्यवहारो गौणः तथाऽद्वितीये द्वैतव्यवहारो गौण एवेत्यर्थः। ६. गौणम्—आरोपितम्। ७. मुख्यभेदार्थत्वम्—अनारोपितभेदप्रतिपादकत्वमित्यर्थः।

[1]लोके भेददृष्टचनुवादो [2]गौण एवेत्यभिप्रायः। अथवा 'तदैक्षत' (छा० ६।२।३) 'तत्तेजोऽसृजत' (छा० ६।२।३) इत्याद्युत्पत्तेः प्राक् 'एकमेवाद्वितीयम्' (छा० ६।२।२) इत्येकत्वं प्रकीर्तितम्। तदेव च 'तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि' (६।८।१६) इत्येकत्वं [3]भविष्यतीति तां [4]भविष्यद्वृत्तिमपेक्ष्य यज्जीवात्मनोः पृथक्त्वं यत्र क्वचिद्वाक्ये गम्यमानं तद्गौणम्। [5]यथौदनं पचतीति तद्वत् ॥१४॥

श्रुतियों से जीव ब्रह्मका एकत्व ही कहा गया है। अतः उपनिषदों में श्रुति द्वारा एकत्व बतलाना ही अभीष्ट होगा। इसी भावी अभेद दृष्टि का आश्रय लेकर लौकिक सिद्ध भेद दृष्टि का अनुवाद गौण ही माना जायगा, यह इसका भावार्थ है। अथवा 'उसने ईक्षण किया', 'उसने तेज को बनाया' इत्यादि श्रुतियों द्वारा उत्पत्ति से पूर्व जो' एकमेवाद्वितीयम्' इत्यादि वाक्य से एकत्व बतलाया गया है। 'वह सत्य है वह आत्मा है और वही तुम हो' इस प्रकार आगे एकत्व बतलाया जायगा, इसी भविष्यद् वृत्ति एकत्व की अपेक्षा ,करके जो जीवात्मा परमात्मा का पृथक्त्व जहां कहीं जाना गया है, वह गौण वैसे ही है, जैसे 'ओदनं पचति' यह प्रयोग तण्डुल पकाने के लिए किया जाता है ॥१४॥

द्युपपत्तिमत्त्वाच्चेत्याह—इह चेति। अद्वैतं तावन्मानान्तरागोचरत्वादपूर्वमेकमेवाद्वितीयमिति प्रागवस्थायां ब्रह्माद्वितीयं श्रुतम्। तदेवेदं सृष्ट्वा तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशदिति श्रुतेरनुप्रविष्टं जीवोऽभिलप्यते। तेन [6]जीवस्य ब्रह्मता संभवतीत्युपपत्त्याऽपि श्रुतेरद्वैतार्थत्वं गम्यते। सृष्ट्यादिश्रुतीनामद्वैते तात्पर्यं न सृष्ट्यादावित्यनन्तरमेव वक्ष्यते। तस्मादद्वैते श्रुतेस्तात्पर्यात्तदर्थस्यैव तात्त्विकतेत्यर्थः। न केवलमुपपत्तेरेवाद्वैते श्रुतेस्तात्पर्यं किंतु नवकृत्वोऽभ्यासादपीत्याह—तत्त्वमिति। भेददृष्टेरपवादाच्च श्रुतेरद्वैते तात्पर्यं प्रतिभातीत्याह—अन्योऽसाविति। आदिशब्देनाद्वैतवादीनि द्वैतनिषेधीनि च वचनान्तराणि गृह्यन्ते। एकत्वमेव प्रतिपिपादयिषितमिति पूर्वेण संबन्धः। एकत्वे श्रुतेस्तात्पर्ये सिद्धे तृतीयपादावष्टम्भेन फलितमाह—अत इति। श्लोकस्य [7]साध्याहारं व्याख्यानान्तरमाह—अथवेत्यादिना ॥१४॥

---

१. लोक इत्यादि—लोकसिद्धभेददृष्टचनुवादः शास्त्रे इत्यर्थः। २. गौण एवेति—सत्याऽरुन्धती परस्तात् प्रदर्शिता भविष्यतीति भाविनीं वृत्तिमाश्रित्यपुरस्तान्मिथ्यारुन्धती प्रदर्शनं यथा गौणमेव तद्वदिति भावः। ३. भविष्यतीति—अवगतमिति शेषः। ४. भविष्यत्वृत्तिमपेक्षेति—भविष्यन्ती वाक्योत्थबाधवृत्तिमपेक्ष्य तन्निमित्तमिति यावत्। भविष्यत्बाधवृत्त्यपेक्षित प्रतियोगिसंपिपादयिषयैव यत्र क्वचन पृथक्त्ववचनं गौणमेवेति भावः। ५. यथौदनमिति—तण्डुलेष्वोदन व्यवहारो यथा गौणस्तथाऽभेदेभेदव्यवहार इति दृष्टान्तार्थः। ६. तेनेति—जीवरूपतया ब्रह्मणोऽभिलापेनेत्यर्थः। ७. साध्याहारमिति—एकत्वमितिपदमध्याहृत्येत्यर्थः।

[1]मृल्लोहविस्फुलिङ्गाद्यैः सृष्टिर्या चोदिताऽन्यथा ।
उपायः सोऽवताराय नास्ति भेदः कथंचन ॥१५॥

[(उपनिषद् वाक्यों में) जो मृत्तिका, लोहपिण्ड तथा विस्फुलिङ्गादि दृष्टान्तों से भिन्न भिन्न प्रकार की सृष्टि बतलायी गयी है वह तो केवल ब्रह्मात्म में बुद्धि के प्रवेश के लिए उपाय मात्र है। उससे किसी प्रकार का भेद सिद्ध नहीं होता ॥१५॥]

ननु [2]यदुत्पत्तेः प्रागजं सर्वमेकमेवाद्वितीयं तथाऽप्युत्पत्तेरूर्ध्वं जातमिदं सर्वं जीवाश्च भिन्ना [3]इति। मैवम्। [4]अन्यार्थत्वादुत्पत्तिश्रुतीनाम्। पूर्वमपि परिहृत एवायं [5]दोषः। स्वप्नवदा [6]त्म-मायाविसर्जिताः संघाता घटाकाशोत्पत्तिभेदादिवज्जीवानामुत्पत्तिभेदादिरिति। इत एवोत्पत्तिभेदादि-

---

उत्पत्ति श्रुति में दृष्टान्त का तात्पर्य

पूर्वपक्ष—यदि कहो कि उत्पत्ति से पूर्व सम्पूर्ण जगत् अजन्मा तथा एक अद्वितीय था किन्तु उत्पत्ति के बाद उत्पन्न हुआ सम्पूर्ण जगत् और जीव तो भिन्न २ ही है ?

सिद्धान्त—तो ऐसा कहना ठीक नहीं। क्योंकि उत्पत्ति श्रुति का प्रयोजन कुछ अन्य ही है। इसका परिहास हम पहले भी कर आये हैं कि स्वप्न के समान आत्मा की माया से रचित देहादि संघात है, एवं घटाकाश उत्पत्ति भेदादि के समान जीवात्माओं की उत्पत्ति भेद है। यद्यपि पहले इसका समाधान दिया जा चुका है, तथापि उत्पत्ति भेदादि बोधक श्रुतियों से निष्कर्ष लेकर पुनः यहाँ उत्प-

---

सृष्ट्यादिश्रुतिषु शब्दशक्तिवशादेव [7]सृष्ट्यादिभेददृष्टेरद्वैतानुपपत्तिरित्याशङ्क्याऽऽह—मृल्लोहेति। उत्पत्त्यादि-श्रुतीनां स्वार्थनिष्ठत्वमुपेत्य व्यावर्त्यं चोद्यमुत्थापयति—नन्विति। तासां स्वार्थनिष्ठत्वाभावान्निरवकाशं चोद्यमिति परिहरति—मैवमिति। परिहृतत्वाच्च भेदं चोद्यं सावकाशमित्याह—पूर्वमपीति। यदि [8]प्रकृतोत्पत्त्यादिश्रुतिभ्यः सकाशादुपक्रमोपसंहारैकरूप्यं तात्पर्यलिङ्गमाकृष्योद्भाव्य मृषा सृष्ट्यादिश्रुतेः स्वार्थपरत्वं परिहृतं तर्हि पुनरुपन्यासो वृथा स्यादित्याशङ्क्ते—इत एवेति। उत्पत्त्यादिश्रुतीनां मिथ्यासृष्टिपरत्वं पूर्वमुक्तम्। इह तु तासां ब्रह्मात्मैक्ये तात्पर्य-प्रतिपादनेच्छया पुनरुपन्यासः सिध्यतीत्युत्तरमाह—इह पुनरिति। पादत्रयगतान्यक्षराणि योजयति—मृदित्यादिना। यः शब्दशक्त्या प्रतीयते न स श्रुत्यर्थो भवति किंतु तात्पर्यगम्यस्यैव श्रुत्यर्थतेत्यत्र दृष्टान्तमाह—यथेति। वागादीनां

---

१. मृल्लोहेत्यादिश्लोकस्य व्याख्यानान्तरम्—मृल्लोहविस्फुलिङ्गादिदृष्टान्तोपन्यासैः सृष्टिर्याऽन्यथोदिता प्रकाशिता श्रुत्या। सृष्टेरन्यथाप्रकाशनं च द्वेधा क्रमाक्रमव्युत्क्रमादिरूपैणैकमपरं च स्रष्टव्यघटादिकार्याणामुपादानमृदाद्यव्यतिरेकेण प्रकाशनम्। कार्यं कार्यमेव न तु कारणात्मकम्, न हि घृतार्थक्रिया दधिसाध्येति लोकनिश्चयः, तदन्यथात्वं हि कार्यं कारणाभिन्नमिति। तत्र प्रथममन्यथात्वं सृष्टेर्विस्फुलिङ्गादि दृष्टान्तैरुदितं श्रुत्या मृल्लोहादिदृष्टान्तैश्चापरमिति। मृल्लो-हादिदृष्टान्तैर्यद्द्विविधमन्यथात्वमुदितं सृष्टेः श्रुत्या, स द्विविधोऽप्यन्यथात्वप्रकाशनप्रकारः सृष्टौ श्रुतितात्पर्याभावनिश्चय-पुरस्परमुपादेयमुपादानाभिन्नमिति निश्चयोत्पादनद्वाराजीवपरमात्मैक्यबुद्ध्यवतारोपायोऽस्माकमित्यर्थः। अत्र च मृल्लोह-विस्फुलिङ्गेति दृष्टान्तद्वैविध्यानुरुद्धोऽन्यथा शब्दश्चकारसहकारेणार्थद्वैविध्ये पर्याप्तः इति। यद्यपि मृदादिश्रुतिर्न ब्रवीत्यु-पादानोपादेययोरभेदं मुखतस्तथापि ज्ञानं ब्रुवाणोपादेयमुपादानज्ञानतस्तात्पर्यतस्तं वक्ति नहि घटज्ञानं पटे ज्ञाततां प्रयोजयतीति। मुखतोऽपि वा वाचारम्भणमित्याद्यंशतस्तम्। २. यदीति—यद्यपीत्यर्थः। ३. इति—कथमुत्पद्यते इति शेषः। ४. अन्यार्थत्वादिति—निषेधसमर्पकतयाऽद्वैतश्रुतिशेषत्वादित्यर्थः। ५. दोष इति—श्रुतिविरोध इत्यर्थः। ६. आत्ममायेति—एतच्चात्रैव प्रकरणे दशमकारिकायामुक्तम्। ७. सृष्ट्यादिभेददृष्टेरिति—स्रष्टव्याकाशादीनां परस्परं भेददर्शनादित्यर्थः। ८. प्रकृतेति—यतो वेत्यादि।

श्रुतिभ्य आकृष्येह पुनरुत्पत्तिश्रुतीनामैदंपर्यंप्रतिपिपादयिषयोपन्यासः। [1]मृल्लोहविस्फुलिङ्गादिदृष्टान्तोपन्यासैः सृष्टिर्या चोदिता प्रकाशिताऽ[2]न्यथाऽन्यथा च स सर्वः सृष्टिप्रकारो जीवपरमात्मैकत्वबुद्ध्यवतारायोपायोऽस्माकम्। यथा प्राणसंवादे वागाद्यासुरपाप्मवेधाद्याख्यायिका कल्पिता प्राण [3]वैशिष्ट्यबोधावताराय तदप्यसिद्धमिति चेत्। न। शाखाभेदेष्वन्यथाऽन्यथा च प्राणादिसंवादश्रवणात्। यदि हि संवादः परमार्थ एवाभूदेकरूप एव संवादः सर्वशाखास्वश्रोष्यद्विरुद्धानेकप्रकारेण ना [4]श्रोष्यत्। श्रूयते तु। तस्मान्न तादर्थ्यं संवादश्रुतीनाम्। तथोत्पत्तिवाक्यानि प्रत्येतव्यानि। कल्पसर्गभेदात्संवादश्रुतीना-

---

त्यादि श्रुतियों का जीव परमात्म एकत्व बतलाने की इच्छा से उपन्यास किया जा रहा है। मृत्तिका, लोह-पिण्ड विस्फुलिङ्ग आदि दृष्टान्त उपन्यास करके जो भिन्न-भिन्न प्रकार की सृष्टि कही गयी है वह सभी सृष्टि प्रकार हमें जीवात्मा-परमात्मा के एकत्व बोध के लिए उपाय मात्र है। जैसे प्राण संवाद में वाणी आदि इन्द्रियों का असुरों द्वारा पाप से विद्ध हो जाने वाली आख्यायिका की कल्पना केवल प्राण के वैशिष्ट्य बोध कराने के लिए की गई है, न कि सच में इस प्रकार का संवाद हुआ ही होगा।

पूर्वपक्ष—किन्तु उन आख्यानों का तात्पर्य प्राण की श्रेष्ठता बोध कराने में है. यह बात भी तो सिद्ध नहीं हो सकती।

सिद्धान्त—ऐसा नहीं कह सकते। भिन्न भिन्न शाखाओं में भिन्न २ प्रकार से प्राणादि सम्वाद का श्रवण होने के कारण उनका तात्पर्य प्राण वैशिष्ट्य बोधन में ही मानना पड़ेगा। यदि परमार्थतः प्राणों में परस्पर सम्वाद हुआ होता, तो सभी शाखाओं में समान ही सम्वाद सुना जाता, परस्पर विरुद्ध विभिन्न प्रकार से नहीं सुना जाता है। अतः प्राण सम्वाद सृष्टि बोधक श्रुति-वाक्यों को समझना चाहिए।

प्राणानामहं श्रेयानहं श्रेयानिति मिथः संघर्षः संवादस्तत्र याऽऽख्यायिका श्रूयते नासौ श्रुत्यर्थो भवति वागादीनामचेतनत्वात्। तथा सृष्ट्यादिश्रुतिरपि न स्वार्थे तात्पर्यवतीत्यर्थः। उदाहरणान्तरं सूचयति—वागादीति। देवासुरसंग्रामे देवास्तावदसुरानभिभवितुं यज्ञमुपचक्रमिरे। वागादींश्चोद्गातृत्वेन वव्रिरे। तांश्च वागादीन्कल्याणासङ्गेन पाप्मनाऽसुरा [5]विविधुरित्याद्याख्यायिका च न यथाश्रुतार्था। वागादीनां वागभावेनोद्गानासामर्थ्यात्। किंत्वसुरैरघर्षितत्वात्प्राणोत्क्रान्तौ देहपातप्रसिद्धेश्च प्राणः श्रेष्ठो भवतीति प्राणवैशिष्ट्यनिश्चये बुद्ध्यवतारशेषत्वेन सा कल्पिता। तथैव प्रकृतेऽपि सृष्ट्यादिश्रुतेः स्वार्थे तात्पर्याभावात्तत्कार्यस्य तद्व्यतिरेकेणाभावात्तदेवास्तीत्यद्वैतबुद्ध्यवतरोपायत्वेन सृष्ट्यादिप्रक्रिया कल्पितेत्यर्थः। [6]देवताशब्दप्रयोगाच्चेतनत्वं वागादीनामिति मुख्यार्थत्वं संवादादिश्रवणस्य। [7]अतोऽसिद्धमुदाहरणमिति शङ्कते—तदपीति। [8]संवादविसंवादयोरसतोः श्रुतेऽर्थे प्रामाण्यमर्थवादानामित्यङ्गीकारादविरोधापेक्षमेवार्थवादप्रामाण्यम् [9]इह तु परस्पर[10]व्याहतिदर्शनान्न प्रामाण्यमिति परिहरति—न शाखाभेदेष्विति। प्राणादीत्यादिशब्देन मुख्यप्राणातिरिक्ता वागादयो गृह्यन्ते। उक्तमेव समाधानं व्यतिरेकमुखेन(ण) विवृणोति—यदि हीति। क्वचिद्विवद-

---

१. मृल्लोहेति—ननु एतैर्दृष्टान्तैर्ब्रह्मविज्ञानेन सर्वविज्ञानमुक्तं न तु ब्रह्मणः सकाशात् सर्वस्य सृष्टिरुक्तेति मृदित्याद्यसङ्गतमिति चेन्न। उपादानज्ञानेनोपादेयज्ञान दृष्टान्तयन्ती हि ब्रह्मज्ञानेन सर्वज्ञानोपपत्तये सर्वस्य ब्रह्मोपादेयत्वमभिप्रैतिमृदादिश्रुतिरितिबोध्यम्। २. उदितेति छेदनलब्धं चकार सफलयति—अन्यथा चेति। ३. वैशिष्ट्यम्—श्रैष्ठ्यम्। ४. अश्रोष्यदिति—अश्रोष्यतेत्यर्थस्तथैव वा पाठः। कर्मकर्तरि प्रयोगो वेत्यवधेयम्। ५. विविधुरिति—ताडितवन्तः सयोजितवन्त इति यावत्। ६. देवताशब्देति—तथाहि ऐतरेयोपनिषदि 'ता एता देवता सृष्टाः, अस्मिन्निति महत्यर्णवे प्राप तन्निति तत्प्रयोगः', तथा बृहदारण्यके 'एवं उ खल्वेता देवताः प्रान्मभिरुपासृजन्नेवमेनाः पाप्मनाऽविध्यन्निति वागादिषु देवताःशब्दप्रयोगः तस्मादित्यर्थः। ७. अतः—अन्यशेषत्वाभावात्। ८. संवादविसंवादयोरिति—प्रमाणान्तरसम्मत्तिविरोधयोरित्यर्थः। ९. इह—प्राणसंवादे। १०. व्याहतिदर्शनादिति—वैलक्षण्यदर्शनादित्यर्थः।

आश्रमास्त्रिविधा हीनमध्यमोत्कृष्टदृष्टयः ।
उपासनोपदिष्टेयं तदर्थमनुकम्पया ॥१६॥

[निकृष्ट, मध्यम और उत्कृष्ट दृष्टि वाले तीन प्रकार के अधिकारी हैं । दयालु वेद ने अनुकम्पा करके मन्द और मध्यम दृष्टि वालों के लिये कर्म और उपासना का उपदेश किया है ॥१६॥]

मुत्पत्तिश्रुतीनां च प्रतिसर्गमन्यथात्वमिति चेन्न । निष्प्रयोजनत्वाद्यथोक्तबुद्ध्यवतारप्रयोजनव्यतिरेकेण । न ह्यन्यप्रयोजनवत्त्वं संवादोत्पत्तिश्रुतीनां शक्यं कल्पयितुम् । तथात्वप्रतिपत्तये ध्यानार्थमिति चेन्न । कलहोत्पत्तिप्रलयानां प्रतिपत्तेरनिष्टत्वात् तस्मादुत्पत्त्यादिश्रुतय आत्मैकत्वबुद्ध्यवतारायैव नान्यार्थाः कल्पयितुं युक्ताः । अतो नास्त्युत्पत्त्यादिकृतो भेदः कथंचन ॥१५॥

यदि पर एवाऽऽत्मा नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव एकः परमार्थः सन् 'एकमेवाद्वितीयम्' (छा० ६।२।२)

पूर्वपक्ष—यदि ऐसा माना जाय कि प्रति कल्प सृष्टि भेद के कारण प्राण सम्वाद श्रुति और उत्पत्ति श्रुतियों में प्रत्येक सर्ग में भेद है ।

सिद्धान्त—ऐसा कहना ठीक नहीं । क्योंकि जीवात्मा परमात्मा के एकत्व बोधक पूर्वोक्त श्रुतियों के एकत्व बोध में बुद्धि को अवतरण कराने रूप प्रयोजन से भिन्न उन श्रुतियों का भिन्न अर्थ में तात्पर्य नहीं है । प्राण संवाद एवं उत्पत्ति श्रुतियों का ब्रह्मात्मैक्य बोध कराने के सिवा अन्य प्रयोजन नहीं कर सकते । यदि कहो कि तद्रूपता प्राप्ति के लिए ध्यानार्थ संवाद श्रुतियाँ कही गयी हैं, तो ऐसा करना ठीक नहीं । क्योंकि कलह, उत्पत्ति तथा प्रलय को प्राप्त करना किसी को भी इष्ट नहीं होता । अतः उत्पत्त्यादि बोधक श्रुतियाँ आत्मैकत्वबोध कराने के लिए ही है, किसी अन्य प्रयोजन के लिए उन्हें मानना उचित नहीं । इसीलिए उत्पत्त्यादि के कारण से होने वाला भेद किसी भी प्रकार पारमार्थिक सिद्ध नहीं हो सकता ॥१५॥

अधिकारी भेद से उपासना विधि में भेद

पूर्वपक्ष—'यदि एक ही अद्वितीय है' इत्यादि श्रुतियों से परमार्थतः नित्य शुद्ध-बुद्ध मुक्त स्वभाव एक परमात्मा ही सत्य है, अन्य सब मिथ्या है, तो भला अरी मैत्रेयी ! यह आत्मा ही दर्शन करने

मानानां प्राणानां स्वयमेव निर्णेतुमशक्तानां प्रजापतिमुपगतानां यस्मिन्नुत्क्रान्ते शरीरमिदं पापिष्ठतरमिव तिष्ठति स वः श्रेष्ठो भवतीति तेनोक्तानां प्रवासः श्रूयते । क्वचित्तु स्वातन्त्र्येण । यस्मिन्नुत्क्रान्ते शरीरमिदं पतति स नः श्रेयानित्यालोच्य प्रवासो व्यपदिश्यते क्वचित्पुनर्वाक्चक्षुःश्रोत्रमनांसीति मुख्यप्राणातिरिक्ताश्चत्वारः श्रूयन्ते । क्वचित्त्वगादयोऽपीत्येवं विरुद्धानेकप्रकारेण संवादश्रवणमस्तीत्याह—श्रूयते त्विति । प्राणसंवादश्रुतीनां मिथो विरोधान्नास्ति स्वार्थे प्रामाण्यमित्युपसंपरति—तस्मादिति । उक्तदृष्टान्तानुरोधादुत्पत्तिवाक्यान्यपि न विवक्षितार्थानि । क्वचिदाकाशादिक्रमेण सृष्टिः क्वचिदग्न्यादिक्रमेण क्वचित्प्राणादिक्रमेण क्वचिदक्रमेणेत्येवं परस्परपराहतिदर्शनादित्याह—तथेति । प्रतिकल्पं सृष्टिभेदस्येष्टत्वादुक्तश्रुतीनामपि प्रतिसर्गमन्यथात्वाद्व्यवस्थयाऽर्थवत्त्वं स्यादिति शङ्कते—कल्पेति । सिद्धे प्रामाण्ये व्यवस्था कल्प्यते । तदेव नाद्यापि सिद्धमित्युत्तरमाह—नेत्यादिना । तासां प्रयोजनवत्त्वं त्वयाऽपि स्वीकृतमित्याशङ्क्याऽऽह—यथोक्तेति । प्रयोजनान्तराभावं प्रकटति—न हीति । प्राणादिभावप्राप्तये ध्यानार्थं प्राणादिसंकीर्तनमिति शङ्कते—तथात्वेति । तं यथा यथोपासते तदेव भवतीति श्रुतेः । न्यायसाम्यात्कलहादिध्यानात्तत्प्राप्तिः फलं स्यात् । तच्चानिष्टमिति परिहरति—नेत्यादिना । प्राणसंवादश्रुतीनां प्राणवैशिष्ट्यावबोधावतारार्थत्वमुपपाद्य दार्ष्टान्तिकमुपसंहरति—तस्मादिति । उत्पत्त्यादिश्रुतीनामुत्पत्त्यादिपरत्वाभावे फलितं चतुर्थपादावष्टम्भेन स्पष्टयति—अत इति ॥१५॥

उत्पत्त्यादिश्रुतिविरोधमद्वैते परिहृत्योपासनविध्यनुपपत्तिविरोधं परिहरति—आश्रमा इति । आश्रमिणो वर्णिनश्च कार्यब्रह्मोपासका हीनदृष्टयः । कारणब्रह्मोपासका मध्यमदृष्टयः । अद्वितीयब्रह्मदर्शनशीलास्तूत्तमदृष्टयः । एवमेतेषु

इत्यादिश्रुतिभ्योऽसदन्यत्किमर्थेयमुपासनोपदिष्टा। 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' (बृ० २।४।५) 'य आत्माऽपहतपाप्मा' (छा० ८।७।१।३) 'स क्रतुं कुर्वीत' (छा० ३।१।१३)। 'आत्मेत्येवोपासीत' (बृ० १।४।७) इत्यादिश्रुतिभ्यः। कर्माणि चाग्निहोत्रादीनि। शृणु तत्र कारणम्। आश्रमा आश्रमिणोऽधिकृताः। वर्णिनश्च मार्गगाः। आश्रमशब्दस्य [1]प्रदर्शनार्थत्वात्त्रिविधः। कथम्। हीनमध्यमोत्कृष्टदृष्टयः। हीना निकृष्टा मध्यमोत्कृष्टा च दृष्टिर्दर्शनसामर्थ्यं येषां ते मन्दमध्यमोत्तमबुद्धिसामर्थ्योपेता इत्यर्थः। उपासनोपदिष्टेयं तदर्थं मन्दमध्यमदृष्ट्याश्रमाद्यर्थं कर्माणि च। न चाऽऽत्मैक एवाद्वितीय इति निश्चितोत्तमदृष्ट्यर्थं दयालुना वेदेनानुकम्पया सन्मार्गगाः सन्तः कथमिमामुत्तमामेकत्वदृष्टिं प्राप्नुयुरिति।

यन्मनसा न मनुते येनाऽऽहुर्मनो मतम्।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥ के० १।५

'तत्त्वमसि' (छा० ६।८।१६) 'आत्मैवेदं सर्वम्' (छा० ७।२५।२) इत्यादिश्रुतिभ्यः ॥१६॥

योग्य है", "जो आत्मा पाप रहित है", "वह अधिकृत पुरुष उपास्य सम्बन्धी संकल्प रूप क्रतु करे", "आत्मा है इस प्रकार से ही उपासना करे" इत्यादि श्रुतियों से इस उपासना का उपदेश क्यों किया गया और अग्नि होत्रादि कर्म भी क्यों कहे गये?

सिद्धान्त—इसमें बतलाये गये कारणों को सुनो। कर्माधिकारी आश्रमी तथा सन्मार्गगामी वर्णी तीन प्रकार के हैं। श्लोक में आश्रम शब्द वर्णी बोध के लिए भी है। किस प्रकार त्रिधा अधिकारी हैं? हीन, मध्यम तथा उत्कृष्ट दृष्टि वाले, यानी जिनकी दृष्टि निकृष्ट, मध्यम और उत्तम बुद्धि सामर्थ्य से सम्पन्न माने गये हैं। उन मन्द, मध्यम दृष्टि वाले आश्रमादि के लिए इस उपासना और कर्म का उपदेश किया गया है, न कि आत्मा एक और अद्वितीय है, ऐसे दृढ़ अपरोक्ष ज्ञान युक्त उत्तम दृष्टि वाले के लिए कर्म उपासना का उपदेश है।

दयालु वेद ने कृपा कर इसीलिए उनका उपदेश किया है कि जिस किसी प्रकार से ये बेचारे सन्मार्गगामी होकर इस उत्तम एकत्व दृष्टि को प्राप्त कर लेवें। 'जिनका मन से मनन नहीं किया जाता किन्तु जिसके द्वारा मन भी जाना जाता है, उसी को तू ब्रह्म जान' 'जिस उपाधि परिच्छिन्न की उपासना करते हैं यह ब्रह्म ही है', "वह तू है" "यह सब आत्मा ही है" इत्यादि श्रुतियों द्वारा उसी एकत्व सर्वोत्तम दृष्टि का प्रतिपादन किया गया है ॥१६॥

त्रिविधेषु मध्ये तेषां मन्दानां मध्यमानां चोत्तमदृष्टिप्रवेशार्थं दयालुना वेदेनोपासनोपदिष्टा। तथा चोपासनानुष्ठानद्वारेणोत्तमामेकत्वदृष्टिं क्रमेण प्राप्ता उत्तमेष्वेवान्तर्भविष्यन्तीत्यर्थः। श्लोकव्यावर्त्यामाशङ्कामाह—यदीति। तस्यैव परमार्थतः सत्त्वे प्रमाणमाह—एकमेवेति। द्वैतप्रतीतेर्मिथ्याद्वैतविषयत्वेनाविरोधमाह—असदिति। अद्वैतस्यैव वस्तुत्वे ध्यानविधिविरोधमाह—किमर्थेति। उपासनोपदेशमेव विशदयति—आत्मेति। तत्र हि निदिध्यासितव्य इत्युपासनोपदिश्यते। य आत्मेत्यादौ तु स [1]विजिज्ञासितव्य इति ध्यानविधिः। स [2]क्रतुमित्यत्र सशब्देन शमादिमानधिकारी परामृश्यते। अद्वैतस्यैव वस्तुत्वे कर्मविधिविरोधोऽपि प्रसरतीत्याह—कर्माणि चेति। किमर्थान्युपदिष्टानीति सम्बन्धः। [3]अद्वैताधिकारिणोऽधिकार्यन्तरं प्रति विधिद्वयं सावकाशमिति परिहरति—शृण्विति। तत्रेत्युपासनोपदेशः कर्मोपदेशश्च गृह्यते। तदेव कारणमक्षरयोजनया प्रकटयति—आश्रमा इति। आश्रमशब्देनाऽऽश्रमिणो गृह्यन्तां वर्णिनस्तु कथं गृह्येरन्नित्याशङ्क्याऽऽह—आश्रमेति। शूद्रान्व्यावर्त्य त्रैवर्णिकानामेव ग्रहणार्थं [4]मार्गगा इति विशेषणम्। त्रैविध्यमेवाऽऽकाङ्क्षाद्वारा स्फोरयति—कथमित्यादिना। कार्यब्रह्मविषयत्वान्निकृष्टत्वम्। मध्यमत्वं कारणब्रह्मविषयत्वात्। उत्कृष्टत्वमद्वैतविषयत्वादिति द्रष्टव्यम्। एवं पूर्वार्धं व्याख्यायोत्तरार्धं व्याकरोति—उपासनेति। कर्मोपदेश-

---

१. प्रदर्शनार्थत्वादिति—वर्ण्युपलक्षणत्वादित्यर्थः। २. क्रतुरिति—संकल्प अध्यवसायः ध्यानमिति यावत्। ३. अद्वैताधिकारिण इति—सकाशादिति शेषः। ४. मार्गगाः—वेदोपदिष्टमार्गगामिन इत्यर्थः।

[1]स्वसिद्धान्तव्यवस्थासु द्वैतिनो निश्चिता दृढम् ।
परस्परं विरुध्यन्ते तैरयं विरुध्यते ॥१७॥

(कापल आदि द्वैत वादी) स्वरचित सिद्धान्तों की व्याख्या में अनुरक्त एवं दृढ़ग्रही होने के कारण विरोध करते हैं । किन्तु यह (अद्वैतात्मदर्शन वैदिक सिद्धान्त सबसे अभिन्न होने के कारण) उनसे विरोध नहीं करता ॥१७॥

शास्त्रोपपत्तिभ्यामवधारितत्वादद्वयात्मदर्शनं [2]सम्यग्दर्शनं तद्बाह्यत्वान्मिथ्यादर्शनमन्यत् । इतश्च [3]मिथ्यादर्शनं द्वैतिनां [4]रागद्वेषादिदोषास्पदत्वात्कथं स्वसिद्धान्तव्यवस्थासु स्वसिद्धान्तरचनानियमेषु कपिलकणादबुद्धार्हतादिदृष्ट्यनुसारिणो द्वैतिनो निश्चिताः । एवमेवैष [5]परमार्थो नान्यथेति तत्र तत्रा[6]नुरक्ताः प्रतिपक्षं चाऽऽत्मनः पश्यन्तस्तं द्विषन्त इत्येवं रागद्वेषोपेताः स्वसिद्धान्तदर्शननिमित्तमेव परस्परमन्योन्यं विरुध्यन्ते । तैरन्योन्यविरोधिभिरस्मदीयोऽयं वैदिकः सर्वानन्य-

---

अद्वैत आत्म दर्शन का किसी से विरोध नहीं ।

शास्त्र और युक्ति से अद्वितीय आत्मदर्शन ही यथार्थ दर्शन है, इसका निश्चय हो चुका है । साथ ही वेदबाह्य होने के कारण अद्वैत आत्मदर्शन से भिन्न सभी दर्शन मिथ्या है । इसलिए भी द्वैतवादियों का दर्शन मिथ्या है क्योंकि वे रागद्वेषादि दोषों से भरे पड़े हैं । कैसे ? इस पर कहते हैं । अपने अपने सिद्धान्तों के रचना नियमों में कपिल, कणाद, बुद्ध और जैन की दृष्टियों का अनुसरण करने वाले द्वैतवादी निश्चय किये बैठे हैं । परमार्थ तत्त्व ऐसा ही है, इससे भिन्न नहीं । इस प्रकार उन उन सिद्धान्तों में अनुरक्त अपने विरोधी को देखकर उससे द्वेष करते हैं । इस प्रकार वे राग द्वेष से युक्त हो अपने अपने सिद्धान्त दर्शन के कारण ही परस्पर एक दूसरे से विरोध करते हैं । उन परस्पर

स्यापि तदर्थत्वमाह—कर्माणि चेति । व्यावर्त्यां शङ्कां दर्शयति—न चेति । वेदेनोपासनाद्युपदेशे मन्दानां मध्यमानां च कथमनुग्रहः सिध्यतीत्याशङ्क्याऽऽह—सन्मार्गगा इति । प्राप्नुयुरित्युपासनोपदिष्टा कर्माणि चेति पूर्वेण सम्बन्धः । [7]उपास्यं ब्रह्मैव न भवतीति प्रतिषेधान्मन्दमध्यमदृष्टिविषयत्वमुपासनस्य प्रतिभातीत्याह—यन्मनसेति । अद्वैतदृष्टीनां तु वर्णाश्रमभेदाभिमानाभावादेव नोपासनं कर्म वा संभवतीत्याह—तत्त्वमसीति ॥१६॥

अद्वैतदर्शनस्योपासनादिविधिविरोधाभावेऽपि मतान्तरैर्विरोधोऽस्तीत्याशङ्क्य तेषां भ्रान्तिमूलत्वान्नैवमित्याह—स्वसिद्धान्तेति । श्लोकस्य तात्पर्यं वक्तुं भूमिकां करोति—शास्त्रेति । तद्बाह्यत्वादित्यत्र तच्छब्देन शास्त्रोपपत्ती गृह्येते । द्वैतदर्शनस्य मिथ्यादर्शनत्वे हेत्वन्तरपरत्वमवतारितस्य श्लोकस्य दर्शयति—इतश्चेति । इतःशब्दार्थमेव दर्शयति—द्वैतिनामिति । आदिशब्देन मत्मानादयो गृहीताः । स्वीयं स्वीयं सिद्धान्तं व्यवस्थापयितुं तत्त्वज्ञानमधिकृत्य प्रवृत्तानां वादिनां कुतो दोषास्पदत्वमित्याक्षिपति—कथमिति । श्लोकाक्षरयोजनया परिहरति—स्वसिद्धान्तेत्यादिना । निश्चयमेव स्फोरयति—एवमेवेति । [8]रागास्पदत्वेऽपि तेषां द्वेषास्पदत्वं कथमित्याशङ्क्याऽऽह—प्रतिपक्षमिति । उत्तरार्धं विभजते—स्वसिद्धान्तेति । यद्धि वादिनां प्रत्येकं स्वसिद्धान्तत्वेनोपसंगृहीतं दर्शनं तन्निर्धारणार्थमन्योन्यं वादिनो विरोधमाचरन्तो

---

१. स्वसिद्धान्तव्यवस्थासु—स्वसिद्धान्तप्रतिपादनप्रकारेष्वित्यर्थः । २. सम्यग्दर्शनम्—निरवद्यदर्शनम् । ३. मिथ्यादर्शनम्—मिथ्यार्थविषयकमित्यर्थः । ४. रागद्वेषादिदोषास्पदत्वादिति—न ह्यन्यथा विरोधः संभवतीति भावः । ५. परमार्थेति—मोक्षाद्यभिलषितार्थं एवमेव कपिलाद्युक्तरीत्यैवेत्यर्थः । ६. अनुरक्ताः—अभिनिविष्टाः । ७. तदर्थमिति तच्छब्देनोत्कृष्टदृष्टयपरमर्शे हेतुमवतारयति—उपास्यमित्यादिना । ८. रागास्पदत्वेऽपीति—अभिनिवेशस्य रागमूलकत्वादिति भावः ।

अद्वैतं परमार्थो हि द्वैतं [1]तद्भेद उच्यते। तेषामुभयथा द्वैतं [2]तेनायं न विरुध्यते ॥१८॥

[क्योंकि अद्वैतपरमार्थ है और द्वैत उसी का कल्पित भेद कहा जाता है। पर उन द्वैतवादियों की दृष्टि में तो (परमार्थतः और अपरमार्थतः) दोनों प्रकार से द्वैत ही है। ऐसी स्थिति में उनके साथ यह अद्वैत ही है। ऐसी स्थिति में उनके साथ यह अद्वैतात्म दर्शन विरोध नहीं करता है ॥१८॥]

त्वादात्मैकत्वदर्शनपक्षो न विरुध्यते यथा स्वहस्तपादादिभिः। एवं रागद्वेषादिदोषानास्पदत्वादात्मैकत्वबुद्धिरेव सम्यग्दर्शनमित्यभिप्रायः ॥१७॥

केन हेतुना तैर्न विरुध्यत इत्युच्यते। अद्वैतं परमार्थो हि यस्माद्द्वैतं नानात्वं तस्याद्वैतस्य भेदस्तद्भेदस्तस्य कार्यमित्यर्थः। 'एकमेव द्वितीयम्' (छा० ६।२।२)। 'तत्तेजोऽसृजत' (छा० ६।२।३) इति श्रुतेः। उपपत्तेश्च। [3]स्वचित्तस्पन्दनाभावे समाधौ मूर्छायां सुषुप्तौ चाभावात्। [4]अतस्तद्भेद

विरोधियों के साथ भी हमारा यह वैदिक सिद्धान्त विरोध नहीं करता। क्योंकि यह आत्मैकत्व दर्शन पक्ष सबसे अभिन्न है। जैसे अपने हस्त-पादादि के साथ किसी का विरोध नहीं होता। इसीलिए हमने कहा कि इस प्रकार राग द्वेषादि दोषों का आश्रय न होने से आत्मैकत्व ज्ञान ही सम्यग् दर्शन है। द्वैतवादी परिकल्पित अन्यान्यदर्शन मिथ्या हैं ॥ १७ ॥

उक्त सिद्धान्त में हेतु

किस कारण से अन्य दर्शनों के साथ इस अद्वैत आत्मदर्शन का विरोध नहीं है? इस पर कारण बतलाते हैं। अद्वैत पारमार्थिक है, क्योंकि द्वैत अर्थात् नानात्व उसी अद्वैत का कार्य है। ऐसा ही 'एकमेवाद्वितीयम्', 'तत्तेजोऽसृजत्' इत्यादि श्रुतियों से तथा मूर्च्छा और सुषुप्ति में अपने मनःस्पन्दन के अभाव हो जाने पर समाधि में भी द्वैत नहीं दीखता। ऐसी युक्ति से उक्त सिद्धान्त स्थिर हो जाता है। अतः द्वैत उस अद्वैत का विकल्प मात्र है। किन्तु उन द्वैतवादियों की दृष्टि में तो परमार्थता और अपरमार्थता दोनों प्रकार से द्वैत ही है। यदि उन भ्रान्त पुरुषों की द्वैतदृष्टि

दृश्यन्ते। न च तैरद्वैतदर्शनं विरुध्यमानमध्यवसीयते। यथा स्वकीयकरचरणादिभिराघाते कदाचिदाचरितेऽपि द्वेषो न जायते। परबुद्धयभावात्तथा द्वैताभिमानिभिरु[5]पद्रवे क्षुद्रे कृतेऽपि [6]नाद्वैतदर्शिनस्तेषु द्वेषो जायते। सर्वानन्यत्वात्परबुद्धयभावादित्यर्थः। अद्वैतदर्शनस्य सम्यग्दर्शनत्वं प्रतिज्ञातं कथं प्रदर्शितया प्रक्रियया प्रतिपन्नमित्याशङ्क्याऽऽह—एवमिति ॥१७॥

द्वैतपक्षैरद्वैतपक्षस्य विषयद्वारके विरोधेऽधिगम्यमाने कथमविरोध [7]वाचोयुक्तिरित्याशङ्क्य स्वमतपर्यालोचनया तावदविरोधमाह—अद्वैतमिति। [8]मिथ्याभूतेन द्वैतेनाद्वैतस्याविरोधेऽपि [9]परमार्थभूतेन तेन विरोधः स्यादित्याशङ्क्य तथाविधं द्वैतमेव नास्तीति मत्वाऽऽह—तेषामिति। द्वैतिनां परमार्थत्वेनापरमार्थत्वेन च द्वैतमेव व्यवहारगोचरीभूतम्। [10]तच्च संप्रतिपन्नद्वैतवन्मिथ्येत्येवं स्थिते न द्वैतेनाद्वैतस्य विरोधः शक्यशङ्को भवतीत्यर्थः। श्लोक-

१. भेदः—विकारः विवर्त इत्यर्थः। २. तेन—द्वैतस्य भ्रान्तिमूलत्वेन। ३. स्वचित्तस्पन्दनेति—चित्तस्यतत्तद्विषयाकारपरिणामः स्पन्दनमवसेयम्। ४. अतः—अद्वैतस्य द्वैतपूर्ववृत्तित्वात्। ५. उपद्रव इति—अद्वैतसिद्धान्ताक्षेपरूपे तत्रानिष्टापादनरूपे वा उपद्रवे इत्यर्थः। तत्र क्षुद्रत्वं त्वस्यायुक्तत्वेन तुच्छत्वं वेदितव्यम्। ६. अद्वैतदर्शनस्येत्यादि—शास्त्रोपपत्तिभ्यामित्यादिनोपक्रमे यदद्वैतदर्शनस्य सम्यग्दर्शनत्वं प्रतिज्ञातं तच्छ्लोकव्याख्यानोक्तदिशाकथमुपपन्नं जातमिति प्रश्नार्थः। ७. वाचो युक्तिः—वाक्प्रयोगः। ८. मिथ्याभूतेनेति—रज्जूरगादिप्रातिभासिकेन द्वैतेनेत्यर्थः। ९. परमार्थभूतेनेति—व्यावहारिकाऽऽकाशादिद्वैतेनेत्यर्थः। १०. तच्चेत्यादि—परमार्थत्वाभिमतं द्वैतम्—मिथ्या, द्वैतत्वात्, सम्प्रतिपन्नशुक्तिरूप्यादिद्वैतवदित्यनुमानमिह वेदितव्यम्।

मायया भिद्यते ह्येतन्नान्यथाजं कथञ्चन । तत्त्वतो भिद्यमाने हि मर्त्यतामममृतं व्रजेत् ॥१९॥

इस परमार्थ सत् अजन्मा अद्वैत में रज्जू सर्पादिवत् माया से ही भेद दीखता है, अन्य किसी प्रकार से नहीं। यदि उसमें तत्त्वतः भेद हो तो स्वभाव से अमर होकर आत्मा मर्त्यभाव को प्राप्त होने लगेगा ॥१९॥]

उच्यते द्वैतम् । द्वैतिनां तु तेषां परमार्थतश्चापरमार्थतश्चोभयथाऽपि द्वैतमेव । यदि च तेषां भ्रान्तानां द्वैतदृष्टिरस्माकमद्वैतदृष्टिरभ्रान्तानाम् । [1]तेनायं हेतुनाऽस्मत्पक्षो न विरुध्यते तैः । [2]'इन्द्रो [3]मायाभिः [4]पुरुरूप [5]ईयते' (बृ० २।५।१९) [6]'न तु तद्द्वितीयमस्ति' (बृ० ४।३।२३) इति श्रुतेः । यथा मत्तगजारूढ उन्मत्तं भूमिष्ठं प्रति गजारूढोऽहं वाहय मां प्रतीति ब्रुवाणमपि तं प्रति न वाहयत्यविरोधबुद्ध्या तद्वत् । [7]ततः परमार्थतो ब्रह्मविदात्मैव द्वैतिनाम् । तेनायं हेतुनाऽस्मत्पक्षो न विरुध्यते तैः ॥१८॥

द्वैतमद्वैतभेद इत्युक्ते द्वैतमप्यद्वैतवत्परमार्थसदिति [8]स्यात्कस्यचिदाशङ्केत्यत आह—यत्पर-

---

और हम भ्रान्तहीनों की अद्वैत दृष्टि है, इसी कारण से हमारे पक्ष का उनके पक्ष के साथ कोई विरोध नहीं। "परमेश्वर माया से अनेक रूप बना लेता है," "उससे भिन्न दूसरा कुछ भी नहीं हैं" इत्यादि श्रुतियाँ उसी अद्वैत के विषय में प्रमाण हैं। जैसे मतवाले हाथी पर चढ़ा हुआ व्यक्ति भूमिष्ठ उन्मत्त व्यक्ति के प्रति "मैं तुम्हारे प्रतिद्वन्द्वी हाथी पर चढ़ा हुआ हूं मेरी ओर हाथी बढ़ा दो" ऐसा कहने पर भी उसकी ओर हाथी नहीं ले जाता, क्योंकि उसके साथ प्रथम का कोई विरोध नहीं है। ऐसे ही द्वैतवादियों के साथ हमारा कोई विरोध नहीं। क्योंकि परमार्थ दृष्टि से ब्रह्मज्ञानी द्वैतवादियों की भी आत्मा ही है, बस इसी कारण से उनके साथ हमारे अद्वैतवाद पक्ष का विरोध नहीं है ॥ १८ ॥

आत्मभेद मायिक है

'द्वैत अद्वैत का भेद है' ऐसा कहने पर अद्वैत के समान द्वैत भी पारमार्थिक सत् है ऐसी शंका किसी को हो सकती है। इसलिए आगे की कारिका कहते हैं।

प्रतिषेध्यं प्रश्नं करोति—केनेति । श्लोकाक्षराणामर्थमाचक्षाणो हेतुमाह—उच्यत इति । द्वैतस्याद्वैतकार्यत्वे प्रमाणमह—एकमेवेति । श्रुतिप्रामाण्याद्द्वैतस्याद्वैतकार्यत्वावगमात्कार्यस्य च कारणाद्भेदेन सत्त्वनिषेधा [9]त्तत्सत्यमित्यवधारणाद्द्वैतदर्शनं द्वैतदर्शनेन विरुद्धमित्यर्थः । अद्वैतदर्शनं द्वैतदर्शनैरविरुद्धमित्यत्रैव युक्तिमाह—उपपत्तेश्चेति । तामेवोपपत्तिं संक्षिप्य दर्शयति—स्वचित्तेति । सुषुप्त्याद्यवस्थायां स्वकीयचित्तस्पन्दनभावे मिथ्याज्ञानोपरमे सति द्वैतदर्शनाभावादद्वैतं सिद्धम् । ततश्च स्वप्नवज्जाग्रद्भेदानामुत्पत्तिदर्शनादित्युपपत्तेर्द्वैतमद्वैतकार्यं न च कारणं तत्कार्यप्रतिमासैर्विरुध्यते कार्यस्य वाचाऽऽरम्भणमात्रत्वात्कारणातिरेकेणाभावादित्यर्थः । तेषामित्यादिभागं विभजते—द्वैतिनां त्विति । परमार्थद्वैतांशेनाद्वैतविरोधमाशङ्क्य द्विधा व्यवहारेऽपि दिनतस्य द्वैतस्य द्वैतत्वारेव संप्रतिपन्नदम्भिथ्यात्वसिद्धेर्न तेन विरोधोऽद्वैतस्येति मन्वानः सन्नाह—यदि चेति । भ्रान्तिमूलद्वैतदर्शनैरद्वैतदर्शनं प्रमाणमूलमविरुद्धमित्येतद्दृष्टान्तेनोपपादयति—यथेत्यादिना । कार्यकारणभूतयोर्द्वैताद्वैतयोरविरोधे सिद्धे फलितमाह—तत इति । अद्वैतिनां द्वैतिनां च प्रातिस्विकपक्षपर्यालोचनातो द्वैतपक्षैरद्वैतपक्षो विरुद्धो न भवतीति फलितमुपसंहरति—तेनेति ॥ १८ ॥

---

१. तेन—द्वैतस्य भ्रान्तिमूलकत्वेन । २. द्वैतिनां भ्रान्तत्वे प्रमाणमाह—इन्द्र इति । ३. मायाभिः—उपाधिभिः । ४. पुरुरूपः—बहुरूपः । ५. ईयते—प्रतीयते । ६. अद्वैतिनामभ्रान्तत्वे प्रमाणमाह—न त्विति । ७. ततः—द्वैतस्याभावादित्यर्थः । ८. स्यादिति—कार्यकारणयोर्लोके तुल्यसत्ताकत्वदर्शनादिति भावः । ९. कार्यवत्कारणमनृतमस्त्वित्यत आह—तत्सत्यमिति ।

अजातस्यैव भावस्य जातिमिच्छन्ति वादिनः। अजातो ह्यमृतो भावो मर्त्यतां कथमेष्यति ॥२०॥

[(कुछ उपनिषद् व्याख्याता) द्वैत वादी अजन्मा आत्मतत्त्व की उत्पत्ति परमार्थत सिद्ध करना चाहते हैं। पर भला जो पदार्थ स्वभाव से अजन्मा और अमर है वह मरणशीलता को कैसे प्राप्त हो सकेगा ॥२०॥]

मार्थसदद्वैतं मायया भिद्यते ह्येतत्तैमिरिकानेकचन्द्रवद्रज्जुः सर्पधारादिभिर्भेदैरिव न परमार्थतो निरवयवत्वादात्मनः। सावयवं ह्यवयवान्यथात्वेन भिद्यते। यथा मृद्घटादिभेदैः। [1]तस्मान्निरवयवमजं नान्यथा कथंचन केनचिदपि प्रकारेण न भिद्यत इत्यभिप्रायः। तत्त्वतो भिद्यमाने ह्यमृतमजमद्वयं स्वभावतः सन्मर्त्यतां व्रजेत्। यथाऽग्निः शीतताम्। तच्चानिष्टं स्वभाववैपरीत्यगमनम्। [2]सर्वप्रमाणविरोधात्। अजमव्ययमात्मतत्त्वं माययैव भिद्यते न परमार्थतः। [3]तस्मान्न परमार्थसद्द्वैतम् ॥१९॥

ये तु पुनः केचिदुपनिषद्व्याख्यातारो ब्रह्मवादिनो वावदूका अजातस्यैवाऽऽत्मतत्त्वस्यामृतस्य

जो परमार्थ सत् अद्वैत है, वह माया से ही भेद वाला प्रतीत होता है। जैसे तिमिर दोष के कारण दीखने वाले अनेक चन्द्र तथा भ्रम के कारण प्रतीत होने वाले सर्पधारादि भेदों का अधिष्ठान पारमार्थिक चन्द्र और रज्जु है, वैसे ही माया से प्रतीत होने वाले द्वैत का पारमार्थिक रूप सद् अद्वैत ही है। वह द्वैत भेद पारमार्थिक नहीं क्योंकि आत्मा निरवयव है। अवयवों के भेद से सावयव वस्तु ही भेद वाली होती है। जैसे घटादि अवयव भेद से मृत्तिका। अतः निरवयव और अजन्मा आत्मा माया के अतिरिक्त अन्य किसी भी कारण से भेदवाला नहीं हो सकता। यदि उस अद्वैत में परमार्थतः भेद हो तो अमर, अजन्मा, अद्वय एवं स्वभाव से सत होकर भी आत्मा मृत्यु को प्राप्त होने लगेगी। जैसे अग्नि शीतलता को प्राप्त कर जाय, यह कहना असम्भव है, वैसे ही अपने स्वभाव से ही विपरीत दशा को प्राप्त हो जाना सभी प्रमाणों से विरुद्ध होने के कारण इष्ट नहीं है। अतः अजन्मा अद्वय तत्त्व माया से ही भेद वाला होता है, परमार्थतः नहीं। इसीलिए द्वैत पारमार्थिक सत् नहीं है, किन्तु अद्वैत का विवर्त है ॥ १९ ॥

जीव का जन्म असंगत है

जो कोई उपनिषद् व्याख्याकार वाचाल ब्रह्मवादी जन्मरहित मृत्युरहित आत्मतत्त्व का स्वभाव

---

[4]अद्वैतमेव द्वैतात्मना परिणमते चेद्द्वैतमपि तात्त्विकं स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—माययेति। विवर्तवादानङ्गीकारे दोषमाह—तत्त्वत इति। पूर्वार्धव्यावर्त्यामाशङ्कामादर्शयति—द्वैतमिति। तत्र पूर्वार्धाऽवतारणपरतायं व्याकरोति—अत आहेति। विमतो भेदो मिथ्या भेदत्वाच्चन्द्रादिभेदवदित्यर्थः। विमतं तत्त्वतो भेदरहितम्। निरवयवत्वान्नित्यत्वादजत्वाच्च व्यतिरेकेण मृदादिवदित्याह—नेत्यादिना। निरवयवत्वेऽपि वस्तुतः [5]स्फुटनधर्मत्वमाशङ्क्याऽऽह—सावयवं हीति। उक्तमनुमानं निगमयति—तस्मादिति। अन्यथा परमार्थत्वेनेत्यर्थः। पुनर्नञनुकर्षण [6]मन्वयार्थं, कार्यत्वधर्मत्वांशत्वादिरत्र प्रकारोऽभिप्रेतः। [7]विपक्षे दोषं वदन्द्वितीयार्धं विवृणोति—तत्त्वत इति। प्रसङ्गस्येष्टत्वमाशङ्क्य निराचष्टे—तच्चेति। विवर्तवादमुपसंहरति–अजमिति। स्थिते विवर्तवादे फलितमाह–तस्मादिति।१९।

स्वपक्षमुक्त्वा [8]स्वयूथ्यपक्षमनुभाष्य दूषयति—अजातस्येति। अनुवाद भागं विभजते—ये त्विति। स्वभावत

---

१. तस्मादिति—सावयवस्य भेदयोग्यत्वादित्यर्थः। २. सर्वप्रमाणविरोधादिति—न हि प्रत्यक्षादि वह्न्यादिकेषु शैत्यादिकं विषयीकरोतीति भावः। ३. तस्मात्—द्वैतात्मकभेदस्य मायिकत्वादित्यर्थः। ४. अद्वैतमेवेत्यादि—रेकणमिह परिणामवादेनोत्तरं च विवर्तवादेनेति बोध्यम्। ५. स्फुटनधर्मत्वमिति—विभागधर्मत्वं भेदाधिकरणत्वमिति यावत्। ६. अन्वयार्थमिति—भिद्यत इति क्रियापदेनान्वयार्थमित्यर्थः। ७. विपक्षे—तत्वतो भेदाभ्युपगमे। ८. स्वयूथ्यपक्षमिति—संसारदशायां द्वैतं सत्यं मोक्षदशायां तु चाद्वैतमिति द्वैताद्वैतवादिवेदान्त्येकदेशिमतमित्यर्थः।

न भवत्यमृतं मर्त्यं न मर्त्यं न मर्त्यममृतं तथा । प्रकृतेरन्यथाभावो न कथंचिद्भविष्यति ॥२१॥
स्वभावेनामृतो यस्य भावो गच्छति मर्त्यताम् । कृतकेनामृतस्तस्य कथं स्थास्यति निश्चलः ॥२२॥

[लोक में अमर वस्तु कभी भी मरणशील नहीं होती और न मरणशील कभी अमर होती है, क्योंकि कोई भी वस्तु अपने स्वभाव के विपरीत नहीं हो सकती है ॥२१॥]

[जिस वादी के मत में स्वभाव से अमर पदार्थ भी मर्त्यभाव को प्राप्त होता है, उसके सिद्धान्तानुसार कृतिजन्य होने के कारण वह अमृत पदार्थ निश्चल (अमृत स्वभाव भी) कैसे हो सकता है ॥२२॥]

स्वभावतो जातिमुत्पत्तिमिच्छन्ति परमार्थत एव तेषा जातं चेत्तदेव मर्त्यतामेष्यत्यवश्यम् । स चाजातो ह्यमृतो भावः स्वभावतः सन्नात्मा कथं मर्त्यतामेष्यति । न कथंचन मर्त्यत्वं स्वभाववैपरीत्यमेष्यतीत्यर्थः ॥२०॥

यस्मान्न भवत्यमृतं मर्त्यं [1]लोके नापि मर्त्यममृतं तथा । [2]ततः प्रकृतेः स्वभावस्यान्यथाभावः [3]स्वतः प्रच्युतिर्न कथंचिद्भविष्यति । अग्नेरिवौष्ण्यस्य ॥२१॥

यस्य पुनर्वादिनः स्वभावेनामृतो भावो मर्त्यतां गच्छति परमार्थतो जायते तस्य प्रागुत्पत्तेः स भावः स्वभावतोऽमृत इति प्रतिज्ञा मृषैव । कथं तर्हि कृतकेनामृतस्तस्य स्वभावः कृतकेनामृतः स

से जन्म मानते हैं, उनके मत से यदि यह जन्म पारमार्थिक है तो उसकी मृत्यु भी अवश्य माननी पड़ेगी। जो स्वभाव से अजन्मा और अमृत पदार्थ है, ऐसी आत्मा भला कैसे मृत्यु को प्राप्त कर सकेगी ? अर्थात् स्वभाव से विपरीत मृत्यु को अमर आत्मा किसी भी प्रकार से प्राप्त नहीं कर सक त यह इसका तात्पर्य है ॥ २० ॥

क्योंकि न मरणशील वस्तु ही लोक में अमर हो सकती है और न अमृत मरणशील हो सकती है और न अमृत मरणशील हो सकती है। अतः अग्नि की उष्णता की भाँति स्वभाव की विपरीत अवस्था यानी अपने स्वरूप से प्रच्युति किसी भी वस्तु की किसी प्रकार से हो नहीं सकती ॥२१॥

जन्मनेवाला जीव अमर नहीं हो सकता

जिस वादी के मत में स्वभाव से अमर पदार्थ भी मृत्यु को प्राप्त होता है अर्थात् परमार्थतः उसका जन्म होता है, उस वादी की यह प्रतिज्ञा मिथ्या ही होगी कि उत्पत्ति से पूर्व वह पदार्थ स्वभाव

एवाजातस्य स्वभावत एवामृतस्य चाऽऽत्मतत्त्वस्य परमार्थत एव जातिमुत्पत्तिं ये स्वयूथ्यः स्वीकुर्वन्तीत्यर्थः । जातस्य हि ध्रुवो मृत्युरिति न्यायेन दूषयति—तेषामिति । अजातो हीत्याद्युत्तराण्यु [4]क्तेऽर्थे योजयति—स चेति ॥२०॥

पदार्थानां स्वभाववैपरीत्यगमनमनुपपन्नमित्युक्तं प्रपञ्चयति—न भवतीति । [5]तत्र पूर्वार्धं हेतुत्वेन व्याचष्टे—यस्मादिति । उत्तरार्धं हेतुमत्त्वेन योजयति—तत इति । यथाऽग्नेः स्वभावभूतस्योष्णत्वस्यान्यथात्वं शैत्यगमनमयुक्तं तथाऽन्यत्रापि स्वभावस्यान्यथात्वमनुचितं स्वरूपनाशप्रसङ्गादित्यर्थः ॥२१॥

[6]ननु ब्रह्म कारणरूपेण प्रागुत्पत्तेरमृतमपि कार्याकारेणोत्पत्त्युत्तरकालं मर्त्यतां गमिष्यति । [7]ततो रूपभेदादुभयमविरुद्धमिति तत्राऽऽह—स्वभावेनेति । पूर्वार्धं साध्याहारं योजयति—यस्येति । प्रागवस्थायामपि कारणस्यैव

---

१. लोके—अमृतमकाशादीति भावः । २. तत इति—अमृतादेर्मर्त्यत्वाद्यसंभवादित्यर्थः । ३. मणिमन्त्रादिप्रयोगजन्यशैत्याद्यपाकर्तुमुक्तं स्वत इति—औपाधिकं तु तद्भवतीत्यर्थः । ४. उक्तेऽर्थे—जातस्यामृतत्वासंभवरूपेऽर्थे । ५. तत्र—उत्तरार्द्धोक्तार्थे । ६. नन्वित्यादि—इयमपि परिणामवादिन एवरेका । ७. ततः—कारणरूपेणामृतत्वस्यापि कार्यरूपेणमर्त्यत्वसंभवादित्यर्थः ।

भूततोऽभूततो वापि सृज्यमाने समा श्रुतिः ।
निश्चितं युक्तियुक्तं च यत्तद्भवति नेतरत् ॥२३॥

[परमार्थतः या अपरमार्थतः किसी प्रकार भी सृष्टि होने में श्रुति तो एक सी ही रहेगी । फिर भी उनमें निश्चित और युक्ति संगत जो मत हो वही श्रुति का तात्पर्य हो सकता है अन्य नहीं ॥२३॥]

---

[1]कथं स्थास्यति निश्चलोऽमृतस्वभावतया न कथंचित्स्थास्यत्यात्मजातिवादिनः सर्वदाऽजं नाम नास्त्येव सर्वमेतन्मर्त्यम् । अतोऽनिर्मोक्षप्रसङ्गः इत्यभिप्रायः ॥२२॥

नन्वजातिवादिनः सृष्टिप्रतिपादिका श्रुतिर्न संगच्छते [2]प्रामाण्यम् । बाढं विद्यते—[3]सृष्टिप्रतिपादिका श्रुतिः । [4]सा त्वन्यपरा । उपायः सोऽवतारायेत्यवोचाम । इदानीमुक्तेऽपि परिहारे पुनश्चोद्यपरिहारौ [5]विवक्षितार्थं प्रति सृष्टिश्रुत्यक्षराणामा[6]नुलोम्यविरोधाशङ्कामात्रपरिहारार्थौ । भूततः

से अमरणधर्मा था । तो फिर कार्य होने के कारण उसका स्वभाव अमर कैसे हो सकता है ? और कृतक होने से वह अमर पदार्थ किस प्रकार निश्चल एवं अमृत स्वभाव हो सकता है ? अर्थात् किसी भी प्रकार से नहीं होगा । अतः 'आत्मा को जन्मने वाला है' ऐसा मानने वाले के मत में तो सदा अजन्मा नाम की कोई वस्तु ही नहीं है । किन्तु ये सभी मरणशील हैं । इससे यह भी सिद्ध हुआ कि उनके मत में अनिर्मोक्ष प्रसंग भी आ जायगा ॥ २२ ॥

सृष्टि श्रुति का तात्पर्य

पूर्वपक्ष—जब सृष्टि हुई नहीं तो सृष्टि बोधक श्रुतियाँ अजातवादी के मत में कैसे प्रामाणिक सिद्ध हो सकेंगी ?

सिद्धान्त—ठीक है सृष्टिबोधक श्रुति तो है किन्तु उसका तात्पर्य दूसरा ही है । वह ब्रह्मात्मैक्य बोध में प्रवेश कराने के लिए उपायमात्र है, ऐसा हम पहले कह आये हैं । यद्यपि इस शंका का परिहार पहले हो चुका है, फिर भी इस समय शंका और समाधान केवल विवक्षित अर्थ बतलाने के लिए है । अतः सृष्टि श्रुति के अक्षरों के अनुरूप विरोध शंका मात्र परिहार के लिए उल्लेख करते हैं ।

कार्याकारेण जन्मयोग्यतया [7]मर्त्यत्वावगमान्मृषैव प्रतिज्ञा स्यादित्यर्थः । कथं तर्हि तस्य प्रतिज्ञा युक्तेत्याशङ्क्य कृतकेन मर्त्यविलयेनामृतस्तस्य वादिनः स कारणाख्यो भावो भवतीति प्रतिज्ञा युक्तेत्याह—कथमित्यादिना । भवतु प्रलयावस्थायाममृतावस्थापरिणामेनामृतत्वं ततो वा किं स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—कृतकेनेति । कृतकत्वस्य यत्कृतकं तदनित्यमिति विनाशित्वेन व्याप्तत्वादित्यर्थः किंचा[8]स्यामवस्थायां [9]कार्यमात्रं वस्त्वित्यजं ब्रह्मास्मीति ज्ञानाभावान्मोक्षो न स्यादित्याह—आत्मेति ॥२२॥

परिणामवादस्य सृष्टिश्रुत्यनुसारेण स्वीकार्यत्वमाशङ्क्य निरस्यति—भूतत इति । परिणामवादे विवर्तवादे च सृष्टिश्रुतेरविशेषादद्वैतानुरोधिश्रुति[10]युक्तिवशाद्विवर्तवादस्यैव स्वीकर्तव्यतेति भावः । सृष्टिश्रुतेरद्वैतानुगुण्ये प्रमाणयुक्त्यनुगृहीतमद्वैतमेवाभ्युपगन्तव्यमिति फलितमाह निश्चितमिति श्लोकव्यावर्त्यां शङ्कां दर्शयति—नन्विति । यद्यात्मा कार्याकारेण न जायते तर्हि सृष्टिश्रुतिर[11]श्लिष्टा स्यादित्यर्थः सृष्ट्यनुवादिनी श्रुतिरस्तीत्यङ्गीकरोति—बाढमिति ।

---

१. कथमित्यादि—अमृतस्वरूपेण कथं न चित्स्थास्यतीत्यर्थः । २. प्रामाण्यमिति—क्रियाविशेषणमेतत् यद्वाऽऽद्धाना सतीति शेषः । ३. सृष्टीति—मिथ्येत्यादि । ४. सा—अद्वैततात्पर्यवतीत्यर्थः । ५. विवक्षितार्थमिति—अद्वैतरूपं सृष्टिमिथ्यात्वरूपं वेत्यर्थः । ६. आनुलोम्येति—आनुलोम्यमाञ्जस्यमुपपन्नार्थकत्वमिति यावत् । ७. मर्त्यत्वावगनादिति—जन्मयोग्यत्वं हि मर्त्यत्वमित्यभिसन्धिः । ८. अस्यामवस्थायाम्—संसारदशायामित्यर्थः । ९. कार्यमात्रमिति—न तु किञ्चिदप्यकार्यमजरूपमित्यर्थः । १०. युक्तीति—मिथ्यात्वानुमानमित्यर्थः । ११. अश्लिष्टेति—असङ्गता स्वार्थप्रच्युतेति यावत् ।

[1]परमार्थतः सृज्यमाने वस्तुन्यभूततो मायया वा मायाविनेव सृज्यमाने वस्तुनि सम। तुल्या सृष्टिश्रुतिः। ननु गौणमुख्ययो[2]र्मुख्ये शब्दार्थप्रतिपत्तिर्युक्ता। न। [3]अन्यथा [4]सृष्टेरप्रसिद्धत्वान्निष्प्रयोजनत्वाच्चेत्यवोचाम। अविद्यासृष्टिविषयैव सर्वा गौणी मुख्या च सृष्टिर्न परमार्थतः। 'सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः' (मु० २.१.२) इति श्रुतेः। [5]तस्माच्छ्रुत्या निश्चितं यदेकमेवाद्वितीयमजममृतमिति युक्तियुक्तं च। युक्त्या संपन्नं तदेवेत्यवोचाम पूर्वग्रन्थैः। तदेव श्रुत्यर्थो भवति नेतरत्कदाचिदपि ॥२३॥

भूततः यानी परमार्थतः वस्तु की सृष्टि हुई हो या अभूततः यानी माया से मायावी द्वारा वस्तु रची गयी हो, दोनों ही स्थितियों सृष्टि बोधक श्रुति तो समान ही रहेगी। यदि कहो, गौण और मुख्य दो प्रकार से शब्द का अर्थ करना पड़े तो शब्द का मुख्य अर्थ लेना ही उचित है ?

ऐसा कहना ठीक नहीं। क्योंकि अन्य प्रकार से न तो सृष्टि सिद्ध हो सकती है और न उसका कुछ प्रयोजन ही दीखता है, ऐसा हम पहले कह आये हैं। गौण या मुख्य सभी प्रकार की सृष्टि अविद्या विषयक ही है, परमार्थतः नहीं। "अजन्मा बाहर, भीतर सर्वत्र विद्यमान है और अजन्मा है" ऐसी श्रुति कह रही है। इसलिए श्रुति ने जो एक अद्वितीय, अजन्मा अमृत तत्व निश्चित किया है वही युक्ति युक्त है उसी युक्ति सिद्ध वस्तु को पूर्वग्रन्थ से हमने भी कहा था। श्रुति का अर्थ वही हो सकता है; अन्य अर्थ किसी अवस्था में नहीं हो सकता ॥ २३ ॥

तस्या मिथ्यासृष्ट्यनुवादित्वेन कथमुपपत्तिरित्याशङ्क्याऽऽह--सा इवेति। कथमद्वैतपरत्वेन सृष्टिश्रुतेरुपपत्तिरित्याशङ्क्याऽऽह--उपाय इति। यदि सृष्टिश्रुतेरद्वैतपरत्वेन [6]तद्विरोधसमाधी अधस्तादेवोक्तौ तर्हि पुनश्चोद्यं तत्परिहारश्चयुक्तौ पुनरुक्तिरित्याशङ्क्याऽऽह --इदानीमिति। मिथ्यासृष्टिवादे श्रुतिपदानामसृजताभवदित्यादीनामसामाञ्जस्यविरोधाशङ्कायां [7]तावन्मात्रं परिहर्तु पुनश्चोद्यपरिहारादित्यर्थः। श्लोकस्य तात्पर्यमुक्त्वा पूर्वार्धाक्षराणि व्याकरोति--भूतत इति। [8]माया ह्येषा मया सृष्टेत्यादिवत्तत्तेजोऽसृजतेति श्रुतिः। सच्च त्यच्चाभवदिति [9]श्रुतिस्तु देवदत्तो व्याघ्रोऽभवदितिवत्। न च सत्यत्वं विशेषणमत्रोपलभ्यते। तेन मायामय्यां सृष्टावविद्यायामपि सृष्टिश्रुतिः श्लिष्टेत्यर्थः। गौणमुख्ययोर्मुख्ये संप्रत्यय इति न्यायमाश्रित्य शङ्कते--नन्विति। अग्निर्माणवक इत्यत्र माणवकेऽग्निशब्दप्रयोगेऽप्यग्निमानयेत्यादिप्रयोगे प्रथमं वह्निप्रतीतेर्मुख्यमेव प्रथमं प्रतिभातीति मुख्ये पदव्युत्पत्तेर्मुख्यार्थतया सत्या सृष्टिरेष्टव्येत्यर्थः। [10]मुख्यसृष्ट्यङ्गीकारेऽपि सत्या सृष्टिर्न सिध्यति। अस्मत्पक्षे सत्यायाः सृष्टेः सृष्टिशब्दार्थत्वेनाप्रसिद्धत्वादिति परिहरति--नेत्यादिना। [11]लौकिकानां मुख्यसृष्टेः सत्यसृष्टित्वेन प्रसिद्धत्वेऽपि फलाभावान्न तत्र श्रुतितात्पर्यमित्याह--निष्प्रयोजनत्वाच्चेति। अन्यथा सृष्टेरप्रसिद्धत्वमेव स्पष्टयति--अविद्येति गौणी स्वप्ने रथादिसृष्टिः। मुख्या जागरे घटादिसृष्टि सर्वाऽप्यविद्यावस्थायामेव तस्यां सत्यामेव भावान्न तत्त्वदृष्ट्या काऽपि सृष्टिः संभवति। [12]तथाभूतस्यान्यथाभूतस्य [13]स्वतः [14]परतो वा [15]वस्तुनोऽ[16]न्यथाभावासंभवा[17]त्तदतिरेकेण च सृष्टेरयोगादित्यर्थः। [18]वस्तु-

---

१. परमार्थतः—परिणामतः। २. मुख्ये शब्दार्थप्रतिपत्तिः—मुख्यार्थविषयिणीत्यर्थः। ३. अन्यथा—अमायिक्या इत्यर्थः। ४. सृष्टिरिति—सृष्टि शब्द इति यावत्। ५. तस्मादिति—सृष्टेराविद्यकत्वेनमिथ्यात्वात्। ६. तद्विरोधसमाधीति—तस्मिन्नद्वैते सृष्टिश्रुते विरोधस्तद्विरोधः, इह तद्विरोधसमाधिरिति पाठान्तरम्। ७. तावन्मात्रम्—विरोधमात्रमिति यावत् ८. मायाह्येषेति—यन्मां पश्यसि नारद। सर्वभूतगुणैर्युक्तं नैवं मां मन्तुमर्हसीति पद्यशेषः। ९. देवदत्त इति—अनृतत्वेऽपि व्याघ्रत्वस्य देवदत्तोऽभवदिति प्रयोगो यथा तदेहापीत्यर्थः। १०. मुख्येति—भूरिप्रयोगविषयत्व मुख्यत्वमित्यभिप्रायः। ११. लौकिकानामिति—तार्किकादीनामित्यर्थः। १२. तथा भूतस्येति—मिथ्याभूतस्येत्यर्थः। १३. स्वतः—स्वरूपेण। १४. परतः—कार्यरूपेणेत्यर्थः। १५. वस्तुनः—अविद्यात्मकस्येत्यर्थः। १६. अन्यथाभावेत्यादि—सत्यत्वासंभवादित्यर्थः। १७. तदतिरेकेणेति—अविद्यातिरेकेणेत्यर्थः। १८. दृग्वस्त्वधिष्ठानं दृश्य च वस्त्वध्यस्तं तत्राधिष्ठानत्वं हि दृशः स्यात्, सत्यध्यस्ते मिथ्यात्वमध्यस्तत्वमिति चानर्थान्तरमिति—वस्तुस्वरूपालोचना।

नेह नानेति चाम्नायादिन्द्रो मायाभिरित्यपि ।
अजायमानो बहुधा मायया जायते तु सः ॥२४॥

[यदि वास्तव में सृष्टि हुई होती तो 'यहाँ वस्तु कुछ नहीं है' परमात्मा माया से अनेकरूप वाला हो जाता है। तथा 'अजन्मा होता हुआ भी माया के द्वारा वह अनेक रूप से उत्पन्न होता है।' इत्यादि श्रुतिवाक्यों में नानात्व का निषेध और माया से नानात्व का प्रतिपादन नहीं किया जाता है ॥२४॥]

कथं श्रुतिनिश्चय इत्याह—यदि हि भूतत एव सृष्टिः स्यात्ततः सत्यमेव नाना वस्त्विति तदभावप्रदर्शनार्थमाम्नायो न स्यात्। अस्ति च 'नेह नानाऽस्ति किञ्चन' (क० २।१।११) इत्यादिराम्नायो द्वैतभावप्रतिषेधार्थः। [1]तस्मादात्मैकत्वप्रतिपत्त्यर्था कल्पिता सृष्टिरभूतैव प्राणसंवादवत्। 'इन्द्रो मायाभिः' (बृ० २।५।१९) इत्यभूतार्थप्रतिपादकेन मायाशब्देन व्यपदेशात्। ननु प्रज्ञावचनो मायाशब्दः। सत्यम्। इन्द्रियप्रज्ञाया अविद्यामयत्वेन मायात्वाभ्युपगमाददोषः। मायाभिरिन्द्रियप्रज्ञाभिरविद्यारूपाभिरित्यर्थः। '[2]अजायमानो बहुधा विजायते' इति श्रुतेः। [3]तस्मान्माययैव जायते तु सः। तुशब्दोऽवधारणार्थ—

श्रुति का निश्चय यही है यह किस प्रकार समझा जाय? इस पर कहते हैं। यदि परमार्थतः सृष्टि हुई तो नाना वस्तु सत्य ही थी, फिर उसके अभाव दिखलाने के लिए कोई वेद वाक्य नहीं होना चाहिए था। किन्तु द्वैत की निषेधिका श्रुति तो है। यथा "यहाँ नाना कुछ नहीं है" इत्यादि। अतः आत्मैकत्व बोध कराने के लिए प्राण सम्वाद के समान ही सृष्टि-श्रुति अपारमार्थिक है। इसके अतिरिक्त 'परमेश्वर माया शक्तियों द्वारा अनेक रूप धारण कर लेता है' ऐसे मायिक सृष्टि बतलाने वाले श्रुति वाक्य भी हैं जिनका माया शब्द से निर्देश किया गया है।

पूर्वपक्ष—माया शब्द प्रज्ञा वाचक है क्योंकि प्रज्ञा के नाम में निघण्टु ग्रन्थ में माया शब्द मिथ्या अर्थ का वाचक नहीं। अतः इससे सृष्टि का मिथ्यात्व सिद्ध नहीं होता।

सिद्धान्त—ठीक है। अविद्यामय होने के कारण इन्द्रिय जन्य प्रज्ञा को भी मायिक माना गया है। अतः माया शब्द प्रज्ञा वाचक मानने पर भी दोष नहीं। माया यानी इन्द्रिय जन्य प्रज्ञा जो कि

स्वरूपालोचनया वास्तव्याः सृष्टेरश्लिष्टत्वे श्रुतिमनुकूलयति—सबाह्येति। सृष्टेरविद्यमानत्वेऽपि किं वस्तु विवक्षितमित्याशङ्क्योत्तरार्धं विभजते—तस्मादिति। निरवयवत्वं विभुत्वमित्यादियुक्तिः। तेनाद्वैतमेव श्रुतितात्पर्यगम्यं न द्वैतमिति फलितमाह—तदेवेति ॥२३॥

सृष्टेर्मृषात्वस्पष्टीकरणद्वारेणाद्वैतमेव श्रुत्यर्थतया निर्धारयितुं श्रौतनिश्चयमेव विवृणोति—नेहेति। आकाङ्क्षां प्रदर्श्य श्लोकाक्षराणि व्याकरोति—कथमित्यादिना। तत्राऽऽद्यपादे व्यतिरेकं दर्शयित्वा पुनरन्वयाख्यानेन व्याचष्टे—यदि हीति। द्वैतभावश्चेत्प्रतिषिध्यते कथं तर्हि सृष्टिरुपदिश्यते तत्राऽऽह—तस्मादिति। यथा प्राणवैशिष्ट्यदृष्ट्यर्थं प्राणसंवादः श्रुतिषु कल्प्यते तथा सृष्टिरेकत्वप्रतिपत्त्यर्थत्वेन कल्पिता। वास्तव्याः सृष्टेरयोगस्योपदिष्टत्वादित्यर्थः। कल्पिता सृष्टिरित्यत्र हेत्वन्तरं दर्शयन्द्वितीयं पादमवतार्य तात्पर्यमाह—इन्द्र इति। मायाशब्देन सृष्टेर्व्यपदेशादसौ कल्पिता युक्तेति शेषः। [4]अभिधानग्रन्थे [5]प्रज्ञानामसु पाठान्मायाशब्दो मिथ्यार्थो न भवतीति शङ्कते—नन्विति। मायाशब्दस्य प्रज्ञानामसु क्वाचित्कं पाठमङ्गीकरोति—सत्यमिति। कथं तर्हि मिथ्यार्थत्वं तत्राऽऽह—इन्द्रियेति। न हि

१. तस्मात्—द्वैतभावस्य प्रतिषिद्धत्वादित्यर्थः। २. अजायमानः—वस्तुतो जन्मशून्य इत्यर्थः। ३. तस्मात्—अजस्य वास्तवजन्मासंभवात्। ४. अभिधानग्रन्थे—निरुक्तनिघण्टौ। ५. प्रज्ञानामस्विति—'केतः। केतुः। चेतः। चित्तम्। क्रतुः। असुः। धीः। शची। माया। वयुनम्। अभिख्येत्येकादश प्रज्ञानामानीति निघण्टु पाठः।

[1]संभूतेरपवादाच्च [2]संभवः प्रतिषिध्यते। को न्वेनं जनयेदिति कारणं प्रतिषिध्यते ॥२५॥

जो सम्भूति की उपासना करते हैं वे घोर अन्धकार में प्रवेश करते हैं। इस श्रुति में हिरण्यगर्भ की उपास्यत्व की निन्दा द्वारा कार्य वर्ग मात्र का प्रतिषेध किया गया तथा 'इसे कौन उत्पन्न करे' इत्यादि आक्षेपार्थक श्रुति वाक्य के कारण का भी प्रतिषेध कर दिया गया है ॥२५॥

माययैवेति। न ह्यजायमानत्वं बहुधा जन्म चैकत्र संभवति। अग्नाविव शैत्यमौष्ण्यं च। फलवत्त्वच्चाऽऽत्मैकत्वदर्शनमेव श्रुतिनिश्चितोऽर्थः। 'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः' ई० ७ इत्यादिमन्त्रवर्णात्। 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति' क० २।१।१० इति निन्दितत्वाच्च सृष्ट्यादिभेददृष्टेः ॥२४॥

अविद्या रूपा है, उन्हीं से परमेश्वर अनेक रूप धारण करता है। "वस्तुतः अजन्मा होता हुआ भी अनेक रूप से जन्मता है" ऐसी ही श्रुति भी है। इसलिए माया से ही परमेश्वर का जन्म संभव है। श्लोक में तु शब्द निश्चय के लिए है। 'माया से ही' ऐसा समझना चाहिए। क्योंकि एक धर्मी में अजायमानत्व और अनेक प्रकार से जन्म धारण करना ऐसा विरुद्ध धर्म संभव नहीं है। जैसे अग्नि में शीतलता और उष्णता विरुद्ध धर्म नहीं रह सकते। फल होने से भी आत्मैकत्व दर्शन ही श्रुति का निश्चित अर्थ है।" एकत्व आत्मदर्शी में तत्वबोध हो जाने पर क्या शोक और मोह हो सकता है? एवं जो उसमें भेद देखता है वह मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त करता है" इस श्रुति से सृष्टि आदि भेद दृष्टि की निन्दा श्रवण होने से उक्त आत्मैकत्व दर्शन ही श्रुति का सुनिश्चित अर्थ है, यह बात सिद्ध हुई ॥ २४ ॥

मायाशब्दिता प्रज्ञा ब्रह्मचैतन्यम्। भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिरित्यादौ निवृत्तिश्रवणात्। कित्वसाविन्द्रियजन्या तस्याश्चाविद्यान्वयव्यतिरेकानुविधायितयाऽविद्यात्वेन मिथ्यात्वान्मायाशब्दस्य मिथ्यार्थत्वे नानुपपत्तिरित्यर्थः। [3]तात्पर्यार्थमुक्त्वा [4]तत्रैवाक्षरानुगुण्यमाह—मायाभिरिति। पुरुरूपः सन्नीयत इति संबन्धः। मायामयी सृष्टिरित्यत्र हेत्वन्तरपरत्वेन तृतीयपादमवतारयति—अजायमान इति। अजायमानस्य बहुधा विजायमानत्वं विरुद्धमित्याशङ्क्य चतुर्थपाद [5]मुत्थापयति—तस्मादिति। अश्रुतस्य कथमेवकारस्याऽऽ [6]वापः स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—तुशब्द इति। अवधारणरूपमर्थमेवाभिनयति—माययैवेति। कस्मादित्थमवधार्यते वास्तवे जन्मनि का वस्तुक्षतिरित्याशङ्क्याऽऽह—न ह्यजेति। आत्मैकत्वज्ञानमेव सृष्टिश्रुतितात्पर्यगम्यं सृष्टिस्तु तच्छेषत्वादविवक्षितेत्यत्र हेत्वन्तरमाह—फलवत्त्वाच्चेति। तस्य फलत्वे प्रमाणमाह—तत्रेति। एकत्वमाचार्योपदेशमनुपश्यतः साक्षात्कुर्वतस्तत्रैकत्वसाक्षात्कारे सति शोकमोहोपलक्षितः संसारो न भवतीत्यर्थः। न केवलं विफलत्वाद्भेददृष्टिरविवक्षिता किंतु निन्दितत्वेन निषिद्धत्वादनर्थकरत्वाच्चेत्याह—मृत्योरिति ॥२४॥

---

१. संभूतेरित्यादि—'अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामित्यादीनां षण्णां मन्त्राणां व्याख्यान्तरपक्षे पाठक्रमादर्थक्रमो बलीयानिति न्यायेन 'अन्धं तमः प्रविशन्ति ये संभूतिमित्यादयस्त्रयो मन्त्राः पूर्वं व्याख्येयाः। तत्राद्यमन्त्रपूर्वार्धेन सम्भूत्युपासनायाः निन्दां विधायोत्तरार्द्धेन संभूतेरनुपास्यत्वमुपपाद्यते, द्वितीयमन्त्रेण कर्मसंभूत्युपासनयोः साफल्यमभिधीयते। तत्र संभवशब्देन संभूत्युपासनमुच्यते, असंभवशब्देन च कर्म विवक्ष्यते। पूर्वमन्त्रेऽनुपात्तस्यापि तस्याग्रिममन्त्रप्रतिपाद्यसमुच्चयापेक्षितत्वात्। तृतीयमन्त्रपूर्वार्द्धेन सफलयोरुपास्तिकर्मणोः समुच्चयोऽभिधीयते, संभूतिशब्देन तत्रोपासनस्य विनाशशब्देन कर्मणश्चाभिलापात्। तदुत्तरार्द्धेन तु तत्फलोक्तिरिति। इदानीं तृतीयमन्त्रोक्तस्याविद्याशब्दितस्य कर्मसंभूत्युपासनसमुच्चयस्य विद्यां चाविद्यां चेति षष्ठमन्त्रेण ब्रह्मविद्यया समुच्चयं विधातुं तयोः प्रत्येकं चतुर्थेन निन्दति—अन्धं तम इत्यादिना। प्रत्येकं किमुभयोर्निन्दया फलं नास्तीत्याशङ्क्य समुच्चयोपयोगिनं तयोः फलभेदमादर्शयति पञ्चमेन—अन्यदेवाहुरित्यादिना। विद्याविद्याशब्दितयोः समुच्चयब्रह्मविद्ययोः साफल्यमभिधायाधुना षष्ठेन तयोः सफलं समुच्चयमाह—विद्यां चाविद्यां चेत्यादिनेति, इह बोध्यम्। २. सम्भवः—कार्यमात्रमित्यर्थः। ३. तात्पर्येति—द्वितीयपादस्येति शेषः। ४. तत्रेति—तात्पर्यविषयीभूतेऽर्थे इति भावः। ५. उत्थापयतीति—उत्तरत्वेनेति शेषः। ६. अवापः—प्रक्षेपः।

'अन्धं तमः प्रविशन्ति ये संभूतिमुपासते' ई० १२ इति संभूतेरुपास्यत्वापवादात्संभवः प्रतिषिध्यते। न हि परमार्थतः [1]संभूतायां संभूतौ तदपवाद उपपद्यते। ननु विनाशेन संभूतेः समुच्चयविध्यर्थः संभूत्यपवादः। "यथाऽन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते' ई० ९"इति। सत्यमेव देवतादर्शनस्य संभूतिविषयस्य विनाशशब्दवाच्यस्य कर्मणः समुच्चयविधानार्थः संभूत्यपवादः। तथाऽपि विनाशाख्यस्य कर्मणः [2]स्वाभाविकाज्ञानप्रवृत्तिरूपस्य मृत्योरतितरणार्थत्ववद्देवतादर्शनकर्मसमुच्चयस्य पुरुषसंस्कारार्थस्य कर्मफलरागप्रवृत्तिरूपस्य [3]साध्यसाधनैषणाद्वयलक्षणस्य मृत्योरतितरणार्थत्वम्। एवं ह्येषणाद्वयरूपान्मृत्योरशुद्धेर्वियुक्तः पुरुषः संस्कृतः स्या [4]दतो मृत्योरतितरणार्था देवतादर्शनकर्म-

---

श्रुति से कार्य कारण का निषेध किया गया है।

जो हिरण्यगर्भ की उपासना करते हैं वे घोर अन्धकार में प्रवेश करते हैं। इस प्रकार सम्भूति के उपास्यत्व की निन्दा की जाने के कारण कार्य का निषेध किया गया है। क्योंकि परमार्थ सृष्टि हुई होती तो उसकी निन्दा करनी उचित नहीं थी।

पूर्वपक्ष—सम्भूति के उपास्यत्व की निन्दा के साथ समुच्चय विधान के लिए है। यथा "जो अविद्या की उपासना करते हैं वे घोर अन्धकार में पड़ते हैं, इत्यादि वाक्य से सिद्ध होता है।

सिद्धान्त—यद्यपि सम्भूति विषयक देवोपासना का विनाश शब्द वाच्य और विनाश शब्द वाच्य कर्म का समुच्चय विधान के लिए सम्भूति की निन्दा सत्य ही है। फिर भी विनाश नामक कर्म, जो स्वाभाविक अज्ञान प्रवृत्ति रूप मृत्यु के सन्तरण के लिए है, वैसे ही देवोपासना एवं कर्म का समुच्चय पुरुष संस्कार के लिए है। वह कर्मफल के राग से होने वाली प्रवृत्ति रूपा, जो कि साध्य साधन लक्षण दो प्रकार की वासना में मृत्यु है, उससे सन्तरण के लिए है। इस प्रकार एषणाद्वय रूप मृत्यु की अशुद्धि से छूटा हुआ पुरुष संस्कार युक्त हो जाता है। अतः देवदर्शन और कर्मसमुच्चय रूप अविद्या भी मृत्यु से पार होने के लिए ही है।

इस प्रकार एषणाद्वयी रूप अविद्या मृत्यु से पार हुए विरक्त पुरुष उपनिषदर्थ की आलोचना में

भेदद्दष्टेर्मिथ्यात्वे हेत्वन्तरमाह—संभूतेरिति। [5]सम्यग्भूतिरैश्वर्यं यस्याः सा संभूतिर्देवता हिरण्यगर्भाख्या। तस्याश्च कार्यमध्ये श्रेष्ठाया निन्दितत्वात्प्रधानमल्लनिबर्हणन्यायेन संभवशब्दितं कार्यमेव निषिध्यते। तथा च सिद्धं [6]तस्यावस्तुत्वमित्यर्थः। कारणप्रतिषेधेन तदवस्तुत्वसिद्धेश्च यथोक्तार्थ [7]सिद्धिरित्याह—को न्वेनमिति। पूर्वार्धं व्याकरोति—अन्धमिति। संभूत्युपासनाया मन्त्रार्धेनाऽऽद्येन निन्दां विधाय ततो भूय इवेत्याविनोत्तरार्धेन संभूतरतायां देवतायां [8]हेयत्वमुपपाद्यते ततश्च प्रधानभूतदेवतोपास्यत्वापवादात्ततोऽर्वाक्तनं सर्वमेव संभवशब्दितं कार्यमात्रं [9]निषिध्यते। तथा च तदवस्तुत्वसिद्धिरित्यर्थः। [10]संभूतेरपवादेऽपि तस्मिन्मिथ्यात्वनियमाभावान्न कार्यमात्रस्य मिथ्यात्वं शक्यं प्रतिज्ञातुमित्याशङ्क्याऽऽह—न हीति। संभूतिनिन्दा तदवस्तुत्वख्यापनार्था न भवति किंतु [11]विनाशेन कर्मणा देवतोपासनस्य समुच्चयविध्यर्था। समुच्चयविधानस्य फलवत्त्वादिति शङ्कते—नन्विति। अपवादस्य समुच्चयविध्यर्थत्वे दृष्टान्तमाह—यथेति। अत्र खल्वविद्याशब्दितकर्मापवादो विद्याकर्मणोः समुच्चयविध्यर्थः स्थितो विद्यां चाविद्यां च

---

१. संभूतायामिति—कार्यजातायामित्यर्थः। २. स्वाभाविकेत्यादि—अशास्त्रीयप्रवृत्तिरूपस्येत्यर्थः। ३. साध्यम्—स्वर्गादि। साधनम्—पुत्रादि। ४. अतः—समुच्चयस्य मुख्यामृतत्वाहेतुत्वात्। ५. सम्यगिति—सम्यक्त्वं तु भूतेरिन्द्रियादिभूत्यपेक्षयोत्कर्षः। ६. तस्यावस्तुत्वमिति—तथा चोपक्रान्त भेददृष्टिमिथ्यात्वमार्थिकमिति भावः, विषयस्य मिथ्यात्वे दृष्टेस्तथात्वमनुक्तिलभ्यमिति यावत्। ७. अर्थसिद्धिरिति—अद्वैतसिद्धिरित्यर्थः। ८. हेयत्वम्—अनुपास्यत्वम्। ९. निषिध्यते—बाधितं बोध्यते। १०. संभूतेरपवादेऽपीति—अपवादो निषेधः। निषिद्धत्वं च न मिथ्यात्वव्याप्यम्। येन व्याप्यानिषिद्धे मिथ्यात्वनियमः स्यादितिरेकितुराकूतम्। ११. विनाशेनेति—विनाशशब्दवाच्येनेत्यर्थः।

समुच्चयलक्षणाद्यविद्या। [1]एवमेवैषणालक्षणादविद्याया मृत्योरतितीर्णस्य विरक्तस्यो[2]पनिषच्छास्त्रार्थालोचन परस्य नान्तरीयकी परमात्मैकत्वविद्योत्पत्तिरिति पूर्वभाविनीमविद्यामपेक्ष्य पश्चाद्भाविनी ब्रह्मविद्याऽमृतत्वसाधनैकेन [3]पुरुषेण संबध्यमानाऽविद्यया समुच्चीयत इत्युच्यते। अतोऽन्यार्थत्वादमृतत्वसाधनंब्रह्मविद्यामपेक्ष्य निन्दार्थ एव भवति संभूत्यपवादः। यद्यप्यशुद्धिवियोगहेतुरतन्निष्ठत्वात्। अत [4]एव संभूतेरपवादात्संभूतेरापेक्षिकमेव सत्त्वमिति। परमार्थसदात्मैकत्वमपेक्ष्यामृताख्यः [5]संभवः प्रतिषिध्यते। [6]एवं मायानिर्मितस्यैव जीवस्याविद्यया प्रत्युपस्थापितस्याविद्यानाशे [7]स्वभावरूपत्वा-

---

तत्पर व्यक्ति को अवश्य ही ब्रह्मात्मैक्यत्व विद्या प्राप्त होती है। इसलिए पहले होने वाली अविद्या की अपेक्षा से पश्चाद्भावी ब्रह्मविद्या अमरत्व का साधन है। अतः एक पुरुष के साथ पूर्वोक्त रीति से सम्बद्ध होने के कारण अविद्या के साथ देवोपासना का समुच्चय सम्भव हो जाता है। इसलिए अमरत्व का साधन साक्षात् ब्रह्मविद्या है। उसकी अपेक्षा आपेक्षिक अमरत्व का साधन होने से ही सम्भूति उपासना की निन्दा की गई है। यद्यपि उक्तरीति से समुच्चय उपासना अशुद्धि क्षय का कारण है, फिर भी मोक्ष का साक्षात् साधन न होने के कारण उसकी निन्दा युक्ति संगत ही है। इसीलिए सम्भूति की निन्दा की जाने के कारण उसकी सत्ता आपेक्षिक यानी अपारमार्थिक है। इसी अभिप्राय से परमार्थ सत्य आत्मैकत्व की अपेक्षासापेक्ष अमृत नामक हिरण्यगर्भ की सम्भूति का प्रतिषेध किया गया है।

इस प्रकार अविद्या द्वारा उपस्थित किया गया। माया निर्मित जीव जब अविद्या के नाश होने पर अपने स्वरूप में स्थित होता है, तब भला परमार्थतः उसे कौन उत्पन्न कर सकता है? रज्जु में

यस्तद्वेदोभयं सहेति श्रवणादित्यर्थः। उक्तं चोद्यमनुजानाति—सत्यमिति। [8]तर्हि संभूत्यपवादस्तदवस्तुत्वख्यापको न भवतीत्युक्तं स्थितमेवेत्याशङ्क्य समुच्चयस्या[9]विद्यावस्थायामवस्थितफलवत्त्वाद्यवस्तुत्वं संभूत्यादे[10]र्निन्दाधीनमुक्तं तत्तदवस्थमेवेति मन्वानः सन्नाह—तथाऽपीति। यथाऽग्निहोत्रादेः शास्त्रीयस्य कर्मणोऽशास्त्रीयप्रवृत्तिरूपमृत्युतरणार्थत्वं तथा साधनाद्येषणारूपमृत्युतरणार्थत्वं समुच्चयस्यापि वाच्यम्। तथा च संभूत्यादेरवस्तुत्व[11]मविरुद्धमित्यर्थः। मृत्युतरणार्थत्वे संस्कारार्थत्वं संस्कारार्थत्वं कथमित्याशङ्क्याऽऽह—एवं हीति। कामचारकामवादकामभक्षणादिलक्षणस्वाभाविकप्रवृत्तिरूपाशुद्धिवियोगः संस्कारो यथा [12]नित्याग्निहोत्रादिफलं तथा निष्कामेणानुष्ठितसमुच्चयफलं कामाख्याशुद्धिव्यावृत्तिरित्यर्थः। अविद्यया मृत्युं तीर्त्वेति मन्त्रे मृत्युतरणहेतुरविद्येति श्रवणात्संभूत्याऽमृतमश्नुत इति च संभूतेरमृतत्वफलाभिलापात्कथं समुच्चयफलं मृत्योरतितरणमित्याशङ्क्याऽऽह—अत इति। यतो न समुच्चयान्मुख्यममृतत्वं घटते तस्य विद्ययाऽमृतमश्नुत इति [13]वक्ष्यमाणत्वात्। अतः समुच्चयलक्षणाऽविद्याऽविद्यया मृत्युं तीर्त्वेत्यत्र निर्दिश्यते। [14]आपेक्षिकमृत्युतरणहेतुत्वसंभवादित्यर्थः। यद्यविद्याशब्देन समुच्चयो विवक्ष्यते कथं

---

१. एवमेवेति—कर्मणा सहोपासनसमुच्चयवदेवेति। २. उपनिषदित्यादि—वेदान्तश्रवणादि प्रवणस्य। ३. पुरुषेणेति—क्रमेणेति शेषः। ४. अतः—संभूतेः परमार्थामृतत्वफलत्वाभावादित्यर्थः। ५. संभवः—कार्यमात्रमित्यर्थः। ६. एवमिति—संभूत्यपवादवदित्यर्थः। तथा च यथा—संभूत्यपवादेनाद्वैताक्षतिस्तद्वज्जीवजनयितृकारणापवादेनापि सेति भावः। ७. स्वभावरूपत्वात्—शुद्धचिन्मात्रस्वरूपत्वादित्यर्थः। ८. तर्हीति—अपवादस्य समुच्चयविध्यर्थत्वस्वीकारे इत्यर्थः। ९. अविद्येत्यादि—समुच्चयस्यतत्फलादेश्चाविद्यकत्वादिति भावः। १०. निन्दाधीनमिति—निन्दा हि स्वविषयेऽवस्तुत्वं बोधयति। समुच्चयश्च न वस्तुत्वमिति, न तयोर्विरोधः, प्रत्यक्षादि संवादविसंवादाभावाच्चायं भूतार्थवादः इति स्वार्थेऽपि तात्पर्यवत्त्वादस्य निन्दायामिति तात्पर्यं सत्वान् निन्दाविषयस्यावस्तुतत्वमेवेति। ११. अविरुद्धमिति—न हि समुच्चय उपास्येवास्तवत्वमपेक्षते इति भावः। १२. नित्येति—नैमित्तिककाम्यव्यावर्त्त्ये तदित्यर्थः। १३. वक्ष्यमाणत्वादिति—अर्थक्रमेणेत्यादौ शेषः। संभूतिं च विनाशं चेत्यादिमन्त्रेण समुच्चयावगमानन्तरमेव विद्यां चाविद्यां चेत्यादि मन्त्रेणाविद्याशब्दितसमुच्चयस्य ब्रह्मविद्यया समुच्चयविधानसंभवादि। १४. आपेक्षिकेति—संभूत्यामृतमश्नुते इत्यनेनामृतत्वहेतुत्वेनोक्तसंभूत्युपास्तेरित्यर्थः।

स एष नेति नेतीति [1]व्याख्यातं निह्नुते यतः । सर्वमग्राह्यभावेन हेतुनाऽजं प्रकाशते ॥२६॥

क्योंकि 'वह यह आत्मा यह नहीं है, यह नहीं है' इत्यादि श्रुतिवाक्य से आत्मा का अग्राह्यत्व के कारण पूर्वोक्त सभी भाव पदार्थ का प्रतिषेध किया है। अतः ऐसे निषेध हेतु के द्वारा ही आत्मा प्रकाशित होता है ॥ २६ ॥

त्परामर्थतः को न्वेनं जनयेत् । न हि रज्ज्वामविद्यारोपितं सर्पं पुनर्विवेकतो नष्टं जनयेत्कश्चित् । तथा न कश्चिदेनं जनयेदिति को न्वित्याक्षेपार्थत्वात्कारणं प्रतिषिध्यते । अविद्योद्भूतस्य नष्टस्य जनयितृ कारणं न किञ्चिदस्तीत्यभिप्रायः । नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्' क० १।२।१८ इति श्रुतेः ॥२५॥

सर्वविशेषप्रतिषेधेन 'अथात आदेशो नेति नेति' बृ० २।३।६ इति प्रतिपादितस्याऽऽत्मनो दुर्बोध्यत्वं मन्यमाना श्रुतिः पुनः पुनरुपायान्तरत्वेन तस्यैव प्रतिपिपादयिषया यद्यद्व्याख्यातं तत्सर्वं निह्नुते ।

अविद्या से कल्पित सर्प जब विवेक से नष्ट हो जाता है, तब इसे भी कोई तो उत्पन्न नहीं करता। वह विना उत्पन्न हुए ही भ्रान्ति से प्रतीत हो रहा था। "कौन इसे उत्पन्न करे ?" इत्यादि श्रुति आक्षेपार्थक है, न कि प्रश्नार्थक। अतः इससे कारण का प्रतिषेध किया गया है। भावार्थ यह है कि अविद्या से उत्पन्न हुए जीव का विद्या द्वारा नष्ट हो जाने पर फिर कोई उसका जनक कारण नहीं रह जाता। ऐसे ही "किसी कारण किसी रूप में यह आत्मा उत्पन्न नहीं हुआ है" इत्यादि श्रुति भी कह रही है ॥२५॥

निखिल अनात्मवस्तु के प्रतिषेध से आत्मबोध होता है।

"अब इसके बाद आदेश बतलाया जाता है, यह नहीं, यह नहीं" इस प्रकार समस्त विशेषणों के निषेध बतलायी जाने वाली आत्मा मेंदुर्बोधत्व मानने वाली श्रुति बार बार दूसरे उपाय से भी उसे

तर्हि विद्यां चाविद्यां चेत्यनेन विद्याविद्ययोः समुच्चयो निर्दिश्यते । न हि देवतादर्शनकर्मसमुच्चयस्य ब्रह्मविद्यायाः समुच्चयः संभवतीत्याशङ्क्या[2]ऽऽह—एवमिति । नान्तरीयकत्वमवश्यंभावित्वं प्रतिबन्धकाभावे कार्योत्पत्तेरुपपत्तेरित्यर्थः । एवं [3]मन्त्रार्थे स्थिते प्रकृते फलितमाह—अत इति । अन्यार्थत्वं समुच्चयस्याशुद्धिक्षयहेतुत्वं तच्चेदिष्टं किमित्यपवादस्तत्राऽऽह—यद्यपीति । तथाऽप्येतन्निष्ठत्वात्परमार्थामृतत्वफलत्वाभावात्तदपवादसिद्धिरित्यर्थः । अपवादफलं दर्शयन्नाद्यभागविभजनमुपसंहरति—अत एवेति । [4]को न्वेनं जनयेत्पुनरिति श्रुत्यर्थमाचक्षाणो द्वितीयार्धं विभजते—एवं मायेत्यादिना । [5]उक्तमर्थं दृष्टान्तेन स्पष्टयति—न हीति । न कश्चिदेनं जनयेदिति कारणं प्रतिषिध्यत इति संबन्धः । प्रश्नार्थे किंशब्दे दृश्यमाने कथं कारणप्रतिषेधसिद्धिरित्याशङ्क्याऽऽह—को न्विति । अक्षरार्थमुक्त्वा द्वितीयार्धस्य तात्पर्यमाह—अविद्येति । ततश्चेदुद्भूतो जीवः कथं तस्य जनयितृ कारणं नेत्युच्यते व्याघातादित्याशङ्क्याह—[6]नष्टस्येति । जीवस्य जनयितृकारणाभावे प्रमाणमाह—नायमिति । तस्याविद्यामन्तरेण स्वतो जन्माभावं सूचयति—न बभूवेति ॥२५॥

इतोऽपि द्वैतं वस्तु न भवतीत्याह—स एष इति । द्वे वावेत्यादिना व्याख्यातं मूर्तामूर्तादि सर्वमेव ग्राह्यं नेति नेतीति वीप्सया यतो निषेधति श्रुतिरतः स एष इत्युपक्रम्य प्रतिपादितस्याऽऽत्मतत्त्वस्य कूटस्थस्या[7]विषयत्वेन प्रयो-

---

१. व्याख्यातमिति—मूर्तामूर्तब्राह्मणे प्रतिपादितं मूर्तामूर्तादिप्रपञ्चरूपमित्यर्थः । २. आहेति—समसमुच्चयासंभवेऽपि क्रमसमुच्चयाभिप्रायेणाहेत्यर्थः । ३. मन्त्रार्थे इति—षण्णां मन्त्राणां समुच्चयरूपयाऽविद्यया ब्रह्मविद्यायाः क्रमसमुच्चयरूपेऽर्थे इत्यर्थः । ४. कोन्वेनमिति—'जात एव न जायते कोन्वेनं जनयेत् पुनः, विज्ञानमानन्दं ब्रह्म, रातिर्दातुः परायणम् । तिष्ठमानस्य तद्विदः इति बृहदारण्यकीयतृतीयाध्यायीयनवम ब्राह्मणश्रुतिः । ५. उक्तमर्थमिति—प्रयोजकाभावे प्रयोज्यांभावरूपमर्थमिति भावः । ६. नष्टस्येति—तथा च नाशानन्तरं नास्ति कारणमविद्याया अपि ज्ञानेन नाशादनादित्वाभ्युपगमाच्च तस्याः पुनरुत्पत्त्यसंभवात्, अविद्यावस्थायां चाविद्यकजन्मनि सत्यपि नाद्वैतक्षतिः परमार्थापरमार्थयोरविरोधादिति भावः । ७. तत्रैतत्स्यादित्यादिवक्ष्यमाणभाष्यमनुरुद्ध्याग्राह्यभावेनेत्यस्यार्थमाह—अविषयत्वेनेति ।

ग्राह्यं जनिमद्बुद्धिविषयमपलप [1]त्यर्थात् 'स एष नेति नेति' बृ० ३।९।२६ इत्यात्मनोऽदृश्यतां दर्शयन्ती श्रुतिरुपायस्यो [2]पेयनिष्ठतामजानत उपायत्वेन व्याख्यातस्योपेयवद्ग्राह्यता मा भूदित्यग्राह्यभावेन हेतुना कारणेन निह्नुत इत्यर्थः। ततश्चैवमुपायस्योपेयनिष्ठतामेव जानत उपेयस्य च नित्यैकरूपत्वमिति तस्य सबाह्याभ्यन्तरमजमात्मतत्त्वं प्रकाशते स्वयमेव ॥ २६ ॥

बतलाना चाहती है। इसलिए जो कुछ भी पहले कहा गया है, उक्त श्रुति उस सभी में मिथ्यात्व बतलाती है। अर्थात् बुद्धि ग्राह्यजन्य सभी विषयों का "स एष नेति नेति" इत्यादि श्रुति अपलाप करती है। आत्मा में समस्त प्रपञ्च की विशेष निषेध द्वारा अदृश्यता दिखलाने वाली श्रुति इसलिए भी सावधानी से तत्त्व प्रतिपादन करती है; कि उपाय रूप से बतलाये गये तत्त्व, जो कि वस्तुतः उपेयनिष्ठ हैं, पर इस रहस्य को न जानने वाले अज्ञानी जीव साध्य के समान साधन वस्तु को भी ग्राह्य न मान लें, इसलिए अग्राह्यता रूप हेतु से उनका निषेध करते हैं, यही इसका तात्पर्य है। उसके बाद उक्त रीति से उपाय उपेयनिष्ठ हैं, और उपेय नित्य एकरस हैं, इस रहस्य के जानने वाले पुरुषों को यह बाहर भीतर विद्यमान अजन्मा आत्म तत्त्व स्वयं ही प्रकाशित हो जाता है। कल्पित वस्तु अधिष्ठान के बोध में उपाय है और अधिष्ठान नित्य एकरस है। इस रहस्य को जो जानता है, उस व्यक्ति के द्वारा कल्पित उपायों के प्रतिषेध कर देने पर उपेय रूप अधिष्ठान को जानने के लिए पृथक् प्रयत्न नहीं करना पड़ता। इसीलिए श्रुतियों में निर्विशेष आत्मा को बतलाने के लिये पहले आरोप और पीछे आरोपित वस्तु का अपवाद किया जाता है। इसी आरोपापवाद न्याय से निर्विशेष वस्तु का बोध सम्भव है, अन्यथा नहीं ॥ २६ ॥

पपत्तिरित्यर्थः। नेति नेतीतिवीप्सातात्पर्यमाह—सर्वेति। [3]रूपद्वयोपन्यासानन्तरं तन्निषेधमन्तरेण निर्विशेषवस्तुप्रतिपत्तेरयोगात्तत्प्रतिपत्त्या च पुरुषार्थपरिसमाप्तिसंभवादादेशो निर्विशेषस्याऽऽत्मतत्त्वस्योपदेशस्तावत्प्रस्तूयते। एवं प्रस्तुत्य नेति नेतीति वीप्सया सर्वस्य मूर्तामूर्तादिविशेषस्याऽऽरोपितस्य निषेधो दर्शितस्तेन चाऽऽत्मा जिज्ञासितो विशिष्टो निर्दिष्ट इत्यर्थः। स चेदे[4]वं मूर्तामूर्ताधिकारे प्रतिपादितस्तर्हि किमिति [5]प्रदेशान्तरे पुनः पुनरेवं प्रतिपाद्यते पुनरुक्तेरित्याशङ्क्य व्याख्यातमित्यादि व्याचष्टे—प्रतिपादितस्येति। यद्यपि मूर्तामूर्तप्रकरणे प्रतिपादितमात्मतत्त्वं तथाऽपि तस्य परमसूक्ष्मत्वाद्दुर्ज्ञानत्वं मन्यते श्रुतिः। सा पुनरुपायविशेषसद्भावाभिप्रायेण तस्यैव पुनः पुनः प्रतिपादनेच्छया यद्यदारोपितं तत्तदशेषमपह्नुत्यावशिष्टमात्मस्वरूपं निवेदयतीत्यर्थः। सर्वमित्यादि स्पष्टी [6]कुर्वाणः स एष इति व्याचष्टे—ग्राह्यमिति। स एष इत्याद्या श्रुतिरदृश्यतामात्मनो [7]विशेष निषेधमुखेन दर्शयन्ती यद्दृश्यं कार्यं मनसा वाचा च गोचरीभूतं तदशेषमर्थादपलपति। सा हि परमार्थवस्त्वदृश्यमिति ब्रुवाणा दृश्यस्य वस्तुत्वे नोपपद्यते तथा चानुपपत्तेर्दृश्यवर्गस्यावस्तुत्वं सिद्धमित्यर्थः। ननु किमिति श्रुतिर्व्याख्यातं विशेषजातं निह्नुते पङ्कप्रक्षालनन्यायापातादित्याशङ्क्याग्राह्यभावेनेत्यादि व्याकरोति—उपायस्येति। द्वे वावेत्यादिना व्याख्यातस्य रूपप्रपञ्चस्याद्वितीयब्रह्मात्ममात्रपर्यवसायितामप्रतिपाद्यमानस्य ब्रह्मवदेवोपायत्वेनाभिमतस्यापि प्रपञ्चस्य वस्तुत्वेन ग्राह्यत्वाशङ्का या सा मा भूदित्यशेषविशेषराहित्येनाद्वितीयब्रह्मस्वरूप [8]निर्धारणार्थमारोपितं प्रपञ्चं [9]प्रतिषेधति श्रुतिरित्यर्थः। उपायस्य कल्पितत्वेन वस्तुत्वाभावादुपेयस्य च सदैकरूपत्वात्कथं तथाविधवस्तुप्रतिपत्तिरित्याशङ्क्याजमित्यादि व्याचष्टे—ततश्चेति। समारोपितस्य सर्वस्य निषेधादेव स्वातन्त्र्येण वस्तुत्वाभावनिश्चयादारोपितसर्पादेरधिष्ठानातिरेकेणासत्त्ववदुपायस्य मूर्तादेरु-

---

१. अर्थादिति—अर्थापत्त्येत्यर्थः। २. उपेयेत्यादि—उपेयतात्पर्येण बोधितत्वं तन्निष्ठत्वम्। ३. अथात इत्यादि श्रुत्यर्थमाह—रूपद्वयेत्यादिना। ४. एवमिति—निर्विशेषत्वेनेत्यर्थः, निषेधाधिष्ठानत्वेन बाधावधित्वेनेति यावत्। ५. प्रदेशान्तरे—शाकल्यब्राह्मणादौ। ६. कुर्वाण इति—वर्तमानसामीप्ये लट् करिष्यमाण इत्यर्थः। ७. आरोपितधर्मजातम्—विशेष इति। ८. निर्धारणार्थमारोपितमिति—तथा च न पङ्कप्रक्षालनन्यायावसरः सार्थक्यवैयर्थ्याभ्यां वैरूप्यादितिभावः। ९. प्रतिषेधतीति—तथा चाप्रतिषिद्धत्वमुपाधिरित्याद्यूह्यम्।

सतो हि मायया जन्म युज्यते न तु तत्त्वतः।
तत्त्वतो जायते यस्य जातं तस्य हि जायते ॥२७॥

माया से ही सद् वस्तु का जन्म हो सकता है, तत्त्वतः नहीं। जिसके मत में सद्वस्तु का जन्म तात्त्विक होता है, उसके मतानुसार भी उत्पत्तिशील का ही जन्म होता है, परमार्थ सत् अजन्मा अद्वैत-तत्त्व का नहीं ॥२७॥

एवं हि श्रुतिवाक्यशतैः सबाह्याभ्यन्तरमजमात्मतत्त्वमद्वयं न ततोऽन्यदस्तीति निश्चितमेतत्। युक्त्या चाधुनैतदेव पुनर्निर्धार्यत इत्याह। तत्रैतत्स्यात्सदाऽग्राह्यमेव चेदसदेवाऽऽत्मतत्त्वमिति। तन्न। कार्यग्रहणात्। यथा सतो [1]मायाविनो मायया जन्मकार्यम्। एवं जगतो [2]जन्मकार्यं गृह्यमाणं मायाविनमिव परमार्थसन्तमात्मानं जगज्जन्म मायास्पदमवगमयति। यस्मात्सतो हि विद्यमानात्कारणा[3]न्मायानिर्मितस्य हस्त्यादिकार्यस्येव जगज्जन्म युज्यते नासतः कारणात्। न तु तत्त्वत एवाऽऽत्मनो जन्म युज्यते। अथवा

माया से ही सद्वस्तु का जन्म संभव है।

इस प्रकार सैकड़ों श्रुति वाक्यों से यही निश्चित होता है, कि अजन्मा अद्वितीय आत्मतत्त्व ही बाहर भीतर सर्वत्र विद्यमान है। उससे भिन्न कुछ भी नहीं है। यही बात युक्ति द्वारा अब फिर से निश्चय कराई जाती है इसलिए कहते हैं।

उस विषय में यह शंका हो सकती है, कि जब आत्म तत्त्व सदा अग्राह्य ही है, तो उसे असत्य ही क्यों न मान लिया जाय?

ऐसा कहना ठीक नहीं। क्योंकि उसका कार्य देखा जाता है। जैसे सत्य मायावी का माया से जन्म होता है, ऐसे ही जगत् का जन्मरूप कार्य जो गृहीत हो रहा है, वही इसका कारण मायावी के समान परमार्थ सत् आत्मा को जगज्जन्महेतु माया के आश्रय का बोध कराता है। क्योंकि माया से रचे गये हस्ती आदि कार्य के समान, जगत् जन्मरूप कार्य विद्यमान सत् कारण से ही मानना संभव हैं, असत् कारण से नहीं। और तत्त्वतः तो आत्मा का जन्म लेना संभव ही नहीं है। अथवा ऐसा

पेयाद्वितीयब्रह्ममात्रतामेव प्रतिपाद्यमानस्य ब्रह्मणश्च [4]सदैकरूपत्व [5]कूटस्थनित्यदृष्टिस्वभावत्वादि जानतस्तस्योत्तमस्याधिकारिणः स्वयमेवा [6]न्यापेक्षामन्तरेणाऽऽत्मतत्त्वमुक्तविशेषणं प्रकाशी भवति। कल्पितस्य चोपायत्वं प्रतिबिम्बादिवदविरुद्धमित्यर्थः ॥२६॥

आत्मतत्त्वमजमद्वितीयं परमार्थभूतम्। द्वैतं तु मायाकल्पितमसदिति प्रतिपादितम्। तत्रैव हेत्वन्तरमाह—सतो हीति। यदात्मतत्त्वं सदा सदेकरूतं तस्या मायाया जगदाकारेण जन्म युक्तम्। मायाया [7]दुर्निरूपार्थसमर्थनपटीयस्त्वात्परमार्थतस्त्वेकरूपमनेकरूपतया नोत्पत्तुं पारयति विरोधादित्यर्थः। विपक्षे दोषमाह—तत्त्वत इति। यस्य वादिनो मते ब्रह्मैव परमार्थतो जगदात्मना जायते तस्याजस्य जायमानत्वप्रतिज्ञाया व्याहतत्वाज्जातस्यैव जायमानत्वे स्यादनवस्थेत्यर्थः। अद्वैतमावेदयन्त्या द्वैतनिषेधकश्रुत्या दृश्यत्वजडत्वादियुक्त्या च तथाविधया निर्धारितमर्थं श्लोकाक्षरार्थकथनार्थमनुवदति—एवमिति। उक्तमेव वस्तु युक्त्यन्तरेण पुनर्निर्धारयितुमुत्तरग्रन्थप्रवृत्तिरित्याह—अधुनेति। पूर्वार्धं शङ्कोत्तरत्वेन व्याख्यातुं शङ्कयति—तत्रेति। श्लोकः ससस्या परामृश्यते। यन्न कदाचिदपि गृह्यते तदत्यन्तासदेव

---

१. मायाविनः—सकाशादिति शेषः। २. जन्मकार्यमिति—जन्मरूपं कार्यं मायाविप्रदर्शितवस्तूनामिति शेषः। ३. मायानिर्मितस्येत्यादि—इवेत्युपमानं जगज्जन्मेत्यत्र जगतः इत्येकदेशान्वयीति ध्येयम्। ४. नित्यैकरूपत्वमित्यस्यार्थमाह—सदैकरूपत्वेति। ५. प्रकारार्थमिति शब्दमादाय तदर्थमाह—कूटस्थेत्यादिना। ६. अन्यत्—प्रसंख्यानादि। ७. दुर्निरूपेति—सत्वादिनाऽनिर्वचनीयेत्यर्थः।

[1]असतो मायया जन्म तत्त्वतो नैव युज्यते ।
वन्ध्यापुत्रो न तत्त्वेन मायया वाऽपि जायते ॥२८॥

[असद् वस्तु का जन्म माया से या तत्त्वतः किसी प्रकार भी होना संभव नहीं है, क्योंकि वन्ध्या पुत्र न तत्त्व से और न माया से ही उत्पन्न होता है (अतः असद् कार्यवाद सर्वथा असंगत है) ॥ २८ ॥]

सतो विद्यमानस्य वस्तुनो रज्ज्वादेः [2]सर्पादिवन्मायया जन्म युज्यते न तु तत्त्वतो यथा [3]तथाऽग्राह्यस्यापि सत एवाऽऽत्मनो रज्जुसर्पवज्जगद्रूपेण मायया जन्म युज्यते । न तु तत्त्वत एवाजस्याऽऽत्मनो जन्म । यस्य पुनः परमार्थसदजमात्मतत्त्वं जगद्रूपेण जायते वादिनो न हि तस्याजं जायत इति शक्यं वक्तुं विरोधात् । ततस्तस्यार्थाज्जातं जायत इत्यापन्नं ततश्चानवस्था [4]जाताज्जायमानत्वेन । [5]तस्मादजमेकमेवाऽऽत्मतत्त्वमिति सिद्धम् ॥ २७ ॥

असद्वादिनामसतोऽभावस्य मायया तत्त्वतो वा न कथंचन जन्म युज्यते । अदृष्टत्वात् न हि

समझना चाहिये । जैसे रज्जु आदि से सर्प आदि का जन्म होता है, ऐसे ही विद्यमान वस्तु का जन्म माया से ही संभव है, वस्तुतः नहीं तथा अग्राह्य विद्यमान आत्मा का रज्जु सर्प के समान भी माया के द्वारा ही जगत् रूप से जन्म सम्भव है । वस्तु तस्तु उस अजन्मा आत्मा का जन्म हो ही नहीं सकता । पर जिस वादी के मत में परमार्थ सत्य आत्मतत्त्व ही जगत् रूप से उत्पन्न होता है, उसके मत से यह नहीं कहा जा सकता, कि अजन्मा वस्तु का ही जन्म होता है । क्योंकि ऐसा कहने में स्पष्ट विरोध आता है । अतः यह अर्थतः सिद्ध हो जाता है कि उसके सिद्धान्तानुसार किसी जन्मने वाले पदार्थ का ही जन्म होता है, इसके बाद तो वर्तमान जायमान वस्तु का कारण जब कोई जन्मशील ही है, तो उसका कारण भी कोई जन्मशील वस्तु ही होगी । इस प्रकार पुनः पुनः अन्वेषण करने पर अनवस्था आ जायगी । अतः यह सिद्ध हुआ कि आत्म तत्त्व अजन्मा और एक ही है ॥२७॥

असद् वस्तु का जन्म कथमपि संभव नहीं ।

असत्कार्य वादियों के पक्ष भी असद् वस्तु का जन्म न माया से और न वस्तुतः किसी भी

शशविषाणा दिवपेष्टव्यं प्रमाणाभावे प्रमेयासिद्धेरित्यर्थः । कार्यलिङ्गकानुमानवशादात्मतत्त्वस्य कारणत्वेन सत्त्वनिर्णयान्नासत्त्वं चोद्यमिति दूषयति—तन्नेति । संगृहीतमर्थं दृष्टान्तेन विवृणोति—यथेति । विमतं सदधिष्ठानं कार्यत्वात्संप्रतिपन्नवदित्यर्थः । [6]उक्तेर्थे पूर्वार्धाक्षराणि योजयति—यस्मादिति । तस्मात्कारणस्य सत्त्वमविवादमिति शेषः । नासत इति तस्य निःस्वभावत्वात्कारणत्वायोगादित्यर्थः । न द्विति । [7]तथाभूतस्यान्यथाभूतस्य च जन्मायोगादित्यर्थः । सत इति पञ्चम्यन्तं पदं गृहीत्वा निमित्तकारणपरतया व्याख्यां करोति—अथवेति । यथा रज्वोः सर्पाकाराद्याकारेण मायाकृतं जन्म तथैवाग्राह्यस्यापि सद्रूपस्याऽऽत्मतत्त्वस्य जगदात्मना जन्म मायाप्रयुक्तं प्रतिपत्तव्यम् । जन्मरहितस्य वस्तुतो जन्मव्याघातादित्यर्थः । उत्तरार्धं विभजते—यस्येत्यादिना । मायिकं जन्म न तात्त्विकमिति स्थिते फलितमाह—तस्मादिति ॥२७ ॥

सत्पूर्वकं कार्यमिति न व्याप्तिः । असद्वादिभिरसतः सज्जन्माभ्युपगमादित्याशङ्क्याऽऽह—असत इति । तत्त्वतोऽ-

१. असत इति—अत्रापि विभक्ति द्वयं व्याख्येयम्, पञ्चमी पक्षे च दृष्टान्ते णिजर्थगर्भं क्रियापदमित्यवधेयम् । २. सर्पादिवदिति—सर्पादिरूपेणेत्यर्थः । ३. तथेति स्वपदं वर्णयति—रज्जुसर्पवदिति । ४. जातादिति—जन्मसंपत्तेरूर्ध्वमिति यावत् । ५. तस्मात्—जन्मनो मायिकत्वात् । ६. उक्तेऽर्थे—कार्यस्यसत्पूर्वकत्वरूपेऽर्थे । ७. तथा भूतस्यान्यथाभूतस्य चेति—सतोऽसतश्चेत्यर्थः ।

यथा स्वप्ने द्वयाभासं [1]स्पन्दते मायया मनः ।
तथा जाग्रद्द्वयाभासं स्पन्दते मायया मनः ॥ २६ ॥
अद्वयं च द्वयाभासं मनः स्वप्ने [2]न संशयः ।
अद्वयं च द्वयाभासं तथा जाग्रन्न संशयः ॥ ३० ॥

[जैसे स्वप्नावस्था में माया के द्वारा ही मन ग्राह्य ग्राहक रूप द्वैताभास रूप से स्फुरित होता है वैसे ही जाग्रत काल में भी यह मन माया से (नाना रूपों में) स्फुरित होता है ॥ २९ ॥]

[जैसे स्वप्न काल में अद्वितीय मन ही ग्राह्य ग्राहकादि द्वैत रूप से भासता है, इसमें सन्देह नहीं, ठीक वैसे ही जाग्रत काल में भी निस्सन्देह अद्वितीय मन ही ग्राहकादि द्वैत से भासने वाला है ॥ ३० ॥]

बन्ध्यापुत्रो मायया तत्त्वतो वा जायते [3]तस्मादत्रासद्वादो दूरत एवानुपपन्न इत्यर्थः ॥ २८ ॥

कथं पुनः सतो माययैव जन्मेत्युच्यते । यथा रज्ज्वां विकल्पितः सर्पो रज्जुरूपेणावेक्ष्यमाणः सन्नेवं मनः परमार्थविज्ञप्त्याऽऽत्मरूपेणावेक्ष्यमाणं [4]सद्ग्राह्यग्राहकरूपेण द्वयाभासं स्पन्दते स्वप्ने मायया रज्ज्वामिव सर्पः । तथा तद्वदेव जाग्रज्जागरिते स्पन्दते मयया मनः स्पन्दत इवेत्यर्थः ॥२९॥

रज्जुरूपेण सर्प इव परमार्थत आत्मरूपेणाद्वयं सद्द्वयाभासं मनः स्वप्ने न संशयः । न हि स्वप्ने

प्रकार संभव है, क्यों कि लोक में ऐसा कहीं भी नहीं देखा गया । बन्ध्यापुत्र न माया से उत्पन्न होता है, और न वस्तुतः । अतः कार्यकारण निरूपण करने पर असद्वाद तो सर्वथा ही असंगत है ॥२८॥

अच्छा तो सद्वस्तु का जन्म माया से ही कैसे हो सकता है ? इस पर आगे की कारिका कहते हैं ।

जैसे रज्जु में कल्पित सर्प रज्जु रूप से देखे जाने पर सत् है, वैसे ही परमार्थ चैतन्य आत्म-स्वरूप से देखा जाने पर मन भी सत्य है । हां, ग्राह्यग्राहक रूप से प्रतीत होने वाला द्वैताभास माया द्वारा स्वप्न में मनःस्पन्दन मात्र ही है । वह तो रज्जु में सर्प की भांति है । वैसे ही जाग्रदवस्था में यह मन ही माया से विविध रूप में स्फुरित सा जान पड़ता है । वास्तव में स्फुरित भी नहीं ॥२९॥

जाग्रद् और स्वप्न मन की कल्पना मात्र है ।

रज्जु रूप से जैसे सर्प सत है, ऐसे ही पारमार्थतः अद्वय आत्मस्वरूप से सत् मन ही स्वप्न

तत्त्वतो वा नासतः सदाकारेण जन्मेत्यर्थः । तत्र दृष्टान्तमाह--वन्ध्येति । पूर्वार्धं व्याकरोति—असद्वादिनामिति । असतो निःस्वरूपस्य स्वरूपाभावादेव तत्त्वतोऽतत्त्वतो वा कार्याकारेण न युक्तं जन्मेत्यत्र हेतुमाह—अदृष्टत्वादिति । उत्तरार्धं व्याकुर्वन्नदृष्टत्वमेव दृष्टान्तेन स्पष्टयति—न हीति । सद्वादो मायया संभवति । असद्वादस्तु तयाऽपि नेति विशेषं दर्शयन्नुपसंहरति—तस्मादिति कार्यकारणनिरूपणमत्रेति परामृश्यते ॥२८॥

सत्तत्त्वस्यैव मायया जन्मेत्युक्तमुपपादयति—य ेति । सत एव मायया जन्मेत्ययुक्तम् । अवस्थाद्वयेऽपि द्वैतस्य मनःस्पन्दितत्वस्वीकारादिति श्लोकव्यावर्त्यं चोद्यमुत्थापयति—कथमिति । अधिष्ठानरूपेण मनोऽपि सदिति सदृष्टान्तमुत्तरमाह—उच्यत इति । मनसः सन्मात्रत्वे कथमनेकधा स्पन्दनमित्याशङ्क्य [5]स्वप्नदृष्टान्तं व्याचष्टे—ग्राह्येति । दार्ष्टान्तिकमाह—तथेत्यादिना । मायाधीनं मनःस्पन्दनमवस्तुभूतमिति द्योतयितुमिवेत्युक्तं मनो ब्रह्म चेति कारणद्वयम् ॥२९॥

तर्हि द्वैतस्य स्वीकृत [त्व] मित्याशङ्क्य दृष्टान्तेन निराचष्टे—अद्वयं चेति । दृष्टान्तभागं विभजते—रज्ज्वति ।

---

१. स्पन्दते इति—परिणमनं प्रतीतिर्वा स्पन्दनम् । २. न संशयः—उभयमताविवादमित्यर्थः । ३. तस्मादिति —असतः कथमपि जन्मासंभवादित्यर्थः । ४. सदिति—अधिष्ठानात्मकमेवेत्यर्थः । ५. स्वप्नदृष्टान्तमिति—तथा च नहि दृष्टेऽनुपपन्नं नामेति भावः ।

[1]मनोदृश्यमिदं द्वैतं यत्किंचित्सचराचरम् ।
मनसो ह्यमनीभावे द्वैतं नैवोपलभ्यते ॥ ३१ ॥

[मन से देखने योग्य यह जो कुछ जड़ चेतन द्वैत है वह मनोदृश्य मन ही है, क्योंकि मनके अपनी भाव (निरोध) हो जाने पर सुषुप्ति अवस्था में द्वैत उपलब्ध नहीं होता ॥ ३१ ॥]

हस्त्यादि ग्राह्यं तद्ग्राहकं वा चक्षुरादिद्वयं विज्ञानव्यतिरेकेणास्ति । जाग्रदपि तथैवेत्यर्थः परमार्थसद्विज्ञानमात्राविशेषात् ॥ ३० ॥

रज्जुसर्पवद्विकल्पनारूपं द्वैतरूपेण मन एवेत्युक्तम् । [2]तत्र किं प्रमाणमित्यन्वयव्यतिरेकलक्षणमनुमानमाह । कथं तेन हि मनसा [3]विकल्प्यमानेन दृश्यं मनोदृश्यमिदं द्वैतं सर्वं मन इति प्रतिज्ञा। तद्भावे भावात्तदभावेऽभावात् । मनसो ह्यमनीभावे [4]निरुद्धे [5]विवेकदर्शना [6]भ्यासवैरा-

---

में द्वैताभास रूप से दीखता है । इसमें कोई सन्देह नहीं । क्यों कि स्वप्न में ग्राह्य हस्त्यादि तथा उसके ग्राहक चक्षुरादि दोनों ही विज्ञान स्वरूप स्वप्न द्रष्टा से भिन्न कुछ भी नहीं है, वैसे जाग्रत् में प्रतीत होने वाले ग्राह्य ग्राहक भी अपने साक्षी से भिन्न नहीं । क्यों कि दोनों ही अवस्थाओं में परमार्थ सत् विज्ञान मात्र तो समान ही हैं ॥३०॥

'रज्जु सर्प के समान विकल्पना रूप यह मन ही द्वैत रूप से भासता है', ऐसा कहा गया है। इस विषय में प्रमाण क्या ? ऐसी अकाङ्क्षा होने पर अन्वय व्यतिरेक अनुमान ही उक्त विषय में प्रमाण बतलाया जाता है । कैसे ? उस विकल्प मान मन से दीखने योग्य यह सम्पूर्ण द्वैत मन ही है, ऐसी प्रतिज्ञा की जाती है । क्योंकि मन के रहने पर द्वैत रहता है, मन के न रहने पर द्वैत नहीं

दृष्टान्ते चैतन्यातिरिक्तस्य ग्राह्यग्राहकभेदस्य मनःस्पन्दितस्यासत्त्वं साधयति—न हीति । तथैव जागरितेऽपि परमार्थसत्स्वरूपेणाद्वयं सन्मनो ग्राह्यग्राहकद्वैताकारेणावभासते । [7]तथा च परमार्थसतो विज्ञानमात्रस्यावस्थाद्वयेऽपि विशेषाभावात्तस्मिन्नेवाधिष्ठाने मायाकल्पितं मनः स्पन्दते । द्वयाकारमित्यङ्गीकारात् । न कारणद्वयं शङ्कितव्यमित्याह—जाग्रदपीति ॥३०॥

मनोमात्रं द्वैतमित्यत्र प्रमाणमाह—मनोदृश्यमिति । वृत्तमनूद्य श्लोकतात्पर्यमाह—रज्ज्विति । यथा रज्जुः सर्परूपेण [8]विकल्पयेत तथा मनो द्वैतरूपेण [9]विकल्पनात्मकम् । तच्चाविद्याकल्पितमित्युक्तेऽर्थे प्रमाणगवेषणायां विशिष्टमनुमानमुपन्यस्यतीत्यर्थः । [10]तदेव प्रश्नपूर्वकं प्रकटयन्प्रथमार्धाक्षराणि व्याचष्टे—कथमित्यादिना । विमतं

---

१. मनोदृश्यमिति—मनसा दृश्यते कल्प्यते इति मनोदृश्यं मनः कल्पनामात्रमित्यर्थः।
२. तत्रेति—सदद्वयाधिष्ठाने मायाकल्पितं मनः तन्मात्रं च द्वैतमित्यर्थः । ३. विकल्प्यमानेन—अध्यस्यमानेनेत्यर्थः । ४. निरूद्ध इति—मनसीति शेषः । ५. विवेकेति—विवेकपूर्वको यो दर्शनोद्देश्यकस्तत्त्वज्ञानमनोनाशवासनाक्षयाणामभ्यासस्तेन वैराग्येण चेत्यर्थः। ज्ञानाभ्यासो यथा वशिष्ठे लीलोपाख्याने तच्चिन्तनं तत्कथनमन्योऽन्यं तत्प्रबोधनम् । एतदेकपरत्वं च ज्ञानाभ्यासं विदुर्बुधाः । सर्गादावेव नोत्पन्नं दृश्यं नास्त्येव तत्सदा । इदं जगदहं चेति बोधाभ्यासं विदुः परम् । मनोनाशाभ्यासो यथा तत्रैव अत्यन्ताभावसंपत्तौ ज्ञातुर्ज्ञेयस्य वस्तुनः युक्त्या शास्त्रैर्यतन्ते ये ते तत्राभ्यासिनः स्थित इति । अत्र युक्त्येति योगेनेत्यर्थः समाधाविति शेषः । शास्त्रैरित्यतो व्युत्थान इति शेषः। वासनाक्षयाभ्यासो यथा तत्रैव दृश्यासंभवबोधे न रागद्वेषादितानवे । रतिर्घनोदिता याऽसौ ब्रह्माभ्यासः स उच्यते । ६. उपनिषत्सम्मतं निरोधोपायं दर्शयति विवेकेत्यादिना । ७. तथेति—अधिष्ठानभिन्नत्वेनमनसःकारणत्वानभ्युपगमे इत्यर्थः । ८. विकल्प्यते—प्रतीयते । ९. विकल्पनात्मकम्—प्रतीयमानात्मकम् । १०. तदिति—द्वैतात्मना प्रतीयमानं मन इत्यर्थः ।

आत्मसत्यानुबोधेन न संकल्पयते यदा ।
अमनस्तां तदा याति ग्राह्याभावे तदग्रहम् ॥ ३२ ॥

[जब (शास्त्र और आचार्य के उपदेश से) आत्मसत्य के बोध हो जाने पर मन संकल्प नहीं करता, तब मन अपने भाव को प्राप्त हो जाता है । इस अवस्था में (दाह्य के अभाव में अग्नि के दाहकत्व शान्त हो जाने के सदृश्य ही) ग्राह्य वस्तु के अभाव हो जाने पर वह मन ग्रहणादि विकल्प से शून्य हो जाता है ॥ ३२ ॥]

ग्याभ्यां [1]रज्ज्वामिव सर्पे [2]लयं गते वा सुषुप्ते द्वैतं नैवोपलभ्यत [3]इत्यभावात्सिद्धं द्वैतस्यासत्त्वमित्यर्थ ॥ ३१ ॥

कथं पुनरमनीभाव इति । उच्यते । आत्मैव सत्यामात्मसत्यं मृत्तिकावत । "वाचाऽऽरम्भण विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम् (छा० ६।१।४)" इति श्रुतेः । तस्य शास्त्राचार्योपदेशम[4]न्वबोध आत्मसत्यानुबोधः । तेन संकल्प्याभावतया न संकल्पयते । दाह्याभावे ज्वलनमिवाग्नेः । यदा यस्मिन्काले,

---

रहता । विवेक ज्ञान के अभ्यास और वैराग्य द्वारा मन का विरोध करदिये जाने पर अथवा सुषुप्त अवस्था में द्वैत वैसे ही नहीं दीखता, जैसे रज्जु में सर्प का बाध या लय कर दिये जाने पर सर्प नहीं दीखता । इस प्रकार अन्वय व्यतिरेक द्वारा द्वैत का अभाव हो जाने से उसकी असत्ता सुतरां सिद्ध हो जाती है । यह इसका भाव है ॥३१॥

आत्मज्ञान से मनो निरोध

अमनी-भाव किस प्रकार होता है ? इस पर कहते हैं—"विकार वाणी से कहने मात्र के लिये हैं । वस्तुतः मृत्तिका ही सत्य है" इस श्रुति से घट के कारण मृत्तिका के समान विश्व विकल्प का अधिष्ठान आत्मा को ही समझो । उस आत्मसत्य का शास्त्र और आचार्य के उपदेश के बाद जो बोध होता है, उसी को आत्मसत्यानुबोध कहा गया है । इसी बोध से संकल्प योग्य वस्तु का अभाव हो जाने के

मनोमात्रं [5]तद्भावे नियतभावत्वात् । यथा मृद्भावे नियतभावो मृन्मात्रो घटादिरित्यनुमानमारचयति—द्वैतमिति । उक्तमेव [6]व्यतिरेकं स्फोरयन्द्वितीयार्धं विभजते—मनसो हीति । समाधिस्वापयोर्द्वैतस्यानुपलम्भेऽपि नासत्त्वमित्याशङ्क्य मानाधीना मेयसिद्धिरित्यभिप्रेत्याऽऽह—इत्यभावादिति ॥३१॥

मनसो यदमनस्त्वमुक्तं तदुपपादयति—आत्मेति । समाधिस्वापयोरननुभवेऽपि मनसः स्वरूपेण नित्यत्वान्नुमनस्त्वमित्याक्षिपति—कथमिति । संकल्पो हि मनसो [7]व्यावहारिकं रूपम् । संकल्पश्च संकल्प्यापेक्षत्वात्तदभावे न भवति । सर्वमात्मैवेत्यवगमे च संकल्प्याभावान्मनसो मनस्त्वं न [8]वर्तते [9]तथाऽपि स्फुरति चेदात्मैवेति न विवेकिदृष्ट्या मनो नामास्तीति श्लोकाक्षरैरुत्तरमाह—उच्यत इति । तस्यैव सत्यत्वे दृष्टान्तमाह—मृत्तिकावदिति । यथा घट-

---

१. वेदान्ताभिमतं विरोधं स्पष्टयितुं दृष्टान्तमाह—रज्ज्वामिव सर्प इति । २. साधारणं स्थलमाह—लयंगते वा सुषुप्त इति, मनसीति वर्तते एव । लयं गत इति मनसीति शेषः, अत्रायं विभागः । निरोध इति प्राणायामादिसाध्यो निरोधः प्रोक्तः । विवेकेत्यादिना च बाधात्मको लयो विवक्षितो रज्ज्वामिवेति दृष्टान्तात् । सुषुप्ते वा लयं गत इत्यन्वयेन च कारण प्रवेशात्मकः सान्वयनाश इति । ३. इत्यभावादिति—उक्तप्रकारेण द्वैतोपलब्ध्यभावादित्यर्थः । ४. अवबोधः—साक्षात्कारः । ५. तद्भावेनियतभावत्वादिति—तद्भावे एव भावत्वादिति यावत् । ६. व्यतिरेकमिति—अन्वयस्यस्फुटत्वादस्फोरणेति भावः । ७. व्यावहारिकमिति—व्यवहारसिद्धमित्यर्थः । पारमार्थिकं त्वात्मैवेति भावः । ८. वर्तते—निवर्तते इत्यर्थः । ९. तथापि—निरुद्धात्मनापीत्यर्थः ।

अकल्पकमजं ज्ञानं ज्ञेयाभिन्नं प्रचक्षते ।
ब्रह्मज्ञेयम[1]जं नित्यमजेनाजं विबुध्यते ॥ ३३ ॥

[सम्पूर्ण से रहित अजन्मा (ज्ञप्ति मात्र) ज्ञान को तत्त्व ज्ञानी लोग ज्ञेय ब्रह्म से अभिन्न बतलाते हैं । जिस ज्ञान का ज्ञेय ब्रह्म है, वह ज्ञान आत्म स्वरूप, अज और नित्य है ऐसे अजन्म ज्ञान से अजन्मा ज्ञेय रूप आत्मतत्त्व स्वयं ही जाना जाता है (वह किसी अन्य ज्ञान की अपेक्षा नहीं करता ॥ ३३ ॥]

तदा तस्मिन्काले ऽमनस्तामनोभावं याति ग्राह्याभावे तन्मनोऽग्रहं [2]ग्रहणविकल्पनावर्जितमित्यर्थः ॥ ३२ ॥

यद्यसदिदं द्वैतं [3]केन समंजसमात्मतत्त्वं विबुध्यत इति । उच्यते । अकल्पकं [4]सर्वकल्पनावर्जित[5]मत एवाजं ज्ञानं ज्ञप्तिमात्रं ज्ञेयेन परमार्थसता ब्रह्मणाऽभिन्नं प्रचक्षते [6]कथ-

---

कारण साधक वैसे ही संकल्प नहीं करता, जैसे दाह्य वस्तु के अभाव में अग्नि का दाहकत्त्व स्वयं ही शान्त हो जाता है । जब चित्त संकल्प नहीं करता, तभी वह मन अमनी-भाव को प्राप्त कर लेता है, अर्थात् ग्राह्य वस्तु का अभाव हो जाने के कारण वह मन ग्रहण विकल्पना से रहित अग्रह हो जाता है ॥३२॥

आत्म ज्ञान किसे होता है

यदि यह सम्पूर्ण द्वैत असत्य है तो भला यह प्रकृत आत्मतत्त्व किससे जाना जाता है ? इस पर कहते हैं—सम्पूर्ण कल्पनाओं से रहित अकलपक, अतएव जन्म रहित ज्ञप्तिमात्र ज्ञान को ब्रह्मज्ञानी लोग ज्ञेय अर्थात् परमार्थ सत्स्वरूप ब्रह्म से अभिन्न बतलाते हैं । जैसे अग्नि की उष्णता अग्नि की

शरावादिष्वसत्येषु मृत्तिकामात्रमनुस्यूतं सत्यमिष्यते तथैवानात्मस्वसत्येष्वा [7]त्ममात्रं सत्यमेष्टव्यम् । [8]तत्सत्यमित्यवधारणाद्[9]एवकारस्य [10]दृष्टान्तनिविष्टस्य दार्ष्टान्तिकेऽनुषङ्गादित्यर्थः । उक्ते दृष्टान्ते प्रमाणमाह—वाचाऽऽरम्भणमिति । अवशिष्टान्यक्षराणि व्याचष्टे—तस्येत्यादिना । तेन तत्त्वज्ञानेनाऽऽत्मातिरिक्तार्थाभावे निश्चिते संकल्पविषयाभावनिर्धारणया संकल्पाभावे दृष्टान्तमाह—दाह्येति । यथाऽग्नेर्दाह्याभावे ज्वलनं न भवति तथा संकल्प्याभावे संकल्पो निरवकाशः स्यादित्यर्थः । संकल्प्याभावे किं [11]मनसो भवति तदाह—यदेति ॥३२॥

मनसश्चेन्मनस्त्वं व्यावर्तते तर्हि कथमात्मनोऽवबोधो व्यञ्जकाभावादित्याशङ्क्याऽऽह—अकल्पकमिति । श्लोकव्यावर्त्यां शङ्कामाह—यदीति । मनोमुख्यस्य द्वैतस्यासत्त्वे व्यञ्जकाभावान्नाऽऽत्मबोधः संभवति [12]मनसैवानुद्रष्टव्यमिति श्रुतेः । मनसश्चासत्त्वाङ्गीकारादित्यर्थः । स्वरूपभूतेन ज्ञानेनैवाऽऽत्मनोऽवबोधसंभवान्नातिरिक्ते मनस्यपेक्षेत्युत्तरमाह—

---

१. अजमिति—पुनर्वचनं नित्यत्वसाधनायानुवादमात्रम्, अजत्वान्नित्यमित्यर्थ इति न त्वपार्थम् । २. ग्रहणेत्यादि—निरोधाख्यपरिणामातिरिक्तपरिणाम विधुरं भवतीत्यर्थः । ३. केनेति—करणेनेति भावः । ४. सर्वकल्पनेत्यादि—मनोवदवस्थान्तरकल्पनारहितम्, यथा मनः कामाद्यनेकारावस्थं भवति न तथेदमात्मस्वरूपं ज्ञानम् । अपरिणामीति यावत् । ५. अत एव—अपरिणामित्वादेव । ६. कथयन्ति ब्रह्मविदः—विद्वदनुभवसिद्धमित्यभिसन्धिः । ७. आत्मैवेत्यस्य व्याख्यानम्—आत्ममात्रमिति । ८. अनात्मनामात्मन्यध्यस्तत्वादिति कुतोऽवधारणं श्रुतित इत्याह—तत्सत्यमित्यवधारणादिति । ९. श्रुतावपि नावधारणकारणमस्तीत्याशङ्क्याह एव कारस्येत्यादि । १०. मृत्तिकेत्येवेति—दृष्टान्त इति । ११. मनसः—स्वरूपममिति शेषः । १२. मनोतिरिक्तमेव स्यात् किञ्चिदभिव्यञ्जकमित्याशङ्कामपनुदति—मनसैवेति । मनसैवानुद्रष्टव्यमिति श्रुतिस्तु वृत्तेरावरणभङ्गकत्वमात्र पर्यवसाना न ब्रह्मप्रकाशकत्वमभिधातुमलमिति विभावनीयम् ।

निगृहीतस्य मनसो निर्विकल्पस्य धीमतः। प्रचारः स तु विज्ञेयः सुषुप्तेऽन्यो [1]न तत्समः ॥३४॥

[निरुद्ध, सर्वकल्पनाशून्य, विवेक युक्त मन का जो व्यापार है वह विशेष रूप से योगियों को जानने योग्य है। सुषुप्ति काल में चित्त की वृत्ति अन्य प्रकार की रहती है, निरुद्धावस्था के समान नहीं ॥ ३४ ॥]

यन्ति ब्रह्मविदः। न हि [2]विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यतेऽग्न्युष्णवत्। "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म (बृ० ३।९।२८)" "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म (तै० २।१)" इत्यादिश्रुतिभ्यः। तस्यैव विशेषणं ब्रह्म ज्ञेयं यस्य [3]स्वस्य तदिदं ब्रह्मज्ञेयमु [4]ष्णस्येवाग्निवद [5]भिन्नम्। तेनाऽऽत्मस्वरूपेणाजेन ज्ञानेनाजं ज्ञेयमात्मतत्त्वं स्वयमेव विबुध्यतेऽवगच्छति नित्यप्रकाशस्वरूप इव सविता। नित्यविज्ञानै [6]क[7]रसघनत्वान्न ज्ञानान्तरमपेक्षत इत्यर्थः ॥ ३३ ॥

आत्मसत्यानुबोधेन संकल्पमकुर्वाद्बाह्यविषयाभावे निरिन्धनाग्निवत्प्रशान्तं निगृहीतं निरुद्धं

स्थिति पर्यन्त लुप्त नहीं होती, वैसे ही नित्य विज्ञाता के विज्ञान का कभी भी लोप नहीं होता। ऐसा ही "ब्रह्म विज्ञान और आनन्द स्वरूप है", ब्रह्म सत्य ज्ञान और देशकाल-वस्तु-परिच्छेद से रहित है", इत्यादि श्रुतियों से सिद्ध होता है। उस ज्ञान का ही विशेषण बतलाते हैं कि ब्रह्म जिस ज्ञान का ज्ञेय है, वह ज्ञान अग्नि में उष्णता की भाँति ब्रह्म से अभिन्न है। उसी आत्मस्वरूप अजन्मा ज्ञान से जन्म रहित ज्ञेय स्वरूप आत्मतत्त्व स्वयं ही जाना जाता है, भाव यह कि नित्य प्रकाश स्वरूप सूर्य की भाँति नित्य विज्ञान एकरस घनस्वरूप होने से वह ब्रह्म अपने प्रकाश के लिये किसी ज्ञानान्तर की अपेक्षा नहीं रखता ॥३३॥

निरुद्ध शान्त मन का स्वरूप

पहले यह बतला आयें हैं, कि आत्म सत्यानुबोध हो जाने पर जब मन संकल्प नहीं करता, तब

उच्यत इति। ज्ञेयाभिन्नं ज्ञानमित्यत्र श्रुतीरुदाहरति—न हीति। सत्यग्नौ तदात्मकमौष्ण्यं न परिलुप्यते [8]तथेत्युत्तरमाह—अग्न्युष्णवदिति। प्रज्ञानं ब्रह्मेत्यादिश्रुतिसंग्रहार्थमादिपदम्। ज्ञेयाभिन्नमित्युक्तं स्फुटयति—तस्यैवेति। आत्मनः स्वयमेवावगतिरूपत्वा [9]न्नार्थान्तरापेक्षेत्येतमर्थं दृष्टान्तेन स्फुटयति—नित्येति ॥३३॥

[10]मोक्षमाणस्य ज्ञानफलं स्वर्गवन्न परोक्षं किंतु तृप्तिवत्प्रत्यक्षम्। [11]अतश्च [12]प्रकृतज्ञानफलस्य [13]मनोनि-

---

१. न तत्सम इति—ननु सुषुप्तेऽन्यः इत्युक्त्वा न तत्सम इति पौनरुक्त्यमिति चेन्न, अन्यत्वा समत्वयोरेकरूपत्वाभावात्। तथाहि पुरुषद्वितीय निरुद्धमनो द्वयप्रचारस्यास्त्यन्यत्वं न परमसमत्वं तथा चान्यः इत्युक्तेऽपि मा भूत् साम्यशङ्कासुषुप्तमनः प्रचारे इत्यसमत्वोक्तिरिति। २. विज्ञातुः—सर्वप्रकाशकस्य ब्राह्मणो वेदान्त वेद्यत्वेन विज्ञाति शब्दितस्य ज्ञानस्यानया तत्स्वरूपत्वबोधनादस्या ज्ञानाभिन्नज्ञेयबोधकत्वं द्रष्टव्यम्। ३. स्वस्येति ब्रह्मस्वरूपभूतस्य ज्ञानस्येत्यर्थः। ४. औष्ण्यस्येवेति—यथौष्ण्यस्य तथा ज्ञानस्येति ज्ञानोपमानम्। अग्निवदिति, अग्नाविवेत्यर्थः। सप्तम्यन्ताद्वतिः यथाग्नौ तथा ब्रह्मणीति ब्रह्मौपमान मित्येवं न वतीवाभ्यां पौनरुक्त्यमित्यवधेयम्। ५. अभिन्नम्—ब्रह्मरूपज्ञेयाभिन्नमित्यर्थः। ६. एकेति—अभिन्नेत्यर्थः। ७. रसेति—आनन्देत्यर्थः। ८. तथेत्युदाहरतीति सति विज्ञातरि तदात्मिका विज्ञातिर्न परिलुप्यते। इति—एतमर्थम् उदाहरति—दृष्टान्तेन प्रदर्शयतीत्यर्थः। ९. नार्थान्तरापेक्षेति—स्वावगताविति शेषः। १०. मोक्षमाणस्य—मोक्ष्यमाणस्येति पाठान्तरम्। ११. अतः—परोक्षफलत्वाभावादेवेत्यर्थः। १२. प्रकृतेति—आत्मेत्यर्थः, अनेन घटादिज्ञानव्यवच्छेदः। १३. मनोनिरोधस्येति—मन्वस्यानित्यत्वात् ब्रह्मज्ञानस्यानित्यफलकत्वं स्यादिति चेदुच्यते—जीवनमुक्तिविदेवमुक्तिभेदेन ज्ञानफलस्य द्वैविध्यं तत्राद्यस्य मनो निरोधोपलक्षितस्य देहादिवैशिष्ट्येनानित्यत्वेऽपि द्वितीयस्य निरुपाधिकस्य नित्यत्वान्नदोषः।

मनो भवतीत्युक्तम्। [1]एवं च मनसो ह्यमनीभावे द्वैताभावश्चोक्तः। तस्यैवं निगृहीतस्य निरुद्धस्य मनसो निर्विकल्पस्य [2]सर्वकल्पनावर्जितस्य धीमतो विवेकवतः प्रचरणं प्रचारो यः स तु प्रचारो विशेषेण ज्ञेयो योगिभिः। ननु सर्वप्रत्ययाभावे यादृशः सुषुप्तस्थस्य मनसः [3]प्रचारस्तादृश एव निरुद्धस्यापि प्रत्ययाभावाविशेषात्किं तत्र विज्ञेयमिति। अत्रोच्यते। नैवम्। यस्मात्सुषुप्तेऽन्यः प्रचारोऽविद्यामोहतमोग्रस्तस्यान्तर्लीनानेकानर्थप्रवृत्तिबीजवासनावतो मनस आत्मसत्यानुबोधहुताशविप्लुष्टाविद्या-

---

दाह्य विषय के अभाव हो जाने से ईन्धन रहित अग्नि के समान वह मन स्वयं ही प्रशान्त निगृहीत अर्थात् निरूद्ध हो जाता है। इसी प्रकार मन का अमनीभाव हो जाने पर द्वैत का अभाव भी हम पहले कह आये हैं। इस प्रकार निग्रह किये गये, निरूद्ध, कल्पना रहित, विवेक सम्पन्न उस चित्त का जो व्यापर है, वह योगियों द्वारा विशेष रूप से जानने योग्य है।

पू० पक्ष—सभी प्रतीतियों के अभाव होजाने पर सुषुप्ति में स्थित मन का व्यापार जैसा होता है वैसा ही सभी प्रतीतियों के अभाव हो जाने पर निरूद्ध मन का व्यापार भी होता है। उसमें विशेष रूप से जानने योग्य क्या है?

सि० पक्ष—यहाँ पर मुझे यह कहना है कि यह ऐसी बात नहीं है, क्योंकि अविद्या मोह रूप अन्धकार से ग्रस्त, अन्तर्लीन, अनेक अनर्थ प्रवृत्ति के बीजभूत, वासनाओं से युक्त मन का व्यापार सुषुप्ति में और ही प्रकार का होता है, एवं आत्मसत्य के बोध रूप अग्नि से जला दिये गये अविद्या जन्य अनर्थ प्रवृत्ति के बीज जिसमें ऐसे प्रशान्त सर्वक्लेश रजोगुण से शून्य निरूद्ध मन का स्वतन्त्र व्यापार अन्य ही प्रकार का होता है। अतः सुषुप्ति के समान निरूद्ध मन का व्यापार नहीं होता है।

रोधस्य प्रत्यक्षत्वार्थं [4]प्रसङ्गं [5]प्रकरोति—निगृहीतस्येति। न तस्य विज्ञेयत्वं सुषुप्ते प्रसिद्धत्वादित्याशङ्क्याऽऽह—सुषुप्त इति। श्लोकाक्षराणि व्याकर्तुं वृत्तं कीर्तयति—आत्मेति। तस्य सत्यस्य प्रागुक्तस्यानुबोधेन सम्यग्ज्ञानेन बाह्यस्य विषयस्य संकल्प्यस्याभावे निरालम्बनस्य प्रचारासंभवे च मनः संकल्पमकुर्वत्प्रशान्तं निरुद्धं च भवतीत्यन्वयः। निर्विषयं मनः शाम्यतीत्यत्र दृष्टान्तमाह—निरिन्धनेति। निरुद्धे मनसि मनस्त्वव्यावृत्तौ [6]मनःस्पन्दितस्य द्वैतस्याभावमुक्तं स्मारयति—एवं चेति। एवं वृत्तमनूद्य पादत्रयस्यार्थमाह—तस्येति। एवं विषयाभावेनेति यावत्। आत्मसत्यानुबोधा विवेकशब्दार्थः। [7]प्रत्यगात्मन्येव पर्यवसानं प्रचारस्तस्य विद्वत्प्रत्यक्षत्वं विवक्षित्वा [8]योगिभिरित्युक्तम्। चतुर्थपादव्यावर्त्यामाशङ्कामाह—नन्विति। निरुद्धस्यापि मनसः प्रचार इति संबन्धः। [9]विशेषप्रत्ययाभावस्य निरोधे स्वापे च विशेषाभावादिति हेत्वर्थः तत्र प्रचारे प्रसिद्धे सतीति यावत्। चतुर्थपादमुत्तरत्वेनावतारयति—अत्रेति। निरुद्धस्य मनसः सुषुप्तस्येव प्रचारस्य सुज्ञानत्वान्न तत्र ज्ञातव्यमस्तीत्युक्तं प्रत्याह—नैवमिति। विद्याभावव्यावृत्त्यर्थं [10]मोहविशेषणं चित्तभ्रमं व्यावर्तयितुं [11]तमोविशेषणम्। अन्तर्लीना गुप्ता अनेकानर्थफलाता प्रवृत्तीनां बीजभूता वासना यस्मिन्मनसि तस्येति सुषुप्तस्य विशेषणम्। आत्मनः सत्यस्यानुबोधो यो व्याख्यातः स एव हुताशोऽग्निस्तेन विप्लुष्टान्यविद्यादीन्यनेका[12]नर्थपर्यन्तप्रवृत्तीनां बीजानि यस्य तस्येति निरुद्धस्य विशेषणं, [13]प्रकर्षेण शान्तं सर्वक्लेशः

---

१. एवम्—द्वैतस्यमनः स्पन्दितमात्रत्वेसिद्धे सति। २. सर्वकल्पनावर्जितस्य—निखिलवृत्तिरहितस्येत्यर्थः। ३. प्रचारः—अशिद्यामात्रपर्यवसानात्मकः। ४. प्रसङ्गमिति—सार्धश्लोकेन भूमिकां रचयतीत्यर्थः। ५. प्रकरोतीति—अत्र प्रकटयतीति पाठान्तरम्। ६. मनः स्पन्दितस्येति—मनः परिणामरूपस्येत्यर्थः। ७. प्रत्यगात्मन्येव पर्यवसानमिति—आत्ममात्राविशेपत्वं तन्मात्रत्वसिति यावत्। ८. योगिभिरिति—साधकैरित्यर्थः। विदुषां सिद्धानां प्रत्यक्षप्रचारतया तान्प्रतिविज्ञेयः इति वक्तुमयुक्तत्वादिति भावः। ९. विशेषेति—घटादीत्यर्थः। १०. मोहविशेषणमिति—अविद्याऽभिन्नो मोहस्तमसो विशेषणम्। ११. तमोविशेषणमिति—अविद्यात्मकमोहाभिन्नं तमो मनसो विशेषणमिति बोध्यम्। १२. अनर्थपर्यन्तेति—अनर्थफलकेत्यर्थः। १३. प्रकर्षेणेति—निःशेषेण समूलेनेति यावत्।

लीयते हि [1]सुषुप्ते तन्निगृहीतं न लीयते ।
[2]तदेव निर्भयं ब्रह्म ज्ञानालोकं समन्ततः ॥ ३५ ॥

[स्वप्नावस्था में मन (अपने कारण अविद्या में) लीन होता है, किन्तु निरुद्धमन उसमें लीन नहीं होता । उस समय तो सभी ओर से ज्ञान, प्रकाश, भयशून्य केवल ब्रह्म ही रहता है ॥ ३५ ॥]

नर्थप्रवृत्तिवीजस्य निरुद्धस्यान्य एव प्रशान्तसर्वक्लेशरजसः स्वतन्त्रः प्रचारः । [3]अतो न तत्समः । तस्माद्युक्तः स विज्ञातुमित्यभिप्रायः ॥ ३४ ॥

प्रचारभेदे हेतुमाह—लीयते सुषुप्तौ हि यस्मात्सर्वाभिरविद्यादिप्रत्ययबीजवासनाभिः सह तमोरूप [4]विशेषरूपं बीजभावमापद्यते त[5]द्विवेकविज्ञानपूर्वकं निरुद्धं निगृहीतं सन्न लीयते तमोबीजभावं नाऽऽपद्यते [6]तस्माद्युक्तः प्रचारभेदः सुषुप्तस्य समाहितस्य मनसः । यदा ग्राह्यग्राहकाविद्याकृतमलद्वयवर्जितं तदा परमद्वयं ब्रह्मैव तत्संवृत्तमित्यतस्तदेव निर्भयम् । द्वैतग्रहणस्य भयनिमित्तस्याभावात् ।

इसीलिये पहले कहा गया उचित ही है कि निरुद्ध मन का व्यापार योगियों को विशेष रूप से जानना चाहिये, यह इसका भावार्थ है ॥३४॥

सुषुप्ति और समाधि में भेद

सुषुप्त और समाधिस्थ मन के व्यापार भेद का हेतु बतलाते हैं, क्योंकि सुषुप्ति में सम्पूर्ण अविद्या रागादि प्रतीतियों के बीजभूत वासनाओं के सहित ही अज्ञानान्धकार रूप अविशेष स्वरूप बीज भाव को मन प्राप्त हो जाता है, अर्थात् मन अपने कारण अविद्या में लीन हो जाता है । किन्तु वही विवेक विज्ञान पूर्वक निरुद्ध किया हुआ मन समाधि के समय अज्ञान में लीन नहीं होता, अर्थात् अज्ञान रूप बीजभाव को प्राप्त नहीं होता । अतः सुषुप्त और समाहित मन के व्यापार में भेद बतलाना ठीक ही है ।

जब अविद्या रचित ग्राह्य ग्राहक रूप दोनों प्रकार के मलों से चित्त रहित हो जाता है । तब वह परम अद्वितीय ब्रह्म स्वरूप ही हो जाता है । अतः भय के कारण द्वैत ज्ञान का अभाव हो जाने से समाधि अवस्था में वही मन भय रहित हो जाता है । ब्रह्म शान्त और भय रहित है, जिसे जानने

त्मकं रजो यस्येति तस्यैव विशेषणान्तरम् । स्वतन्त्रो ब्रह्मस्वरूपावस्थानात्मक इत्यर्थः । यथोक्तस्य प्रचारस्य सुषुप्तप्रचारविसदृशस्य दुर्ज्ञानत्वे स्थिते फलितमाह—तस्मादिति ॥ ३४ ॥

मनसः सुषुप्तस्य समाहितस्य च प्रचारभेदोऽस्तीत्युक्तं तत्र हेतुमाह—लीयते हीति । समाहितस्य मनसो द्वैतवर्जितस्य मनसो द्वैतवर्जितस्य स्वरूपं कथयति—तदेवेति । पूर्वार्धस्य तात्पर्यमाह—प्रचारेति । मनसः सुषुप्तस्य समाहितस्य चेति वक्तव्यम् । यस्मादित्यस्य तस्मादित्युत्तरेण संबन्धः । अविद्यादीत्यादिशब्देनास्मितारागादयो गृह्यन्ते । सुषुप्ते मनसो वासनाभिः सह लयप्रकारं कथयति—तमोरूपमिति । आपद्यत इति संबन्धः । [7]जाड्यं रूपम [8]वस्थान्तरेऽपि तुल्यमित्यतो पिशिनष्टि—अविशेषेत्यादिना । एवमाद्यं पादं व्याख्याय द्वितीयं पादं व्याचष्टे—तदिति । [9]पूर्वविभागविभजनेन फलितमाह—तस्मादिति । तदेव निर्भयं ब्रह्मेत्यस्यार्थमाह—यदेति । समाहितं मनोग्राह्यं ग्राहकमित्यविद्या-

१. सुषुप्ते इति—अत्र सुषुप्तमिति युक्तं पठितुं निगृहीतमिति वत् । २. तदेवेति—ब्रह्मैव इत्यर्थः यद्ब्रह्मस्वरूप तत् । तद्विशेषणं निर्भयमित्यादि । ३. अतः—सुषुप्तमनः प्रचारान्निरुद्धमनः प्रचारस्यात्यन्तविलक्षणत्वात् । ४. अविशेषरूपम्—अज्ञानाद्भेदेनाप्रतीयमानस्वरूपमित्यर्थः । ५. विवेकविज्ञानपूर्वकम्—विवेकस्यात्मनो भेदस्य विज्ञानं निश्चयस्तत्पूर्वकमितिविग्रहः । ६. तस्मात् लयालयरूपविशेषादित्यर्थः । ७. जाड्यरूपमिदि—जडत्वाख्यो धर्म इत्यर्थः । ८. अवस्थान्तरेऽपीति—जागरितादावपीत्यर्थः । ९. पूर्वविभागविभजनेन—पूर्वार्द्धविभजनेत्यर्थः ।

अजमनिद्रमस्वप्नमनामकमरूपकम् ।
सकृद्विभातं सर्वज्ञं नोपचारः कथंचन ॥३६॥

वह ब्रह्म अजन्मा, अज्ञानरूप निद्रा से रहित स्वप्न से शून्य नामरूप से रहित और सदा भासने वाला होने के कारण सदा नित्य प्रकाश और सर्वरूप होता हुआ ज्ञानस्वरूप है, ऐसे ब्रह्म में कोई उपचार (समाधि आदि कर्तव्य) नहीं है ॥३६॥]

[1]शान्तमभयं ब्रह्म। यद्विद्वान्न बिभेति कुतश्चन। तदेव विशेष्यते ज्ञप्तिर्ज्ञानमात्मस्वभावचैतन्यं तदेव ज्ञानमालोकः प्रकाशो यस्य तद्ब्रह्म ज्ञानालोकं विज्ञानैकरसघनमित्यर्थः। समन्ततः समन्तात्सर्वतो व्योमवन्नैरन्तर्येण व्यापकमित्यर्थ ॥ ३५ ॥

जन्मनिमित्ताभावात्सबाह्याभ्यन्तरमजम्। अविद्यानिमित्तं हि जन्म रज्जुसर्पवदित्यवोचाम। सा चाविद्याऽऽत्मसत्यानुबोधेन निरुद्धा। यतोऽजमत एवा[2]निद्रम्। अविद्यालक्षणाऽनादिमाया [3]निद्रा स्वापा[4]त्प्रबुद्धोऽद्वयस्वरूपेणाऽऽत्मनाऽतो[5]ऽस्वप्नम्। अप्रबोधकृते ह्य[6]स्य नामरूपे प्रबोधाच्च ते रज्जुसर्पवद्विनष्टे इति न नाम्ना[7]ऽभिधीयते ब्रह्म रूप्यते वा न केनचि[8]त्प्रकारेणेत्यनामकमरूपकं च

वाले पुरुष को किसी से भय नहीं होता। उसी का विशेषण बतलाते हैं। ज्ञान को ज्ञप्ति कहते हैं- जो कि आत्म चैतन्य रूप है, वही ज्ञान जिसका प्रकाश है, वह ब्रह्म है। ज्ञानालोक अर्थात् विज्ञानैक रस घन है। वह सभी ओर आकाश के समान बाहर भीतर सर्वत्र व्यापक है ॥३५॥

प्रकारान्तर से ब्रह्म का स्वरूप निरूपण

जन्म के निमित्त का अभाव होने से बाहर भीतर सर्वत्र अजन्मा ब्रह्म विद्यमान है। उसका जन्म रज्जु सर्प की भाँति अविद्या के कारण से ही होता है, ऐसा हम पहले कह आये हैं, क्योंकि वह अविद्या आत्मसत्य के यथार्थ बोध से निरुद्ध हो चुकी है। इसीलिये ब्रह्म अज और अनिद्र है। यहाँ अविद्या रूप अनादि अनिर्वचनीय माया ही निद्रा है। अद्वय स्वरूप आत्मरूप से जब वह जीव स्वप्न से जग जाता है, तब उसे अस्वप्न कहा गया है, क्योंकि उस अद्वय आत्मा के नामरूप अज्ञान के कारण ही है। वे नामरूप रज्जु सर्प की भाँति ज्ञान से विनष्ट कर दिये जाते हैं। इसीलिये ब्रह्म किसी नाम

कृतं यन्मलद्वयं तेन वर्जितं यदा तदेति संबन्धः। मनसो ब्रह्मत्वे निर्भयत्वं तस्य फलितमित्याह—इत्यत इति। [9]तत्र हेतुम[10]तःशब्देन सूचितमाह—द्वैतेति। यदुपशान्तं ब्रह्माभयमित्युक्तं तस्याभयत्वे [11]प्रमाणं सूचयति—यद्विद्वानिति। ननु यथोक्तं ब्रह्म प्रकाशते न वा प्रकाशते। प्रकाशते चेदुपायापेक्षायामद्वैतव्याघातः। न चेदप्रकाशते पुरुषार्थत्वासिद्धिरिति तत्राऽऽह—तदेवेति। तस्य ब्रह्मत्वसिद्धये परिच्छिन्नत्वं व्यवच्छिनत्ति—समन्तत इति। ३५ ॥

[12]प्रकृतमेव ब्रह्म [13]प्रकारान्तरेण निरूपयति—अजमित्यादिना। न च तस्मिन्निरुपाधिके ब्रह्मणि ज्ञाते कर्तव्यशेषः संभवतीत्याह—नेति। अजत्वमुपपादयति—जन्मेति। किं तज्जन्मनिमित्तं यदभावादजत्वमुपपाद्यते तदाह—अविद्येति। कुतस्तर्हि तन्निवृत्त्याऽजत्वसिद्धिस्तत्राऽऽह—सा चेति। निमित्तनिवृत्त्याऽजत्वसिद्धेर्युक्तमनिद्रत्वं निद्राशब्देनाविद्याभिलापादित्याह—अत एवेति। विशेषणान्तरं साधयति—अविद्यालक्षणेति। उत्तरविशेषणद्वयं विवृणोति—

१. शान्तम्—द्वैतवर्जितम्। २. अनिद्रम्—तत्वाज्ञान रहितम्। ३. निद्रेति—प्रयुक्तेति शेषः। ४. प्रबुद्ध इति —विद्वानतस्तत्स्वरूपमस्वप्नमित्यर्थः। ५. अस्वप्नमिति—ब्रह्मैवेति शेषः। ६. अस्य—विदुषः। ७. अभिधीयते—शक्त्या प्रतिपाद्यते। ८. प्रकारेणेति—किञ्चित् धर्मवैशिष्ट्येनेत्यर्थः। ९. तत्र —मनसोनिर्भयत्वे। १०. इतिना प्रागुक्तहेतोरभिमर्शादाह—अतः शब्देनेति। ११. प्रमाणमिति—श्रुतार्थापत्तिरूपमित्यर्थः। नहि वेद्यस्य समयत्वे विदुषः श्रुतमभयत्वमुपपद्यते इति भावः। १२. प्रकृतमेवेति—समाहितमनोऽवस्थमिति भावः। १३. प्रकारान्तरेण—विद्वत्स्वरूपत्वेनेतीत्यर्थः।

तन्। "यतो वाचो निवर्यन्ते तै० २।४।१" इत्यादिश्रुतेः। किंच [1]सकृद्विभातं सदैव विभातं सदा भारूपमग्रहणान्यथाग्रहणाविर्भावतिरोभाववर्जितत्वात्। ग्रहणाग्रहणे हि रात्र्यहीन तमश्चाविद्यालक्षणं सदाऽप्रभातत्वे कारणं तदभावान्नित्यचैतन्यभारूपत्वाच्च युक्तं सकृद्विभातमिति। अत एव सर्वं च तज्ज्ञस्वरूपं चेति सर्वज्ञम्। नेह ब्रह्मण्येवंविध उपचरणमुपचारः कर्तव्यः। यथाऽन्येषामात्मस्वरूपव्यतिरेकेण समाधानाद्युपचारः।नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावत्वाद्ब्रह्मणः कथंचिदपि कर्तव्यसंभवोऽविद्यानाश इत्यर्थः ॥३६

से नहीं बतलाया जाता है, और न किसी प्रकार से। क्यों कि वह नामरूप से रहित है, ऐसा ही जहाँ से वाणी लौट आती है' इत्यादि श्रुति से भी सिद्ध होता है। इतना ही नहीं, वह अग्रहण, अन्यथा ग्रहण तथा आविर्भाव तिरोभाव से रहित होने के कारण सकृत विभात अर्थात् नित्य प्रकाश स्वरूप है। ग्रहण तथा अग्रहण ही रात्रि और दिन हैं, एवं अविद्या रूप अन्धकार ही सदा ब्रह्म के प्रकाशित न होने में कारण है। उस अविद्या का अभाव होने से एवं नित्य चैतन्यरूप होने के कारण ब्रह्मका नित्य चैतन्य स्वरूप होना भी युक्ति युक्त ही है। अत एव यह सर्व तथा ज्ञान स्वरूप होने के कारण सर्वज्ञ है। ऐसे ब्रह्म में किसी प्रकार का व्यापार कर्तव्य नहीं है। जैसा कि दूसरों को आत्म स्वरूप से भिन्न रूप में समाधि आदिकर्तव्य हैं। भावार्थ यह है कि वह नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव है। इसीलिये अविद्या के नाश हो जाने पर उस ब्रह्म में किसी प्रकार का व्यापार कर्त्तव्य नहीं है, और न संभव ही है ॥३६॥

अपबोधेति। ब्रह्मणो नामरूपवत्त्वाभावे प्रमाणमाह—यत इति। विशेषणान्तरमाह—किंचेति सदाभारूपत्वे हेतुमाह—अग्रहणेति। जीवे हृद्युपाधिस्थेऽहंरूपग्रहणानुदये [2]तिरोभावः। कर्ताऽहमित्यन्यथाग्रहणोदये चाऽऽविर्भावो भवति तदभावाद्भास्वरूपमेव सदा ब्रह्मेत्यर्थः। श्रुत्याचार्योपदेशात्पूर्वं ब्रह्मण्यग्रहणं तदुपदेशादूर्ध्वं तद्ग्रहणमिति प्रसिद्धे ब्रह्मण्यपि ग्रहणाग्रहणे स्यातामित्याशङ्क्याऽऽह—ग्रहणेति। यथा सवित्रपेक्षया रात्र्यहनी न स्तः किंतूदयास्तमयकल्पनया कल्प्येते तथा ब्रह्मस्वभावालोचनया ग्रहणाग्रहणे न विद्येते किंतूपाधिद्वारा कल्प्येते। तेन ब्रह्मणः सदा भारूपत्वमविरुद्धमित्यर्थः। तेन ब्रह्मणः सदा भारूपत्वमविरुद्धमित्यर्थः। इतश्च निरुपाधिकं ब्रह्म सदाविभातमेषितव्यमित्याह—तमश्चेति। अप्रभातत्व इति च्छेदः। तदभावो ब्रह्मदृष्ट्या तमःसंबन्धाभावः। उक्तमेव हेतूकृत्य विशेषणान्तरं विशदयति—अत एवेति। विदुषो निरुद्धमनसो ब्रह्मस्वरूपावस्थानमुक्तम्। ये तु विदुषोऽपि समाध्यादि कर्तव्यमाचक्षते तान्प्रत्याह—नेहेति। एवंविधत्वं निरुपाधिकत्वमुपचारः समाध्यादिः। निरुपाधिके [3]ब्रह्मणि विदुषो न कर्तव्यशेषोऽस्तीत्येतमर्थं वैधर्म्योदाहरणेन साधयति—यथेत्यादिना। अन्येषामनात्मविदामिति यावत्। अविद्यादशायामेव सर्वो [4]व्यवहारो विद्यादशायां चाविद्याया असत्त्वान्न कोऽपि व्यवहारः। [5]बाधितानुवृत्त्या तु व्यवहाराभाससिद्धिरित्यर्थः।३६।

---

१. सकृदिति—एकवारमेवविभातं प्रकटीभूतं यतोऽनादित्वान्नोत्पत्तं पारयते पुनरावर्णमज्ञानं विनष्टं सदिति-न पुनस्तिरोभूय विभास्यत्यात्मतत्वमिति सकृदेवविभातमुच्यते। २. तिरोभाव इति—सुषुप्तिमूर्छादाविति शेषः। ३. ब्रह्मणीति—सति सप्तमीयं ब्रह्मणि ज्ञाते सतीत्यर्थः। स शेषः। विषयसप्तमी वा। ४. व्यवहारः—भिक्षाटनादिः। ५. बाधितेनुवृत्येति—बाधितस्याज्ञानतत्कार्यस्यानुवृत्या संस्कारेणेत्यर्थः।

सर्वाभिलापविगतः सर्वचिन्तासमुत्थितः ।
सुप्रशान्तः सकृज्ज्योतिः समाधिरचलोऽभयः ॥३७॥

[वह आत्मा सभी प्रकार के वागादि व्यवहार से रहित चिन्तनादि सभी मनोव्यापार से शून्य, अतीत, अत्यन्त प्रशान्त नित्य प्रकाश, समाधिरूप, चलनादि क्रिया से शून्य और निर्भय है ॥३७॥]

अनामकत्वाद्युक्तार्थसिद्धये हेतुमाह-अभिलप्यतेऽनेनेत्यभिलापो वाक्करणं सर्वप्रकारस्याभिधानस्य तस्माद्विगतः । वागत्रोपलक्षणार्था सर्वबाह्यकारणवर्जित इत्येतत् । तथा सर्वचिन्तासमुत्थितः । चिन्त्यतेऽनयेति चिन्ता बुद्धिस्तस्याः समुत्थितोऽन्तःकरणवर्जितः इत्यर्थः । "[1]अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः मु० २।१।२ इति श्रुतेः । "अक्षरात्परतः परः मु० २।१।२" । यस्मात्सर्वविशेषवर्जितोऽतः [2]सुप्रशान्तः । सकृज्ज्योतिः सदैव ज्योतिरात्मचैतन्यस्वरूपेण समाधिः । [3]समाधिनिमित्त प्रज्ञावगम्यत्वात् । समाधीयतेऽस्मिन्निति वा समाधिः । अचलोऽक्रियः । अत एवाभयो [4]विक्रियाभावात् ॥३७॥

अनामकत्वादि पूर्व श्लोक में कहे गये अर्थ की सिद्धि के लिये हेतु बतलाते हैं—जिसके द्वारा शब्द का उच्चारण किया जाता हो, वह अभिलाप अर्थात् वाणी है, जो सभी प्रकार के शब्द उच्चारण का कारण है । ऐसे शब्दोच्चारण के साधन से जो रहित हो, उसे सर्वाभिलाप विगत कहते हैं । यहाँ पर वागिन्द्रिय उपलक्षण के लिये हैं, तात्पर्य यह कि वह परमात्मा सभी बाह्य इन्द्रियों से रहित है । वैसे ही सभी प्रकार की चिन्ता से भी वह ऊपर उठा हुआ है । जिससे चिन्तन किया जाता है वह बुद्धि ही चिन्ता पद वाच्य है, परमात्मा उस बुद्धि रूप चिन्ता अर्थात् अन्तःकरण से रहित है । ऐसा ही 'प्राण रहित, मनोरहित और शुद्ध है, एवं वह परमात्मा सम्पूर्ण जगत का कारण अक्षर पदवाच्य माया से भी पर है' इत्यादि श्रुतियों से भी कहा गया है जब कि वह सम्पूर्ण विषयों से रहित है । इसीलिये वह परमेश्वर अत्यन्त शान्त है । आत्म चैतन्य स्वरूप से सर्वदा प्रकाशमान् है । समाधि के निमित्त से होने वाली प्रज्ञा से परमेश्वर की प्राप्ति होती है । इसीलिये वह समाधि कहा गया है, अथवा इस परमेश्वर में चित्त समाहित किना जाता है । अतः इसे समाधि कहते हैं । यह अचल और अविकारी है । अतएव विकाराभाव के कारण ही यह अभय भी है ॥३७॥

विद्वानेव ब्रह्मेत्यङ्गीकृत्य प्रकृतं ब्रह्म पुंलिङ्गत्वेन निर्दिशति—सर्वेति । श्लोकस्य तात्पर्यमाह—अनामेति । अत्रेति । [5]प्रकृतपदोपादानं [6]तर्हि सर्वकारणवर्जितत्वस्यात्रैव सिद्धत्वादुत्तरविशेषणमनर्थकमित्याशङ्क्याऽऽह—सर्वबाह्येति । बाह्यकरणसंबन्धराहित्यवदन्तःकरणसंबन्धराहित्यं दर्शयति—उभयविधकरणसंबन्धवैधुर्येणाऽऽत्मनः शुद्धत्वे प्रमाणमाह—अप्राण इति । [7]कारणसंबन्धराहित्यमाह—अक्षरादिति । तस्य परत्वं कार्यापेक्षया द्रष्टव्यम् ! [8]उक्तं हेतुकृत्य विशेषणान्तरं विशदयति—यस्मादिति । अस्मिन्परस्मिन्नात्मनि समाधीयते [9]निक्षिप्यते जीवस्तदुपाधिश्चेति समाधिः परमात्मा । [10]समाधिनिमित्तया प्रज्ञया तस्यावगम्यत्वाद्वा समाधित्वमवगन्तव्यम् । अत एवेत्युक्तं स्फुटयति—विक्रियेति ॥३७॥

१. अप्राणइति—एतत्पूर्वंत्रत्याजपदेन जन्मादिषड्भावराहित्यबोधनेन स्थोपाधिराहित्यमबोधि । अप्राण इत्यादिना च सूक्ष्मवर्जनमु । अक्षरात्परतः पर इत्यनेन च कारणराहित्यमित्येतावता त्वं पदार्थं शोधनमकारीति विज्ञेयमु । २. सुप्रशान्तः—सर्वविक्षेपरहितः । ३. समाधीति—एकाग्रेत्यर्थः । ४. विक्रियाभावात्—चलनादिविविध क्रियाभावादित्यर्थः । ५. प्रकृतपदेति—अभिलाषपदेत्यर्थः । ६. तर्हीति—वाच उपलक्षणत्वाभ्युपगमे इत्यर्थः । ७. कारणेति—उपाधीति शेषः ८. उक्तमिति—स्थूलादि राहित्यमित्यर्थः । ९. निक्षिप्यते—अभेदमापाद्यते । १०. समाधीति—बहुव्रीहिरिति भावः ।

ग्रहो न तत्र नोत्सर्गश्चिन्ता यत्र न विद्यते।
आत्मसंस्थं तदा ज्ञानमजाति समतां गतम् ॥३८॥

[जिस ब्रह्मतत्त्व में न तो ग्रहण है और न त्याग ही है। जिसमें किसी प्रकार का चिन्तन नहीं है, उस अवस्था में आत्मा में ही स्थित जन्मरहित ज्ञान समता को प्राप्त कर लेता है ॥३८॥]

यस्माद्ब्रह्मैव समाधिरचलोऽभय इत्युक्तमतो न तत्र तस्मिन्ब्रह्मणि ग्रहो ग्रहणमुपादानं, नोत्सर्ग उत्सर्जनं हानं वा विद्यते। यत्र हि [1]विक्रिया तद्विषयत्वं वा तत्र हानोपादाने स्यातां न तद्द्वयमिह ब्रह्मणि संभवति। विकारहेतोर[2]न्यस्याभावान्निरवयवत्वाच्च। [3]अतो न [4]तत्र हानोपादाने इत्यर्थः। चिन्ता यत्र न विद्यते। सर्वप्रकारैव चिन्ता न संभवति यत्रामनस्त्वात्कुतस्तत्र हानोपादाने इत्यर्थः।

क्योंकि ब्रह्म ही समाधिरूप अचल और अभय है, ऐसा पहले कहा गया है। इसीलिये उस ब्रह्म में न तो ग्रहण अर्थात् उपादान है, और न उत्सर्ग यानी उत्सर्जन रूप त्याग ही है। जहाँ विकार या विकार की योग्यता होती है, वहाँ ही ग्रहण और त्याग भी होते हैं। इसके विपरीत इस ब्रह्म में उन दोनों ग्रहण त्याग की संभावना तक नहीं, क्यों कि इसमें विकार का कारण कोई अन्य पदार्थ नहीं है और स्वयं तो वह निरवयव है। यदि ब्रह्म सावयव होता, तो उसमें विकार होने की संभावना की जा सकती थी। अतः विकार हेतु के अभाव होने से उसमें हान और उपादान संभव नहीं हैं जिसमें किसी प्रकार की चिन्ता नहीं है, अर्थात् मनो रहित होने के कारण जिस ब्रह्म में किसी प्रकार की चिन्ता संभव ही नहीं। वहाँ भला ग्रहण और त्याग कैसे रह सकता है, यह इसका तात्पर्य है। जब शास्त्र आचार्य के उपदेशों द्वारा आत्मसत्य का बोध होता है, तब विषयाभाव हो जाने के कारण आत्मा में ही स्थित ज्ञान जन्म रहित और समता को वैसे ही प्राप्त हो जाता है, जैसे दाह्य वस्तु काष्ठ के अभाव हो जाने पर अग्नि समता को प्राप्त कर जाती है। इस प्रकरण के आदि में जो प्रतिज्ञा की गई थी, कि 'इसलिये मैं समानभाव को प्राप्त, अजन्मा और दीनता रहित वस्तु को बतलाऊँगा' उस पूर्वोक्त पदार्थ

प्रकृते ब्रह्मण्यविक्रिये विधिनिषेधाधीनयोर्वैदिकयोर्वा लौकिकयोर्वा हानोपादानयोरनवकाशत्वमित्याह—ग्रहो नेति। मनोविषयत्वाभावाच्च ब्रह्मणि तयोरवकाशो नास्तीत्याह—चिन्तेति। यथोक्ते ब्रह्मणि ज्ञाते फलितमाह—आत्मेति। प्रकरणादौ प्रतिज्ञातमुपसंहरति—अजातीति। किमिति लौकिकौ वैदिकौ वाग्रहोत्सर्गौ ब्रह्मणि न भवतस्तत्राऽऽह—यस्मादिति। उक्तमेवार्थमुपपादयति—यत्र हीति ब्रह्मणि विक्रियाभावे हेतुमाह—विकारेति। तस्य [5]विक्रियाविषयत्वाभावेऽपि हेतुं कथयति—निरवयवत्वाच्चेति। विक्रियायास्तद्विषयत्वस्य चाभावे फलितमाह—अत इति। द्वितीयं पादमवतार्य व्याचष्टे—चिन्तेत्यादिना। तृतीयं पादं विभजते—यदेवेति। चतुर्थपादं व्याकरोति—अजातीति। [6]नन्विदं प्रकरणादावुक्तं किमर्थं पुनरिहोच्यते तत्राऽऽह—यदादाविति। ननु ग्रहो न तत्रेत्यादौ पूर्वत्र तत्त्वज्ञानमुक्तं न त्वकार्पण्यं तत्कथमकार्पण्यं वक्ष्यामीत्यु[7]पक्रान्तस्यात्रोपसंहारः संभवतीत्याशङ्क्य तत्त्वज्ञानस्यैवाकार्पण्यरूपत्वादुक्तोपसंहारसिद्धिरित्याह—तस्मादिति। तत्त्वज्ञानातिरिक्तं ज्ञानं कार्पण्यविषयमित्यत्र [8]लिङ्गं दर्शयति—यो वा इति। तत्त्वज्ञानराहित्ये कृपणत्वमुक्त्वा तद्वत्त्वे फलितमाह—प्राप्येति ॥३८॥

१. विक्रिया—परिणामः, तद्विषयत्वं च तत्योग्यत्वमिति बोध्यम्। २. अन्यस्येति—कुलालादेरिवेत्यर्थः। ३. अतः—उभयाभावात्। ४. तत्र—उभयाभाववति ब्रह्मणीत्यर्थः। ५. विक्रिया विषयत्वाभावे—विक्रिया योग्यत्वाभावे इत्यर्थः। ६. इदम्—अकार्पण्यम्। ७. उपक्रान्तस्य—अकार्पण्यस्येत्यर्थः। ८. श्रुतेर्लिङ्ग विधया गमकत्वादाह—लिङ्गमिति।

अस्पर्शयोगो वै नाम [1]दुर्दर्शः [2]सर्वयोगिभिः ।
योगिनो बिभ्यति ह्यस्मादभये भयदर्शिनः ॥३९॥

[सर्व सम्बन्धरूप स्पर्श से रहित होने के कारण औपनिषद् अस्पर्श योग निस्सन्देह योगियों के लिये कठिनता से प्राप्त होता है। इस अभय पद में भी भय को देखने वाले योगि लोग इस अस्पर्श योग से भयभीत होते हैं ॥३९॥]

यदैवाऽऽत्मसत्यानुबोधो जातस्तदैवाऽऽत्मसंस्थं विषयाभावाद[3]ग्न्युष्णवदात्मन्येव [4]स्थितं ज्ञानम्। अजाति जातिवर्जितम्। समतां गतं परं [5]साम्यमापन्नं भवति। यदादौ प्रतिज्ञातमतो वक्ष्याम्यकार्पण्यमजाति समतां गतमितीदं तदुपपत्तितः शास्त्रतश्चो[6]क्तमुपसंह्रियते। अजाति समतां गतमित्येतस्मादात्मसत्यानुबोधात्कार्पण्यविषय[7]मन्यत्। 'यो वा [8]एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्माल्लोकात्प्रैति स कृपणः' बृ० ३।८।१० इति श्रुतेः। प्राप्यैतत्सर्वः कृतकृत्यो [9]ब्राह्मणो भवतीत्यभिप्रायः ॥३८॥

यद्यपीदमित्थं परमार्थतत्त्वम्। अस्पर्शयोगो नामा[10]यं सर्वसंबन्धाख्यस्पर्श[11]वर्जितत्वादस्पर्शयोगो नाम वै स्मर्यते प्रसिद्धमुपनिषत्सु। दुःखेन दृश्यत इति दुर्दर्शः सर्वैर्योगिभिः, वेदान्त[12]विहितविज्ञानरहितैः सर्वयोगिभिरा[13]त्मसत्यानुबोधायासलभ्य एवेत्यर्थः। योगिनो बिभ्यति ह्यस्मात्सर्वभयवर्जितादप्यात्मनाशरूपमिमं योगं मन्यमाना भयं कुर्वन्ति। अभयेऽस्मिन्भयदर्शिनो भयनिमित्तात्मनाशदर्शनशीला अविवेकिन इत्यर्थः ॥३९॥

का ही यहाँ पर "अजाति समतां गतम्" इत्यादि वाक्य से शास्त्र द्वारा उपसंहार किया जाता है। इस आत्मसत्यानुबोध से भिन्न वस्तु दीनता से ग्रस्त है। ऐसा ही 'हे गार्गि! जो पुरुष इस अक्षर ब्रह्म को आत्मभावेन जाने बिना ही इस लोक से चला जाता है, अर्थात् मर जाता वह दीन है" यह श्रुति भी बतला रही है। इस तत्त्व को प्राप्त कर सभी कृत कृत्य और ब्रह्मस्वरूप में स्थित हो जाते हैं ॥३८॥

अस्पर्श योग दुर्गम है।

यद्यपि यह परमार्थतत्त्व ऐसा है, फिर भी यह अस्पर्श-योग नाम वाला है। क्योंकि इसमें सभी प्रकार के सम्बन्ध रूप स्पर्श का अभाव है। इसीलिये यह उपनिषदों में अस्पर्श-योग के नाम से प्रसिद्ध है। वेदान्त प्रतिपादित विज्ञान से रहित सभी योगियों द्वारा यह दुर्दर्श है, अर्थात् कठिनता से देखा

परमार्थब्रह्मस्वरूपावस्थानफलकं चेदद्वैतदर्शनं किमिति तर्हि सर्वैरेव नाऽऽद्रियते तत्राऽऽह—अस्पर्शेति। परमार्थतत्त्वं कर्मनिष्ठानां बहिर्मुखानां(णां) दुर्दर्शनमित्यत्र हेतुमाह—योगिन इति। यदुक्तं तत्त्वज्ञानं स्वरूपावस्थानफलकमिति तदङ्गी करोति—यद्यपीति। परमार्थतत्त्वं ब्रह्मेदं प्रत्यग्भूतम्। इत्थं प्रागुक्तपरिपाट्या कूटस्थसच्चिदानन्दात्मकं यद्यपि तत्त्वज्ञानात्प्राप्यते तथाऽपि मूढास्तन्निष्ठा न भवन्तीति शेषः। यस्य तत्त्वानुभवस्य स्वरूपावस्थानं फलमुक्तं तमिदानीं विशिनष्टि—अस्पर्शेति [14]तत्र वर्णाश्रमादिधर्मेण पापादिमलेन च स्पर्शो न भवत्यस्मादित्यद्वैतानुभवोऽ-

---

१. दुर्दर्श इति—दुःखेनायासप्रयोजकश्रवणादिना दृश्यते प्राप्यते इति दुर्दशः। २. सर्वयोगिभिः—कर्मयोगिभिरित्यर्थः। ३. अग्न्युष्णवदिति—अग्नेरौष्ण्यं हि दाह्याभावे किं दहेदित्यात्मन्येव स्थितं भवति यथा तद्वदित्यर्थः ४. स्थितम्—स्वरूपावस्थम्। ५. साम्यम्—निर्विशेषत्वम्। ६. उक्तम्—उपपादितम्। ७. अन्यदिति—ज्ञानमिति शेषः। ८. एतत्—आत्मज्ञानम्। ९. ब्राह्मणः—ब्रह्मस्वरूपावस्थितो भवतीत्यर्थः। १०. अयम्—यथोक्तस्तत्त्वानुभवः। ११. वर्जितत्वादिति—वर्जकत्वादित्यर्थः। १२. विहितेति—जन्येत्यर्थः। १३. आत्मसत्यानुबोधायासलभ्यः—आत्मसत्यस्यानुबोधो यैस्तै श्रवणादयस्तत्रायासो येषां तैर्लभ्य इत्यर्थः। आत्मसत्यानुबोधायायासो येषामिति वा विग्रहः। १४. तत्रेति—स्पर्शयोगपदार्थयोर्मध्ये इत्यर्थः।

मनसो निग्रहायत्तमभयं सर्वयोगिणाम्।
दुःखक्षयः प्रबोधश्चाप्यक्षया शान्तिरेव च ॥४०॥

[सभी द्वैतवादी योगियों का अभय, दुःखों का नाश, आत्मबोध और मोक्ष नामक अक्षय शान्ति भी मनोनिग्रह के अधीन है ॥४०॥]

[1]येषां पुनर्ब्रह्मस्वरूप व्यतिरेकेण रज्जुसर्पवत्कल्पितमेव मन इन्द्रियादि च न परमार्थतो विद्यते तेषां ब्रह्मत्वरूपाणामभयं मोक्षाख्या चाक्षया शान्तिः स्वभावत एवासिद्धा ना[2]न्यायत्ता नोपचारः कथंचनेत्यवोचाम। ये त्वतोऽन्ये [3]योगिनो [4]मार्गगा हीन मध्यमदृष्टयो मनोऽन्यदा[5]त्मव्यतिरिक्तमात्म-संबन्धि पशन्ति तेषामात्मसत्यानुबोधरहितानां मनसोनिग्रहायत्तमभयं सर्वेषां योगिनाम्। किञ्च

जाता है। यह तो केवल आत्मसत्यानुबोध के लिये किये गये आयास से ही प्राप्त होने योग्य है। क्योंकि सम्पूर्ण भय से रहित होने पर भी कर्म निष्ठ वैदिक लोग इसमें भय करते हैं। वे इस अस्पर्श-योग को आत्मा का नाश स्वरूप समझते हैं। एवं भय शून्य भी इस योग में ये भय देखने वाले हैं। इसी भय के निमित्त आत्म नाश को देखने के कारण ये कर्मी अविवेकी कहे गये हैं, यह इसका तात्पर्य है ॥३९॥

द्वैतवादियों की शान्ति मनोनिरोध पर आधारित है

जो ब्रह्मस्वरूप से अतिरिक्त मन, इन्द्रिय आदि को रज्जु-सर्प की भाँति कल्पित मानते हैं, परमार्थतः जिनकी दृष्टि में ये वस्तु ही नहीं हैं उन ब्रह्मस्वरूप तत्त्ववेत्ताओं को भय शून्य और मोक्ष

स्पर्शः। स एव योगो जीवस्य ब्रह्मभावेन योजनदित्याह—सर्वेति। [6]नामेतिनिपातस्य पर्यायं गृहीत्वा विवक्षित मर्थमाह—नामेत्यादिना। उपनिषत्सु न लिप्यते कर्मणा पापकेनेत्यपद्यासु। दुःखं श्रवणमननादिलक्षणम्। योगिशब्दस्य ज्ञानिविषयत्वं व्यावर्तयति—वेदान्तेति। कैस्तर्हि यथो स्यानुभवस्य लभ्यत्वमित्याशङ्‌क्याऽऽ—आत्मेति। उत्तरार्ध विभजते—योगिन इति। कर्मिणो हि[7]श्रोत्रिया ब्राह्मण्याद्यस्माकं नङ्‌क्ष्यतीति मत्वा तत्त्वज्ञानाद्बिभ्यतीत्यर्थः। अभयनिमित्तमेव तत्त्वज्ञानं मिथ्याज्ञानवशाद्भयनिमित्तं पश्यन्तीत्याह—सर्वेति। भयदर्शित्वं विशदयति—अभयेति ॥३९॥

[8]उत्तमदृष्टीनामद्वैतदर्शनमद्वैतदृष्टिफलं च [9]मनोनिरोधमुक्त्वा [10]मन्ददृष्टीनां मनोनिरोधाधीनमात्मदर्शनमुपन्यस्यति—मनस इति। अभयमित्यशेषभयनिवृत्तिसाधनमात्मदर्शनमुच्यते। सर्वयोगिनां (णां) सर्वेषां योगिनां कर्मानुष्ठाननिष्ठानां बुद्धिशुद्धिमतामित्यर्थः। मनोनिरोधाधीनं [11]प्रागुक्तमनूद्य तत्फलं कैवल्यं कथयति—दुःखेति। श्लोकस्य विषयं [12]परिशिनष्टि—येषामिति। [13]अभयं भयराहित्यमसंत्रासात्मकमित्यर्थः। उक्तलक्षणा शान्तिर्निरतिशयानन्दाभिव्यक्तिः स्वभावतो [14]विद्यास्वरूपसामर्थ्यादित्यर्थः। विदुषां जीवन्मुक्तानां मुक्तेः सिद्धत्वान्न साधनापेक्षे-

१. येषाम्—विदुषां जीवनमुक्तानामित्यर्थः। २. अन्यायत्तेति—मनोनिरोधाधीनेत्यर्थः। ३. योगिनः—कर्मानुष्ठायिनः। ४. मार्गगा—वेदोपदिष्टोपासनामार्गानुवर्तिनः इत्यर्थः। ५. अन्यदित्युक्तम्—विशदयति—आत्मव्यतिरिक्तमिति। ६. वैपादपूरणेऽवधारणे चेति कोशप्रसिद्धेर्वै शब्दमव्याख्याय नामशब्द पर्यायोपादानपूर्वकं व्याचष्टे इत्याह—नामेति निपातस्येत्यादि। तत्र स्मर्यते इति पर्यायोपादनं नामकामे (कोपे) अभ्युपगमे विस्मये स्मरणेऽपि चेति मेदिनीकारोक्तेः। स्मृतेश्च श्रुतिमूलकत्वादनुभव पूर्वकत्वाद्वा उपनिषत्सु प्रसिद्धः इति विवक्षितोऽर्थः इति विभाग इति भावः। ७. श्रोत्रियाः—वैदिकाः। ८. उत्तमदृष्टीनाम्—जन्मान्तर कर्मोपासनतः शुद्धयैकाग्रमनसाम्। ९. मनो निरोधम्—अखण्डात्मैकाकारतामित्यर्थः। १०. मन्ददृष्टीनाम्—कर्मानुष्ठानतो निष्पापत्वेन निर्विक्षेपमात्रावशिष्टानां संपादनीयत्वेनेति भावः। ११. प्रागुक्तमनूद्येति—पूर्वार्धोक्तमभयं प्रबोधपदेनानूद्येत्यर्थः। १२. परिशिनष्टीति—पूर्वश्लोकविषयात् पृथक्करोतीत्यर्थः। १३. अभयम्—अज्ञानतत्कार्यनिवृत्यात्मकं फलमिति भावः। १४. विद्यास्वरूपसामर्थ्यादिति—अखण्डात्मवृत्तिनिष्ठ सामर्थ्यविशेषादानन्दाभिव्यक्त्यानुकूल्यरूपादित्यर्थः।

[1]उत्सेक उदधेर्यद्वत्कुशाग्रेणैकबिन्दुना। मनसो निग्रहस्तद्वद्भवेदपरिखेदतः ॥४१॥

[जैसे कुशा के अग्रभाग से एक-एक बूँद के द्वारा समुद्र को सुखाना (लम्बे धैर्य पूर्वक प्रयत्न से हो सकता है) ठीक वैसे ही खेद रहित (प्रयत्न शील) योगियों का मनोनिग्रह धैर्य से हो सकता है ॥४१॥]

दुःखक्षयोऽपि। न ह्यात्मसंबन्धिनि मनसि [2]प्रचलिते दुःखक्षयोऽस्त्यविवेकिनाम्। किञ्चाऽऽत्मप्रबोधोऽपि मनोनिग्रहायत्त एव। तथाऽक्षयाऽपि मोक्षाख्या शान्तिस्तेषां मनोनिग्रहायत्तैव ॥४०॥

मनोनिग्रहोऽपि तेषामुदधेः कुशाग्रेणैकबिन्दुनोत्सेचनेन शोषणव्यवसायवद्व्यवसायवतामनव-

---

नामक अक्षय शान्ति स्वभाव से ही सिद्ध है किसी अन्य साधन के कारण से नहीं, इसे हम नोपचार कथंञ्चन" (उस तत्त्ववेत्ता के लिये कुछ भी कर्तव्य शेष नहीं है।) इस वाक्य से पहले बतला आये हैं। इनसे भिन्न जो सन्मार्ग गामी मन्द और मध्यम दृष्टि वाले योगी हैं, वे मन को आत्मा से भिन्न और आत्म सम्बन्धी मानते हैं। ऐसे आत्मसत्यानुबोध से शून्य सभी योगियों की निर्भयता मनो-निग्रह पर आधारित है, इतना ही नहीं, उनका दुःखनाश भी मनोनिरोधकाल तक ही रहता है। क्योंकि आत्मसम्बन्धी मन के विचलित होने पर पुनः अविवेकियों का दुःख क्षय नहीं रह जाता है। विशेष क्या कहें उनका आत्मज्ञान भी मनो निरोध के अधीन है, एवं मोक्ष नामक अक्षय शान्ति भी मनो निरोध पर ही आधारित है अर्थात् वे साधक जब तक मनो निरोध किये रहेंगे तभी तक उन्हें अभय, दुःख क्षय, आत्मज्ञान और अक्षय शान्ति रहेगी ॥४०॥

मनोनिग्रह के लिये धैर्य की आवश्यकता।

कुश के अग्रभाग से एक एक बूँद करके समुद्र को सुखाने के लिये जैसा खेद रहित और प्रयत्न

त्याह—नान्यायत्तेति। तत्र वाक्योपक्रममनुकूलयति—नेत्यादिना। उत्तमेभ्यो ज्ञानवद्भ्योऽधिकारिभ्यो [3]व्यतिरिक्ता-नधिकारिणोऽवतारयति—ये त्विति। योगिनः सुकृतानुष्ठायिनस्तदनुष्ठानादेव सन्मार्गगामिनः[4]स्तेषामपि तत्त्वज्ञानं [5]कथंचिदुपजातं केवलं मनोनिग्रहेणेत्याशङ्क्याऽऽह—तेषामिति। अभयं [6]तदेव तत्त्वज्ञानम्। दुःखनिवृत्तिरपि मनोनिग्रहमपेक्ष्य भवतीत्याह—किंचेति। तदेव व्यतिरेकमुखेन (ण) स्फोरयति—न हीति। इतश्च मनो निगृ (ग्र) हीतव्यमित्याह—किंचेति। अभयमित्यत्र सूचितं स्पष्टं विवृणोति—आत्मेति। इतश्च मनोनिग्रहोऽर्थवानित्याह—तथेति। तेषां साधकानां मुमुक्षूणामिति यावत् ॥४०॥

कथं मुमुक्षूणां जिज्ञासूनां मनोनिग्रहः सिध्येदित्याशङ्क्याऽऽह—उत्सेक इति। [7]दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकभूतश्लोक-निविष्टाक्षराणि व्याचष्टे—मनोनिग्रहोऽपीति। तेषां व्यवसायवतामुद्योगभागिनामनुद्वेगवतामिति संबन्धः। चक्षुषो निमीलने तमो दृश्यते तस्य चोन्मीलने घटाद्येवोपलभ्यते न कदाचिदपि अह्नेत्युद्वेगपरिवर्जनात्प्रागुदीरितानां मनो-निग्रहः संभवति तदाह—अपरिखेदत इति ॥४१॥

---

१. उत्सेक इति—यथा कस्यचिदध्यवसायवतस्टिटिभस्यकुशाग्रेण—कुशाग्रसदृशेन सूक्ष्मेण चञ्च्वग्रेण समुद्राद् बहिः प्रक्षिप्तेनैकैकबिन्दुना उदधेः समुद्रस्योत्सेको रिक्तिकरणं गरुडप्रयासात् दण्डप्राप्त्या फलतः सम्पन्नं तथैवाध्यव-सायवतः पुरुषस्यापरिखेदत एतावतापि कालेन मनोनिग्रहो न जातः किमतः परं कष्टमित्यनुतापः परिखेदः तद्राहित्यतः इहजन्मनि जन्मान्तरेवा सेत्स्यति किं त्वरया इत्येवमनुद्वेगतो मनसो निग्रहो भवेच्छनैः संपद्येतेत्यर्थः। २. प्रचलिते—विक्षिप्ते इत्यर्थः। ३. व्यतिरिक्तानिति—कर्मानुष्ठानशुद्धबुद्धीनिति। ४. तेषामिति—उपासनमार्गानुगामिनामित्यर्थः। ५. कथमिति—आचार्योपदेशादिनेत्यर्थः। ६. तदेवेति—मनो निग्रह साध्यत्वमेवेत्यर्थः। ७. तात्पर्यादिकमनुक्त्वैव वाक्षरमात्रव्याख्याने हेतुं सूचयन् श्लोकं विशिनष्टि—दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकभूतेति। कुशाग्रेणाब्ध्युत्सेक इवा परिखेदतोऽप्यसंभवी मनो निग्रह इत्येवमाक्षेपोऽत्र नाभिप्रेतः इति भावः।

[1]उपायेन निगृह्णीयाद्विक्षिप्तं कामभोगयोः । सुप्रसन्नं लये चैव यथा कामो लयस्तथा ॥४२॥

[काम और भोगरूप विषयों में विक्षिप्त चित्त का आगे कहे जाने वाले उपाय से निग्रह करे, एवं लयावस्था में अत्यन्त आयास रहित चित्त का भी (निग्रह करे)। क्योंकि जिस प्रकार काम अनर्थ का कारण है उसी प्रकार लय भी अनर्थ का कारण है ॥४२॥]

सन्नान्तःकरणानामनिर्वेदादपरिखेदतो भवतीत्यर्थः ॥४१॥

किमपरिखिन्नव्यवसायमात्रमेव मनोनिग्रह उपायो नेत्युच्यते। अपरिखिन्नव्यवसायवान्सन्वक्ष्यमाणेनोपायेन कामभोगविषयेषु विक्षिप्तं मनो निगृह्णीयान्निरुन्ध्यादात्मन्येवेत्यर्थः। किंच लीयतेऽस्मिन्निति सुषुप्तो लयस्तस्मिल्लँये च सुप्रसन्नमायासवर्जितमपीत्येतन्निगृह्णीयादित्यनुवर्तते। सुप्रसन्नं चेत्कस्मान्निगृह्यत इति। उच्यते। यस्माद्यथाकामोऽनर्थहेतुस्तथा लयोऽपि। अतः कामविषयस्य मनसो निग्रहवल्लयादपि निरोद्धव्यमित्यर्थः ॥४२॥

करने की आवश्यकता है, ऐसे ही खेद रहित चित्त, उद्यमशील होने पर उन योगियों के मन का निरोध भी खेद शून्य प्रयत्न से ही होता है, यह इसका तात्पर्य है ॥४१॥

मनो निग्रह के उपाय।

तो फिर मनोनिग्रह का उपाय क्या खेद रहित प्रयत्न मात्र है ? इस पर कहते हैं कि—ऐसी बात नहीं। खेद न मानकर निरन्तर प्रयत्न-शील पुरुष आगे कहे जाने वाले उपाय से काम और भोग रूप विषयों में विक्षिप्त हुए मन को अपनेवश में करे अर्थात् उसे आत्मा में ही निरुद्ध करते रहे और जिस समय चित्तलीन हो जाता है, उस सुषुप्तावस्था को लय कहा गया है। उस लयावस्था में आयास रहित स्थिति में अत्यन्त प्रसन्नचित्त का भी विवेक पूर्वक निरोध करें। यहाँ निगृह्णीयान्" इस पाद की अनुवृत्ति कर लेनी चाहिए। यदि कहो कि जब चित्त अत्यन्त प्रसन्न हो तो फिर उसका निग्रह ही क्यों किया जाय ? इस पर कहते हैं—क्योंकि जैसे काम अनर्थ का कारण है वैसे ही कालक्षेप का हेतु होने से लय भी अनर्थ का कारण है। अतः जैसे कामासक्त मन को निग्रह करना आवश्यक है, वैसे ही लय से भी मन को विवेक पूर्वक निरुद्ध करना आवश्यक है, यह इसका तात्पर्य है ॥४२॥

---

[2]समाधिं कुर्वतस्तत्त्वसाक्षात्कारप्रतिबन्धका लयविक्षेपसुखरागास्तेभ्यो मनसो वक्ष्यमाणोपायेन निग्रहं कुर्यात्। अन्यथा समाधिसाफल्यानुपपत्तेरित्याह—उपायेनेति। [3]प्रागुक्तादुपायादेव [4]मनोनिग्रहपरिग्रहे श्रवणादिविध्यानर्थक्यमिति मन्वानः शङ्कते—किमिति। पूर्वोक्तोपायवतः श्रवणाद्यनुतिष्ठतो मनोनिग्रहद्वारा तत्त्वज्ञानसिद्धिरित्युत्तरमाह—नेत्युच्यत इति। तृतीयपादं व्याचष्टे—किंचेति। लीयते स्थानद्वयमिति शेषः। चतुर्थपादमाकाङ्क्षाद्वारा विवृणोति—सुप्रसन्नमित्यादिना ॥४२॥

---

१. उपायेनेति—काम भोगयोः चिन्त्यमानभुज्यमानावस्थापन्नविषयेषु। विक्षिप्तम् —प्रमाणविकल्पविपर्ययस्मृतीनामन्यतमयोपि वृत्यापरिणतं मनः उपायेन वक्ष्यमाणेन वैराग्येनाभ्यासेन च निगृह्णीयान्निरुन्ध्यादात्मन्येवेत्यर्थः। तथा लीयते अस्मिन्स्थानद्वयमिति लयः सुषुप्तं तस्मिन्सुप्रसन्नमायासवर्जितमपि मनो निगृह्णीयादेव सुप्रसन्नं चेत् किमिति निगृह्यते तत्राह—यथा काम इति। यथा कामो विषयगोचर प्रमाणादि वृत्युत्पादनेन समाधिविरोधी तथा लयोऽपि निद्राख्यवृत्युत्पादनेन तद्विरोधी सर्ववृत्तिनिरोधो हि समाधिः। अतः कामादिकृतविक्षेपादीव श्रमादिकृत लयादपिमनोनिरोधव्यमेवेत्यर्थः। २. समाधिम्—मनोनिग्रहाख्यमित्यर्थः। ३. प्रागुक्तादिति—अपरिखेदात्मकादित्यर्थः। ४. मनोनिग्रहपरिग्रहे—तत्त्वज्ञानफलके सिद्धे।

[1]दुःखं सर्वमनुस्मृत्य कामभोगान्निवर्तयेत् ।
अजं सर्वमनुस्मृत्य जातं नैव तु पश्यति ॥४३॥

[(अविद्या से प्रतीत होने वाला) सम्पूर्ण द्वैत दुःख रूप है, ऐसा निरन्तर स्मरण करते हुए इच्छाजनित भोग से (वैराग्य द्वारा हटावे) पुनः सदा सभी वस्तुओं को अजन्मा ब्रह्मरूप स्मरण करता हुआ फिर किसी द्वैतजात को नहीं देखता है ॥४३॥

कः स उपाय इति । उच्यते । सर्वं द्वैतमविद्या[2]विजृम्भितं दुःखमेवेत्यनुस्मृत्य कामभोगा-[3]त्कामनिमित्तो भोग इच्छाविषयस्तस्मा[4]द्विप्रसृतं मनो निवर्तयेद्वैराग्यभावनयेत्यर्थः । अजं ब्रह्म सर्वमित्येतच्छास्त्राचार्योपदेशतोऽनुस्मृत्य तद्विपरीतं द्वैतजातं नैव तु पश्यति । अभावात् ॥४३॥

वह उपाय क्या है ? इस पर कहते हैं—अविद्या का विलास सम्पूर्ण द्वैत दुःखरूप ही है ऐसा स्मरण कर काम निमित्तक भोग से अर्थात् इच्छा के विषय से विषयासक्त मन को वैराग्य भावना द्वारा लौटा लेवे । सभी वस्तु अजन्मा ब्रह्म स्वरूप है, इस प्रकार शास्त्र आचार्य के उपदेश का अनुस्मरण कर सदा अद्वैत का चिन्तन करे । इसके विपरीत द्वैत वस्तु का बाध हो जाने के कारण वास्तव में वह है नहीं, ऐसा देखे ॥ ४३ ॥

उपायेन निगृह्णीयादित्युक्तम् । तमेवोपायं वैराग्यरूपमुपदिशति—दुःखमिति । ज्ञानाभ्यासाख्यमुपायान्तरमुपन्यस्यति—अजमिति । अक्षरव्याख्यानार्थमाकाङ्क्षां निक्षिपति—कः स इति । तत्र पूर्वार्धं व्याकरोति—उच्यत इत्यादिना । वैराग्यभावना तत्र तत्र द्वैतविषये दोषानुसंधानेन वैतृष्ण्यभावना । तथा कामभोगान्मनो निरोद्धव्यमित्यर्थः । द्वितीयार्धं ज्ञानाभ्यासविषयं व्याकरोति—अजमित्यादिना ॥४३॥

---

१. दुःखमिति—सर्वद्वैतजातमविद्याप्रत्युपस्थापितं दुःखमेवेत्यनुस्मृत्य 'नाल्पे सुखमस्त्यथ यदल्पं तन्मर्त्यं तद्दुःखमि'त्यादि श्रुत्यर्थमाचार्योपदेशमनुपर्यालोच्य । कामान्—चिन्त्यमानावस्थापन्नान्, भोगान्—भुज्यमानावस्थापन्नांश्च विषयान् निवर्तयेन्मनसः सकाशादिति शेषः । कामाश्च भोगाश्च कामभोगं तस्मान्मनो निवर्तयेदिति वा । एवं द्वैतस्मरणकाले वैराग्यभावना उपायः । द्वैतविस्मरणं तु परमोपायः इत्याह—अजमिति, ब्रह्मसर्वं न ततोऽतिरिक्तं किञ्चिदस्तीति शास्त्राचार्योपदेशादनुस्मृत्य पर्यालोच्य तद्विपरीतं द्वैजजातं न पश्यत्येव, अधिष्ठाने ज्ञातेकल्पितस्याभावात्, पूर्वोपायापेक्षया वैलक्षण्यसूचनार्थस्तु शब्द । इत्यस्मद्गुरुचरणासंकलितोऽर्थः । २. विजृम्भितम्—प्रत्युपस्थापितम् । ३. कामनिमित्तः—स्वस्मिन्निष्ठसाधनताज्ञानद्वाराकामजनकः । ४. विप्रसृतम्— अनुरक्तम् ।

[1]लये संबोधयेच्चित्तं विक्षिप्तं शमयेत्पुनः ।
सकषायं विजानीयात्समप्राप्तं न चालयेत् ॥४४॥

[(इस प्रकार बारम्बार अभ्यास द्वारा) लयावस्था में गये हुए चित्त को सावधान करे। पुनः विषयों में विक्षिप्त चित्त को शान्त करे, (और इन दोनों की अन्तरालावस्था में रहने से) चित्त राग युक्त हो रहा हो, तो उसे भी समझे और यत्नपूर्वक समता को प्राप्त हुए चित्त को विषयाभिमुख न होने दे ॥४४॥

एवमनेन ज्ञानाभ्यासवैराग्यद्वयोपायेन लये सुषुप्ते लीनं संबोधयेन्मनः। [2]आत्मविवेकदर्शनेन [3]योजयेत्। चित्तं मन इत्यनर्थान्तरम्। विक्षिप्तं च कामभोगेषु शमयेत्पुनः। एवं पुनः पुनर[4]भ्यस्यतो लयात्संबोधितं विषयेभ्यश्च व्यावर्तितं नापि साम्यापन्नमन्तरालावस्थं सकषायं सरागं बीजसंयुक्तं मन

इस प्रकार ज्ञानाभ्यास और वैराग्य इन पूर्वोक्त दोनों उपायों से सुषुप्ति में लीन हुए मन को संबोधित करे अर्थात् आत्मा के विवेक विज्ञान द्वारा आत्मा में मन को लगावे। चित्त और मन दोनों का एक ही अर्थ है, एवं काम तथा भोग में विक्षिप्त चित्त को पुनः शान्त करे। इस प्रकार पुनः पुनः लयावस्था से संबोधित और विषयों से निवृत्त किया हुआ चित्त अन्तरालावस्था (मध्य की दशा) में स्थित होकर यदि समता को प्राप्त न हो रहा हो, तो ऐसा समझना चाहिए, कि इस समय मन राग से

ज्ञानाभ्यासवैराग्याभ्यां लयाद्विक्षेपाच्चः [5]व्यावर्तितं [6]मनो रागप्रतिबद्धं श्रवणमननिदिध्यासनाभ्यास-प्रसूतसंप्रज्ञातसमाधिनाऽसंप्रज्ञातसमाधिपर्यन्तेन ततोऽपि प्रतिबन्धाद्व्यावर्तनीयमित्याह--लय इति। श्लोकाक्षराणि व्याकरोति--एवमित्यादिना। ज्ञानाभ्यासश्रवणाद्यावृत्तिर्विषयेषु क्षयिष्णुत्वादिदोषदर्शनेन वैतृष्ण्यं वैराग्यं लयो निद्रा। संप्रबोधनमेवा[7]भिनयति—आत्मेति। मनसि प्रकृते किमिति चित्तमुच्यते तत्राऽऽह--चित्तमिति। विक्षिप्तं [8]विप्र-सृतं शमयेद्व्यावर्तयेदिति यावत्। पुनरित्यत्र विवक्षितमर्थमाह--एवमिति। उभयतो व्यावर्तितं मनस्तर्हि निर्विशेष

---

१. लय इत्यादि—एवं वैराग्यभावना तत्त्वदर्शनाभ्यां विषयेभ्यो निवर्त्यमानं चित्तं यदि दैनन्दिन लयाभ्यास-विशाल्लयाभिमुखं भवेत्तदा निद्राशेषाजीर्णबह्वशनश्रमाणां लयकारणानां निरोधेन चित्तं सम्यक् प्रबोधयेदुत्थानप्रयत्ने नेत्यर्थः। यदि पुनरेवं प्रबोध्यमानं दैनन्दिन प्रबोधाभ्यासवशात् कामभोगयोर्विक्षिप्तं स्यात्तदा वैराग्य भावनया तत्त्व साक्षात्कारेण च पुनः शमयेदित्यर्थः। एवं पुनः पुनरभ्यस्यतोलयात् सम्बोधितं विषयेभ्यश्च व्यावर्तितं नापि समप्राप्त-मन्तरालावस्थं चित्तं स्तब्धीभूतं सकषायम्—रागद्वेषादि प्रबलवासनावशेन स्तब्धी भावाख्येन कषायेण दोषेण युक्तं विजानीयात्। ततश्चनेदं समाहितमित्यवगत्य लयविक्षेपाभ्यामिव कषायादपि चित्तं निरुन्ध्यात्, ततश्च कषायेषुलय-विक्षेपपरिहृतेषु परिशेषात् चित्तेन समं ब्रह्मप्राप्यते तच्च समप्राप्तं चित्तं लयकषायभ्रान्त्या न चालयेद्विषयाभिमुखं न कुर्याद् किन्तु धृतिगृहीतया बुद्धयालयकषायप्राप्ते विविच्य तस्यामेव समप्राप्तावतिप्रयत्नेन स्थापयेदित्यर्थः। तदुक्तं भगवताऽऽत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेदिति। अयनपि तथैव अत्र सर्वत्र निर्द्वंवलयवाच्येति बोध्यम्।
२. आत्मविवेक दर्शनेन—आत्मनिविवेको त मनोभेदस्तस्य दर्शनं विज्ञानं तेनेत्यर्थः। ३. योजयेदिति—आत्मनीति शेषः। ४. अभ्यस्यतः—अभ्यासतः इति पाठान्तरम्। ५. व्यावर्तितम्—विमुखी कृतम्। ६. मनः—लयादि विषयकमिति शेषः। ७. अभिनयति—स्वरूपदर्शनेन स्फुटयतीत्यर्थः। ८. विप्रसृतम्—विषयप्रवणम्।

[1]नाऽऽस्वादयेत्सुखं तत्र निःसङ्गः प्रज्ञया भवेत् । निश्चलं निश्चरच्चित्तमेकी कुर्यात्प्रयत्नतः ॥४५॥

[(निर्विकल्पक समाधि की इच्छा वाले योगी उस साम्यावस्था में प्राप्त हुए) सुख का आस्वादन न करे, बल्कि विवेकवतीबुद्धि के द्वारा उसमें मिथ्यात्त्व भावना करते हुए निस्संग रहे । फिर यदि किसी कारण से चित्त बाहर जावे तो उसे प्रयत्न पूर्वक निश्चल तथा समाहित करे ।।४५।।

इति विजानीयात् । ततोऽपि यत्नतः साम्यमापादयेत् । यदा तु समप्राप्तं भवति । [2]समप्राप्त्यभिमुखी भवतीत्यर्थः । ततस्तन्न विचालयेद्विषयाभिमुखं न कुर्यादित्यर्थः ।।४४।।

समाधित्सतो योगिनो यत्सुखं जायते तन्नाऽऽस्वादयेत् । तत्र न रज्येतेत्यर्थः । कथं तर्हि । निःसङ्गो निःस्पृहः प्रज्ञया विवेकबुद्ध्या यदुपलभ्यते सुखं तदविद्यापरिकल्पितं मृषैवेति विभावयेत् । ततोऽपि

युक्त यानी बीजावस्था से संयुक्त हो रहा है । उस अवस्था से भी यत्न पूर्वक मन को साम्यावस्था में स्थित करें, अर्थात् संप्रज्ञात समाधि के द्वारा असंप्रज्ञात समाधि को प्राप्त करे । किन्तु जिस समय चित्त असंप्रज्ञात समाधि को प्राप्त हो जाय, यानी समता प्राप्ति के अभिमुख हो जावे, तो उस अवस्था में से उसे विचलित अर्थात् विषयाभिमुख न करे । निर्विशेष वस्तु की प्राप्ति के लिये असंप्रज्ञात समाधि को प्राप्त हुए चित्त को विषयाभिमुख न करे । यह इसका तात्पर्य है ।।४४।।

असंप्रज्ञात समाधि चाहने वाले योगी को समाधि काल में जो सुख उत्पन्न होता है, उसका आस्वादन न करे, यानी उसमें अनुरक्त न हो । तो फिर क्या करे ? उस समाधि जन्य सुख से निःसङ्ग (निःस्पृह) होकर विवेक बुद्धि रूप प्रज्ञा से उसे मिथ्या समझे अर्थात् ऐसी भावना करे कि जो सुख इस समय हमें प्राप्त हो रहा है, वह अविद्या कल्पित मिथ्या ही है । भाव यह है कि उस सुख के राग

ब्रह्मरूपतां गतमित्याशङ्क्याऽऽह—नापीति । अन्तरावस्थमनसः स्वरूपं तृतीयपादावष्टम्भेन स्पष्टयति—सकषायमिति । रागस्य बीजत्वं पराचीनविषयप्रवृत्तिं प्रति प्रतिपत्तव्यम् । यथोक्तं मनोऽज्ञात्वा किं कर्तव्यमित्यपेक्षायामाह—ततोऽपीति । अन्तरालावस्था पञ्चम्या परामृश्यते । लयावस्थादि दृष्टान्तयितुमपिशब्दः । यत्नतः संप्रज्ञातसमाधेरिति यावत् । साम्यमसंप्रज्ञातसमाधिमित्यर्थः । चतुर्थपादस्यार्थमाह—यदा त्विति । समाधिद्वयद्वारेण समं निर्विशेषं परिपूर्णं ब्रह्मरूपं प्राप्य मनस्तन्मात्रतया [3]समाप्तं चेदप्राप्तप्रतिषेधः स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—समप्राप्तीति । ततो निर्विशेषवस्तुप्राप्त्याभिमुख्यादनन्तरमित्यर्थः किं तन्मनसश्चालनं यत्प्रतिषिध्यते तत्राऽऽह—विषयेति ॥४४॥

[4]समाधित्सायां यत्सुखमुत्पद्यते तद्विषयाभिलाषादपि मनो निरोद्धव्यमित्याह—नाऽऽस्वादयेदिति । तत्रेति समाध्यवस्थोच्यते । किंतु तस्यामवस्थायां सुखं यदुपलभ्यते तदज्ञानविजृम्भितं मिथ्यैवेति प्रज्ञया [5]विवेकज्ञानेन निःस्पृहः सम्भावयेदित्याह—निःसङ्ग इति । किंच [6]यच्चित्तं प्राचीनवैराग्याद्युपायेन निश्चलं प्रत्यगात्मप्रवणं प्रसाधितं

---

१. नास्वादयेदित्यादि—परमसुखव्यञ्जकेऽपि तत्र समाधौ सुखं नास्वादयेत्, महदिदं समाधौ सुखमेवानुभवतीति स विकल्परूपापन्नासुखास्वादस्तस्य व्युत्थानरूपत्वेन समाधि विरोधित्वात्तन्न कुर्यात् । एतावन्तं कालमहं सुखीति सुखास्वादरूपां वा वृत्तिं न कुर्यात्, समाधिभङ्गप्रसङ्गादित्यर्थः । प्रज्ञया यदुपलभ्यते सुखं तदप्यविद्या-परिकल्पितं मृषैवेत्येवं भावनया निःसङ्गो निःस्पृहः सर्वसुखेषु भवेत् । यदोक्त रूपया प्रज्ञया सविकल्प सुखाकारवृत्त्या सह सङ्गं परित्यजेत् तां निरुन्ध्यात् न तु स्वरूपसुखमपि निवृत्तिकेन चित्तेन नानुभवेत् स्वभावप्राप्तस्य तस्य वारयितुमशक्यत्वात् । एवं सर्वत निवर्त्य निश्चलं प्रयत्न वशेन कृतं चित्तं स्वभावचाञ्चल्याद्द विषयाभिमुखतया निश्चरद्बहिर्निर्गच्छत् प्रयत्नतो निरोधप्रयत्नेनैकीकुर्यात् समे ब्रह्मण्येकतां नयेदित्यर्थः । २. समप्राप्त्यभिमुखीभवति—समप्राप्त्यासन्नं भवति निरोधासन्नमिति यावत् । ३. समाप्तम्—निरुद्धमित्यर्थः । ४. समाधित्सायामिति—समाधिसम्पत्ताविति शेषः । ५. विवेकज्ञानेन—इत्याकारकेनानित्यसुखात्तद्भेद निश्चयेनेत्यर्थः । ६. चित्तमिति—असंप्रज्ञातसमाधेरिति शेषः ।

[1]यदा न लीयते चित्तं न च विक्षिप्यते पुनः ।
अनिङ्गनमनाभासं निष्पन्नं ब्रह्म तत्तदा ॥४६॥

[(उक्त उपाय से निग्रहीत) चित्त जब सुषुप्ति में लीन न हो और न फिर विषयों में ही विक्षिप्त हो तथा (निवात स्थान में स्थित दीपक के समान) निश्चल एवं कल्पित विषय के प्रकाश से रहित हो जाय, तो उस समय चित्त ब्रह्म स्वरूप हो जाता है ॥४६॥]

सुखरागान्निगृह्णीयादित्यर्थः । यदा पुनः सुखरागान्निवृत्तं निश्चलस्वभावं सन्निश्चरद्बहिर्निर्गच्छद्भवति चित्तं ततस्ततो नियम्योक्तोपायेनाऽऽत्मन्येवैकी कुर्यात्प्रयत्नतः । चित्स्वरूपसत्तामात्रमेवाऽऽपादयेदित्यर्थः ॥४५॥

यथोक्तोपायेन निगृहीतं चित्तं यदा सुषुप्ते न लीयते न च पुनर्विषयेषु विक्षिप्यते अनिङ्गनमचलं

से भी चित्त को निरुद्ध कर लेवे । जब समाधि जन्य सुख के राग से निवृत्त होकर निश्चल स्वभाव को प्राप्त हुआ चित्त समाधि से बाहर निकलने लगे, तो उसे पहले के बतलाए गए उपाय से वहाँ से भी रोक कर प्रयत्न पूर्वक आत्मा में एकाग्र करे, अर्थात् संप्रज्ञात समाधि द्वारा असंप्रज्ञात समाधि से युक्त चित्त को परिपूर्ण ब्रह्म के साथ तादात्म्य करे । अभिप्राय यह है कि उसे चेतन स्वरूप सत्तामात्र से ही सम्पन्न होने देवे ॥४५॥

ब्रह्मभाव को प्राप्त हुए मन की पहिचान ।

पूर्वोक्त ज्ञानाभ्यासादि उपायों से निग्रह किया हुआ चित्त जब सुषुप्ति में लीन नहीं होता; और न पुनः विषयों में ही विक्षिप्त ही होता है । तब वायु रहित स्थान में स्थित दीपक की भाँति

तद्यपि स्वभावानुसारेण बहिर्निर्गन्तुमिच्छेत्तदा संप्रज्ञातसमाधेरसंप्रज्ञातसमाधिपर्यन्तात्प्रयत्नात्तदात्मन्येवैकीकृत्य चिन्मात्रमापाद्य परिशुद्धपरिपूर्णब्रह्मात्मकः स्वयं तिष्ठेदित्याह—निश्चरदिति । प्रथमपादाक्षराणि योजयति—समाधिस्सत इति । तस्य समाध्यवस्थायामिति शेषः । द्वितीयपादमाकाङ्क्षाद्वारा विवृणोति—कथमित्यादिना । निःस्पृहो यथोक्ते सुखेऽनुरागरहितः सन्नित्यर्थः । विवेकरूपा बुद्धि [2]रागन्तुकस्य रज्जुसर्पवत्कल्पितत्वमित्येवमात्मिका तया भावयेदिति सम्बन्धः । [3]भावनाप्रकारमभिनयति—यदित्यादिना । प्रथमार्धस्याक्षरार्थमुक्त्वा तात्पर्यार्थं निगमयति—ततोऽपीति । उत्तरार्धं विभजते—यदेत्यादिना । [4]पूर्वोक्तसमाध्यनुरोधादात्मन्येव निश्चलस्वभावं सच्चित्तं यथोक्तं सुखरागनिमित्तं [5]तदुपायरागनिमित्तं वा निश्चरद्भवतीति संबन्धः तच्च चित्तं बाह्यविषयाभिमुख्यादुक्तोपायेन ज्ञानाभ्यासादिना व्यावर्त्याऽऽत्मन्येव परस्मिन्ब्रह्मणि प्रयत्नतः संप्रज्ञातसमाधिवशादेकी कुर्यात् । असंप्रज्ञातसमाधियुक्तं परिपूर्णं ब्रह्मैवाऽऽपादयेदित्यर्थः । तदेव स्पष्टयति—चित्स्वरूपेति ॥ ४५ ॥

---

१. समप्राप्तचित्तस्वरूपमाह—यदेत्यादि न लीयते नापि स्तब्धी-भवति तामसत्वसाम्येन लयशब्देनैव स्तब्धीभावस्य कषायस्योपलक्षणात् तमः कार्यत्वमुभयत्रहि समम् । न च विक्षिप्यते—न शब्दाद्याकारावृत्तिमनुभवति नापि सुखमास्वादयति, राजसत्वसाम्येन सुखास्वादस्यापि विक्षेपशब्देनोपलक्षणात्, उभयोरपि रजःकार्यत्वं समं, पूर्वत्र पार्थक्येन निर्देशस्तु पृथक्प्रयत्नकरणाय प्रत्येकं पृथक् प्रयत्नो विधेयो, न त्वेकप्रयत्नेनैवेतरोऽपि सेत्स्यति किं प्रत्येकं प्रयत्नेनेति प्रमदितव्यमिति बोधनार्थमिति द्रष्टव्यम् । एवं लयकषायाभ्यां विक्षेपरसास्वादाभ्यां च रहितं चित्तमनिङ्गनम्—सवातप्रदीपवच्चलनं लयाभिमुख्यरूपमिङ्गनं तद्रहितमनिङ्गनमित्यर्थः, निवातदीपकल्पमिति यावत् । अनाभासम्—न केनचिद्विषयाकारेणाभासते इत्यर्थः । कषायसुखादयो लयविक्षेपान्तर्भाव उक्त एव । यदैवं दोषचतुष्टयरहितं चित्तं भवति तदा तच्चितं ब्रह्मनिष्पन्नं समं ब्रह्मप्राप्तं भवतीत्यर्थः । २. आगन्तुकस्य—कार्यरूपस्येत्यर्थः । ३. भावना प्रकारम्—भावना स्वरूपमित्यर्थः । ४. पूर्वोक्तसमाधीति—निरोधसमाधीति भावः । ५. तदुपायेति—अत्रोपायो ज्ञानवैराग्याभ्यासरूप इत्यर्थः ।

स्वस्थं शान्तं [1]सनिर्वाणमकथ्यं सुखमुत्तमम् । अजमजेन [2]ज्ञेयेन सर्वज्ञं परिचक्षते ॥४७॥

[ब्रह्मतत्त्वदर्शी पुरुष उस अवस्था में प्रतीत होनेवाले आनन्द को) स्वस्थ, शान्त, कैवल्य युक्त, अकथनीय, निरतिशय सुख स्वरूप, उत्पत्ति रहित अजन्मा ब्रह्म से अभिन्न और सर्वज्ञ कहते हैं ॥४७॥]

निवातप्रदीपकल्पम् । अनाभासं न केनचित्कल्पितेन [3]विषयभावेनावभासत इति । यदेवंलक्षणं चित्तं तदा निष्पन्नं ब्रह्म । ब्रह्मस्वरूपेण निष्पन्नं चित्तं भवतीत्यर्थः ॥४६॥

यथोक्तं परमार्थसुखमात्मसत्यानुबोधलक्षणं स्वस्थं स्वात्मनिस्थितम् । शान्तं सर्वानर्थोपशमरूपम् । सनिर्वाणं निर्वृत्तिर्निर्वाणं कैवल्यं सह निर्वाणेन वर्तते । तच्चाकथ्यं न शक्यते कथयितुम् । [4]अत्यन्तासाधारणविषयत्वात् सुखमुत्तमं [5]निरतिशयं हि तद्योगित्यक्षमेव । न जातमित्यजं [6]तथा

निश्चल यानी रागादि वासना शून्य तथा किसी भी कल्पित विषय भाव से प्रकाशित नहीं होता । जिस समय इस प्रकार का चित्त हो जाता है, उस समय वह ब्रह्म स्वरूप ही हो जाता है, अर्थात् उस अवस्था में चित्त ब्रह्म स्वरूप से ही निष्पन्न हो जाता है ॥४६॥

पूर्वोक्त आत्मसत्यानुबोध रूप पारमार्थिक सुख स्वस्थ यानी अपने स्वरूप में ही स्थित, शान्त अर्थात् सभी प्रकार से अनर्थनिवृत्ति रूप एवं सनिर्वाण है । निर्वाण कैवल्य को कहते हैं, ऐसे निर्वाण के सहित जो हो उसे सनिर्वाण कहते हैं । एवं 'अकथ्यम्' जो कहा न जा सके यानी अकथनीय है, क्योंकि वह अत्यन्त असाधारण वस्तु को विषय कर रहा है । केवल योगियों से ही प्रत्यक्ष के योग्य

कदा पुनरिदं चित्तं ब्रह्ममात्रतापद्यते तत्राऽऽह—यदेति । [7]त्रिविधप्रतिबन्धविधुरं विषयाकाररहितं यदा चित्तमवतिष्ठते तदा ब्रह्म संपन्नं भवतीत्यर्थः अक्षराणि व्याचष्टे—यथोक्तेनेत्यादिना । उपायो ज्ञानाभ्यासादिः । निगृहीतं विषयेभ्यो विमुखीकृतं न लीयते न निद्रापारवश्येन कारणात्मतां गतमित्यर्थः । अचलं रागादिवासनाशून्यमित्यर्थः । अचलत्वे दृष्टान्तः—निवातेति । [8]किंतु ब्रह्माकारे एतद्विशेषलक्षणं चित्तं यदा संपद्यते तदेति योजना । निष्पन्नं ब्रह्मेत्युक्तमेव स्फुटयति—ब्रह्मस्वरूपेणेति ॥ ४६ ॥

असंप्रज्ञातसमाध्यवस्थायां येन रूपेण चित्त[9]माभिनिष्पद्यते तद्ब्रह्मस्वरूपं विशिनष्टि—स्वस्थमिति । ज्ञेयेनाव्यतिरिक्तमिति शेषः । [10]तत्र विदुषां संमतिमुदाहरति—सर्वज्ञमिति । यथोक्तमित्यसंप्रज्ञात[11]समाधिलक्षणं ब्रह्मेत्यर्थः । तस्य परमपुरुषार्थरूपतामाह—सुखमिति । वैषयिकं सुखं व्यवच्छेत्तुं परमार्थेति विशेषणम् । किं तत्र ज्ञाने[12]नेत्याशङ्क्या[13]ऽऽह—आत्मेति । तस्य सत्यस्याऽऽगमाचार्यानुरोधिना बोधेन लक्ष्यते प्राप्यते ब्रह्मेति तथोच्यते ।

---

१. स निर्वाणमिति—निर्वृत्तिर्दुःखासंभेदस्य निष्पत्तिः निर्वाणम्, कैवल्याख्यो दुःखासंभेदस्तेन सह वर्तते इति तथा दुःखासंभिन्नमित्यर्थः । २. ज्ञेयेनेति—अभिन्नमिति शेषः । वेदान्त ज्ञेयं चाजमिति । ३. विषयभावेन—विषयाकारेणेत्यर्थः । ४. अत्यन्तासाधारणविषयत्वात्—लोकोत्तरस्वरूपत्वादित्यर्थः । ५. निरतिशयम्—अपरिच्छिन्नम् । ६. घटादिविषयकं ज्ञानं यथा जनिमत्र तथेदं ब्रह्मस्वरूपं ज्ञानमित्याह—यथाविषयविषयमिति । ज्ञानमिति शेषः । ७. पूर्वार्धेन लयविक्षेपयोरभाव उक्तः । अनिङ्गनमिति कषायाभावो रागादिना स्तब्धो भावो हि कषायः । अनिङ्गनमित्यस्य च रागादि वासना शून्यत्वमर्थः इति तदाह—त्रिविधप्रतिबन्धविधुरमिति अनाभासमिति रसास्वादाभाव उक्तस्तं च फलाव्यवहितत्वात् पृथङ्निर्दिशति—विषयाकाररहितमिति, रसास्वादे सुखस्य विषयधी-भावादिति भावः । ८. किंत्वितः—पूर्वम्, विषयभावेनावभासते इति शेषो द्रष्टव्यः । ९. अभिनिष्पद्यते—आविर्भवति, अभिव्यज्यते इति यावत् । १०. तत्रेति—यथोक्ते ब्रह्मणीत्यर्थः । ११. समाधिलक्षणम्—समाधिनालक्ष्यते साक्षात्क्रियते इति तथा । १२. आशङ्क्येति—तस्य स्वयं प्रकाशत्वात् न तत्र ज्ञानापेक्षेति भावः । १३. न हि स्वरूपज्ञानमनर्थ निवर्तकं किं तर्हि शास्त्रीयमित्याभिप्रायेणाहेत्युक्तम् ।

न कश्चिज्जायते जीवः संभवोऽस्य न विद्यते।
एतत्तदुत्तमं सत्यं यत्र किंचिन्न जायते ॥४८॥

[(किसी प्रकार से भी) कोई जीव उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि इसका कोई कारण नहीं है। जिस सत्यस्वरूप ब्रह्म में कोई वस्तु अणुमात्र भी उत्पन्न नहीं होती, यह सर्वोत्तम सत्य है ॥४८॥]

विषयविषयम्। अजेनानुत्पन्नेन [1]ज्ञेयेनाव्यतिरिक्तं सत्स्वेन सर्वज्ञरूपेण सर्वज्ञं ब्रह्मैव सुखं परिचक्षते कथयन्ति ब्रह्मविदः ॥४७॥

सर्वोऽप्ययं मनोनिग्रहादिर्मृल्लोहादिवत्सृष्टिरुपासना चोक्ता परमार्थस्वरूपप्रतिपत्त्युपायत्वेन न परमार्थसत्येति। परमार्थसत्यं तु न कश्चिजायते जीवः कर्ता भोक्ता च नोत्पद्यते केनचिदपि प्रकारेण। [2]अतः स्वभावतोऽजस्यास्यैकस्याऽऽत्मनः [3]संभवः कारणं न विद्यते नास्ति। यस्मान्न विद्यतेऽस्य कारणं

होने से वह उत्तम अर्थात् निरतिशय सुख है, एवं उत्पन्न न होने के कारण अज है। जैसे विषयजन्य सुख उत्पन्न होता है, वैसा यह सुख नहीं है। अजन्मा ज्ञेय से अभिन्न होने के कारण अपने सर्वज्ञ रूप से स्वयं ब्रह्म ही उक्त सुख है, ऐसा ब्रह्मज्ञानी लोग कहते हैं ॥४७॥

परमार्थ सत्य का निरूपण

यदि मनोनिग्रहादि उपाय पारमार्थिक हैं तो अद्वैत की हानि होती है, और यदि ये अपारमार्थिक हैं तो अद्वैत का बोध न हो सकेगा। अतः इनकी व्यावहारिक सत्ता मानकर समाधान दे रहे हैं—कि मृत्तिका और लोहादि की भाँति ये मनोनिग्रहादि सम्पूर्ण प्रपञ्च, सृष्टि तथा उपासना परमार्थ स्वरूप की प्राप्ति के लिये साधन रूप से बतलाए गये हैं। अतः ये परमार्थ सत्य नहीं है। परमार्थ सत्य तो यह है, कि कोई भी जीव उत्पन्न नहीं होता, यानी किसी भी प्रकार से कर्त्ता भोक्ता उत्पन्न होता ही नहीं। अतः स्वभाव से ही एक अजन्मा आत्मा की उत्पत्ति का कोई कारण है ही नहीं, जब कि इसका कोई कारण नहीं है। इसीलिये कोई भी जीव उत्पन्न नहीं होता है। पहले श्लोकों में उपाय रूप

तस्य स्वमहिमप्रतिष्ठत्वमाह—स्वात्मनीति। सर्वस्य त्रिविधस्यानर्थस्योपगमेनो[4]पलक्षितत्वादपि पुरुषार्थत्वसिद्धिरित्याह—सर्वेति। निरतिशयानन्दाभिव्यक्तिनिरवशेषानर्थोच्छित्तिश्चेत्येवंलक्षणं मोक्षमाचक्षते। [5]तत्कथमिदं ब्रह्मेत्याशङ्क्याऽऽह—सनिर्वाणमिति। तस्य क्षीरगुडादिमाधुर्यभेदस्येव स्वानुभवमात्राधिगम्यत्वादवाच्यत्वमाह—तच्चेति। यदुक्तं परमार्थसुखमिति तदिदानीमुपपादयति—सुखमिति। [6]तर्हि सर्वेषामेवं तद्भावादित्याशङ्क्या [7]ऽऽह—योगीति। ज्ञानस्याजातत्वे वैधर्म्यं दृष्टान्तमाह—यथेति ॥४७॥

उक्ताना[8]मुपायानां परमार्थसत्यत्वे सत्यद्वैतहानिः। अन्यथा [9]तदप्रमितिरित्याशङ्क्या[10]ऽऽह—न कश्चिदिति। तत्र हेतुमाह—संभवोऽस्येति। श्लोकाक्षराणि व्याकर्तुं भूमिकां करोति—सर्वोऽपीति। व्यावहारिकसत्यत्वमेवोपायानां न परमार्थसत्यत्वमित्यङ्गीकृत्य पारमार्थिकसत्यस्य प्रतिपत्त्युपायत्वेनैवोक्तेत्याह—मृदिति। यदुक्तं मनोनिग्रहादीनां परमार्थत्वेऽद्वैतहानिरिति तत्राऽऽह—नेत्यादिना। तेषामपरमार्थत्वे कथमद्वैतप्रतिपत्तिरित्यपि न, व्यवहारिकसत्यानामपि

---

१. ज्ञेयेनाव्यतिरिक्तम्—ब्रह्माभिन्नमिति भावः। २. अतः इति—यतो न विद्यते, अतो नोत्पद्यते इत्यर्थः। ३. संभवत्यस्मादिति—संभवः। ४. उपलक्षितत्वात्—अन्तःकरणादिदुःखिव्यावृत्तस्वरूपत्वादित्यर्थः। ५. इदम्—समाधिकालीनं ब्रह्म। तत्कथम्—निरतिशयानन्दादिरूपं कथमित्यर्थः। न हीदानीं मोक्षः इति शङ्कितुरभिप्रायः। ६. तर्हि—अपरिच्छिन्नत्वे। ७. आहेति—अपरिच्छिन्नमपि यान्प्रत्यावरणं न तान् प्रतिभाति सूर्यवदिति। ८. उपायानाम्—मनोनिग्रहादीनामित्यर्थः। ९. तदप्रमिति—अद्वैताप्रमितिः। १०. आहेति—जीवो हि कश्चिन्नजायतेऽनादित्यात् तदतिरिक्तं तु सर्वमुपायादिकं जायते एवेत्यसत्यं जनिमत्वादिति नाद्वैतं हीयते इत्यभिप्रायेणाहेत्यर्थः।

तस्मान्न कश्चिज्जायते जीव इत्येतत्। पूर्वेषूपायत्वेनोक्तानां [1]सत्यानामेतदुत्तमं सत्यं यस्मिन्सत्यस्वरूपे ब्रह्मण्यणुमात्रमपि किंचिन्न [2]जायत इति ॥४८॥

इति श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यस्य परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्य शंकरभगवतः कृतौ गौडपादीयभाष्य आगमशास्त्रविवरणेऽद्वैताख्यतृतीय प्रकरणभाष्यं समाप्तम् ॥३॥ ॐ तत्सत्

—०*०—

से बतलाए गए व्यावहारिक सत्यों में भी यही सर्व श्रेष्ठ सत्य है। जिस त्रिकालाबाधित सत्य स्वरूप ब्रह्म में कुछ भी वस्तु अणुमात्र उत्पन्न नहीं होती। भाष्य में आया 'इति' शब्द अद्वैत प्रकरण समाप्ति का द्योतक है ॥४८॥

इस प्रकार माण्डूक्य कारिका अद्वैत प्रकरण शाङ्कर भाष्य की विद्यानन्दी मिताक्षरा समाप्त हुई ॥ ३ ॥

—०*०—

तत्प्रमितिहेतुत्वस्य प्रतिबिम्बत्वनुपपत्तेरिति भावः। उपायानां [3]व्यावहारिकसत्यत्वेनैव पारमार्थिकं किं न स्यादिति [4]तत्राऽऽह—परमार्थेति। [5]तदेव स्पष्टयति—कर्त्रेति। स्वभावतोऽजत्वं हेतूकर्तव्यम्। तत्रैव हेत्वन्तरमाह—अत इति। हेत्वन्तरमेव स्पष्टयति—यस्मादिति। उत्तरार्धं व्याचष्टे—पूर्वेष्विति। पूर्वेषु [6]शेषः। इति शब्दोऽद्वैतप्रकरण-परिसमाप्तिं द्योतयति ॥४८॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीशुद्धानन्दपूज्यपादशिष्यभगवदानन्दज्ञानविरचितायां गौडपाद [कारिका] भाष्यटीकायामद्वैताख्यं तृतीयं प्रकरणं समाप्तम् ॥३॥

—०*०—

१. सत्यानामिति—सत्यप्रतिपत्त्युपायत्वेनोपचारात्तत्र सत्यत्वम्। २. जायते इति—परमार्थतः इति शेषः। ३. व्यावहारिकसत्यत्वेनैवेति—उपायाः परमार्थसन्तो व्यवहारकालाबाध्यत्वात्। ब्रह्मवदित्यनुमानेनैवेत्यर्थः। ४. आहेति—उक्तानुमानस्यानादित्यरूपोपाधिमत्त्वमभिप्रेत्याहेत्यर्थः। ५. तदेव—वस्तुतो जीवस्यानुत्पन्नत्वमेव। ६. ग्रन्थेषु—श्लोकरूपेष्वित्यर्थः।

इति श्री म० म० प० प० स्वामिगोविन्दानन्द गिरि पूज्यपादशिष्यविद्यावाचस्पति-स्वामिविष्णुदेवानन्द गिरि विरचितायां गोविन्दप्रसादिन्याख्य-टिप्पण्यामद्वैतनामकं तृतीयं प्रकरणम् ॥ ३ ॥

—०*०—

अथालातशान्त्याख्यं चतुर्थप्रकरणम्

ज्ञानेनाऽऽकाशकल्पेन धर्मान्यो गगनोपमान् ।
ज्ञेयाभिन्नेन संबुद्धस्तं वन्दे द्विपदां वरम् ॥१॥

[ज्ञेय (आत्मतत्त्व) से अभिन्न आकाशतुल्य ज्ञान के द्वारा आकाश सदृश जीवों को जिसने जाना है, उस पुरुषोत्तम नारायण को मैं वन्दना करता हूँ ॥१॥

ओंकारनिर्णयद्वारेणाऽऽगमतः प्रतिज्ञातस्याद्वैतस्य [1]बाह्यविषयभेद[2]वैतथ्याच्च सिद्धस्य पुनरद्वैते शास्त्रयुक्तिभ्यां [3]साक्षान्निर्धारितस्यैत्तदुत्तमं सत्यमित्युपसंहारः कृतः अन्तेतस्यैतस्या[4]ऽऽगमार्थस्याद्वैतदर्शनस्य प्रतिपक्षभूता द्वैतिनो वैनाशिकाश्च तेषां चान्योन्यविरोधाद्रागद्वेषादिक्लेशास्पदं दर्शनमिति मिथ्यादर्शनत्वं सूचितम् । क्लेशानास्पदत्वात्सम्यग्दर्शनमित्य[5]द्वैतदर्शनं स्तूयते । [6]तदिह

॥ अथ अलातशान्ति प्रकरण ॥

अद्वैत-दर्शन तथा सम्प्रदायाचार्य की वन्दना

आगम प्रकरण में ओंकारके निर्णयद्वार जिस अद्वैत की प्रतिज्ञा की गई थी। उसी को वैतथ्य प्रकरण में बाह्यविषय भेद के मिथ्यात्त्व प्रतिपादन द्वारा सिद्ध किया। पुनः अद्वैत प्रकरण में शास्त्र तथा युक्ति द्वारा अद्वैत को निश्चित किया और अन्त में "एतदुत्तम सत्यम्" (यही सर्वोत्तम सत्य है) ऐसा कह कर निर्धारित अर्थ का उपसंहार किया। वेद के तात्पर्य रूप इस अद्वैत दर्शन के विरोधी जो भी द्वैतवादी और बौद्धादि हैं। उनके दर्शन परस्पर विरोधी होने के कारण राग-द्वेषादि क्लेशों के केन्द्र हैं। इसीलिये उनमें मिथ्यादर्शनत्व सूचित होता है। इसके विपरीत राग-द्वेषादि क्लेशों का

आद्यन्तमध्यमङ्गला ग्रन्थाः [7]प्रचारिणो भवन्तीत्यभिप्रेत्याऽऽदावोंकारोच्चारणवदन्ते परदेवताप्रणामवन्मध्येऽपि परदेवतारूपमुपदेष्टारं प्रणमति—ज्ञानेति । पूर्वोत्तरप्रकरणसंबन्धसिद्धयर्थं पूर्वप्रकरणत्रये वृत्तमर्थं क्रमादनुवदति—ओंकारेति । अद्वैत इत्यद्वैतोपलक्षितं तृतीयं प्रकरणमुच्यते । चतुर्थं प्रकरणमवतारयितुमुपयुक्तमर्थान्तरमनुवदति—तस्येति । द्वैतिनो [8]भेदवादिनो वैनाशिकव्यतिरिक्ता गृह्यन्ते । वैनाशिका नैरात्म्यवादिनः । रागद्वेषादीत्यादिशब्देना[9]तिरिक्तक्लेशोपादानम् । पक्षान्तराणां मिथ्यादर्शनत्वसूचनं कुत्रोपयुज्यते तत्राऽऽह—क्लेशेति । पातनिकामेवं

---

१. बाह्येत्यादि—अनात्मद्रव्यविशेषमिथ्यात्वादित्यर्थः । २. वैतथ्याच्चसिद्धस्येत्यार्थिक सिद्धिरुक्ता; अद्वैत प्रकरणे च तद्विषयाभ्यामेव शास्त्रयुक्तिभ्यां साक्षात्तत्साधितमित्याह—अद्वैत इत्यादिना । ३. साक्षात्—संशयविपर्ययादिराहित्येनेत्यर्थः । ४. आगमस्यार्थो यत्र एवं विधमद्वैतदर्शनमद्वैत शास्त्रं वेदार्थगर्भमित्यर्थः । ५. अद्वैतदर्शनमित्यत्राद्वैतदर्शनस्तुतये इति लिखित पाठः । ६. तत्—पूर्वप्रकरणोक्तम् । ७. प्रचारिण इति—पठन पाठनादिनाऽनेक पुरुष सम्बन्धः प्रचार । ८. भेदवादिन इति—वेदबाह्यत्वाद्वैनाशिकान पृथगुपादानम्, ते हि क्षणिकविज्ञानवादिनो बौद्धा न हि क्षणिकविज्ञानं वैदिकमितरे तु द्वैतिनो जीवेश्वरादिकमभ्युपगच्छन्तो वैदिका एवेत्यर्थः । ९. अतिरिक्तक्लेशोपादानम्—अस्मितभिनिवेशाद्युपादानम् ।

विस्तरेणान्योन्यविरुद्धतयाऽसम्यग्दर्शनत्वं प्रदर्श्य [1]तत्प्रतिषेधेनाद्वैतदर्शनसिद्धिरुपसंहर्तव्याऽऽवीतन्यायेनेत्यलातशान्तिरारभ्यते। तत्रा[2]द्वैतदर्शनं संप्रदायकर्तु[3]रद्वैतस्वरूपेणैव नमस्कारार्थोऽय[4]माद्यश्लोकः आचार्यपूजा ह्यभिप्रेतार्थसिद्ध्यर्थेष्यते [5]शास्त्रारम्भे। आकाशेनेषदसमाप्तमाकाशमकल्पमाकाशतुल्यमेतत्। तेनाऽऽकाशकल्पेन ज्ञानेन, किम्, धर्मानात्मनः किंविशिष्टान्गगनोपमान्गगनमुपमा येषां ते गगनोपमास्ताना[6]त्मनो धर्मान्। ज्ञानस्यैव पुनर्विशेषणम्—ज्ञेयैर्धर्मैरात्मभिरभिन्नमग्न्युष्णवत्सवितृप्रकाशवच्च ज्ञानं तेन ज्ञेयाभिन्नेन ज्ञानेनाऽऽकाशकल्पेन [7]ज्ञेयात्मस्वरूपाव्यतिरिक्तेन गगनोपमान्धर्मान्यः संबुद्धः [8]संबुद्धवानित्ययमेवेश्वरो यो नारायणाख्यस्तं वन्देऽभिवादये

आश्रय न होने के कारण अद्वैत दर्शन ही यथार्थ दर्शन है। इस प्रकार अद्वैत दर्शन की स्तुति हो जाती है। अब इस प्रकरण में परस्पर विरोधी होने के कारण अद्वैत विरोधी दर्शनों में विस्तार पूर्वक असम्यक्-दर्शनत्त्व दिखलाकर उनके निषेध द्वारा व्यतिरेकि-अनुमान से अद्वैतदर्शनसिद्धि का उपसंहार करना है। इसी अभिप्राय से "अलात शान्ति प्रकरण" प्रारंभ किया जा रहा है। उसमें अद्वैत दर्शन संप्रदाय के प्रवर्त्तक आचार्य को अद्वैत रूप से ही नमस्कार करने के लिये यह पहला श्लोक है, क्योंकि शास्त्र के प्रारंभ में आचार्य की पूजा निर्विघ्न ग्रन्थ परिसमाप्ति रूप अभीष्ट अर्थ की सिद्धि के लिये इष्ट ही है।

सर्वथा आकाश के समान तो नहीं, किन्तु आकाश की अपेक्षा न्यून होने से जिसे आकाश तुल्य कहते हैं। उस आकाश कल्प ज्ञान से किसे क्या करना है? आत्मरूप धर्मों को जानता है। वे किस

कृत्वा समनन्तरप्रकरणप्रवृत्तिं प्रतिजानीते—तद्विहेति। तदसम्यग्दर्शनत्वमिति संबन्धः। आवीतन्यायो [9]व्यतिरेकन्यायः। यथा यत्कृतकं तदनित्यमित्य[10]न्वयादनित्यत्वेऽवगतेऽपि यन्नानित्यं न तत्कृतकमिति [11]व्यतिरेकोऽपि व्यभिचारशङ्कानिरासित्वेन [12]व्याप्तिनिश्चयार्थमिष्यते। तथा तर्कतः संभावितस्याऽऽगमेनावगतस्यापि प्रतिपक्षभूतवादान्तरापाकरणप्रपञ्चमन्तरेण पाक्षिकासम्यक्त्वशङ्का स्यादद्वैतदर्शनस्येति तत्प्रतिषेधेन तत्सिद्धिरुपसंहर्तव्येत्य[13]लातशान्तिदृष्टान्तोपलक्षितमारभ्यते प्रकरणमित्यर्थः। विशेषेण स्पष्ट[14]मितो [15]वीतः स न भवतीत्यवीतः। अवीत एवाऽऽवीतः। तेन न्यायेन [16]व्यतिरेकेणेति यावत्। प्रकणरस्य तात्पर्यमेवं दर्शयित्वा प्रथमश्लोकस्य तात्पर्यमाह—तत्रेति च। तत्र चतुर्थप्रकरणं सप्तम्या परामृश्यते। [17]किमित्यद्वैतरूपेणाऽऽचार्यो नमस्क्रियते तत्राऽऽह—आचार्येति। अभिप्रेतार्थः शास्त्रस्याविघ्नेन परिसमाप्तिस्तदर्थे [18]विप्रतिपत्त्यादिव्यावृत्तिश्च। आकाशस्य [19]जडत्वाधिक्याज्ज्ञानं स्वप्रकाशमा-

---

१. तत्प्रतिषेधेनेति—तस्य हेयत्वप्रदर्शनेनेत्यर्थः। २. अद्वैतदर्शनसंप्रदायकर्तुरिति—तथा च पठ्यते 'व्यासं शुकं गौडपदं महान्तमिति।' ३. अद्वैतस्वरूपेणेति—'स यो ह वै तद्ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवतीति' श्रुतेर्ब्रह्मस्वरूपेणेति यावत्। ४. आद्यश्लोकः—अद्वैतोपदेष्टाऽद्वैतरूपेणैव नमस्कार्य इत्याद्यश्लोक तात्पर्यार्थोऽवगन्तव्यः। ५. शासकत्वात्प्रकरणमिह शास्त्रमित्याह—शास्त्रारंभे इति। ६. अन्वयार्थमेवपुनराह—आत्मनो धर्मानिति। ७. ज्ञेयाभिन्नेनेत्यस्येवव्याख्यानम्—ज्ञेयात्मेत्यादि। ८. संबुद्धवानिति—याथातथ्येन ज्ञातवानित्यर्थः। तत्र संबुद्ध इति नारायणो विशेष्यते इत्याह—इत्ययमेवेश्वरः। ९. व्यतिरेकन्यायः—व्यतिरेकव्याप्तिरित्यर्थः। १०. अन्वयादिति—अन्वयव्याप्तेरित्यर्थः। ११. व्यतिरेकोऽपि—व्यतिरेकव्याप्तिरपीत्यर्थः। १२. व्याप्तिनिश्चयार्थम्—अन्वयव्याप्तिदार्ढ्यार्थमित्यर्थः। १३. अलातस्येत्यादि—अलात शान्तिदृष्टान्तेनेतरप्रकरणेभ्यो व्यावर्तितमित्यर्थः। १४. इत इति—अवगत इत्यर्थः। १५. वीतः अन्वयव्याप्तिरिति यावत्। १६. व्यतिरेकेणेति—व्यतिरेकन्यायस्येत्यर्थः। १७. ब्रह्मत्वधिया नमस्कारोऽद्वैताचार्य पूजा भवति न तु भेदधियेति सूचयन्नाह—किमित्यद्वैत रूपणेति। १८. विप्रतिपत्त्यादि—विवादजन्यसंशयादिकर्मादिराह। १९. जडत्वाधिक्यादिति—सूक्ष्मत्वाद्यभाव ... सम्भवादित्यर्थः।

अस्पर्शयोगो वै नाम सर्वसत्त्वसुखो हितः। अविवादोऽविरुद्धश्च देशितस्तं नमाम्यहम् ॥२॥

[(जिस योग का किसी से सम्बन्ध नहीं है और जो सम्पूर्ण प्राणियों के लिये सुखावह है एवं जिसमें किसी का विरोध और विवाद नहीं है) ऐसे सम्पूर्ण प्राणियों के सुखप्रद, हितकर निर्विवाद और सबके अविरोधी जिस अस्पर्श योग का उपदेश किया गया है, उसे भी मैं नमस्कार करता हूँ ॥२॥]

द्विपदां वरं [1]द्विपदोपलक्षितानां पुरुषाणां वरं प्रधानं पुरुषोत्तममित्यभिप्रायः। उपदेष्टृनमस्कारमुखेण ज्ञानज्ञेयज्ञातृभेदरहितं परमार्थ[2]तत्त्वदर्शनमिह प्रकरणे प्रतिपिपादयिषितं [3]प्रतिपक्षप्रतिषेधद्वारेण प्रतिज्ञातं भवति ॥ १ ॥

[4]अधुनाऽद्वैतदर्शनयोगस्य नमस्कारस्तत्स्तुतये। स्पर्शनं स्पर्शः संबन्धो न विद्यते यस्य योगस्य केनचित्कदाऽपि सोऽस्पर्शयोगो ब्रह्मस्वभाव [5]एव, वै नामेति ब्रह्मविदामस्पर्शयोग इत्येवं प्रसिद्ध इत्यर्थः। स च सर्वसत्त्वसुखो भवति। कश्चिदत्यन्तसुख[6]साधनविशिष्टोऽपि दुःखरूपः, यथा तपः।

प्रकार के धर्म हैं? आकाश ही जिनकी उपमा हो, उन्हें गगनोपम कहते हैं, ऐसे गगनोपम आत्मधर्मों को जो जानता है। पुनः ज्ञान के विशेषण देते हैं अग्नि से जैसे उष्णता और सूर्य से जैसे प्रकाश अभिन्न है, वैसे ही जो ज्ञान ज्ञेय धर्म रूप आत्माओं से अभिन्न है। उस ज्ञेय आत्मा के स्वरूप से अभिन्न आकाशतुल्य ज्ञान से जिसने आकाश तुल्य धर्मों को सर्वदा ही अच्छी प्रकार से जाना है, वही जो ईश्वर नारायण नाम से प्रसिद्ध है (दो पदों से उपलक्षित पुरुषों में श्रेष्ठ उसी पुरुषोत्तम की वन्दना करता हूँ। उपदेष्टा को नमस्कार व्याज से यह प्रतिज्ञा की जाती है कि इस प्रकरण में सिद्धान्त विरुद्ध पक्ष प्रतिषेध द्वारा ज्ञान, ज्ञेय तथा ज्ञाता भेद से रहित परमार्थ दर्शन बतलाना ही अभीष्ट है ॥१॥

अब अद्वैत दर्शन योग की उसकी स्तुति के लिये नमस्कार किया जाता है।

जिस योग का किसी से कभी भी स्पर्श यानी सम्बन्ध नहीं है, उसे अस्पर्श योग कहते हैं। वस्तुतः वह ब्रह्मस्वरूप ही है। यह ब्रह्मवेत्ताओं का अस्पर्श-योग अत्यन्त प्रसिद्ध है, इसी प्रसिद्धि के द्योतन के लिये 'वै' और 'नाम' इन दो अव्ययों का प्रयोग किया गया है। वह योग सभी प्राणियों

काशेनेषदसमाप्तं वक्तव्यम् [7]विभुत्वादावुपमा द्रष्टव्या। [8]बहुवचनमुपाधिकल्पितमेवाभिप्रायम् [9]तेषामपि चिन्मात्रत्वं विवक्षित्वोक्तम्। ज्ञानस्यैवेति। तेनेत्यादि पुनरनुवादेनान्वयमन्वाचष्टे। [10]आचार्यो हि पुरा बदरिकाश्रमे नरनारायणाधिष्ठिते नारायणं [11]भगवन्तमभिप्रेत्य तपो महदतप्यत। ततो भगवानतिप्रसन्नस्तस्मै विद्यां प्रादादिति सिद्धं [12]परमगुरुत्वं परमेश्वरस्येति भावः। ननु प्रकरणे प्रारभ्यमाणे[13]प्रतिप(पा)द्ये प्रमेये वक्तव्ये किमित्युपदेष्टा नमस्क्रियते तत्राऽऽह—उपदेष्ट्रिति ॥१॥

१. पञ्चवादावव्याप्तेराह—द्विपदोपलक्षितानामिति। २. तत्त्वदर्शनमिति—दृश्यतेऽनूभूयते इति दर्शनं साक्षात्परोक्षं परमार्थतत्त्वं प्रमेयमित्यर्थः। ३. प्रकरणान्तरेभ्यो विशेषमाह—प्रतिपक्षेति। ४. अधुना—उपदेष्टृनमस्कारानन्तरम्। ५. एवेति—न निरोधसमाधिरूप इत्येव कृत्यम्। ६. साधन विशिष्ट—सुखसाधनत्वेनोत्कृष्ट इत्यर्थः। ७. जडत्वं मा ग्राहीत्याह—विभुत्वादाविति। ८. गगनोपमत्वेगगनवदेकत्वौचित्ये कथं बहुवचनमित्यत आह—न बहुवचनमिति। ९. तेषामपीत्यादि—धर्माणां चिन्मात्रबोधनार्थमेव ज्ञेयाभिन्नेनेति ज्ञानविशेषमित्युक्तग्रन्थयो स्पष्टत्वात्तदनुक्तिः प्रसज्येत। एतद्विशेषणानुपदाने च धर्माणं ज्ञेयमात्रत्वावगत्या जडत्वाधिकं शङ्क्येत, तन्मा शङ्कीत्येतद्विशेषणमिति भावः। १०. आचार्यपूजेत्युक्तमाचार्यत्वमुपपादयति—आचार्यो हीत्यादिना। ११. भगवन्तमभिप्रेत्येति—तं संतोषयितुमित्यर्थः। १२. गुरुत्वेन शुकसंप्रहृष्टत्वनयति --परमेति। १३. प्रतिपाद्य इति पाठे मंगलपद्येऽपि प्रमेय सूचनस्यावश्यकत्वे सति किमिमित्त नमस्कारमात्र क्रियते इति यावत्।

भूतस्य जातिमिच्छन्ति वादिनः केचिदेव हि। अभूतस्यापरे धीरा विवदन्तः परस्परम् ॥३॥

[कुछ सांख्य मतावलम्बी द्वैतवादी हि विद्यमान वस्तु की उत्पत्ति मानते हैं, (इनके विपरीत नैयायिकादि) पाण्डित्याभिमानी अविद्यमान वस्तु की उत्पत्ति मानते हैं। ऐसे परस्पर विवाद करते हुए एक दूसरे को जीतना चाहते हैं ॥ ३ ॥]

अयं तु न तथा। किं तर्हि सर्वसत्त्वानां सुखः। तथेह भवति कश्चिद्विषयोपभोगः सुखो न हितः। अयं तु सुखो हितश्च। नित्यमप्रचलितस्वभावत्वात् किं चाविवादो विरुद्धवदनं विवादः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहेण यस्मिन्न विद्यते सोऽविवादः। कस्मात्। यतोऽविरुद्धश्च य ईदृशो योगो देशित उपदिष्टः शास्त्रेण तं नमाम्यहं प्रणमामीत्यर्थः ॥ २ ॥

कथं द्वैतिनः परस्परं विरुध्यन्त इति। उच्यते। भूतस्य [1]विद्यमानस्य वस्तुनो जातिमुत्पत्ति-

के लिये सुखावह है। कोई-कोई पदार्थ अत्यन्त सुख साधन विशिष्ट होता हुआ भी दुःखरूप होता है अर्थात् फल रूप से अत्यन्त सुख विशिष्ट है, पर साधन काल में दुःखरूप प्रतीत होता है। जैसा कि तप किन्तु यह योग ऐसा नहीं है। तो फिर कैसा है ? यह साधन रूप तथा फल रूप दोनों प्रकार से सभी प्राणियों के लिये सुखकारक ही है।

वैसे ही इस लोक में कोई-कोई विषय भोग सेवन काल में सुखावह होता हुआ भी फल रूप से हितकर नहीं होता, किन्तु यह तो सदा अचल स्वभाव होने के कारण साधन रूप से सुखप्रद और फलरूप से भी हितकर है। इतना ही नहीं, यह योग निर्विवाद भी है। जिसमें पक्ष प्रतिपक्ष ग्रहण द्वारा विरुद्ध वदन रूप विवाद नहीं होता, उसे निर्विवाद कहते हैं। ऐसा यह क्यों है ? क्योंकि यह किसी के विरुद्ध नहीं है। आत्मप्रकाश किसी का विरुद्ध नहीं होता। शास्त्र द्वारा इस प्रकार का जो योग बतलाया गया है उस योग को मैं नमस्कार यानी प्रणाम करता हूँ ॥२॥

द्वैत वादियों का परस्पर विरोध

अच्छा तो द्वैतवादी परस्पर विरोध कैसे करते हैं ? इस पर कहते हैं—

इदानीमद्वैतदर्शनयोगस्तुतये [2]तन्नमस्कारं प्रस्तौति—अस्पर्शेति। श्लोकस्य तात्पर्यमाह—अधुनेति। तस्य च स्तुति[3]स्तत्साधनेषु [4]प्रवृत्तावुपयुज्यते। संप्रत्यक्षराणि व्याकुर्वन्नस्पर्शयोगशब्दं व्याकरोति—स्पर्शनमिति। [5]योगस्यान्यसंबन्धप्रसङ्गाभावात्कथम[6]स्पर्शत्वमित्याशङ्क्याऽऽह—ब्रह्मेति। निपातयोरर्थं कथयति—वै नामेति। सर्वेषां सत्त्वानां देहभृतां सुखयतीति व्युत्पत्त्या सुखहेतुत्वं ब्रह्मस्वभावस्य सुखविशेषणेन दर्शयति—स चेति। सुखहेतावपि ब्रह्मस्वभावे विवक्षितं [7]विशेषं दर्शयति—भवतीति। हितविशेषणस्य तात्पर्यमाह—तथेह भवतीत्यादिना। तस्य हितत्वे हेतुमाह—नित्यमिति। तस्यैव विशेषणान्तरमाह—किंचेति। [8]तत्र हेतुं प्रश्नपूर्वकमाह—कस्मादिति। [9]आत्मप्रकाशत्वाद्ब्रह्मस्वभावस्याविरुद्धत्वम्। न हि कस्यचिदात्मप्रकाशो विरुद्धो भवतीत्यर्थः। [10]यथोक्तयोगज्ञानमार्गस्य संप्रदायागतत्वमाह—य ईदृश इति। तन्नमस्कारव्याजेन तस्य स्तुतिस्तदुपायेषु श्रोतृप्रवृत्त्यर्थमत्र विवक्षितेत्याह—तं नमामीति ॥२॥

अद्वैतदर्शनस्याविरुद्धत्वेनाविवादत्वं विशदीकर्तुं द्वैतिनां विवादं तावदुदाहरति—भूतस्येति। एवं विरुद्धं वदन्तो

१. विद्यमानस्य—स्वोत्पत्तेः प्राक् सतः कार्यस्येत्यर्थः। २. तन्नमस्कारम्—अद्वैतदर्शनयोगनमस्कारम्। ३. तत्साधनेषु—अद्वैतदर्शनयोग प्राप्ति साधनेषु श्रवणादिष्वित्यर्थः। ४. प्रवृत्ताविति—अधिकारिणामिति शेषः मुमुक्षु प्रवृत्ति तत्स्तुत्युपयोग इत्यर्थः। ५. निरोधसमाधिमेवयोगं मत्वाशङ्कते—योगस्येति। ६. अस्पर्शत्वमिति—स्पर्शनिषेधनमित्यर्थः। ७. विशेषमिति—लौकिक सुख हेत्वपेक्षया विशेषमित्यर्थः। ८. तत्र—विवादाभावे। ९. आत्मप्रकाशत्वादिति—आत्मस्वरूपत्वे सति स्वयं प्रकाशमानत्वादिति। १०. यथोक्तेति—ब्रह्मस्वरूपेत्यर्थः।

भूतं न जायते किंचिदभूतं नैवं जायते।
विवदन्तोऽद्वया ह्येवमजातिं ख्यापयन्ति ते ॥४॥

[कोई भी विद्यमान वस्तु (विद्यमान होने के कारण) ही उत्पन्न नहीं होती हैं (ऐसा कुछ लोग मानते हैं और कुछ लोग कहते हैं कि शशश्रृङ्ग के समान) असद् वस्तु का जन्म नहीं होता। इस प्रकार परस्पर विवाद करने वाले ये वास्तव में अद्वैत वादी ही है, क्योंकि ये अजातवाद का ही उक्त-रीत्या समर्थन करते हैं ॥४॥]

मिच्छन्ति वादिनः केचिदेव हि सांख्याः। न सर्व एव द्वैतिनः। यस्मादभूतस्या[1]विद्यमानस्यापरे वैशेषिका नैयायिकाश्च धीरा धीमन्तः प्राज्ञाभिमानिन इत्यर्थः। विवदन्तो विरुद्धं वदन्तो ह्यन्योन्यमिच्छन्ति जेतुमित्यभिप्रायः ॥ ३ ॥

तैरेवं विरुद्धवदनेनान्योन्यपक्षप्रतिषेधं कुर्वद्भिः किं ख्यापितं भवतीति। उच्यते। भूतं विद्यमानं वस्तु न जायते किंचिद्विद्यमानत्वादेवाऽऽत्मवदित्येवं वदन्नसद्वादी सांख्यपक्षं प्रतिषेधति सज्जन्म। तथाऽभूतमविद्यमानमविद्यमानत्वान्नैव जायते शशविषाणवदित्येवं वदन्सांख्योऽप्यसद्वादिपक्षमसज्जन्म प्रतिषेधति। विवदन्तो विरुद्धं वदन्तोऽद्वया द्वैतिनोऽप्येतेऽन्योन्यस्य पक्षौ सदसतोर्जन्मनी प्रतिषेधन्तोऽजातिमनुत्पत्तिमर्थात्ख्यापयन्ति प्रकाशयन्ति ते ॥ ४ ॥

सभी द्वैतवादी नहीं, किन्तु कोई-कोई सांख्यमतावलम्बी सत्कार्य वादी भूत (विद्यमान) वस्तु की उत्पत्ति मानते हैं। इनके विपरीत दूसरे पाण्डित्याभिमानी असत्कार्यवादी वैशेषिक और नैयायिक अभूत अर्थात् अविद्यमान् वस्तु की उत्पत्ति मानते हैं। इस प्रकार परस्पर विरुद्ध भाषण करते हुए वे एक दूसरे को जीतने की इच्छा करते हैं। इसीलिये इनका परस्पर विरोध है, यही इसका तात्पर्य है ॥३॥

परस्पर भाषण द्वारा एक दूसरे के खण्डन करने वाले उन वादियों द्वारा कौन सा सिद्धान्त बतलाया जाता है। इस पर कहते हैं—

कोई भी विद्यमान वस्तु इसलिये उत्पन्न नहीं होती, क्योंकि वह आत्मा के समान पहिले से ही विद्यमान है। इस प्रकार बोलता हुआ असत्कार्यवादी नैयायिकादि, सत्कार्यवादी सांख्य पक्ष का खण्डन करते हैं। वैसे ही शशश्रृङ्ग के समान अविद्यमान् वस्तु का जन्म नहीं होता, क्योंकि वह सदा अविद्यमान ही हैं। ऐसा कहते हुए सत्कार्यवादी सांख्य असत्कार्यवादी वैशेषिकादि पक्ष का खण्डन करते हैं। इस प्रकार ये परस्पर विरुद्ध बोलते हुए अजातवाद को ही प्रकाशित करते हैं। वस्तुतः ये अद्वैतवादी ही हैं। जब सत कार्यवाद मिथ्या है और असत्कार्यवाद भी मिथ्या है। इस प्रकार एक दूसरे के पक्ष सत् के जन्म का और असत् के जन्म का खण्डन करते हुए अर्थतः अद्वैतवाद का ही समर्थन करते हैं ॥४॥

मिथो जेतुमिच्छन्तीत्याह— विवदन्त इति। प्रश्न पूर्वकं श्लोकाक्षराणि योजयति—कथमित्यादिना। एवकारार्थं हेतुमा ह—यस्मादिति। प्राज्ञाभिमानिनो जातिमिच्छन्तीति पूर्वेण संबन्धः। चतुर्थपादं साध्याहारं व्याकरोति—विवदन्त इति ॥३॥

पक्षद्वय[2]निषेधमुखेन सिद्धमर्थं कथयति—भूतमित्यादिना। श्लोकाक्षरव्याख्यानार्थमाकाङ्क्षां निक्षिपति—तैरिति। [3]तत्राऽऽद्यं पादमवतार्य व्याकरोति—उच्यत इति। द्वितीयपादं विभजते—तथेति। द्वितीयार्धं विभजते—तथेति। द्वितीयार्धं विभजते—विवदन्त इत्यादिना। सदसदतिरिक्तवस्त्वभावाद्वस्तुत उत्पत्तेरनुपपत्तिरित्याह—अर्थादिति ॥ ४ ॥

१. अविद्यमानस्येति—असतः कार्यस्येत्यर्थः। २. निषेधेति—परस्परनिषेधेत्यर्थः। ३. तत्र-उक्तशङ्कायां सत्याम्।

ख्याप्यमानामजातिं तैरनुमोदामहे वयम् ।
विवदामो न तैः सार्धमविवादं निबोधत ॥ ५ ॥

[१]अजातस्यैव धर्मस्य जातिमिच्छन्ति वादिनः ।
अजातो ह्यमृतो धर्मो मर्त्यतां कथमेष्यति ॥ ६ ॥

[उन द्वैतवादियों द्वारा बतलायी गयी अजातिका, हम् (ऐसा ही हो इस प्रकार केवल) अनुमोदन करते हैं उनके साथ विवाद नहीं करते । (अतः हे शिष्यों ! हमारे उपदेश किये हुए) उस विवाद रहित परमार्थ दर्शन को तुम भली प्रकार समझ लो ॥ ५ ॥]

[(कुछ उपदिषद् व्याख्याता) द्वैतवादी अजन्मा आत्मतत्त्व की उत्पत्ति परमार्थतः सिद्ध करना चाहते हैं। पर भला जो पदार्थ स्वभाव से अजन्मा और अमर है, वह अमर शीलता को कैसे प्राप्त हो सकेगा ॥ ६ ॥]

तैरेवं ख्याप्यमानामजातिमे [२]वमस्त्वित्यनुमोदामहे केवलं न तैः सार्धं विवदामः [३]पक्षप्रतिपक्षग्रहणेन । यथा तेऽन्योन्यमित्यभिप्रायः । [४]अतस्त [५]मविवादं विवादरहितं [६]परमार्थदर्शनमनुज्ञातमस्माभिर्निबोधत हे शिष्याः ॥ ५ ॥

सदसद्वादिनः सर्वेऽपीति । पुरस्तात्कृतभाष्यः श्लोकः ॥ ६ ॥

द्वैतवादियों के साथ अद्वैतवादियों का विरोध नहीं

इस प्रकार उनके द्वारा प्रकाशित अजातिवाद का हम 'यह ऐसा ही है' ऐसा कहकर केवल अनुमोदन करते हैं। तात्पर्य यह कि पक्ष प्रतिपक्ष ग्रहण पूर्वक हम उनके साथ विवाद नहीं करते, जैसे कि वे परस्पर विवाद करते रहते हैं। अतः हे शिष्यो ! उस विवाद रहित हमारे द्वारा बतलाए गए परमार्थ दर्शन को अच्छी प्रकार तुम समझ लो ॥५॥

इस श्लोक में आये हुए वादी पद से सभी सत्कार्यवादी और असत्कार्यवादी का ग्रहण करना अभीष्ट है। इसका भाष्य अद्वैत प्रकरण २० वें श्लोक में पहले किया जा चुका है ॥६॥

तर्हि प्रतिवादिभिरुक्तत्वादजातिरपि भवता प्रत्याख्येयेत्याशङ्क्याऽऽह—ख्याप्यमानामिति । प्रतिवादिभिः सह विवादाभावे फलितमाह—अविवादमिति । अक्षराणि व्याचष्टे—तैरित्यादिना । अद्वैतवादिनो द्वैतवादिभिर्विवादाभावे वैधर्म्यदृष्टान्तमाह—यथा त इति । चतुर्थपादार्थमाह—अत इति ॥ ५ ॥

जातस्यैव जन्मनाऽऽनर्थक्यादनवस्थानाच्चाजातस्यैव पदार्थस्य जन्म सद्वादिनोऽसद्वादिनश्च सर्वेऽपि स्वीकुर्वन्तीति परपक्षमनुवदति अजातस्येति । [७]तत्र शिष्टाभीष्टदोषं प्रदर्श्या [८]स्यनुजानाति—अजातो हीति । के ते वादिनो यैरेवमिष्यते तत्राऽऽह—सदसदिति । अवशिष्टानि श्लोकाक्षराणि व्याख्यातत्वान्न पुनर्व्याख्यानसापेक्षाणीत्याह—पुरस्तादिति ॥६॥

---

१. अजातस्यैवेति—स्वभावत एव जन्मरहितस्यामृतस्यैवेत्यर्थः । २. एवमस्त्विति—सदसतोरनुत्पत्त्या परमार्थभूताऽजातिरेवास्त्वित्यर्थः । ३. पक्षेत्यादि—एकस्मिन् धर्मिणि प्रतिवाद्यनभिमतकोटिग्रहणेनेत्यर्थः । ४. अतः—अजातेरस्मदिष्टत्वादित्यर्थः । ५. स्पर्शयोगमेवविशेष्यत्वेन स्मारयति—तमिति । ६. परमार्थ दर्शनम्—स्वयं प्रथमस्पर्शयोगमित्यर्थः । ७. तत्रेति—अजातजन्मनीत्यर्थः । ८. [illegible]—[illegible] दोषमनुमोदत इत्यर्थः ।

न भवत्यमृतं मर्त्यं न मर्त्यममृतं तथा। [1]प्रकृतेर[2]न्यथाभावो न कथंचिद्भविष्यति ॥७॥
स्वभावेनामृतो यस्य धर्मो गच्छति मर्त्यताम्। कृतकेनामृतस्तस्य कथं स्थास्यति निश्चलः ॥८॥
सांसिद्धिकी स्वाभाविकी सहजा अकृता च या। प्रकृतिः सेति विज्ञेया स्वभावं न जहाति या ॥९॥

[लोक में अमर वस्तु कभी भी मरणशील नहीं हो सकती और मरणशील अमर नहीं होती क्योंकि कोई भी वस्तु अपनेस्वभाव के विपरीत नहीं हो सकती है ॥ ७ ॥]

[जिस वादी के मत में स्वभाव से अमर पदार्थ भी मर्त्य भाव को प्राप्त होता है, उसके सिद्धान्तानुसार कृतिजन्य होने के कारण वह अमृत पदार्थ निश्चल (अमृत स्वभाव भी) कैसे हो सकता है ॥८॥]

[जो सम्यक सिद्धि द्वारा प्राप्त (कभी भी विपरीत न होनेवाली अग्नि की उष्णता के समान) स्वभाव सिद्धा पक्षी के आकाश गमन सामर्थ्य के समान जन्मजात, जल के निम्नप्रदेश में गति के समान अकृता है और कभी अपने स्वभाव को छोड़ती नहीं है। बस ? यही प्रकृति है (ऐसी प्रकृति का विपर्यय अज स्वभाव परमार्थतत्त्व में कैसे हो सकेगा ॥ ९ ॥]

उक्तार्थानां श्लोकानामिहोपन्यासः परवादिपक्षाणामन्योन्यविरोधख्यापितानुमोदनप्रदर्शनार्थः ॥७;८॥

यस्माल्लौकिक्यपि प्रकृतिर्न [3]विपर्येति काऽसावित्याह—सम्यक्सिद्धिः संसिद्धि [4]स्तत्र भवा सांसिद्धिकी यथा योगिनां सिद्धानामणिमाद्यैश्वर्यप्राप्तिः प्रकृतिः सा [5]भूतभविष्यत्कालयोरपि योगिनां

जिनका अर्थ पहले बतलाया जा चुका है, ऐसे ऊपर कहे गये तीन श्लोकों का उल्लेख इस प्रकरण में विपक्षी वादियों के परस्पर विरोध से प्रकाशित अजातवाद का अनुमोदन दिखलाने के लिये किया गया है ॥७८॥

जब कि लौकिकी प्रकृति का भी विपर्यय नहीं होता तो भला पारमार्थिकि प्रकृति का विपर्यय कैसे हो सकेगा। पर वह प्रकृति है क्या चीज ? इस पर कहते हैं—

अंगों के सहित योग का अनुष्ठान परिसमाप्ति को संसिद्धि कहते हैं यानी सम्यक् सिद्धि। उस

---

[6]परिणामिब्रह्मवादे यदब्रह्मवादिभिर्दूषणमुच्यते तदप्यनुज्ञातमेवेति मत्वाऽऽह—न भवतीति। [7]अमृतं हि ब्रह्म न [8]तद्रूपे स्थिते मर्त्यं भवितुमर्हति। स्थितरूपविरोधात्। न च मर्त्यं कार्यं स्वरूपे स्थिते प्रलयावस्थायाममृतं ब्रह्म संपद्यते। नष्टेऽपि स्वरूपे [9]तस्यैवाभावान्नान्यथात्वमित्यभिप्रेत्याऽऽह—प्रकृतेरिति। किंच यस्य परिणामवादिनः स्वभावेनामृतः सन्परमात्माख्यो धर्मशब्दितो भावो मर्त्यतां [10]कार्यभावापत्त्या गच्छति तस्य कृतकेन [11]समुच्चयानुष्ठानेनामृतो जीवो मुक्तो वक्तव्यः। स च कथं [12]निश्चलः स्थातुं पारयति। [13]यत्कृतकं तदनित्यमितिन्यायविरोधादित्याह—स्वभावनेति। पुनरुक्तिमाशङ्क्य प्रत्यादिशति—उक्तार्थानामिति ॥ ७ ॥ ८ ॥

प्रकृतेरन्यथाभावो न कथंचिदित्युक्तं तत्र प्रकृतिशब्दार्थं कथयति—सांसिद्धिकीति। श्लोकाक्षराणि व्याकुर्वन्प्रकृतेरन्यथात्वाभावे हेतुमाह—यस्मादिति। तस्मादजाऽमृतस्वभावा प्रकृतिर्न विपर्येतीति किमु वक्तव्यमिति योजना।

---

१. प्रकृतेः—स्वभावस्य। २. अन्यथाभावः—स्वरूपप्रच्युतिः। ३. विपर्येति—वृद्धिं ह्रासं वा नाप्नोतीत्यर्थः। ४. तत्र भवेति—तन्निमित्तकोत्पत्त्याश्रयः इत्यर्थः। ५. भूतेत्यादि—पूर्वोत्तर कालयोरिति यावत्। ६. परिणामिब्रह्मवादे—बौद्धायनादी मते। ७. अब्रह्मवादिभिरुक्तं स्वानुमतं दूषणमनेनोद्घाटयति—अमृतं हीत्यादिना। ८. तद्रूपे—अमृतरूप इत्यर्थः। ९. तस्यैव—कार्यस्यैव। १०. कार्यभावापत्त्या—कार्याकारेण परमार्थजात्येत्यर्थः। ११. समुच्चयेत्यादि—कर्मोपासनयोः समुच्चयानुष्ठानेनेत्यर्थः। १२. निश्चलः—अमृतस्वभावतयाऽचलः। १३. यत्कृतकमिति—जीवस्य ब्रह्मपरिणामतयाकृतकत्वम्।

जरामरणनिर्मुक्ताः सर्वे धर्माः स्वभावतः। जरामरणमिच्छन्तश्च्यवन्ते तन्मनीषया ॥१०॥

[जरा मरणादि सम्पूर्ण विकारों से रहित स्वभाव से समस्त प्राणी है, ऐसे वस्तु में जरामरण मानने वाले लोग इस विपरीत चिन्तन के कारण (तद्भाव भावित हो) अपने स्वभाव से विचलित हो जाना है ॥ १० ॥

न विपर्येति [1]तथैव सा। तथा स्वाभाविकी [2]द्रव्यस्वभावत एवसिद्धा, यथाऽग्न्यादीनामुष्णप्रकाशादिलक्षणा, साऽपि न कालान्तरे व्यभिचरति देशान्तरे वा। तथा [3]सहजाऽऽत्मना सहैव जाता यथा पक्ष्यादीनामाकाशगमनादिलक्षणा। अन्याऽपि या काचि [4]दकृता केनचिन्न कृता यथाऽपां निम्नदेशगमनादिलक्षणा। अन्याऽपि या काचित्स्वभावं न जहाति सर्वा प्रकृतिरिति विज्ञेया लोके। [5]मिथ्याकल्पितेषु लौकिकेष्वपि वस्तुषु प्रकृतिर्नान्यथा भवति किमुता [6]जस्वभावेषु परमार्थवस्तुष्वमृतत्त्वलक्षणा प्रकृतिर्नान्यथा भवतीत्यभिप्रायः॥ ६ ॥

किंविषया पुनः सा प्रकृतिर्यस्या अन्यथाभावो वादिभिः कल्प्यते कल्पनायां वा को दोष ? इत्याह-

---

सम्यक् सिद्धि में होने वाली को सांसिद्धिकी कहते हैं। जैसे सिद्ध योगियों को अणिमादि ऐश्वर्य की प्राप्ति, उनकी प्रकृति है। इसी को सांसिद्धिकी कहते हैं। वह सांसिद्धिकी योगियों की प्रकृति भूत तथा भविष्यत् काल में भी विपरीत भाव को प्राप्त नहीं होती, किन्तु जैसी की तैसी रहती है। वैसे ही वस्तु के स्वभाव से सिद्ध प्रकृति को स्वाभाविकी कहते हैं। यथा अग्नि आदि की उष्णता एवं प्रकाश आदि रूपता प्रकृति स्वाभाविकी मानी जाती है, क्योंकि वह भी कालान्तर और देशान्तर में व्यभिचरित नहीं होती। एवं अपने साथ उत्पन्न होने वाली प्रकृति सहजा मानी गई है। यथा पक्षी आदि की आकाशगमन-रूपा प्रकृति सहजा कही गई है। और भी जो कोई किसी के द्वारा बनाई नहीं गई हो, तो उसे अकृता-प्रकृति कहते हैं। जैसे की जल की निम्न प्रदेश की ओर जाना रूप प्रकृति अकृता है। ऐसे ही इसके अतिरिक्त भी कोई अपने स्वभाव को छोड़ती नहीं है तो वह सभी प्रकृति नाम से ही लोक में जानने योग्य है। जब मिथ्या कल्पित लौकिक वस्तुओं में भी प्रकृति अन्यथा भाव को प्राप्त नहीं होती, फिर भला अज स्वभाव परमार्थ वस्तुओं में अमरत्वरूपा प्रकृति विपरीत भाव को प्राप्त नहीं हो सकती है। इसमें तो कहना ही क्या है ? इस प्रकार कैमुतिक न्याय से अजन्मा आत्मा की प्रकृति के अन्यथा भाव का निषेध किया गया है, यह इसका तात्पर्य है ॥६॥

जीव के जरादि मानने में दोष है

वादियों के द्वारा जिसके अन्यथा भाव की कल्पना की जाती है, वह प्रकृति कैसी है और उसकी कल्पना में दोष क्या है ? इस पर कहते हैं—

कैमुतिकन्यायद्योतनार्थोऽपिशब्दः। विवक्षितं हेतुं स्फुटयितुं प्रश्नपूर्वकं विभजते—काऽसावित्यादिना। साङ्गयोगमनुष्ठाय परिसमापनं संसिद्धिः। सिद्धानामणिमाद्यैश्वर्यप्राप्तौ [7]सामग्रीसंपन्नानाम्। या काचित्स्वभावं न जहाति घटस्य घटत्वं पटस्य पटत्वमित्यादिकेति शेषः। प्रासङ्गिकं प्रकृतिशब्दार्थमुक्त्वा प्रकृतेरन्यथात्वाभावे प्रागुक्ते स्वसिद्धान्ते यत्फलति तदिदानीं किंपुनर्न्यायेन कथयति—मिथ्येति ॥ ६ ॥

प्रासङ्गिकीमेव जीवानां प्रकृतिं दर्शयितुं प्रक्रमते—जरेति। आत्मानो हि सर्वविक्रियारहिताः स्वभावतो

---

१. तथैवेति—एकरूपैवेत्यर्थः। २. द्रव्यस्वभावत एवेति—द्रव्यनिष्ठ स्वजननानुकूल सामर्थ्यजन्येत्यर्थः। ३. सहजा—स्वाश्रयकारणजन्येत्यर्थः। ४. अकृतेति—मूलकारणैकजन्या न त्ववान्तर कारणजेत्यर्थः। ५. मिथ्या कल्पितेषु—मिथ्याऽज्ञानतत्कल्पितेष्वित्यर्थः। ६. अज स्वभावेषु—जीवेष्वित्यर्थः। ७. सामग्रीति—अशुक्लाकृष्णादृष्टरूपेत्यर्थः।

कारणं यस्य वै कार्यं कारणं तस्य जायते।
जायमानं कथ [1]मजं [2]भिन्नं नित्यं कथं च तत ॥११॥

[जिस (सांख्य मतावलम्बी के) मत में मृत्तिका के समान कारण ही कार्य है। उसके सिद्धान्तानुसार प्रधानादि कारण अजन्मा होता हुआ भी महदादि रूप से उत्पन्न होता है। इस पर यदि वह जन्मने वाला हो तो भला अज कैसे होगा और विकृत होने वाला वह नित्य भी कैसे हो सकता है ॥११॥]

जरामरणनिर्मुक्ताः। जरामरणादिसर्वविक्रियावर्जिता इत्यर्थः। के ? ते। सर्वे धर्माः सर्व आत्मन इत्येतत्स्वभावतः [3]प्रकृतितः एवंस्वभावाः सन्तो धर्मा जरामरणमिच्छन्त इच्छन्त इवेच्छन्तो रज्ज्वामिव सर्पमात्मनि कल्पयन्तश्च्यवन्ते [4]स्वभावतश्चलन्तीत्यर्थः। तन्मनीषया जन्मरणचिन्तया [5]तद्भावभावितत्वदोषेणेत्यर्थः ॥१०॥

कथं सज्जातिवादिभिः सांख्यैरनुपपन्नमुच्यत इत्यत आह वैशेषिकः। कारणं मृद्वदु [6]पादानलक्षणं यस्य वादिनो वै कार्यं कारणमेव कार्याकारेण परिणमते यस्य वादिन इत्यर्थः। तस्याजमेव

जरामरणादि समस्त विकारों से रहित को जरामरण निर्मुक्त कहते हैं। वे कौन हैं ? सम्पूर्ण धर्म यानी जीवात्मा स्वभाव से ही जरामरण निर्मुक्त हैं। ऐसे स्वभाव वाले होने पर भी जरामरण की इच्छा के समान इच्छा करने लगे हैं अर्थात् रज्जु में सर्प की भाँति आत्मा में जरामरण की कल्पना करते हुए ये जीव अपने स्वभाव से च्युत हो जाते हैं यानी जरामरण की चिन्ता से तद्भाव भावित होना रूप दोष के कारण अपने स्वभाव से वे गिर जाते हैं ॥१०॥

सांख्यों पर वैशेषिकों का प्रहार

सत्कार्यवादी सांख्यों का कहना असंगत है, यह कैसे समझा जाय ? इस पर वैशेषिक कहता है—

जिस वादी के मत में मिट्टी की भाँति उपादान कारण ही कार्य रूप है अर्थात् कारण ही कार्य रूप से परिणत हो जाता है। ऐसा जिसका सिद्धान्त है। उसके मतानुसार यही सिद्ध होता है कि प्रधानादि कारण अजन्मा होता हुआ महदादि कार्यरूप से जन्मता है। पर महदादि रूप से यदि प्रधान

भवन्तीत्यर्थः। तेषामुक्तप्रकृतेरन्यथात्वे का क्षतिरित्याशङ्क्याऽऽह—जरामरणमिति। सर्वविक्रियाशून्ये स्वात्मनि विक्रियाकल्पनायां तद्वासनया स्वभाव[7]हानिः स्यादित्यर्थः। श्लोकाक्षराणि व्याकर्तुमाकाङ्क्षां दर्शयति—किंविषयेति। आश्रयविषयो विषयशब्दः। अप्रकृतं प्रकृतेराश्रयनिरूपणमित्याशङ्क्याऽऽह—यस्या इति। प्रश्नान्तरं प्रकरोति—कल्पनायामिति। [8]तत्र पूर्वार्धं [9]मुत्तरत्वेन व्याकरोति—आहेत्यादिना। उत्तरार्धं [10]विभजते—एवंस्वभावा इति ॥१०॥

प्रासङ्गिकं परित्यज्य सांख्यपक्षे वैशेषिकादिभिरुच्यमानं दूषणम[11]भ्यनुज्ञातमनुभाषते—कारणमिति। कारणस्य जायमानत्वे का हानिरित्याशङ्क्याऽऽह—भिन्नमिति। श्लोकस्य तात्पर्यमाह—कथमिति। [12]तत्र प्रथमपादाक्षराणि योजयति—कारणमित्यादिना। [13]तदेव स्पष्टयति—कारणमेवेति। द्वितीयपादं विभजते—तस्येति। प्रधानादीत्यादि-

---

१. अजम्—नित्यम्। २. भिन्नम्—भेदविशिष्टमिति यावत्। ३. प्रकृतितः—स्वरूपतः। ४. स्वभावतश्चलतीति—जरामरणादिमन्तो भवन्तीत्यर्थः। ५. तद्भावेत्यादि—तत्सत्वसंस्कृतत्वदोषेणेत्यर्थः। ६. उपादानलक्षणम्—प्रधानादिममित्यर्थः। ७. हानिरिति—भ्रान्त्यात्मकं तद्भानमित्यर्थः। ८. तत्र—प्रश्नद्वये। ९. उत्तरत्वेन—पूर्वस्योत्तरत्वेन। १०. विभजते—उत्तरस्योत्तरत्वेन। ११. अभ्यनुज्ञातम्—सम्मतत्। १२. तत्र—सांख्योक्त्यनुपपन्नत्वमेव। १३. तदेव—कारणस्य कार्यत्वमेव।

कारणाद्यद्यनन्यत्वमतः कार्यमजं यदि ।
जायमानाद्धि वै कार्यात्कारणं ते कथं ध्रुवम् ॥१२॥

[यदि अजन्मा कारण से कार्य का अभेद है (तो यह बात सिद्ध हो जाती है कि) कार्य भी अजन्मा है और यदि ऐसी स्थिति है तो उत्पन्न होने वाले कार्य से अभिन्न उसका कारण नित्य और निश्चल कैसे रह सकता है ॥१२॥]

सत्प्रधानादि कारणं महदादादि कार्यरूपेण जायत इत्यर्थः। महदाद्याकारेण चेज्जायमानं प्रधानं कथमजमुच्यते तैर्विप्रतिषिद्धं चेदं जायतेऽजं चेति। नित्यं च तैरुच्यते। प्रधानं भिन्नं विदीर्णं[1] 'स्फुटितमेकदेशेन सत्कथं नित्यं भवेदित्यर्थः। न हि सावयवं घटादि एकदेशस्फुटनधर्मि नित्यं दृष्टं लोक इत्यर्थः। [2]विदीर्णं च स्यादेकदेशेनाजं नित्यं चेति। एतद्विप्रतिषिद्धं तैरभिधीयत इत्यभिप्रायः॥११॥

उक्तस्यैवार्थस्य स्पष्टीकरणार्थमाह—कारणादजात्कार्यस्य यद्यनन्यत्वमिष्टं त्वया ततः कार्यमजमिति प्राप्तम्। इदं चान्यद्विप्रतिषिद्धं कार्यमजं चेति तव। किञ्चान्यत्कार्यकारणयोरनन्यत्वे जायमानाद्धि

को उत्पन्न होने वाला माना जाय, तो वे उसे अजन्मा कैसे कहते हैं। उत्पन्न होता है एवं अजन्मा भी है, ऐसा कहना परस्पर विरुद्ध है। इसके अतिरिक्त प्रधान को वे नित्य भी कहते हैं। जो वस्तु एक देश से विदीर्ण यानी विकृत हो गया हो, वह फिर नित्य कैसे हो सकता है। भाव यह है कि सावयव घटादि पदार्थ जो एक देश में फूटने वाले हैं वे लोक में कभी भी नित्य नहीं देखे गए हैं अर्थात् वे अपने देश में विकृत होते हैं। वैसे ही अज तथा नित्य भी है, यह उनका कहना अत्यन्त विरुद्ध है, यह इसका तात्पर्य है ॥११॥

पूर्वोक्त अर्थ को स्पष्ट करते हैं—

यदि आप अजन्मा कारण से कार्य को अभिन्न मानते हैं तो आपके मत में यह बात सिद्ध हो जाती है, कि कार्य भी अजन्मा है। पर कार्य है और अजन्मा है ऐसा मानने पर तुम्हारे मत में यह एक दूसरा परस्पर विरोधरूप दोष आ जाता है। इसके अतिरिक्त कार्य कारण को अभिन्न मानने पर

शब्देन तदवयवाः सत्त्वादयो गृह्यन्ते। महदादीत्यादिशब्देनाहंकारादिग्रहणम्। तृतीयपादं व्याकरोति—महदादीति। विप्रतिषेधं विशदयति—जायत इति। चतुर्थपादार्थमाह—नित्यं चेति। विमतमनित्यं सावयवत्वाद्घटादिवदित्यभिप्रेत्य दृष्टान्तं साधयति—न हीति। [3]सांख्यस्मृतिविरुद्धमनुमानमित्याशङ्क्या[4]ऽऽह—विदीर्णं चेति ॥११॥

किंच कार्यकारणयोरभेदे किं [5]कारणाभिन्नं कार्यं वा किं [6]कार्यभिन्नं कारणमिति विकल्प्याऽऽद्यमनुवदति—कारणादिति। [7]अतोऽस्मिन्पक्षे कार्यमजं स्यात्। तथाविधकारणाभिन्नत्वादिति दूषयति—अत इति द्वितीयमनुद्रवति—जायमानात्कार्यात्कारणमभिन्नं यदीति योजना। न तर्हि कारणं ध्रुवं भवितुमर्हति कार्याभिन्नत्वात्तस्य चाध्रुवत्वादिति दूषयति—कारणमिति। श्लोकस्य तात्पर्यमाह—उक्तस्येति। कार्यकारणयोरभेदवादे विप्रतिषेधो दर्शितः। तस्यैव दृढीकरणार्थमयं श्लोक इत्यर्थः। पूर्वार्धाक्षरोत्थमर्थमाह—कारणादिति। प्राप्तेरनिष्ट[8]पर्यवसायित्वमाह—इदं चेति। प्रधानस्याजत्वं जायमानत्वं च विप्रतिषिद्धमित्युक्तम्। ततोऽन्यदित्युक्तमेव व्यनक्ति—कार्यमिति। [9]अभेदेऽपि माया-

---

१. स्फुटितम्—विभक्तं सावयवमिति समूहार्थः। २. विदीर्णम्—विभक्तम्। ३. सांख्यस्मृति विरुद्धमिति—सांख्यैस्तस्य नित्यत्वाभ्युपगत्त्वादिति भावः। ४. आहेति—युक्तिविरुद्धत्वात् सांख्यस्मृतिरमानमित्याशयेनाह। ५. कारणाभिन्नम्—कार्यस्यकारणेऽन्तर्भावः। ६. कार्याभिन्नम्—कारणस्य कार्यान्तर्भावः। ७. अतः—कार्यस्य कारणाभिन्नत्वादित्यर्थः। ८. पर्यवसायित्वम्—प्रसञ्जकत्वम्। ९. अभेदे—कार्यकारणयोरिति शेषः।

अजाद्वै जायते यस्य दृष्टान्तस्तस्य नास्ति वै ।
जाताच्च जायमानस्य [1]न व्यवस्था प्रसज्यते ॥१३॥

[जिस वादी के मत में अजन्मा वस्तु से ही (किसी भी कार्य की उत्पत्ति होती है) निश्चय ही उसके पास कोई दृष्टान्त नहीं है और यदि उत्पन्न होने वाली वस्तु से ही कार्य वर्ग की उत्पत्ति मानें, तो अनवस्था उपस्थित हो जाती है ॥१३॥]

वै कार्यात्कारणमनन्यन्नित्यं ध्रुवं च ते कथं भवेत्। न हि कुक्कुट्या एकदेशः पच्यत एकदेशः प्रसवाय कल्प्यते ॥१२॥

किञ्चान्यदजादनुत्पन्नान्नित्याद्वस्तुनो जायते यस्य वादिनः कार्यं दृष्टान्तस्तस्य नास्ति वै। दृष्टान्ताभावे[2]ऽर्थादजान्न किञ्चिज्जायत इति सिद्धं भवतीत्यर्थः। यदा पुनर्जाताज्जायमानस्य वस्तुनोऽभ्युपगमः, तदप्यन्यस्माज्जातात्तदप्यन्यस्मादिति न व्यवस्था प्रसज्येत। अनवस्थानं स्या दित्यर्थः ॥१३॥

उत्पत्तिशील कार्य से अभिन्न कारण नित्य और निश्चल कैसे रह सकेगा। यह कभी भी नहीं हो सकता कि मुर्गी का एक भाग पकाया जाय और दूसरा भाग अंडे देने के लिये सुरक्षित रखा जाय ॥१२॥

इसके अतिरिक्त भी सुनो—जिस वादी के मत में उत्पन्न न होने वाले अजन्मा वस्तु से कार्य उत्पन्न होता है, निश्चय ही उसके मत में तदनुरूप दृष्टान्त नहीं मिलता। इसका तात्पर्य यह है कि दृष्टान्ताभाव के कारण अज वस्तु से किसी की उत्पत्ती नहीं होती, यह बात स्वयं सिद्ध हो जाती है। और जब किसी उत्पन्न होने वाली वस्तु से कार्य की उत्पत्ति मानी जायगी, तो वह कारण जो कि

वादे नैष दोषः कारणस्य कार्यादनन्यत्वानभ्युपगमात्। कार्यस्यैव [3]कारणमात्रत्वाङ्गीकारादिति मत्वाऽऽह—तवेति। द्वितीयार्धं विभजते—किं चान्यदिति। [4]अभेदवादेऽपि कार्यस्यानित्यत्वं कारणस्य नित्यत्वमिति व्यवस्था किमिति न भवतीत्याशङ्क्या[5]ऽऽह—न हीति ॥१२॥

किंच यस्य प्रधानवादिनो मते प्रधानादजाद[6]भिन्नं कार्यं जायते महदादीत्यभ्युपगम्यते तस्य पक्षे [7]तस्मिन्नर्थे दृष्टान्तो वक्तव्यः तदवष्टम्भेनैव [8]तेनार्थव्यवस्थापनात्। न चात्रोभयसंप्रतिपन्नो दृष्टान्तो दृष्टोऽस्तीत्याह—अजादिति। यद्यजान्नित्याद्वस्तुनो जायमानमभ्युपगन्तुं न शक्यते तर्हि जातादेव जायमानमभ्युपगम्यतामिशङ्क्याऽऽह—जाताच्चेति। सांख्यसमते [9]दोषान्तरप्रदर्शनपरत्वं श्लोकस्य प्रतिजानीते—किंचान्यदिति। तत्र पूर्वार्धाक्षराणि योजयेति—अजादीति। [10]दृष्टान्ताभावेऽपि प्रमाणान्तरादर्थप्रतिपत्तिर्भविष्यतीत्याशङ्क्याऽऽह—दृष्टान्तेति। [11]परस्य खल्वनुमानाधी-

---

१. उक्तदोषे—सत्येव दोषान्तरमाह—न व्यवस्थेति। २. नन्वजान्नकिञ्चिज्जायत इति न प्रमाणं दृष्टान्ताद्याभावस्य समत्त्वादित्याशङ्क्याह—अर्थादिति। अजाज्जायत इत्यत्र दृष्टान्ताभावानुपपत्त्येत्यर्थः। ३. कारणमात्रत्वाङ्गीकारादिति—यथा च कार्यस्य कारणातिरिक्ति सत्ताशून्यत्वेन मिथ्यात्वान्न तत्र कारणधर्मापादनेन विरोधोद्भावनं कर्तुं शक्यमिति भावः। एतदेव सूचयितुं मायावाद इत्युक्तमित्यवधेयम्। ४. एकस्मिन वृक्षेऽवच्छेदकभेदेन भावाभावाविव कार्यत्वकारणत्वावच्छेदाभ्यामेकस्मिन्नेव धर्मिणि नित्यत्वानित्यत्वे व्यतिष्ठेयातामित्याशङ्कते—अभेदवादेऽपीत्यादिना। ५. आहेति—भावाभावयोर्वृक्षेऽपि क्षत्यभावेऽपि जीवनमरणयोरिव विरुद्धयोर्नित्यत्वानित्यत्वयोर्नैकत्र समावेशः सम्भवति। न हि हस्तावच्छेदेन जीवन्नेवोदराद्यवच्छेदेन मरिष्यति। किञ्च कार्यत्वादेरप्यवच्छेदकभेदेन कल्पनायामन्योऽन्याश्रयत्वादि प्रसङ्गः, इत्याशयेनाहेत्यर्थः। ६. अजादपि वैशेषिकादिमते परमाण्वाकाशादितो द्व्यणुकशब्दादिकं जायते एवेति भवेत् सदृष्टान्त इत्याशङ्क्याह—अभिन्नमिति। सत्यं च सांख्यकार्यमिति। मायावादोऽन्तदृष्टान्त इत्यवधेयम्। ७. तस्मिन्नर्थे—कारणाभिन्नकार्यजन्यरूपेऽर्थे। ८. तेन—सांख्येन। ९. दोषान्तरम्—दृष्टान्ताभाव इत्यर्थः। १०. दृष्टान्ताभावे—तदभावादनुमानासम्भव इत्यर्थः। ११. तन्मते प्रमाणान्तरं तद्विषय नास्तीत्याशयेनाह—परस्येति।

हेतोरादिः फलं येषामादिर्हेतुः फलस्य च।
हेतोः फलस्य चानादिः कथं तैरुपवर्ण्यते ॥१४॥

[जिन वादियों के मत में धर्मादि का कारण देहादि संघातरूप फल है और संघातरूप फल का कारण धर्माधर्मादि है। (इस प्रकार कार्य कारण भाव बतलाने वाले बेचारे) वे हेतु और फल के अनादित्व का वर्णन कैसे कर सकते हैं ॥१४॥]

'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत' बृ० २।४।१४ इति परमार्थतो द्वैताभावः श्रुत्योक्तस्तमाश्रित्याऽऽह—हेतोर्धर्माधर्मादेरादिः कारणं देहादिसंघातः फलं येषां वादिनाम्। तथाऽऽदिः कारणम्। हेतुधर्माधर्मादिः फलस्य च देहादिसंघातस्य। [1]एवं हेतु फलयोरितरेतरकार्यकारणत्वेनाऽऽदिमत्त्वं ब्रुवद्भिरेवं हेतोः फलस्य चानादित्वं कथं तैरुपवर्ण्यते विप्रतिषिद्धमित्यर्थः। न हि नित्यस्य कूटस्थस्याऽऽत्मनो हेतुफलात्मता संभवति ॥१४॥

उत्पन्न होने वाला है, किसी अन्य उत्पन्न होने वाले कारण से उत्पन्न होता है, ऐसा मानना पड़ेगा। पुनः वह भी किसी अन्य उत्पत्तिशील कारण से उत्पन्न होता है, ऐसा मानने पर कोई व्यवस्था नहीं रह जायगी यानी अनवस्था दोष आ जायगा ॥१३॥

धर्माधर्म और शरीर की परस्पर कारणता में दोष

'जहाँ इस तत्त्वदर्शी की दृष्टि में सब आत्मा ही हो गया। इस श्रुति ने परमार्थतः द्वैतका अभाव कहा है, उसी का आश्रय लेकर आगे बतलाते हैं—

जिन वादियों के मत में धर्माधर्मादि का कारण देहादि संघात रूप फल है, अर्थात् देहादि संघात से धर्माधर्म होते हैं, तथा देहादि संघातरूप फल का कारण धर्मादि हेतु है, क्योंकि धर्माधर्मादि हेतु से देहादि संघातरूप फल उत्पन्न होता है। इस प्रकार हेतु और फल एक दूसरे के कारण हैं। ऐसा मानने पर दोनों ही सकारणक हैं, यानी उत्पन्न होने वाले हैं। फिर तो हेतु अथवा फल में अनादित्व वे कैसे कह सकेंगे? अतः हेतु और फल को परस्पर एक दूसरे के कारण कहने वाले वादियों द्वारा परस्पर विरुद्ध कथन किया गया है। सत्य तो यह है कि नित्य-कूटस्थ आत्मा में हेतुरूपता या फलरुपता किसी प्रकार से भी संभव नहीं है ॥१४॥

नम [2]र्थपरिज्ञानम्। न च दृष्टान्ताभावेऽनुमानमवकल्पते तस्माच्च सांख्यसमयः संभवतीत्यर्थः। द्वितीयार्धं व्याचष्टे—यदा पुनरित्यादिना ॥१३॥

द्वैतवादिभिरन्योन्यपक्षप्रतिक्षेपमुखेण स्थापितं वस्तुनोऽजन्यत्वमद्वैतवादिना [3]ऽभ्यनुज्ञातमिदानीं द्वैतनिरसनमपि [4]श्रौतं विद्वदनुभवानुसारित्वात्तेनाभ्यनुज्ञातमेवेत्याह—हेतोरिति। हेतुफलात्मकः संसारोऽनादिरिति यद्भिस्तस्यानादित्वस्वभावो नैव वक्तुं शक्यते। हेतुफलयोरादिमत्त्वस्य कण्ठोक्तत्वाद [5]तो हेतुफलात्मकं द्वैतम [6]निरूपितरूपमवस्तुभूतमित्यर्थः। श्लोकस्य तात्पर्यमाह—यत्र त्विति। तमाश्रित्य कार्यकारणात्मकस्य द्वैतस्य दुर्निरूपत्वमाहेति योजना। हेतुफलयोरात्मपरिणामत्वादादिमत्त्व [7]मुपादानरूपेणचानादित्वमित्याशङ्क्याऽऽत्मनो [8]निरंशस्य कूटस्थस्य नित्यस्य परिणामानुपपत्तेर्मैवमित्याह—न हीति ॥१४॥

---

१. एवम्—आदिमत्वे सति। २. अर्थपरिज्ञानमिति—कारणीभूत प्रधानादिरूपोऽर्थस्तस्य च प्रत्यक्षाभावात् कार्यलिङ्गकानुमानाधीनज्ञानत्व मित्यर्थः। ३. अभ्यनुज्ञातम्—स्वीकृतम्। ४. श्रौतमिति—युक्तिसिद्धमभ्युनुज्ञाय श्रुतिसिद्धमप्यनुमोदत इत्यर्थः ५. अतः—सादित्वात्। ६. अनिरूपितरूपम्—अनिर्वचनीयमित्यर्थः। ७. उपादानरूपेण—आत्मरूपेण। ८. आप्नोति—व्याप्नोतीत्यात्मा विभुः स च निरवयव एवेत्याशयेन व्याचष्टे—निरंशस्येति, कूटस्थ—नित्यत्वे हेतुरयम्।

हेतोरादिः फलं येषमादिर्हेतुः फलस्य च ।
तथा जन्म भवेत्तेषां [1]पुत्राज्जन्म पितुर्यथा ॥१५॥
संभवे हेतुफलोरेपितव्यः क्रमस्त्वा ।
युगपत्संभवे यस्माद [2]संबन्धो विषाणवत् ॥१६॥

[जिनके मत में धर्मादि रूप हेतु का कारण संघात रूप फल है और फल का हेतु धर्मादि है, उनकी यह उत्पत्ति ऐसी ही विरुद्ध है जैसे पुत्र से पिता का उत्पन्न होना ॥१५॥]

[हेतु और फल की उत्पत्ति मानने में दोनों के पौर्वापर्य का अन्वेषण भी करना पड़ेगा, क्योंकि एक साथ उत्पत्ति होने पर (दायें बायें) सींगों के समान (कार्य कारण का) सम्बन्ध नहीं बन सकता ॥१६॥]

कथं तैर्विरुद्धमभ्युपगम्यत इति । उच्यते । हेतुजन्यादेव फलाद्धेतोर्जन्माभ्युपगच्छतां तेषामीदृशो विरोध उक्तो भवति यथा पुत्राज्जन्म पितुः ॥१५॥

यथोक्तो विरोधो न युक्तोऽभ्युपगन्तुमिति चेन्मन्यसे संभवे हेतुफलयोरुत्पत्तौ क्रम एषितव्यस्त्वयोऽन्वेष्टव्यो हेतुः पूर्वं पश्चात्फलं चेति । इतश्च युगपत्संभवे यस्माद्धेतुफलयोः कार्यकारणत्वेनासंबन्धः । यथा युगपत्संभवतोः सव्येतरगोविषाणयोः ॥१६॥

वे लोग परस्पर विरुद्ध मत को कैसे मानते हैं, इसे आगे बतलाते हैं—

हेतुजन्य फल से ही हेतु की उत्पत्ति मानने वाले उन लोगों के मत में ऐसा ही विरोध कहा गया है। जैसे पुत्र से पिता का जन्म विरुद्ध प्रलाप है। भला हेतु और फल दोनों ही यदि कार्य हैं, फिर तो हेतु और फलरुप संसार दोनों को अनादि कहना परस्पर विरुद्धप्रलाप स्पष्ट ही है ॥१५॥

पूर्वोक्त परस्परविरुद्ध मानना उचित नहीं है। इसे यदि तुम मानते हो, तो तुम्हें हेतु और फल की उत्पत्ति में क्रम का अन्वेषण करना पड़ेगा अर्थात् पहले हेतु है और पीछे फल होता है, ऐसा पूर्वापरभाव-रुप क्रम खोजना होगा, क्योंकि गो के एक साथ उत्पन्न होने वाले दायें और बायें सींगों का जैसे कार्य कारण भाव सम्बन्ध नहीं होता, वैसे ही हेतु और फल को एक साथ उत्पन्न होने वाला मानने पर इन दोनों हेतु और फल का परस्पर कार्य कारण रुप से सम्बन्ध न हो सकेगा ॥१६॥

हेतुफलयोरन्योन्य [3]मादिमत्त्वं ब्रुवता [4]तदात्मकस्य संसारस्यानादित्वं [5]विप्रतिषिद्धमित्युपपादितम् । संप्रति कार्यकारणभावोऽपि [6]तयोर्न संभवतीत्याह—हेतोरित्यादिना । हेतुफलयोरन्योन्यं कारणत्वमभ्युपगच्छद्भिरभ्युपगम्यते विरुद्धमित्येतत्प्रश्नपूर्वकं प्रकटयति—कथमित्यादिना । ईदृशत्वमेव विशदयति—यथेति ॥१५॥

[7]प्रतीतितो हेतुफलयोरुत्पत्तेरुपगन्तव्यत्वाच्च युक्तं तन्निराकरणमित्याशङ्क्याऽऽह—संभव इति । तयोरुदये प्रातीतिके नियतपूर्वभावी हेतुर्नियतोत्तरभावि फलमित्यभ्युपगमे हेतुमाह—युगपदिति । यथोक्तो विरोधो हेतुफलभावस्यासंभवः स न युक्तोऽभ्युपगन्तुं प्रतीतिविरोधादिति व्यावर्त्यां शङ्कामनुवदति—यथेति । तत्रोत्तरत्वेन श्लोकाक्षराणि योजयति—संभव इति । प्रतीत्या क्रमस्वीकारवदु[8]पपत्तेश्चेत्याह—इतश्चेति । तामेवोपपत्तिं स्फोरयति—युगपदिति ।

---

१. अन्योऽन्यकारणवादे हि या व्यक्तिर्यस्याः कारणं तस्या एव तत्कार्यत्वे पुत्रात्पितृजन्मवत्तस्यात् अन्यस्यास्तथात्वेत्वन्योऽन्यकारणवादो भज्येतेति भावः । २. असम्बन्ध इति—कार्यकारणभावरूपः सम्बन्धस्तदभावोऽसम्बन्धः इत्यर्थः । ३. आदिमत्वम्—कार्यत्वम् । ४. तदात्मकस्य—हेतुफलात्मकस्य । ५. विप्रतिषिद्धमपिहेतुफलव्यक्त्योः सादित्वेन संसारस्यानादित्वंविरुध्यमित्यर्थः । ६. तयोः—हेतुफलयोः । ७. प्रतीतितः—प्रत्यक्षादि प्रमाणतः । ८. उपपत्तेश्चेति—युक्तितोऽपिक्रमः स्वीकरणीय इत्यर्थः ।

फलादुत्पद्यमानः सन्न ते हेतुः प्रसिध्यति ।
अप्रसिद्धः कथं हेतुः फलमुत्पादयिष्यति ॥१७॥

[तुम्हारे मत में (स्वतः असिद्ध) फल से उत्पन्न होने वाला हेतु प्रसिद्ध नहीं होता है, एवं (शशशृङ्ग के समान) अप्रसिद्ध हेतु भला कैसे फल को उत्पन्न करेगा ॥१७॥]

कथमसंबन्ध इत्याह—जन्यात्स्वतोऽलब्धात्मकात्फलादुत्पद्यमानः सञ्शविषाणादेरिवासतो न हेतुः प्रसिध्यति जन्म न लभते। अलब्धात्मकोऽप्रसिद्धः सञ्शशविषाणादिकल्पस्तव कथं फलमुत्पादयिष्यति। न हीतरेतरापेक्षसिद्धयोः शशविषाणकल्पयोः कार्यकारणभावेन संबन्धः क्वचिद्दृष्टः, अन्यथा वेत्यभिप्रायः ॥१७॥

हेतु और फल का परस्पर सम्बन्धाभाव किस प्रकार होगा ? इसे बतलाते हैं—

जिसका स्वरूप स्वतः सिद्ध नहीं है, ऐसे जन्य फल से उत्पन्न होने वाले हेतु की सिद्धि वैसी ही नहीं हो सकती, जैसे असत्शशविषाणादि से किसी भी वस्तु की सिद्धि नहीं होती। इस प्रकार शशविषाण के समान जिसका स्वरुप प्रसिद्ध ही नहीं है, वह हेतु तुम्हारे मत में फल को कैसे उत्पन्न करेगा ? जो एक दूसरे की अपेक्षा से सिद्ध होता है। अतएव वे शशविषाण तुल्य हैं। ऐसे असत्पदार्थों का न केवल कार्य कारण भाव से सम्बन्ध होता कहीं नहीं देखा गया है, बल्कि ऐसे पदार्थों का तो किसी भी प्रकार से कहीं भी सम्बन्ध देखा ही नहीं गया है और न संभव ही है, यह इसका तात्पर्य है ॥१७॥

ययोर्युगपत्संभवस्तयोर्न कार्यकारणत्वं यथा विषाणयोरिति [1]व्याप्तेर्व्यं क्त्वा [2]क्रमस्याऽऽवश्यकतेत्यर्थः ॥१६॥

[3]उक्तव्याप्तेरनुग्राहकं तर्कमुपन्यस्यति—फलादिति। हेतुफलयोर्मिथो हेतुफलत्वं ब्रुवतो मते हेत्वधीनतयाऽलब्धात्मकात्फलादुत्पद्यमानो हेतुर्न ततो लब्धात्मको भवत्यलब्धात्मकश्चासत्त्वान्न फलमुत्पादयितुं शक्नोति। [4]अतो हेतुफलभावस्यैवासिद्धिरित्यर्थः हेतुफलयोरक्रममवतोर्न कार्यकारणभावेन संबन्धः सिध्यतीत्येतदाकाङ्क्षापूर्वकं साधयति—कथमित्यादिना। हेतुस्वरूपाज्जन्यं फलं तदधीनत्वेन लब्धात्मकं स्वतश्चालब्धात्मकम्। तत उत्पद्यमानः सन्नेष हेतुर्न प्रसिध्यति। न खलु शशविषाणादेरसतः सकाशात्किंचिल्लब्धात्मकमुपलभ्यते। हेतुश्चेदप्रसिद्धोऽलब्धात्मकोऽभ्युपगतः स तर्हि यथाविधोऽसद्रूपः सन्न फलमुत्पादयितुमुत्सहते। न हि सद्वादिमते फलमसतः सकाशादुपलब्धचरमित्यर्थः। [5]तथाऽपि कथं हेतुफलयोरसंबन्धः सिध्यतीत्याशङ्क्याऽऽह न—हीति। अन्यथा वेत्याश्रयाश्रयिभावादिकथनं हेतुफलयोर्यौगपद्ये सत्यन्यतरस्यापि न पूर्वक्षणे सत्तेत्यसतोः शशविषाणयोरिवान्योन्यापेक्षया जन्यजनकत्वं नोपपद्यते शशविषाणादिष्वपि [6]प्रसङ्गादित्युक्तम् ॥१७॥

---

१. व्याप्तेरिति—ययोः क्रमाभावस्तयोः कार्यकारणत्वाभाव इति व्यतिरेक व्याप्तेरित्यर्थः। २. हेतुफले क्रमवती कार्यकारणत्वाद् व्यतिरेकेण विषाणवदित्यनुमानमाश्रित्याह क्रमस्यावश्यकतेति। ३. अक्रमयोरप्यस्तु कार्यकारणत्वमिति व्यभिचारमाशङ्क्य तन्निराशकं कार्यकारणत्वस्य क्रमव्यभिचारित्वेऽसत्वमेवापद्येतेतितर्कमाहेत्याह—उक्तव्याप्तेरित्यादिना। ४. अतः—सतोऽजनकत्वादित्यर्थः। ५. तथापि—परस्परसापेक्षसिद्धिकत्वेऽपि। ६. प्रसङ्गादिति—असत्वाविशेषादिति शेषः।

यदि हेतोः फलात्सिद्धिः फलसिद्धिश्च हेतुतः ।
कतरत्पूर्वनिष्पन्नं यस्य सिद्धिरपेक्षया ॥१८॥
अशक्तिरपरिज्ञानं क्रमकोपोऽथवा पुनः ।
एवं हि सर्वथा बुद्धैरजातिः परिदीपिता ॥१९॥

[तुम्हारे मत में यदि फल से हेतु की सिद्धि होती है और हेतु से फल की सिद्धि होती है। इस प्रकार हेतु और फल में परस्पर कार्य कारण भाव मानने पर पहले कौन हुआ जिसकी अपेक्षा से पश्चाद् भावी वस्तु की सिद्धि मानी जाय ॥१८॥]

[(यदि तू इसे नहीं बता सकता तो) यह असामर्थ्य तुम्हारी मूर्खता ही है। अथवा तुम्हारे बतलाये क्रम का भी फिर अन्यथा भाव हो जायगा (अर्थात् इनमें पूर्ववर्ती कारण है और परवर्ती कार्य है यह नियम नहीं रह जायगा) इस प्रकार एक दूसरे के पक्ष में दोष बतलाने वाले प्रतिपक्षी पण्डितों ने सभी वस्तु की अनुत्पत्ति को ही बतलाया है ॥१९॥]

[1]असंबन्धतादोषेणापोदितेऽपि हेतुफलयोः कार्यकारणभावे यदि हेतुफलयोर [2]न्योन्यसिद्धिरभ्युपगम्यत एव त्वया कतरत्पूर्वनिष्पन्नं हेतुफलयो [3]र्यस्य पश्चाद्भाविनः सिद्धिः स्यात्पूर्वसिद्धयपेक्षया तद्ब्रूहीत्यर्थः ॥१८॥

अथैतन्न शक्यते वक्तुमिति मन्यसे सेयमशक्तिरपरिज्ञानं तत्त्वाविवेको मूढतेत्यर्थः । अथवा योऽयं त्वयोक्तः क्रमो हेतोः फलस्य सिद्धिः फलाच्च हेतोः सिद्धिरितीतरेतरानन्तर्यलक्षणस्तस्य कोपो

यद्यपि हेतु और फल का कार्य कारण भाव सम्बन्ध बनता नहीं, इस असम्बद्धता रूप दोष के कारण हेतु और फल का कार्यकारणभाव खण्डित हो चुका है फिर भी तुम यदि हेतु और फल की सिद्धि एक दूसरे से मानते हो, तो तुम्हें बतलाना पड़ेगा, कि हेतु और फल में से पहले कौन हुआ है? क्योंकि 'कार्यात् नियतपूर्ववृत्ति कारणम्' इस लक्षण के अनुसार जिसकी पूर्व सिद्धि हो उसी की अपेक्षा से पश्चाद्भावी कार्य की सिद्धि मानी जा सकेगी, यह इसका तात्पर्य है ॥१८॥

और यदि तुम ऐसा समझते हो कि इसे बतलाया नहीं जा सकता, तो यह तुम्हारी अशक्ति क्या है, मानो उस तत्त्व का अविवेक रूप अपरिज्ञान ही है यानी मूर्खता ही है। अथवा तुमने जो 'हेतु से फल की सिद्धि और फल से हेतु की सिद्धि', ऐसा परस्पर पौर्वापर्य रूप क्रम बतलाया था,

इदानीं पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवतीत्यादिश्रुतेर्धर्मादिषु हेतुफलभावमाशङ्क्य श्रुतेरसंभावितार्थे प्रामाण्यायोगादवश्यं पौर्वापर्यं वक्तव्यमित्याह—यदीति । श्लोकाक्षराणि योजयति—असंबन्धेत्यादिना ॥१८॥

हेतुफलयोरिदं पूर्वमिदं पश्चादिति न ज्ञायते । परस्पराश्रयात् । अतश्चेदं पूर्वनिष्पन्नमिति वक्तुमशक्यमित्याह—अशक्तिरिति । उत्तरावसरे चेदुत्तरापरिज्ञानं तर्हि [4]कथकशक्तिसूचकं तन्निग्रहस्थानमप्रतिभाभिधानीयमापद्येतीत्यर्थः ।

१. असम्बन्धता दोषेण—सम्बन्धत्वासम्भवरूपेण दोषेण । २. अन्योऽन्यसिद्धिः—परस्परकार्यकारणाभावः । ३. ननु हेतुं फलं वा पूर्वनिष्पन्नं ब्रूयादेवेति किमत्राक्षिप्यते कतरत् पूर्वनिष्पन्नमित्याशङ्क्याह पूर्वनिष्पन्नत्वेन वक्तव्यं विशिनष्टि—यस्येत्यादिना । पूर्वनिष्पन्नत्वेन वक्तव्यमपि नासौ स्वतः सिद्धं शक्नोति वक्तुम्, हेतुफलयोरन्योऽन्य सिद्धयभ्युपगमभङ्गापत्तेस्ततश्च पूर्वनिष्पन्नत्वेन वक्तव्यस्यापि पूर्वसिद्धसापेक्षत्वेन पश्चाद्भवित्वान्न पूर्वनिष्पन्नत्वं शक्यं वक्तुमित्याक्षेपार्थ इति भावः । न च हेतु फल प्रवाहस्यानादित्वोपगमात् कतरत् पूर्वमिति नाक्षेप्तुमेव शक्यत इति वाच्यम् । तदनादित्वस्यानुपदमेव बीजाङ्कुराख्य दृष्टान्त इत्यत्र खण्डयिष्यमाणत्वादित्यवधेयम् । ४. अशक्तिसूचकम्—कथकस्य प्रतिवादिनः प्रत्युत्तरदानासामर्थ्यसूचकमित्यर्थः ।

बीजाङ्कुराख्यो दृष्टान्तः सदा साध्यसमो हि सः ।
न हि साध्यसमो हेतुः सिद्धौ साध्यस्य युज्यते ॥२०॥

[जो बीजांकुर नामक दृष्टान्त उक्त विषय में प्रसिद्ध है, वह भी सदा साध्य के समान ही संदिग्ध है और जो हेतु साध्य के सदृश (स्वयं ही संदिग्ध हो) वह साध्य की सिद्धि में उपयोगी नहीं हो सकता ॥२०॥]

विपर्यासोऽ [1]न्यथाभावः स्यादित्यभिप्रायः । एवं हेतुफलयोः कार्यकारणभावानुपपत्तेरजातिः सर्वस्यानुत्पत्तिः परिदीपिता प्रकाशिताऽन्योन्यपक्षदोषं ब्रुवद्भिर्वादिभिर्बुद्धैः [2]पण्डितैरित्यर्थः ॥१९॥

ननु हेतुफलयोः कार्यकारणभाव इत्यस्माभिरुक्तं शब्दमात्रमाश्रित्य च्छलमिदं त्वयोक्तं पुत्राज्जन्म पितुर्यथा । विषाणवच्चासंबन्ध इत्यादि । न ह्यस्माभिरसिद्धाद्धेतोः फलसिद्धिरसिद्धाद्वा फलाद्धेतुसिद्धिरभ्युपगता । किं तर्हि बीजांकुरवत्कार्यकारणभावोऽभ्युपगम्यत इति । [3]अत्रोच्यते—बीजांकुराख्यो

उस क्रम का विपर्यय अर्थात् अन्यथा भाव होने लग जायगा, यह इसका तात्पर्य है। इस प्रकार फल और हेतु में कार्यकारण भाव की जो असंगति है, इस असंगति के कारण एक दूसरे के पक्ष में दोष बतलाने वाले प्रतिपक्षी बुद्धिमान् पण्डितों ने सबकी अनुत्पत्ति ही बतलायी है ॥१९॥

पू०—हेतु और फल में परस्पर कार्यकारण भाव है। इस प्रकार हमारे कहे शब्द मात्र को लेकर तुमने जो छल पूर्वक यह कह दिया कि, जैसे पुत्र से पिता का जन्म होना असम्बद्ध प्रलाप है एवं दायें और बायें सींगों में परस्पर सम्बन्ध न होने पर भी कार्यकारणभाव असंगत है, इत्यादि। पर हमने असिद्ध हेतु से फल की सिद्धि या असिद्धफल से हेतु की सिद्धि कहीं भी मानी नहीं है। तो फिर क्या मानी है? हम तो बीज और अंकुर के समान शरीर और धर्माधर्म का कार्यकारणभाव मानते हैं।

सि०—इस पर हम कहते हैं—बीजांकुर नामक जो दृष्टान्त आप ने दिया है वह तो साध्य के समान ही पक्ष कोटि में निक्षिप्त है, ऐसे मेरे कहने का तात्पर्य है।

किंच यदि क्रमस्य नियतपूर्वापरभावात्तनोऽपरिज्ञानं तदा पूर्वं कारणमुत्तरं कार्यमिति प्रतिज्ञा हीयेत । तथा च प्रतिज्ञाहानिर्निग्रहान्तरमापद्यतेत्याह—क्रमेति । अन्योन्यपक्षप्रतिक्षेपमुखेण सतोऽसतश्च जन्मनी प्रत्याख्याते । क्रमाक्रमाभ्यामुत्पत्तेरनुपपत्तेरजातिरेवास्मदभिप्रेतः वादिभिरादर्शिता भवतीत्युपसंहरति—एवं हीति । तत्राऽऽद्यं पादं व्याकरोति—अथेत्यादिना । क्रमनत्ते पूर्वनिष्पन्नमेतच्छब्देन परामृश्यते । द्वितीयपादं योजयति—अथवेत्यादिना । द्वितीयार्धं विवृणोति—एवमिति ॥१९॥

बीजाङ्कुरयोरिव हेतुफलयोरन्योन्यं कार्यकारणभावाभ्युपगमान्नान्योन्याश्रयत्वमित्याशङ्क्याऽऽह—बीजेति । दृष्टान्तस्य [4]साध्यसमत्वेऽपि [5]साधकत्वमस्त्वित्याशङ्क्याऽऽह—न हीति । श्लोकापोद्यं चोद्यमुद्भावयति—नन्विति । शब्दमात्रं विवक्षितार्थशून्यम् । शब्दमाश्रित्य [6]च्छलप्रयोगमेवोदाहरति—पुत्रादिति । आदिशब्देन फलादुत्पद्यमानः सन्न ते हेतुः प्रसिध्यतीत्यादि गृह्यते । कार्यकारणभावो हेतुफलयोरित्यत्रानभिप्रेतमर्थं कथयति—न हीति । तत्रैव प्रश्नपूर्वकमभिप्रेतमर्थमुदाहरति—किं तर्हीति । दृष्टान्तासंतिपत्त्या परिहरति—अत्रेति । मायावादिमते क्वचिदपि

---

१. अन्यथा भावः—वैपरीत्यमिति यावत् । २. पण्डितैः—पण्ठितंमन्यैरित्यर्थः सोपहासमेतदिति भावः । ३. अत्रोच्यत इति—अस्मिन् दृष्टान्तेऽनुपपत्तिरुच्यते इत्यर्थः । ४. साध्यसमत्वे—साध्यसमत्वं साध्यवत्संदिग्धत्वं तत्रेत्यर्थः । ५. साधकत्वम्—साध्यसम्पादकत्वम् । ६. छलेति—अनभिप्रेतार्थस्य—स्वीकारोऽभिप्रेतार्थस्य च परित्यागश्छलम् ।

दृष्टान्तो यः स साध्येन तुल्यो ममेत्यभिप्रायः। ननु प्रत्यक्षः कार्यकारणभावो [1]बीजांकुरयोरनादिर्न पूर्वस्य पूर्वस्यापरवदादिमत्त्वाभ्युपगमात्। यथेदानीमुत्पन्नोऽपरोऽङ्कुरो बीजादादिमान्बीजं चा [2]परमन्यस्मादङ्कुरादिति क्रमेणोत्पन्नत्वादादिमत्। एवं पूर्वः पूर्वोऽङ्कुरो बीजं च पूर्वं पूर्वमादिमदेवेति प्रत्येकं सर्वस्य बीजाङ्कुरजातस्याऽऽदिमत्त्वा [3]त्कस्यचिदप्यनादित्वानुपपत्तिः। [4]एवं [5]हेतुफलानाम्। अथ बीजाङ्कुरसंततेरनादिमत्त्वमिति चेत्। न। एकत्वानुपपत्तेः। न हि बीजाङ्कुरव्यतिरेकेण बीजाङ्कुरसंततिर्नामैकाऽभ्युपगम्यते हेतुफलसंततिर्वा [6]तदनादित्ववादिभिः। [7]तस्मात्सूक्तं हेतोः फलस्य चानादिः

पू०—बीजांकुर का कार्यकारणभाव अनादि प्रत्यक्ष सिद्ध है।

सि०—ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि उनमें से पूर्व-पूर्व अंकुर और फल को परवर्तीय अंकुर और फल के समान आदिवाला ही माना गया है। जैसे इस समय बीज से उत्पन्न हुआ दूसरा अंकुर-आदि वाला है और अन्य-अंकुर से उत्पन्न अन्य बीज आदिमान् है, वैसे ही पूर्वपूर्व अंकुर और पूर्व-पूर्व बीज ये सभी आदिमान् हैं। अतः सभी बीजांकुर समुदाय का प्रत्येक बीजांकुर व्यक्ति आदिमान् है। अतएव किसी में भी अनादित्व संभव नहीं, ऐसे ही धर्माधर्मरूप हेतु और शरीर रूप फल के विषय में भी अनादित्वसंभव नहीं है। यदि बीजांकुर की परम्परा को अनादि मानते हो? तो भी ठीक नहीं, क्योंकि उसमें एकत्व संभव नहीं है। हेतु और फल को अनादि कहने वालों ने बीजांकुर से भिन्न बीजांकुर की परम्परा या हेतुफल की परम्परा नामक एक कोई स्वतन्त्रपदार्थ को माना नहीं जिसे कि वे अनादि कह सकें। फिर भला वे हेतु और फल को अनादि कैसे बतलाते हैं? इसके अतिरिक्त हेतु फल में कार्य कारण में असंगति होने के कारण भी हमारा कथन छलपूर्ण नहीं है किन्तु ठीक ही है। लोक में साध्य के समान संदिग्ध हेतु (दृष्टान्त) का साध्य की सिद्धि के लिये कहीं भी

कार्यकारणभावस्य [8]वस्तुभूतस्यासंप्रतिपत्तेर्ममेत्युक्तम्। प्रत्यक्षावष्टम्भेन दृष्टान्तं साधयन्नाशङ्कते—नन्विति। किं बीजाङ्कुरव्यक्त्योरिदं कार्यकारणत्वमिष्यते किंवा बीजाङ्कुरसंतानयोरिति विकल्प्याऽऽद्यं दूषयति—न पूर्वस्येति। तदेव प्रपञ्चयति—यथेत्यादिना। बीजव्यक्तेरङ्कुरव्यक्तेश्चोक्तप्रकारेणानादित्वस्या [9]न्योन्यकारणत्वस्य चानुपपत्तिरिति शेषः। कल्पान्तरमुत्थापयति—अथेति। बीजसंततेरङ्कुरसंततेश्चानादित्वमन्योन्यकारणत्वं चाविरुद्धं सिध्यति। [10]बीजजातीयादङ्कुरजातीयमङ्कुरजातीयाद्बीजजातीयमुत्पद्यमानमुपलभ्यते। तथैव हेतुजातीयात्फलजातीयं फलजातीयाच्च हेतुजातीयमविरुद्धमित्यर्थः। दृष्टान्ते दार्ष्टान्तिके च संतत्येरेकस्या [11]व्यक्तिव्यतिरेकेणासंभवान्मैवमिति दूषयति—नेत्यादिना। तदेव प्रपञ्चयति—न हीति। तदनादित्ववादिभिस्तासु [12]व्यक्तिषु मिथो हेतुत्वनानादित्वं च तद्वन्तशीलैरिति यावत्। [13]अन्योन्याश्रयत्वाद [14]नवस्थानाद्वा हेतुफलयोर्मिथो हेतुफलभावस्य वस्तुमत्त्वपरत्वा दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर[15]नुपपत्तिः सिद्धेत्युपसंहरति—तस्मादिति। दृष्टान्तस्यासंप्रतिपन्नत्वे स्थिते कार्यकारणस्य क्वचिदपि संप्रतिपत्त्यभावात्पुत्राज्जन्म पितुर्यथेत्यादि न च्छलत्वयुक्तमिति फलितमाह—तथा चेति। एवं श्लोकस्य पूर्वार्धं व्याख्यायोत्तरार्धं व्या-

---

१. बीजजननयोग्यावस्थापन्नादङ्कुरादपरोऽभिन्न इत्यर्थः। २. अपरमित्यादि—प्रकृताङ्कुरजनकबीजभिन्नामित्यर्थः। ३. कस्यचिदिति—बीजस्याङ्कुरस्य वेत्यर्थः। ४. एवम्—बीजाङ्कुरवदित्यर्थः। ५. हेतुफलानाम्—अदृष्टसंघातानामित्यर्थः। ६. तदनादित्वेति—सन्तानानादित्वेत्यर्थः। ७. तस्मात्—पक्षद्वयासंभवादित्यर्थः। ८. वस्तुभूतस्य—पारमार्थिकस्येत्यर्थः। ९. अन्योऽन्यकारणत्वस्येति—व्यक्त्योर्या यत्कारणं न सा तत्कार्यं या च यत्कार्यं न सा तत्कारणमित्यर्थः। १०. बीजजातीयादिति—आम्रबीजवृत्तिबीजत्वरूप—जातिविशिष्टादित्यर्थः। ११. व्यक्तीति—सन्ततिघटकव्यक्तीत्यर्थः। १२. व्यक्तिषु—सन्तत्यात्मिकासु। १३. व्यक्त्योर्मिथः कार्यकारणभावे दूषणमाह—अन्योऽन्याश्रयत्वादिति। १४. सन्तानयोस्तथात्वे दूषणमाह—अनवस्थानादिति। १५. अनुपपत्तिरिति—अनादित्वस्य हेतुफलभावस्य चेति शेषः।

[1]पूर्वापरापरिज्ञानमजातेः परिदीपकम् ।
[2]जायमानाद्धि वै धर्मात्कथं [3]पूर्वं न गृह्यते ॥२१॥

[हेतु और फल के पूर्वापर का अज्ञान अजातवाद का ही ज्ञापक है, क्योंकि यदि कार्य उत्पन्न हुआ होता तो उसका कारण सुनिश्चित रूप से क्यों नहीं गृहीत होता ॥२१॥]

कथं तैरुपवर्ण्यत इति । तथा चा[4]न्यदप्य[5]नुपपत्ते[6]र्नच्छलमित्यभिप्रायः । न च लोके [7]साध्यसमो हेतुः साध्यसिद्धौ सिद्धिनिमित्तं प्रयुज्यते प्रमाणकुशलैरित्यर्थः । हेतुरिति दृष्टान्तोऽत्राभिप्रेतो [8]गमकत्वात् । प्रकृतो हि दृष्टान्तो न हेतुरिति ॥२०॥

कथं बुद्धैरजातिः परिदीपिते[9]त्याह—यदेतद्धेतुफलयोः पूर्वापरापरिज्ञानं तच्चैतदजातेः परिदीपकमवबोधकमित्यर्थः । जायमानो हि चेद् [10]धर्मो गृह्यते, कथं तस्मात्पूर्वं कारणं न [11]गृह्यते ।

प्रमाणकुशल व्यक्तियों द्वारा प्रयोग नहीं किया गया है । इस श्लोक में आये हुए हेतु शब्द से दृष्टान्त अर्थ लेना चाहिये, क्योंकि यह हेतुशब्द दृष्टान्त का ही बोधक है । यहाँ पर दृष्टान्त का प्रसंग भी है, न कि हेतु का ॥२०॥

विद्वानों के मत में अजातवाद कैसे

किस प्रकार पंडितों ने अजाति को बतलाया है ? इस पर कहते हैं—

हेतु और फल के विषय में जो यह पूर्वापर का अज्ञान है, वह अज्ञान अजाति का ही बोधक है । क्योंकि उत्पन्न हुआ कार्य यदि जाना गया होता, तो उस कार्य से पूर्ववर्ती कारण का ज्ञान क्यों नहीं होता उत्पन्न होनेवाली वस्तु को जो जानता है, उस पुरुष को उसके कारण का बोध भी अवश्य होना चाहिये था, क्योंकि नियत सम्बन्ध वाले कार्यकारण में से एक का ज्ञान होने पर दूसरे पदार्थ

स्यायोत्तरार्धं व्याचष्टे—न चेति । किमिति हेतुशब्दस्य [12]मुख्यमर्थं त्यक्त्वा गौणोऽर्थो गृह्यते, [13]प्रकरणसामर्थ्यादित्याह—प्रकृतो हीति । हेतुफलभावानुपपत्तिमुपपादितामुपसंहर्तुमितिशब्दः ॥२०॥

यत्पुनरन्योन्यपक्षं प्रतिक्षिपद्भिरजातिर्वस्तुतो ज्ञापिता परीक्षकैरित्युपक्षिप्तं [14]तत्र कथमजातिर्वस्तुतो ज्ञापितेत्याशङ्क्याऽऽह—पूर्वापरेति । कार्यस्य गृह्यमाणत्वादजातिरसिद्धेत्याशङ्क्य कारणस्यापि तर्हि ग्राह्यत्वादि[15]तरेतराश्रयादजातिरतिव्यक्ता सिध्यतीत्याह—जायमानादिति । तत्र पूर्वार्धं प्रश्नद्वारा विवृणोति—कथमित्यादिना । नियते पौर्वापर्ये निर्धारिते जातिः सिध्यति । तदभावे तदसिद्धिरित्यर्थः । द्वितीयार्धं विभजते—जायमानो हीति । कार्यग्रहणे-

---

१. पूर्वेत्यादि—कार्यकारणभावानवधारणम् । २. जायमानादित्यादि—प्रसिद्धादवधृतादुत्पद्यमानात्कार्यात् ३. पूर्वम्—कारणमित्यर्थः । ४. अन्यदिति—मदुक्तदोषबीजंव्यक्त्योर्मिथः कार्यकारणभावाश्रयणं त्वदभिमतादिन्नमपीत्यर्थः । ५. अनुपपत्तेरिति—त्वदभिमतस्य सन्तानयोः कार्यकारणभावस्यैवासम्भवादित्यर्थः । नह्यसतत्यागोनामेति भावः । ६. नच्छलमिति—न त्वदभिमतत्यागपूर्वकमित्यर्थः । ७. साध्यसमः—संदिग्ध इत्यर्थः । ८. गमकत्वात्—गमकत्वगुणयोगात्, यथा हेतौ साध्यगमकत्व तथा दृष्टान्तेऽपीत्यर्थः । ९. इति—इत्याशङ्कायाम् । १०. धर्मः—कार्यम् । ११. गृह्यते इति—तर्हीतिशेषः । १२. मुख्यमर्थम्—प्रयोजकत्वरूपमित्यर्थः । १३. प्रकरणसामर्थ्यादिति—प्रकरणनिष्ठतात्पर्यनिर्णयानुकूलशक्तेरित्यर्थः । १४. तत्रेति—परस्पर पक्षप्रतिक्षेपरूपनिमित्तेनेत्यर्थः । १५. इतरेतराश्रयादिति—कार्यत्वस्यकारणनिरूप्यत्वेन कारणज्ञानमन्तरेण कार्यत्वस्य गृह्यमाणत्वानुपपत्तेस्तदर्थं कारणग्रहस्यावश्यकत्वम् । एवं कारणत्वस्यापि कार्यनिरूप्यत्वेन कार्यज्ञानं विना कारणग्रहणानुपपत्तेस्तदर्थं कार्यग्रहस्यावश्यकत्वमित्यन्योन्याश्रयादित्यर्थः ।

स्वतो वा परतो वाऽपि न किञ्चिद्वस्तु जायते ।
सदसत्सदसद्वाऽपि न किञ्चिद्वस्तु जायते ॥२२॥

[अपने से या दूसरे से अथवा दोनों ही से सत् और असत् और सदसद् उभयरूप वाली कोई भी वस्तु उत्पन्न नहीं होती । (जातिवाद के संभव सभी पक्षों का निराकरण कर देने पर अजातिवाद सुतराम सिद्ध हो जाता है ॥२२॥]

अवश्यं हि जायमानस्य ग्रहीत्रा तज्जनकं ग्रहीतव्यम् । जन्यजनकयोः [1]संबन्धस्या [2]नपेतत्वात् । तस्मादजातिपरिदीपकं [3]तदित्यर्थः ॥२१॥

[4]इतश्च न जायते किञ्चित् । यज्जायमानं वस्तु स्वतः परत उभयतो वा सदसत्सदसद्वा जायते न [5]तस्य केनचिदपि प्रकारेण जन्म संभवति । न तावत्स्वयमेवापरिनिष्पन्नत्वात्स्वतः स्वरूपात्स्वयमेव जायते यथा घटस्तस्मादेव घटात् । नापि परतोऽन्यस्मादन्यो यथा घटात्पटः पटात्पटान्तरम् वा तथा नोभयतः । [6]विरोधात् । यथा घटपटाभ्यां घटः पटो वा न जायते । ननु मृदो घटो जायते पितुश्च

का ग्रहण होना भी अनिवार्य है । इसलिये कार्य कारण भाव का अज्ञान इस अजाति का भी प्रकाशक है ॥२१॥

सदादि कार्यवादियों के मत में दोष

इसलिये भी कोई वस्तु उत्पन्न नहीं होती । क्योंकि उत्पन्न होने वाली वस्तु अपने से दूसरे से या दोनों ही से, सद्रूप से, असद्रूप से या सदसद्रूप से उत्पन्न होती है ? ऐसा प्रश्न होने पर यही कहना पड़ेगा कि किसी भी प्रकार से उसका जन्म होना संभव नहीं । जैसे घट उसी घट से उत्पन्न

कारणंग्रहीतव्यमिति कुतो नियम्यते तत्राऽऽह अवश्यं हीति । कार्यकारण योर्नियतसंबन्धवतोरितरेतराश्रयाद्दुर्ग्रहत्वाव- जातिरेव वस्तुतो ज्ञापितेत्युपसंहरति—तस्मादिति । कार्यकारणयोर्दुर्ज्ञानत्वं तच्छब्देन परागृश्यते ॥२१॥

वस्तुनो वस्तुतो जन्म नास्तीति विकल्पपूर्वकं साधयति—स्वतो चेत्यादिना । कस्यचिदपि वस्तुनो वस्तुतो जन्म नास्तीत्यस्मिन्नर्थे हेत्वन्तरपरत्वं श्लोकस्य दर्शयति—इतश्चेति । इतःशब्दार्थमेव स्फोरयितुं जायमानमनूद्य षोढा विकल्पयति—यज्जायमानमिति । सर्वेष्वपि पक्षेषु दोषसंभावना सूचयति—न तस्येति । तत्राऽऽद्यं दूषयति—न तावदिति । [7]स्वयमेव जायमानं कार्यं स्वस्मादेव स्वरूपान्न तावज्जायते स्वयमेव [8]स्वापेक्षामन्तरेण स्वकारणाधीनतयाऽपरिनिष्पन्नत्वात् । [9]अन्यथा स्वसिद्धेः स्वसिद्धिरित्यात्माश्रयात् । [10]न हि घटादेव घटो जायमानो दृष्टोऽस्ती-

---

१. सम्बन्धस्य—रूप्यनिरूपकभावात्मकस्येत्यर्थः । २. अनपेतत्वात्—नियतत्वादित्यर्थः । ३. तत्—कार्यकारणभावानवधारणम् । ४. इतः—वक्ष्यमाणाज्जन्मप्रयोजकासम्भवरूपाद्धेतोरित्यर्थः । स्वतस्त्वसत्वादि च प्रयोजकत्वाभिमतम् । ५. जायमानत्वेनाभिमतस्येत्यर्थः । ६. विरोधात्—अदृष्टचरत्वात् । न तु जनकत्वेतिभावः । ७. स्वयमेवापरि निष्पन्नत्वादित्यस्यार्थमाह—स्वयमेवेत्यादिना । तस्य स्वकारणाधीनत्वेन तद्व्यापारात् प्राक्स्वस्यैवाभावादित्यर्थः । !८. ननु स्वकारणजन्यस्यापि स्वजन्यत्वमक्षतमेव विशिष्टजन्यस्य विशेषणजन्यत्वनियमादित्याशङ्क्याह—स्वापेक्षामन्तरेणेति । कारणव्यवहार एव स्वापेक्षो नतुजनकेतिभावः । ९. न चासत एव स्वतः स्वजन्मशक्यमभ्युपगतुं वन्ध्यासुतस्यापि जन्मप्रसङ्गादित्यर्थः, तथा च स्वतः स्वजन्मनि दूषणम्—अन्यथेत्यादि । १०. न हि दृष्टेऽनुपपन्नं नामेत्याशङ्क्याह—न हीत्यादि । वस्तुतः परिनिष्पन्नत्वादित्येव टीका पाठः, तथा च स्वयमेव परिनिष्पन्नत्वादित्यस्य व्यतिरेकमुखेनार्थमाह—स्वयमेवेत्यादिना । स्वयमेव परिनिष्पन्नं हि स्वकारणापेक्षामन्तरेण स्वाधीनतया परिनिष्पन्नत्वं तद्भाववस्तु स्वापेक्षामन्तरेण स्वाकारणाधीनतया परिनिष्पत्त्वं तस्मादित्यर्थः । स्वाकारणाधीनतया परिनिष्पन्नत्वानभ्युपगमे बाधकमाह अन्यथेत्यादिना शेषं समानम् ।

पुत्रः। सत्यम्। अस्तिजायत इति प्रत्ययः शब्दश्च मूढानाम्। तावेवशब्दप्रत्ययौ विवेकिभिः परीक्ष्येते किं सत्यमेव तावुत मृषेति यावता परीक्ष्यमाणे। शब्दप्रत्ययविषयं वस्तु घटपुत्रादिलक्षणं शब्दमात्रमेव तत्। 'वाचाऽऽरम्भणम्' छा० ६।१।४ इति श्रुतेः। सच्चेन्न जायते सत्त्वान्मृत्पिण्डादिवत्। यद्यसत्तथाऽपि न जायतेऽसत्त्वादेव शशविषाणादिवत्। अथ सदसत्तथाऽपि न जायते [१]विरुद्धस्यैकस्यासंभवात्। अतो न किञ्चिद्वस्तु जायत इति सिद्धम्। [२]येषां पुन [३]र्जनिरेव जायत इति क्रियाकारकफलैकत्वमभ्युपगम्यते क्षणिकत्वं च वस्तुनः, ते दूरत एव [४]न्यायापेताः। इदमित्थमित्यवधारणक्षणान्तरानवस्थानादननुभूतस्य स्मृत्यनुपपत्तेश्च ॥२२॥

नहीं होता, वैसे ही कोई भी वस्तु पूर्ण रूप से निष्पन्न हुए विना अपने आप से स्वतः उत्पन्न नहीं होती और न किसी अन्य से ही, अन्य वस्तु उत्पन्न होती है। जैसे घट से पट अथवा पट से अन्य पट उत्पन्न नहीं होता। इसी प्रकार विरोध होने के कारण दोनों से भी कोई उत्पन्न नहीं होता। जैसे घट और पट, इन दोनों से घट अथवा पट उत्पन्न होता नहीं देखा गया है। यदि कहो, कि मिट्टी से घट और पिता से पुत्र होता देखा गया है? ठीक है, किन्तु "उत्पन्न होता है" ऐसा शब्द और प्रत्यय अविवेकियों को ही होते हैं विवेकियों द्वारा तो उस शब्द और प्रतीति की परीक्षा की जाती है, कि ये सत्य हैं या मिथ्या। परीक्षा की जाने पर तो शब्द और प्रत्यय के विषय घटपुत्रादिरूप वस्तु केवल शब्द मात्र ही है। ऐसा ही "वाचारम्भणम्" इत्यादि श्रुति भी कहती है। यदि वस्तु उत्पत्ति से पूर्व विद्यमान है, तो मृत्तिका और पिता आदि के समान पूर्व से विद्यमान होने के कारण उत्पन्न नहीं हो सकती और यदि उत्पत्ति से पूर्व वस्तु असत् है, तो भी शशविषाणादि के समान तीनों काल में असत होने के कारण वह उत्पन्न नहीं होती और यदि सदसद् उभयरूप अर्थात् विद्यमान है भी, और नहीं भी है। ऐसी परस्पविरुद्ध स्वभाव वाली वस्तु की उत्पत्ति कहें तो सर्वथा असंभव है। फलतः यही सिद्ध हुआ कि कोई भी वस्तु उत्पन्न होती ही नहीं। इसके अतिरिक्त जिन बौद्धों के मत में जनि क्रिया ही उत्पन्न होती है। इस प्रकार वे क्रिया, कारक और फल का एकत्व तथा वस्तु में क्षणिकत्व मानते हैं। ऐसी मान्यता तो युक्ति शून्य होने के कारण दूर से ही त्याज्य है, क्योंकि "यह ऐसा है" इस प्रकार निश्चय क्षण के बाद ही पदार्थ की स्थिति न रहने के कारण किसी भी क्षणिक पदार्थ का अनुभव होना असंभव है। और अनुभव हुए विना स्मृति नहीं हो सकती, क्योंकि अनुभूतपदार्थ का स्मरण होना सर्वथा असंभव है ॥२२॥

त्यर्थं प्रत्याह—नापीति। न खल्वन्यत्वं जनकत्वे प्रयोजकम्। घटादपि पटोत्पत्तिप्रसङ्गात्। न चोत्पादकत्वयोग्यत्वविशेषितमन्यत्वं तथेति वाच्यम्। उत्पत्तिमन्तरेण तद्योग्यत्वस्य दुरवगमत्वादित्यर्थः। तृतीयं निरस्यति—तथेति। विरोधमेव दृष्टान्तद्वारा स्पष्टयति—यथेति। न हि घटपटाभ्यां घटः पटो वा जायमानो दृश्यते। तथा जायमानं स्वस्मादन्यस्माच्च भवतीत्यनुपपन्नमित्यर्थः। अन्यत्वे सत्यपि जन्यजनकभावस्य प्रत्यक्षत्वान्नासौ शक्यते प्रतिक्षेप्तुमिति शङ्कते—नन्विति। किं [५]प्रत्यक्षानुसारिणौ शब्दप्रत्ययाववविवेकिनामिष्येते किंवा विवेकिनामिति विकल्प्याऽऽद्यमङ्गी करोति—सत्यमिति। द्वितीयं प्रत्याह—तावेवेति। मृषैवेति परीक्ष्यमाणे सतीति संबन्धः। तच्च जन्मशब्दधीविषयं वस्तु शब्दमात्रमेव वाचाऽऽरम्भणश्रवणान्न परमार्थतो यावता विद्यते तस्माद [६]दसत्यालम्बनत्वमेव शब्दप्रत्यययोरेष्टव्यमिति योजना। चतुर्थं शिथिलयति—सच्चेदिति। पञ्चमं निराकरोति—यदीति। षष्ठं प्रत्यादिशति—अथेत्यादिना। षण्णां

१. विरुद्धस्येत्यादि—विरुद्धयोरुभयोरेकात्मकत्वासम्भवादित्त्यर्थः। २. येषामिति—भूतिर्येषां क्रिया सैव कारकं सैव चोच्यते। येषां पदार्थानां भूतिर्जन्म सैव तेषां क्रिया कारकमपि फलंचेति बौद्धसमयः। ३. जनिः—जन्याकारविज्ञानम्। ४. न्यायातेता—युक्तिबाह्याः। ५. प्रत्यक्षानुसारिणौ—प्रत्यक्षपरिमाणजन्यावित्यर्थः। ६. असत्यालम्बनत्त्वमेव—बाधितविषयकत्त्वमेव।

हेतुर्न जायतेऽनादेः फलं चापि स्वभावतः।
आदिर्न विद्यते यस्य तस्य ह्यादिर्न विद्यते ॥२३॥

[अनादि फल से हेतु उत्पन्न नहीं होता और इसी प्रकार अनादि हेतु से फल भी उत्पन्न नहीं होता है, क्योंकि जिस वस्तु का कारण नहीं होता उसका जन्म भी नहीं होता है ॥२३॥]

किञ्च हेतुफलयोरनादित्वमभ्युपगच्छता त्वया बलाद्धेतुफलयोरजन्मैवाभ्युपगतं स्यात्। कथम्, अनादेरादिरहितात्फलाद्धेतुर्न जायते न ह्यनुत्पन्नादनादेः फलाद्धेतोर्जन्मेष्यते त्वया। फलं चाऽऽदिरहितादनादेर्हेतोरजात्स्वभावत एव निर्निमित्तं जायत इति नाभ्युपगम्यते। तस्मादनादित्वमभ्युपगच्छता त्वया हेतुफलयोरजन्मैवाभ्युपगम्यते। यस्मादादिः कारणं न विद्यते यस्य लोके तस्य ह्यादिः [1]पूर्वोक्ता जातिर्न विद्यते। कारणवत एव ह्यादिरभ्युपगम्यते [2]नाकारणवतः ॥२३॥

हेतु फल का अनादित्व भी अजाति का साधक है

इसके सिवा हेतु और फल का अनादित्व मानने वाले तुझे बलात्कार से हेतु और फल की अनुत्पत्ति ही माननी पड़ेगी। वह कैसे ?

कारणरहित पदार्थ का जन्म होते नहीं देखा गया है। आदिरहित फल से हेतु उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि जिसका कभी जन्म नहीं हुआ, ऐसे अनादि फल रूप शरीर से धर्माधर्म हेतु का जन्म होना तुम्हें इष्ट नहीं है और न ऐसा ही मानते हो कि आदि रहित अजन्मा हेतु से बिना किसी निमित्त के ही स्वभाव से फल उत्पन्न हो जाता है। अतः हेतु और फल का अनादित्व मानने वाले तुझे बलात् उनकी अनुत्पत्ति माननी पड़ जायगी। क्योंकि लोक में जिसका कारण नहीं होता, उसका पूर्वोक्त जन्म भी नहीं होता। इसके विपरीत कारण वाले पदार्थ का ही जन्म तुमने माना है, कारणरहित पदार्थ का नहीं ॥२३॥

विकल्पानां निरासे फलितं निगमयति— [3]अतो नेति। [4]क्रियाकारकफलनानात्वपक्षे जन्मानुपपत्तिदोषमुक्त्वा पक्षान्तरमनूद्य दूषयति—येषां पुनरिति। बौद्धानां न्यायावष्टम्भेन वस्तु व्यवस्थापयतां कुतो न्यायबाह्यत्वमित्याशङ्क्याऽऽह—इदमिति। इदमा वस्तु परामृष्टम्। इत्थमिति क्षणिकत्वं विवक्षितम्। एवमवधारणावच्छिन्ने क्षणेऽवस्थावच्छेदकक्षणातिरिक्त वस्तुनोऽवस्थानाभावान्न तस्मिन्ननुभवः सिध्यतीत्यर्थः। न च तस्मिन्ननुभूतेऽर्थे स्मृतिरुत्पद्यते। तथा च वस्तुनि [5]प्रत्ययद्वया-सिद्धौ [6]व्यवहारासिद्धिरित्याह—अननुभूतस्येति ॥२२॥

वस्तुनो वस्तुतो जन्मराहित्ये हेत्वन्तरमाह—हेतुर्नेति। नानादेः फलाद्धेतुर्जायते। न हि फलस्यानादित्वे ततो हेतुजन्म युक्तं सदा तज्जन्मप्रसङ्गादित्यर्थः। फलमपि न हेतोरनादेर्जायते दोषसाम्यादित्याह—फलं चेति। नापि स्वभावतो निमित्तमन्तरेण फलं हेतुर्वा जायते। तत्र हेतुमाह—आदिरिति। कारणरहितस्य जन्मानुपलब्धेरित्यर्थः। वस्तुनो जन्माभावे हेत्वन्तरपरत्वं श्लोकस्य सूचयति—किंचेति। हेत्वन्तरमेव दर्शयितुं प्रथमं प्रतिज्ञां करोति—हेत्विति। फलाद्धेतुर्जायते ततश्च फलमित्यभ्युपगमात्कथमजन्माभ्युपगतमिति पृच्छति—कथमिति। तत्राऽऽद्यपादाक्षरयोजनया [7]परिहरति—अनादेरिति। तदेवोपपादयति—न हीति। फलं कार्यकरणसंघातः। हेतुर्धर्मादिः। फलं चापीति भागं विभजते—फलं चेति। अजाज्जायत इति नाभ्युपगम्यत इति संबन्धः। स्वभावत इति पादं योजयति—

१. पूर्वोक्ताजातिरिति—अनादित्वाभिमतहेतुफलयोरित्यर्थः। २. नाकारणवत इति—तस्मात् स्वभाववादो न युक्त इति शेषः। ३. अतः—जन्मप्रयोजकासम्भवादित्यर्थः। ४. क्रियेत्यादि—क्रियादयः फलान्ताःभिन्ना इति मते। ५. प्रत्ययद्वयासिद्धौ—अनुभवस्मृतीति प्रत्ययद्वयासिद्धौ। ६. व्यवहारेति—क्षणिकत्वेत्यादौ शेषः। क्षणिमत्त्वविज्ञानासिद्धिरिति यावत्, तत्सिद्धौ च कुतश्च तज्जन्मेति। वस्तुनो न तन्मतेऽपि जन्मेति भावः। ७. परिहरतीति—प्रश्नबीजभूतामाशङ्कां परिहरतीत्यर्थः।

[1]प्रज्ञप्ते [2]सनिमित्तत्वमन्यथा द्वयनाशतः।
संक्लेशस्योपलब्धेश्च परतन्त्रास्तिता मता ॥२४॥

[शब्द स्पर्शादि बाह्यार्थवाद की प्रज्ञप्ति को संनिमित्त (बाह्यविषय से युक्त) मानना चाहिये। अन्यथा निर्विषय मानने पर तो (शब्दादि प्रतीति की विचित्रता रूप) द्वैत का अभाव हो जायगा। (अतः ज्ञान में वैचित्र्य के संपादक बाह्यविषय को मानना ही होगा) इसके अतिरिक्त (दाहादि के निमित्त अग्न्यादि से) क्लेश की उपलब्धि से भी अन्य वादियों के शास्त्र प्रतिपादित द्वैत की सत्ता मान ली गयी है ॥२४॥]

उक्तस्यैवार्थस्य [3]दृढीकरणचिकीर्षया पुनराद्दिपति—प्रज्ञानं प्रज्ञप्तिः शब्दादिप्रतीतिस्तस्याः सनिमित्तत्वम्। निमित्तं कारणं विषय इत्येतत्सनिमित्तत्वं सविषयत्वं स्वात्मव्यतिरिक्तविषयतेत्येतत्प्रतिजानीमहे। न हि निर्विषया प्रज्ञप्तिः शब्दादिप्रतीतिः स्यात्। तस्याः [4]सनिमित्तत्वात्। अन्यथा निर्विषयत्वे शब्दस्पर्शनीलपीतलोहितादिप्रत्ययवैचित्र्यस्य द्वयस्य नाशतोऽनाशोऽभावः प्रसज्येतेत्यर्थः। न च प्रत्ययवैचित्र्यस्य द्वयस्याभावोस्ति प्रत्यक्षत्वात् अतः प्रत्ययवैचित्र्यस्य द्वयस्य दर्शनात्। परेषां

बाह्यार्थ वाद का निरूपण।

पूर्वोक्त—अर्थ को ही दृढ़ करने की इच्छा से पुनः दोष दिखलाते हैं।

शब्दादिप्रतीति को प्रज्ञान या प्रज्ञप्ति कहते हैं। वह प्रतीति सविषयक होती है। श्लोक में आये 'निमित्त' शब्द का अर्थ कारण यानी विषय है। वह विषय प्रज्ञान में अपने से भिन्न होता है, ऐसी हम प्रतिज्ञा करते हैं। सभी प्रतीतियों में विषय का होना जब अनिवार्य है, तो कोई भी शब्दादि प्रतीति विना विषयकी हो नहीं सकती। यदि प्रतीति विना विषयकी ही होती है, ऐसा मानोगे, तो शब्द, स्पर्श तथा नील पीत और लोहितादि प्रतीतियों में विचित्रता रूप द्वैत का नाश हो जायगा, और प्रतीति में विचित्रता के नाश से द्वैताभाव का प्रसंग भी आ जायगा। किन्तु प्रत्यक्ष सिद्ध होने के कारण प्रतीति में विचित्रता रूप द्वैत का अभाव तो वस्तुतः है नहीं, क्योंकि प्रतीति वैचित्र्यरूप द्वैत

स्वभावत एवेति। फलितं निगमयति—तस्मादिति। न हेतुफलयोर्जन्मवतोरनादित्वमभ्युपगन्तुं शक्यम्। अभ्युपगमे स्वजन्मैव तयो[5]राकस्मिकं स्यादित्यर्थः। स्वभाववादनिराकरणं प्रतिज्ञातमुत्तरार्धावष्टम्भेन प्रतिपादयति—यस्मादिति ॥२३॥

वस्तुनो वस्तुतो जन्मायोगादजं विज्ञानमात्रं तत्त्वमित्युक्तम्। इदानीं [6]बाह्यार्थवादमुत्थापयति—प्रज्ञप्तेरिति। ज्ञानस्य सविषयत्वे प्रत्ययवैचित्र्यानुपपत्तिं प्रमाणयति—अन्यथेति। अग्निदाहादिप्रयुक्तदुःखोपलब्ध्यनुपपत्तेश्चास्ति बाह्यार्थ इत्याह—सक्लेशस्येति। परतन्त्रं परकीयं शास्त्रं तस्यास्तिता तद्विषयस्य बाह्यार्थस्य विद्यमानतेति यावत्। श्लोकस्य तात्पर्यमाह—उक्तस्यैवेति। वस्तुनो नास्ति वस्तुनो जन्मेत्युक्तार्थस्तस्यैव [7]दृढीकरणं पूर्वोत्तरपक्षाभ्यां चिकीर्ष्यते तथा पुन[8]राक्षेपमुखेन बाह्यार्थवादिनां प्रस्थानमुत्थापयतीत्यर्थः। ब्रह्मस्वरूपभूतां प्रज्ञप्तिं प्रतिषेधयति—

---

१. प्रज्ञप्तेरिति—शास्तृशासनशास्त्रादिप्रतीतेरित्यर्थः। २. सनिमित्तत्वम्—सविषयत्वम्। ३. दृणीकरणेति—दृढीभावोऽर्थः। करोतेः प्रेरणांशत्यागात्तच्चिकीर्षया दृढत्वसंपिपादयिषयेत्यर्थः। ४. सनिमित्तत्वात्—सविषयत्वेनानुभूयमानत्वादित्यर्थः। ५. आकस्मिकम्—अतर्कितं तवाभिमतमपिबलादापद्येतेत्यर्थः। ६. बाह्यार्थवादमिति—बुद्धस्य हि चत्वारः शिष्याः सौत्रान्तिक-वैभाषिक-योगाचार-माध्यमिकाख्याः। तत्र प्रत्यक्षानुमानवेद्यतया क्रमशः आद्यौ द्वौ घटादि बाह्यार्थमभ्युपगच्छतः, अन्तौ च द्वौ, आन्तरक्षणिकविज्ञान शून्ये तत्राद्ययोर्मतमुत्थापयतीत्यर्थः। ७. दृढीकरणम्—भाविसंशय[illegible]म्। ८. आक्षेपमुखेन—जन्माभावनिषेधेनेत्यर्थः।

तन्त्रं परतन्त्रमित्यन्यशास्त्रं तस्य परतन्त्रस्य परतन्त्रा[1]श्रयस्य बाह्यार्थस्य ज्ञानव्यतिरिक्तस्यास्तिता मता[2]ऽभिप्रेता। न हि प्रज्ञप्तेः प्रकाशमात्रस्वरूपाया नीलपीतादिबाह्यालम्बनवैचित्र्यमन्तरेण स्वभावभेदेनैव वैचित्र्यं संभवति। स्फटिकस्येव नीलाद्युपाध्याश्रयैर्विना वैचित्र्यं न घटत इत्यभिप्रायः। इतश्च परतन्त्राश्रयस्य बाह्यार्थस्य ज्ञानव्यतिरिक्तस्यास्तिता। संक्लेशनं संक्लेशो दुःखमित्यर्थः। उपलभ्यते ह्यग्निदाहादिनिमित्तं दुःखं यद्यग्न्यादिबाह्यं दाहादिनिमित्तं विज्ञानव्यतिरिक्तं न स्यात्ततो दाहादिदुःखं नोपलभ्येत उपलभ्यते तु, अतस्तेन मन्यामहेऽस्ति बाह्योऽर्थं इति। न हि [3]विज्ञानमात्रे संक्लेशो युक्तः। अन्यत्रादर्शनादित्यभिप्रायः ॥२४॥

का दर्शन हो रहा है। अतः परतन्त्र यानी दूसरों के शास्त्र हैं, उन्हीं परकीय तन्त्रों के आधार पर प्रज्ञान से अतिरिक्त बाह्य पदार्थ का अस्तित्व भी स्वीकार किया गया है। यदि कहो कि प्रकाश मात्र स्वरूप प्रज्ञान की यह विचित्रता नील पीतादि बाह्यविषय वैचित्र्य के बिना ही केवल स्वभाव के कारण ही है ? तो ऐसा होना संभव नहीं है। क्योंकि स्वभाव से स्वच्छ स्फटिक में जैसे नील पीतादि उपाधियों के कारण से ही विचित्रता है, नील पीतादि उपाधियों को आश्रय किये बिना स्वच्छ स्फटिक में जैसे विचित्रता नहीं आती, वैसे ही स्फटिक के समान स्वच्छ प्रज्ञान में नीलपीतादि बाह्यविषयरूप उपाधि के आश्रय लिये बिना विचित्रता कभी भी संभव नहीं है। इसके अतिरिक्त दूसरे के शास्त्रों पर आधारित ज्ञान से भिन्न बाह्य पदार्थों का अस्तित्व इसलिये भी माना गया है, क्योंकि अग्नि दाहादि के निमित्त से दुःख उपलब्ध होता है। यदि विज्ञान से भिन्न दाहादि के निमित्त से दुःख उपलब्ध होता है। यदि विज्ञान से भिन्न दाहादि का निमित्त अग्न्यादि कोई बाह्य पदार्थ नहीं होता, तो दाहादि जन्य दुःख की प्रतीति नहीं होती, किन्तु प्रतीति तो होती है। अतः इसी से हम मानते हैं, बाह्य पदार्थ अवश्य हैं। तात्पर्य यह है कि विज्ञान मात्र में दुःख मानना युक्ति संगत नहीं है, क्योंकि बाह्य विषय के विज्ञान मात्र से दुःख होता हुआ कही भी नहीं देखा गया है ॥२४॥

शब्दादोति। [4]साकारवादं व्युदस्यति—स्वात्मेति। प्रज्ञप्तेर्विषयनिरतेक्षत्वान्न स्वातिरिक्तविषयतेत्याशङ्क्याऽऽह—न हीति। सनिमित्तत्वं स विषयत्वेत स्फुरणम्। तमेव हेतुं द्वितीयपादयोजनया विशदयति—अन्यथेति। प्रसङ्गस्येष्टत्वं प्रत्याचष्टे—न चेति। प्रत्ययवैचित्र्यानुपपत्तिप्रयुक्तं [5]फलं चतुर्थपादव्याख्यानेन कथयति—अत इति। ननु प्रज्ञप्तेः [6]स्वभावभेदेनैव बाह्यालम्बनवैचित्र्यमन्तरेण स्वगतं वैचित्र्यं घटिष्यते तत्राऽऽह—न हीति। औपाधिकं तर्हि प्रत्ययवैचित्र्यमित्याशङ्क्य बाह्यार्थातिरिक्तोपाध्यनधिगमान्नैवमित्याह—स्फटिकस्येति। तृतीयपादं हेत्वन्तरत्वेनावतारयति—ततश्चेति। तस्योपलब्धिमुपपादयति—उपलभ्यते हीति। तदुपलम्भेऽपि कुतो बाह्यार्थसिद्धिरित्याशङ्क्याऽऽह—यदीति। उपलब्धिरेव तर्हि दुःखस्य मा भूदिति चेन्न। [7]स्वानुभवविरोधादित्याह—उपलभ्यते त्विति। [8]विशिष्टदुःखोपलब्ध्यनुपपत्तिसिद्धिं फलमाह—अत इति। विज्ञानातिरिक्तबाह्यार्थाभावेऽपि क्लेशोपलब्धिर[9]विरुद्धेत्याशङ्क्याऽऽह—न हीति। अन्यत्र दाहच्छेदादिव्यतिरेके चन्दनपङ्कलेपादाविति यावत् ॥२४॥

---

१. आश्रयस्य—प्रतिपाद्यस्येत्यर्थः। २. अभिप्रेतेति—बाह्यार्थवादिबौद्धविशेषाणामिति शेषः। ३. विज्ञातमात्रे—स्वीकृते सीतति भावः। ४. साकारवादमिति—नीलपीताद्याकारेण विज्ञानमेव प्रथतइत्यभ्युपगच्छतामिति शेषः। ५. फलम्—बाह्यार्थमत्त्वरूपमित्यर्थः। ६. स्वभावभेदेनेति—स्वरूप विशेषेणविलक्षणस्वरूपेणेति यावत्। ७. स्वानुभवविरोधादिति—स्वस्यबाह्यार्थपलापिनो यः क्लेशानुभवस्तद्विरोधादित्यर्थः। ८. विशिष्टेति—विलक्षणेति भावः। ९. अविरुद्धेति—नानुपन्नेत्यर्थः। विज्ञानस्यैवदुःखादिरूपेण प्रथनादित्यभिमानः।

प्रज्ञप्तेः सनिमित्तत्वमिष्यते युक्तिदर्शनात् ।
निमित्तस्यानिमित्तत्वमिष्यते भूतदर्शनात् ॥ २५ ॥

[पूर्वोक्त तर्कों के अनुसार प्रज्ञान में सविषयत्व भले ही तुम मान लो, परन्तु तत्त्वदृष्टि से विचारशील हम लोग प्रज्ञान के निमित्त शब्दादि को वास्तव में निमित्त नहीं मानते ॥२५॥]

अत्रोच्यते—बाढमेवं प्रज्ञप्तेः सनिमित्तत्वं द्वयसंक्लेशोपलब्धियुक्तिदर्शनादिष्यते त्वया। स्थिरी भव तावत्त्वं युक्तिदर्शनं वस्तुनस्तथात्वाभ्युपगमे कारणमित्यत्र। ब्रूहि किं [1]तत इति। उच्यते। निमित्तस्य प्रज्ञप्त्यालम्बनाभिमितस्य घटादेरनिमित्तत्वमनालम्बनत्वं वैचित्र्याहेतुत्वमिष्यतेऽस्माभिः, कथं, भूतदर्शनात्परमार्थदर्शनादित्येतत्। न हि घटो [2]यथाभूतमृद्रूपदर्शने सति तद्व्यतिरेकेणास्ति। यथाऽश्वान्महिषः, पटो वा तन्तुव्यतिरेकेण। तन्तवश्चांशुव्यतिरेकेणेत्येवमुत्तरोत्तर [3]भूतदर्शन [4]आ

बाह्यार्थ वाद का निषेध

इस विषय में हम विज्ञान वादियों का कहना यह है कि ठीक है, इस प्रकार विषयरूप निमित्त के सहित ही प्रज्ञान होता है, विषय के विना नहीं। यह तुम्हें इसलिये अभीष्ट है, क्योंकि दुःखमय रूप तर्क तुम्हें दीख रहा है, किन्तु किसी भी वस्तु की यथार्थता के मानने में युक्ति प्रदर्शन ही कारण है', आप अपनी इस मान्यता के ऊपर स्थिर हो जाओ।

बाह्यार्थ वादी कहता है कि—आप बतलाएँ तो सही, ऐसा मानने में क्या आपत्ति है ?

विज्ञान वादी—हमारा कहना यह है, कि प्रज्ञान के विषय रूप से जिस घटादि को आपने स्वीकार किया है, उस घटादि को प्रतीति में विचित्रता का हेतु मानना हमें इष्ट नहीं है, यानी वस्तुतः वह प्रत्यय वैचित्र्य का कारण ही नहीं है। कैसे ? क्योंकि परमार्थदृष्टि से देखने पर ऐसा ही प्रतीत होता है। जैसे अश्व से महिष पृथक् है। इस प्रकार घटकार्य अपने कारण मृत्तिका के यथार्थस्वरूप का ज्ञान होने पर पृथक्सिद्ध नहीं होता। ऐसे ही तत्त्व फिर से देखने पर तन्तु से पट और अंशु से तन्तु

---

[5]द्वाभ्यामर्थापत्तिभ्यां बाह्यार्थवादे प्राप्ते विज्ञानवादमुद्भावयति—प्रज्ञप्तेरिति। अस्तु का नाम वस्तुक्षतिरित्याशङ्क्याऽऽह—निमित्तस्येति। [6]मतान्तरे प्राप्ते तन्निराकरणमुच्यते—विज्ञानवादिनेति। श्लोकस्य तात्पर्यमाह—अत्रेति। अत्र पूर्वार्धं विभजते—बाढमित्यादिना। द्वैतिनस्तव तर्कप्रधानत्वान्न प्रतीतिमात्रशरणता युक्तेति मत्वाऽऽह—स्थिरी भवेति। वस्तुनो बाह्यस्यार्थस्य तथात्वं प्रज्ञप्तिविषयत्वं तस्याभ्युपगमे कारणं प्रागुक्तयुक्तिदर्शनमित्येतस्मिन्नर्थे त्वं स्थिरी भवेति योजना। [7]विचारदृष्टिमेवावष्टभ्याहं वर्ते किं ततो दूषणमिति पृच्छति—ब्रूहीति। तत्रोत्तरार्धं सिद्धान्ती व्याकुर्वन्नुत्तरमाह—उच्यत इत्यादिना। घटादेर्वैचित्र्याहेतुत्वे प्रश्नपूर्वकं हेतुमाह—कथमित्यादिना। परमार्थ[8]दर्शनं प्रपञ्चयति—न हीति। तत्र वैधर्म्यदृष्टान्तमाह—तथेति। घटे दर्शितं न्यायं पटेऽपि दर्शयति—पटो वेति। तन्तुष्वपि न्यायसाम्यमुदाहरति—तन्तव इति परमार्थदर्शन[9]फलमुपसंहरति—इत्येवमिति। घटादीनां स्वकारणव्यतिरेकेणासतां न प्रत्ययवैचित्र्यहेतुत्वमतो घटादिप्रत्ययवत्प्रत्ययान्तराण्यपि प्रत्ययत्वाविशेषाद्बाह्यालम्बनवर्जितानि यन्तव्या-

---

१. तत इति—युक्तिदर्शनेन बाह्यार्थाभ्युपगमादित्यर्थः। २.—यथाभूतेति—घटापेक्षया परमार्थस्वरूपेत्यर्थः। ३. भूतदर्शने—कारणविचारे। ४. आशब्दप्रत्ययनिरोधादिति—यथा घटे मृदात्मना निश्चिते घटशब्दप्रत्ययौ निरुद्धौ, एवं रीत्या सकलशब्द प्रत्ययनिरोधे विज्ञानमात्रमवशिष्यत इति न विज्ञानातिरिक्तबाह्यार्थसत्त्वमिति तत्वम्।

५. द्वाभ्यामित्यादि—प्रत्ययवैचित्र्यसंक्लेशोपलब्ध्यनुपपत्तिरूपाभ्यामित्यर्थः। ६. मतान्तरे—बाह्यार्थवादे। ७. विचारदृष्टिमेवावष्टभ्य—तर्कप्रधान्यमेवावलम्ब्य। ८. दर्शनम्—पर्यालोचनं विचार इति यावत्। ९. फलम्—असद्रूपघटादेर्वैचित्र्याप्रयोजकत्वनिश्चयरूपम्।

शब्दप्रत्ययनिरोधान्नैव निमित्तमुपलभामहे इत्यर्थः। अथवा भूतदर्शनाद्बाह्यार्थस्यानिमित्तत्वमिष्यते। रज्ज्वादाविव सर्पादेरित्यर्थः। भ्रान्तिदर्शनविषयत्वाच्च निमित्तस्यानिमित्तत्वं भवेत्। तदभावेऽभानात्। न हि सुषुप्तसमाहितमुक्तानां भ्रान्तिदर्शनाभावे आत्मव्यतिरिक्तो बाह्योऽर्थ उपलभ्यते। न ह्युन्मत्तावगतं वस्त्वनुन्मत्तैरपि तथाभूतं गम्यते। एतेन द्वयदर्शनं संक्लेशोपलब्धिश्च प्रत्युक्ता ॥२५॥

भी पृथक् सिद्ध नहीं होते। भाव यह है कि—उत्तरोत्तर यथार्थ तत्त्व का दर्शन हो जानेपर शब्द एवं प्रतीति का निरोध हो जाता है। फिर तो शब्द एवं प्रतीति के वैचित्र्य का कारण विषय को हम देखते नहीं हैं।

अथवा ऐसा समझो। जैसे रज्जु में कल्पित सर्प वस्तुतः अपनी प्रतीति का विषय नहीं है, क्योंकि भ्रान्तिकाल में ही कल्पित सर्प और उसके ज्ञान का उदय होता है। वैसे ही परमार्थ-दर्शन हो जाने पर सम्पूर्ण बाह्य-पदार्थों को हम प्रतीति का विषय नहीं मानते। जो भ्रान्ति ज्ञान का विषय नहीं मानते। जो भ्रान्ति ज्ञान का विषय होता है, ऐसा विषय वस्तुतः प्रत्यय वैचित्र्य का निमित्त नहीं है, क्योंकि भ्रान्ति के नष्ट होते ही बाह्यार्थप्रतीति नहीं होती। सुषुप्त, समाहित और मुक्त पुरुषों को भ्रान्ति-दर्शन के अभाव हो जाने पर आत्मा से भिन्न कोई भी बाह्यपदार्थ दीखता नहीं। उन्मत पुरुष से जानी गयी वस्तु उन्माद रहित पुरुष को यथार्थ नहीं प्रतीत होती। अतः प्रत्यय वैचित्र्य और उसका प्रयोजक बाह्यविषय दोनों ही भ्रम काल में हैं। ऐसा कहने से द्वैत दर्शन और दुःख की प्रतीति दोनों ही निराकृत हो गये। अर्थात् न द्वैतदर्शन यथार्थ है, और न दुःख-उपलब्धि ही यथार्थ है, क्योंकि तत्त्वदर्शियों को स्फुरण से भिन्न वस्तु का भान होता नहीं देखा गया है ॥२५॥

नीन्यर्थः। भूतदर्शनं यौतिकं तत्त्वदर्शनं ततो निमित्तस्यानिमित्तत्वमिति व्याख्यातम्। इदानीमभूतदर्शनादिति पदच्छेदेन व्याख्यानान्तरमाह—अथवेति। [1]यथा रज्ज्वादावधिष्ठाने सर्पादेरा[2]रोपितस्य दर्शनाच्च तस्य वस्तुनो दर्शनं [3]प्रत्यालम्बनत्वमिष्टम्। तथैवा[4]धिष्ठानज्ञानापेक्षया परमार्थतो दर्शनाद्बाह्यस्यार्थस्य ज्ञानं प्रत्यालम्बनत्वं वास्तवमभ्युपगन्तुमशक्यमित्यर्थः। किंच विमतो बाह्यार्थो न तत्त्वतो ज्ञानं प्रत्यालम्बनं भ्रान्तिविषयत्वाद्रज्ज्वां सर्पादिवदित्याह—भ्रान्तीति। हेतुं साधयति—तदभाव इति। भ्रान्त्यभावे बाह्यार्थो न भातीत्युक्तं हेतुं प्रपञ्चयति—न हीति। [5]देहाभिमानवतो बाह्यार्थप्रतिभानध्रौव्यादद्वैतदर्शिनोऽपि तत्प्रतिभानम[6]प्रत्यूहं प्राप्नोतीत्याशङ्क्याऽऽह—न ह्युन्मत्तेति। बाह्यार्थसमर्थनार्थमुक्तमर्थापत्तिद्वयं कथं निरसनीयमित्याह—एतेनेति। तत्त्वदर्शिनां स्फुरणातिरिक्तवस्त्वनुपलम्भप्रदर्शनेन वैचित्र्यदर्शनं दुःखोपलब्धिश्च प्रत्युक्ता। [7]तेनानुपपद्यमानार्थापत्तिद्वयस्यानुत्थानम्। व्यवहारदृष्ट्या तु [8]पूर्वभ्रमसमारोपितंस्वप्नवदेव संवेदने वैचित्र्यं दुःखे च [9]व्यवहाराङ्गमित्य[10]न्यथाऽप्युपपत्तिरित्यर्थः ॥२५॥

---

१. बाह्यार्थदर्शनं बाह्यार्थनिमित्तकमारोपितदर्शनात् सम्मतवदित्यभिप्रेत्य व्याचष्टे—यथेत्यादिना। २. आरोपितस्य—न तु परमार्थस्येत्यभिप्रायः। ३. प्रत्ययालम्बनत्वम्—स्वविषयकज्ञाने वैचित्र्यसंपादकत्वम्। अधिष्ठानज्ञानापेक्षया। ४. अधिष्ठानरूपज्ञानव्यतिरेकेणेत्यर्थः। ५. मुक्तो योग्यतया जीवन्मुक्तस्तस्य व्यवहारवत्त्वात् देहाभिमानः कल्पयस्तेन बाह्यार्थभानं ततोऽद्वैतदर्शिनि तस्मिन् भ्रान्त्यनाश्रये तदभावेऽभानादिति व्यभिचरतीति शङ्कते—देहाभिमानेत्यादिना। ६. अप्रत्यूहम्—बाधशून्यम्। ७. तेनेति-स्फुरणातिरिक्तवस्तुनो वस्तुतोऽभावेनेत्यर्थः। ८. पूर्वभ्रमेति—पूर्वपूर्वभ्रमजन्यसंस्कारकल्पितमित्यर्थः। ९. व्यवहाराङ्गम्—व्यवहारविषयः। १०. अन्यथापि—परमार्थबाह्यार्थमन्तरेणैवेत्यर्थः।

[1]चित्तं [2]न संस्पृशत्यर्थं नार्थाभासं तथैव च ।
[3]अभूतो हि यतश्चार्थो नार्थाभास [4]स्ततः पृथक् ॥२६॥

[(स्वप्नचित्त के समान बाह्य) किसी भी पदार्थ को चित्त स्पर्श नहीं करता, वैसे ही अर्थाभास को भी ग्रहण नहीं करता, क्योंकि स्वप्न के समान जाग्रत में भी शब्दादि बाह्य विषय है नहीं और न चित्त से पृथक् पदार्थाभास ही है ॥२६॥]

यस्मान्नास्ति बाह्यं निमित्तमतश्चित्तं न संस्पृशत्यर्थं बाह्यालम्बनविषयम् । नाप्यर्थाभासं चित्तत्वात्स्वप्नचित्तवत् । अभूतो हि जागरितेऽपि स्वप्नार्थवदेव बाह्यः शब्दाद्यर्थो यतः [5]उक्तहेतुत्वाच्च । नाप्यर्थाभासश्चित्तात्पृथक्चित्तमेव हि घटाद्यर्थवदवभासते यथा स्वप्ने ॥२६॥

जब कि ज्ञान का निमित्त बाह्यविषय है ही नहीं, इसीलिये स्वप्न-चित्त के समान जाग्रत-चित्त बाह्य आलम्बन के विषय रूप किसी भी पदार्थ को स्पर्श नहीं करता, क्योंकि जैसे स्वप्न के चित्त में चित्तत्त्व है और वह बाह्यविषय का स्पर्श करता नहीं, वैसे ही जाग्रत्-चित्त में भी चित्तत्व है तो भला जाग्रत्-चित्त भी बाह्यविषय आलम्बन का स्पर्श क्यों करने लगे । इतना ही नहीं, बल्कि स्वप्न-चित्त के समान यह जाग्रत्-चित्त भी अर्थाभास को ग्रहण करता नहीं । पूर्वोक्त अनेक हेतुओं से यह सिद्ध किया जा चुका है, कि स्वाप्निक पदार्थ के समान जाग्रदवस्था में भी शब्दादि बाह्य पदार्थ हैं नहीं और न चित्त पृथक् अर्थाभास ही है, किन्तु जैसे स्वप्न में पदार्थ के अभाव रहने पर भी केवल चित्त ही घटादि पदार्थ के समान भासता है । वैसे ही जाग्रदवस्था में घटादि विषय के न रहने पर भी घटादि पदार्थ के समान चित्त भी भासता है ॥२६॥

ज्ञानस्य सालम्बनत्वप्रसिद्धेस्तत्त्वदृष्ट्या ज्ञेयाभावे ज्ञानमपि न स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—चित्तमिति । न हि [6]स्फुरणं [7]सकर्मकं [8]तस्य सकर्मकत्वप्रसिद्ध्यभावात् । [9]जानातेस्तु सकर्मकत्वं [10]क्रियाफलकल्पनया स्वीकृतमिति भावः । [11]चित्तस्यार्थस्पर्शित्वाभावेऽपि तदाभासस्पर्शित्वं स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—नार्थेति । हेतुमाह—अभूत इति । प्रथमपादं व्याचष्टे—यस्मादिति । विमतं चित्तम[12]र्थाभासमपि न स्पृशति चित्तत्वात्संप्रतिपन्नवदिति द्वितीयं पादं विभजते—नापीति । न हि दृष्टान्ते तस्यार्थाभासस्पर्शित्वं तस्यैव तदात्मना भानादित्यर्थः । तृतीयपादं व्याकरोति—अभूतो हीति । विमतोऽर्थः सन्न भवत्यर्थत्वात् संप्रतिपन्नवदि[13]त्यनुमानान्न ज्ञानस्याऽऽलम्बनमित्यर्थः । [14]विमतोऽर्थः स्वविषयज्ञानजनको न भवति भ्रान्तिविषयत्वात्संप्रतिपन्नवदित्युक्तमनुमानं स्मारयति—उक्तेति । [15]अर्थजन्यत्वाभावे विज्ञानस्यार्थाभासजन्यत्वं स्यादित्याशङ्क्य चतुर्थपादार्थमाह—नापीति ॥२६॥

१. चित्तम्—विज्ञानम् । २. न संस्पृशत्यर्थमिति—स्वातिरिक्तार्थविषयकं न भवतीत्यर्थः । ३. अभूत इति—परमार्थतो विज्ञानव्यतिरेकेणासद्रूप इत्यर्थः । ४. ततः—चित्तशब्दवाच्यविज्ञानात् । ५. उक्तहेतुत्वात्—उक्तो हेतुर्यस्य तत्त्वादित्यर्थः । ६. स्फुरणम्—स्फुरतिनाप्रतीयमानविज्ञानम् । ७. सकर्मकम्—सविषयकम् । ८. तस्य—स्फुरतिप्रतीतविज्ञानस्य । ९. ननु ज्ञानस्याकर्मत्वे तदर्थस्य ज्ञाधातोरपि सकर्मकत्वं न स्यादत आह—जानातेरिति । १०. क्रियाफलकल्पनयेति—ज्ञानक्रियाया ज्ञाततारूपं घटादौ फलं कल्पयित्वेत्यर्थः । तथा च घटादिज्ञाततारूपफलव्यधिकरणज्ञानरूपव्यापारवाचकतया जानातेः सकर्मकत्वं स्वीकृतं तथैव लोकप्रसिद्धेः । वस्तुतस्तु विज्ञानमकर्मकमेवेत्यर्थः । ११. चित्तस्येत्यादि—दर्पणस्येवमुखास्पर्शित्वेऽपि प्रतिबिम्बस्पर्शित्वमिति भावः । १२. अर्थाभासम्—स्वातिरिक्तार्थाभासमित्यर्थः । १३. इत्यनुमानादित्यादि—इत्यनुमानसिद्धादसत्वान्न ज्ञानस्यालम्बनं वन्ध्यासुतादिवदिति भावः । १४. ननु प्रतीयमानत्वादसिद्धमित्याशङ्क्य तत्रानुमानान्तरमाह—विमत इत्यादि १५. भ्रान्तिविषयत्वमभ्युपगच्छतार्थाभासोऽप्युपगत एव स एव तद्युक्तार्थापत्तिभ्यामस्तु ज्ञानजनक इत्याशयेन शङ्कते—अर्थजन्यत्वाभावे इति ।

निमित्तं न सदा चित्तं संस्पृशत्यध्वसु त्रिषु ।
अनिमित्तो विपर्यासः कथं तस्य भविष्यति ॥२७॥

[(अतीत अनागत और वर्तमान) इन तीनों अवस्थाओं में चित्त कभी भी विषय को स्पर्श नहीं करता । अतः बिना निमित्त के ही उस चित्त को विपरीत ज्ञान कैसे हो सकता । (अर्थात चित्त को किसी प्रकार का विपरीत ज्ञान है ही नहीं ॥२७॥]

ननु [१]विपर्यासस्तर्ह्य[२]सति घटादौ [३]घटाद्याभासता चित्तस्य, तथा च सत्य[४]विपर्यासः कचिद्वक्तव्य इति । [५]अत्रोच्यते । निमित्तं विषयमतीतानागतवर्तमानाध्वसु त्रिष्वपि सदा चित्तं न संस्पृशेदेवहि । यदि हि कचित्संस्पृशेत्सोऽविपर्यासः परमार्थत इति । अत[६]स्तदपेक्षयाऽसति घटे घटाभासता विपर्यासः स्यान्न तु तदस्ति कदाचिदपि चित्तस्यार्थसंस्पर्शनम । तस्माद[७]निमित्तो विपर्यासः कथं तस्य चित्तस्य भविष्यति [८]न कथंचिद्विपर्यासोऽस्तीत्यभिप्रायः । अयमेव हि स्वभावश्चित्तस्य यदुतासति निमित्ते घट दौ तद्वदवभासनम् ॥२७॥

पू० :—यदि घटादि के न रहने पर भी चित्त को घटादि रूप से भान होना मानोगे, तो यह विपरीतज्ञान अर्थात् भ्रम है, ऐसा कहना पड़ेगा । ऐसी दशा में सम्यक् ज्ञान कब होगा, यह आपको बतलाना पड़ेगा ?

सि० :—इस पर कहते हैं—भूत, भविष्यत् और वर्तमान इन तीनों ही अवस्थाओं में चित्त सदा ही निमित्त यानी विषय को छूता तक नहीं । यदि वह कहीं भी विषय का स्पर्श करता तो निःसन्देह वह पारमार्थिक है ऐसा माना जाता । अतः तत्संस्कार जन्य होने से घट के न होने पर भी घटादि का भान होना भ्रम कहलाता है, किन्तु ऐसी बात नहीं है । इसलिये मानना पड़ेगा कि कभी भी पदार्थ के साथ चित्त का स्पर्श होता ही नहीं । फिर भला विनानिमित्त के उस चित्त को भ्रम ज्ञान कैसे हो सकता । भाव यह है कि किसी भी प्रकार विपरीत ज्ञान है ही नहीं । चित्त का तो यही स्वभाव है कि घटादि निनित्त के न होने पर भी उनकी प्रतीति होती रहे । पूर्व पूर्व भ्रान्ति जन्य संस्कार से युक्त विज्ञान उत्तरोत्तर भ्रान्ति के प्रति कारण है । विषय के सहित सम्पूर्ण भ्रम को सिद्धान्त में अविद्याप्रयुक्त माना गया है ॥२७॥

ज्ञानस्य सालम्बनत्वाभावे तस्य तथात्वप्रथा भ्रान्तिर्भवेत् । भ्रान्तिश्चा [९]भ्रान्तिप्रयोगिनीत्यन्यथाख्यातिमाशङ्कयाऽऽह--निमित्तमिति । कालत्रयेऽपि ज्ञानस्य वस्तुतोऽर्थस्पर्शित्वाभावे तद्वासनाभावा तज्जन्या ना[१०]न्यथाख्यातिः सिध्यति । भ्रान्तिस्तु [११]विधान्तरेणापि भविष्यतीत्याह--अनिमित इति । श्लोकव्यावर्त्यामाशङ्कां दर्शयति—नन्विति । यदि घटादिबाह्योऽर्थो न गृह्यते तर्हि तस्मिन्नसत्येव [१२]तदाभासता ज्ञानस्य विपर्यासः । अतस्मिंस्तद्बुद्धेस्तथात्वात् । विपर्यास्ते च स्वीकृते कचिदप्यविपर्यासो वक्तव्यः, भ्रान्तेरभ्रान्तिपूर्वकत्वस्यान्यथाख्यातिवादिभिरिष्टत्वादित्यर्थः । तत्र पूर्वार्धयोजना परिहरति--अत्रेति उक्तमेवार्थमुत्तरार्धयोजनया साधयति--यदीति । अभ्रान्तेरभावादसंभवे भ्रान्तेरसति

---

१. विपर्यासः—भ्रमरूपता । २. असति—बाह्यार्थानभ्युपगमे । ३. घटाद्याभासता—घटाद्यात्मना भानम् । ४. अविपर्यास इति—अनात्मगोचरप्रमेत्यर्थः । ५. अत्र अविपर्यासे शङ्किते । ६. तदपेक्षयेति—तत्संस्कारजन्यतयेति । ७. अनिमितः संस्काररूपनिमित्तशून्यः । ८. न कथञ्चित्—अबाधितवस्तुविषयकज्ञानजन्यसंस्कारजन्यो भ्रमो नास्त्येवेत्यर्थः । ९. अभ्रान्तिप्रतियोगिनीति—प्रमानिरूपितेत्यर्थः प्रमाजन्यसंस्कारजन्येति यावत् । १०. अन्यथाख्यातिरिति—स्मृतिरूपान्यथाख्यातिरित्यर्थः । ११. विधान्तरेण—पूर्वपूर्वभ्रमजन्यसंस्कारेणेत्यर्थः । १२. तदाभासता—तद्रूपेणप्रतीयमानता ।

तस्मान्न जायते [1]चित्तं चित्तदृश्यं न जायते ।
तस्य पश्यन्ति [2]ये जातिं खे वै पश्यन्ति ते पदम् ॥२८॥

[अतः (जिस प्रकार) चित्त का दृश्य उत्पन्न नहीं होता (उसी प्रकार) चित्त भी उत्पन्न नहीं होता। जो लोग चित्त का जन्म देखते हैं, वे निश्चय ही आकाश में पक्षी आदि के चरण चिह्न देखते हैं ॥२८॥]

प्रज्ञप्तेः सनिमित्तत्वमित्याद्येतदन्तं विज्ञानवादिनो बौद्धस्य वचनं बाह्यार्थवादिपक्षप्रतिषेधपरमाचार्येणानुमोदितम्। तदेव हेतुं कृत्वा तत्पक्षप्रतिषेधाय। तदिदमुच्यते तस्मादित्यादि। यस्मादसत्येव घटादौ घटाद्याभासता चित्तस्य विज्ञानवादिनाऽभ्युपगता तदनुमोदितमस्माभिरपि भूतदर्शनात्। [3]तस्मा[4]त्तस्यापि चित्तस्य [5]जायमानाऽवभासताऽसत्येव जन्मनि युक्ता भवितुमित्यतो न जायते चित्तम्। यथा [6]चित्तदृश्यं न जायतेऽतस्तस्य चित्तस्य ये जातिं पश्यन्ति विज्ञानवादिनः क्षणिकत्वदुःखित्वशून्य-

---

विज्ञान वाद का खण्डन

"प्रज्ञप्तेः सनिमित्तत्वम्" इस श्लोक से लेकर यहाँ तक विज्ञानवादी बौद्ध की बाह्यार्थवादी के पक्ष का प्रतिषेध करने वाला जो वचन है, उसी का अनुमोदन आचार्य गौड़पाद ने किया। क्योंकि बाह्यार्थवाद का दूषण इन्हें भी इष्ट ही है। अब विज्ञानवादी के द्वारा कहे गये अर्थ को हेतु बता कर विज्ञान वादी के पक्ष का भी निषेध करने के लिये कहा जाता है, क्योंकि विज्ञानवादी ने कहा था कि घटादि के न रहने पर भी चित्त को घटादि का भान होना हमें स्वीकार है। यहाँ तक उसका दर्शन यथार्थ होने के कारण हमने उसका अनुमोदन किया। पर चित्त के जन्म न होने पर भी उसने जो चित्त के जन्म की प्रतीति मानी है, यह युक्ति युक्त नहीं है। इसलिये से चित्त दृश्य उत्पन्न नहीं

घटादौ घटाद्याभासता ज्ञानस्य कथं [7]निर्वहतीत्याशङ्क्याऽऽह—अयमेवेति। स्वभावशब्देनाविद्योच्यते। [8]न हि भ्रान्तिरभ्रान्तिपूर्विकेति नियमः। सविषयाणां भ्रमाणाम[9]विद्यात्वाभ्युपगमादित्यर्थः ॥२७॥

बाह्यार्थवादिपक्षमेवं विज्ञानवादिमुखेन प्रतिक्षिप्य विज्ञानवादमिदानीमपवदति—तस्मादिति। प्रतिक्षणं विज्ञानस्य जन्म दृश्यते विज्ञानवादिभिरित्याशङ्क्याऽऽह—तस्येति। वृत्तसंकीर्तनपूर्वकं श्लोकस्य तात्पर्यमाह—प्रज्ञप्तेरिति। तच्च बाह्यार्थवादिनो बाह्योऽर्थो विज्ञानवदस्तीति पक्षप्रतिषेधमुखेन प्रवृत्तं तत्पुनराचार्येण भवत्वेवमित्यनुज्ञातम्, बाह्यार्थवाददूषणस्य स्वमतेऽपि संमतत्वादित्याह—बाह्यार्थ इति। बाह्यार्थवाददूषणानुमोदनप्रयोजनमाह—तदेवेति। असत्येव घटादौ घटाद्याभासत्वं विज्ञानस्य यदुक्तं तदेव [10]हेतुत्वेनोपादाय विज्ञानवादनिषेधार्थं बाह्यार्थपक्षदूषणमनुमोदितमित्यर्थः। संप्रति विज्ञानवाददूषणमवतारयति—तदिदमिति। तस्मादित्यादि व्याचष्टे—तस्मादिति। भूतदर्शनाद्घटादेर्मृदादिमात्रं भूतं वस्तुतत्त्वं [11]तस्यापि विज्ञप्तिमात्रं तत्त्वं तस्य [12]शास्त्रतो दर्शनादिति यावत्।

---

१. चित्तम्—सदद्वयविज्ञानम्। २. ये—विज्ञानवादिबौद्धाः। ३. तस्मात् चित्तस्य घटादिरूपवस्त्वाभासत्वात्। ४. तस्यापि चित्तस्य—असदवभासत्त्वेन विज्ञानवाद्यभिमतस्यापि चित्तस्येत्यर्थः। ५. जायमानावभासतेति—जायमानत्वावभासतेत्यर्थः। ६. चित्तदृश्यम्—सदद्वयचितो दृश्यं नीलादिः। ७. निर्वहति—सम्भवतीत्यर्थः। ८. नहीत्यादिना—आत्मनि ब्राह्मणत्वादिभ्रान्तीनामभ्रान्तिपूर्वकत्वा दर्शनादितिभावः, देहे ब्राह्मणत्वाद्यभ्रान्तावप्यात्मब्राह्मणत्वयोः तादात्म्याभ्रान्तेरभावादहं ब्रह्मण इति भ्रमो न स्यादित्यवधेयम्। ९. अविद्यात्वाभ्युपगमादिति—न ह्यविद्यापूर्विका भवतीति भावः। १०. हेतुत्वेनोपादायेति—तथा चायं प्रयोगो विज्ञानस्य जन्माद्याभासत्वं विषयानपेक्षमाभासत्वात् घटाद्याभासत्ववदितिः। ११. तस्यापि विज्ञप्तिमात्रंतत्त्व मिति—विज्ञानव्यतिरेकेण तस्याप्यनुपलम्भादिति भावः। १२. शास्त्रतो [illegible]

[1]अजातं [2]जायते यस्माद[3]जातिः [4]प्रकृति[5]स्ततः ।
प्रकृतेरन्यथाभावो न कथंचिद्भविष्यति ॥२९॥

[क्योंकि अजात (ब्रह्मरूप चित्त) ही उत्पन्न होता है (ऐसी कल्पना वादियों ने की है)। इसलिए अजाति उस चित्त का स्वभाव है और स्वभाव के विपरीत भाव किसी प्रकार भी नहीं होता ॥२९॥]

त्वानात्मत्वादि च, [6]तेनैव चित्तेन चित्तस्वरूपं द्रष्टुमशक्यं पश्यन्तः खे वै पश्यन्ति ते पदं पश्यादीनाम्। [7]अत इतरेभ्योऽपि द्वैतिभ्योऽत्यन्तसाहसिका इत्यर्थः। येऽपि शून्यवादिनः पश्यन्त एव सर्वशून्यतां [8]स्वदर्शनस्यापि शून्यतां प्रतिजानते ते ततोऽपि [9]साहसिकतरा खं मुष्टिनाऽपि जिघृक्षन्ति ॥२८॥

उक्तैर्हेतुभिरजमेकं ब्रह्मेति [10]सिद्धम्, यत्पुनरादौ [11]प्रतिज्ञातं [12]तत्फलोपसंहारार्थोऽयं श्लोकः ।

होता, वैसे ही चित्त भी उत्पन्न नहीं होता। अतः जो विज्ञान वादी उस चित्त की उत्पत्ति देखते हैं, एवं चित्त के क्षणिकत्व, दुःखित्व, शून्यत्व तथा अनात्मत्वादि देखते हैं। भला वह उसी चित्त से चित्त के स्वरूप को देखना कैसे सत्य हो सकता है? इतने पर भी चित्त के उक्त स्वरूप को जो वादी देखते हैं, वे निःसन्देह आकाश में पक्षी आदि के पद चिन्ह देखते हैं। अतः अन्य द्वैतवादियों की अपेक्षा भी ये अत्यन्त साहसिक प्रतीत होते हैं, यह इसका तात्पर्य है। और जो भी शून्यवादी सर्वशून्यता को देखते हुए अपने दर्शन की शून्यता की भी प्रतिज्ञा करते हैं, वे तो उन विज्ञान वादियों से भी बढ़कर साहसिक हैं। वे मानो आकाश को मुट्ठी से ही पकड़ना चाहते हैं ॥२८॥

उक्त प्रसंग का उपसंहार

पूर्वोक्त हेतुओं से अजन्मा ब्रह्म ही एक मात्र अबाधित वस्तु है, यह सिद्ध हुआ। अब पहले जिसकी प्रतिज्ञा की थी उसके फल का उपसंहार बतलाने के लिये आगे का श्लोक है।

द्वितीयपादं दृष्टान्तत्वेन विभजते—य-ति। विमतं विज्ञानजन्म न तात्त्विकं दृश्यत्वान्नीलपीतादिवदित्यर्थः। विपक्षे दोषमाह—अत इति। तत्त्वतो विज्ञानस्य जन्मायोगाद्ये तस्य तात्त्विकं जन्म पश्यन्ति ते पक्ष्यादीनां खेऽपि पदं पश्यन्तीत्यन्वयः। अनात्मत्वादीत्यादिशब्देनान्योन्यविलक्षणत्वमन्योन्यसादृश्यं च गृह्यते। [13]तत्र हेतुं सूचयति—तेनैवेति। [14]स्ववृत्तेरनुपपत्तेस्तद्दृश्यतामन्तरेण च तद्धर्मदृश्यतासंभवादित्यर्थः। विज्ञानवादे [15]फलितं विशेषं दर्शयति—अत इति। [16]शून्यवादिनं प्रति विशेषं कथयति—येऽपीति। पश्यन्त एवेत्यविसलुदृष्टृपता द्योत्यते दृग्बलादेव सर्वाभावः सिध्यति। दृगभावस्तु कथं सिध्येत्। न च तावद्दृगेव तदभावं साधयेत्। तयोरेककालत्वानुपपत्तेरित्यर्थः। किंच सर्वशून्यतां वदन्तः [17]शून्यतादर्शनस्य [18]स्वात्मदर्शनस्य च शून्यतां वदन्ति। [19]तथा च स्वपक्षासिद्धिरित्यभिप्रेत्याह—स्वदर्शनस्येति। ततोऽपीति। विज्ञानवादिभ्योऽपीत्यर्थः ॥२८॥

१. अजातम्—जन्मशून्यं चिद्विज्ञानम्। २. जायते—जायमानत्वेन वादिभिः कल्प्यते इत्यर्थः। ३. अजातिः—जन्माभावः। ४. प्रकृतिः—वस्तुनः स्वभावः। ५. ततः—अजातस्यैव जायमानत्वेन कल्पनात्। ६. तेनैव—जन्मादिना विकल्पितेनैवेत्यर्थः। ७. अतः—दर्शनानर्हद्रष्टृत्वाभिमानित्वात्। ८. स्वदर्शनस्य—स्वशास्त्रस्य। ९. साहसिकतराः—निःस्वरूपशास्त्रादिना निःस्वरूप साधकाः। १०. सिद्धम्—निश्चितम्। ११. प्रतिज्ञातमिति—अतो वक्ष्याम्यकार्पण्यमिति वाक्येनेत्यर्थः। १२. तदिति—तस्योक्त निश्चियस्यफलं पुनरसम्भवादिनिवृत्तिरूपम्। १३. तत्र—जन्माभावे। १४. स्ववृत्तेरनुपपत्तेः—स्वकर्तृकस्वकर्मकदर्शनस्य कर्तृकर्मविरोधेनानुपपद्यमानत्वात्। १५. फलितं विशेषमिति—वैशेषिकाद्यपेक्षया वैलक्षण्यमिति। १६. शून्यपदिनंप्रति शून्यवादिनि विज्ञानवाद्यपेक्षया वैलक्षण्यम्। १७. शून्यतादर्शनस्य—शून्यताबोधकशास्त्रस्येत्यर्थः। १८. स्वात्मदर्शनस्य—शून्यमेवात्मेतिज्ञानस्य। १९. तथा—शास्त्रादेर्निःस्वरूपत्वे।

अनादेरन्तवत्त्वं च संसारस्य न सेत्स्यति ।
अनन्तता चाऽऽदिमतो मोक्षस्य न भविष्यति ॥३०॥

[अनादि संसार का अन्त होना युक्ति से सिद्ध नहीं हो सकेगा (लोक में कोई भी अनादि भाव वस्तु अन्त वाली नहीं देखी गयी, वैसे ही विज्ञान काल में) उत्पन्न होने वाले मोक्ष की अनन्तता भी नहीं सिद्ध हो सकेगी। (क्योंकि अन्य घटादि में अनन्तता नहीं देखी गयी है) ॥३०॥

अजातं यच्चित्तं ब्रह्मैव जायत इति वादिभिः परिकल्प्यते, तदजातं जायते यस्मादजातिः प्रकृतिस्तस्य ततस्तस्मादजातरूपायाः प्रकृतेरन्यथाभावो जन्म कथंचिद्भविष्यति ॥२९॥

अयं चाऽपर[1] आत्मनः संसारमोक्षयोः परमार्थसद्भाववादिनां दोष[2] उच्यते। अनादेरतीतकोटिरहितस्य संसारस्यान्तवत्त्वं समाप्तिर्न सेत्स्यति युक्तितः सिद्धिं नोपयास्यति। न ह्यनादिः सन्नन्त-

---

जो अजात ब्रह्म स्वरूप चित्त है, वही उत्पन्न होता है विज्ञानवादियों द्वारा ऐसी कल्पना की जाती है। क्योंकि अजात ही जन्म लेता है, साथ ही यह भी कहते हैं, कि अजात उसका स्वभाव है। ऐसी परिस्थिति में उस अजातरूप स्वभाव वाले का अन्यथाभावरूप जन्म किसी प्रकार से न होगा। वस्तुतः वह अजन्मा होता हुआ जन्म लेता है, तो उसका जन्म पारमार्थिक न मानकर मायिक मानना पड़ेगा ॥२९॥

जिन लोगों ने आत्मा के संसार और मोक्ष दोनों को पारमार्थिक माना है, ऐसे संसार और मोक्ष में पारमार्थिकत्त्व मानने वाले वादियों के पक्ष में यह एक दूसरा दोष भी कहा जा रहा है। जो अनादि अर्थात् अतीत कोटि से रहित हैं, उसका अन्त होना युक्ति युक्त सिद्ध नहीं होता। कोई भी अनादिभावरूप पदार्थ अन्तवान् होता नहीं देखा गया। जैसे आत्मा अनादि भाव होने से अन्तवान् नहीं है, ऐसे ही अनादिभावरूप इस संसार का भी अन्त मानना युक्तिसंगत नहीं है। यदि कहो कि बीजांकुर की संतान अनादिभावरूप है, फिर भी उसका अन्त होता देखा गया है, तो ऐसा कहना ठीक

यदि विज्ञानस्य बाह्यालम्बनत्वं क्षणिकत्वं शून्यत्वं च न संभवति किं तर्हि [3]तत्त्वमेकरूपं भवतीत्याशङ्क्याऽऽह—अजातमिति। तस्याश्च प्रकृतेरन्यथात्वं पुरस्तादेव निरस्तमित्याह—प्रकृतेरिति। श्लोकस्य तात्पर्यमाह—उक्तैरिति। कूटस्थमद्वितीयं ब्रह्मेति यत्पूर्वत्र प्रतिज्ञातं तज्जन्मनो दुर्निरूपत्वादुक्तहेतुभिः सिद्धम्। तस्यैव [4]सिद्धस्यार्थस्य फलमुपसंहर्तुमेष श्लोक इत्यर्थः। पूर्वार्धं योजयति—अजातमिति। यदि चित्तं स्फुरणमजातमभीष्टं तर्हि तद्ब्रह्मैव, तस्य कौटस्थ्यैकस्वाभाव्यात्तत्पुनर्वस्तुतो न जातमेव मायया जन्मवदिति कल्प्यते चेत्तस्याजातिरेवा[5]जातत्वात्प्रकृतिर्भवतीत्यर्थः। द्वितीयार्धं योजयति—अजातरूपाया इति। तस्याश्चेद[6]न्यथात्वं स्वरूपहानिरापतेदित्यर्थः ॥२९॥

[7]कूटस्थं [8]तत्त्वं तात्त्विकमित्यत्र हेत्वन्तरमाह—अनादेरिति। विमतः संसारो नान्तवाननादिभावत्वादात्मवदित्यर्थः। किंच मोक्षोऽनन्तो न भावत्वे सत्यादिमत्त्वाद्घटवदित्याह—अनन्तेति। श्लोकस्य तात्पर्यमाह—अयं चेति। तत्र पूर्वार्धं व्याकरोति—अनादेरिति। अतीतकोटिरहितस्य पूर्वं नाऽऽसीदित्य[9]वच्छेदवर्जितस्येत्यर्थः। योऽनादिभावः सोऽन्तवान्नेति व्याप्तिरात्मनि व्यक्तेत्याह—न हीति। बीजाङ्कुरयोर्हेतुफलभावेन संबन्धस्तस्य नैरन्तर्यं संतानस्तस्या-

---

१. अपरः—वैतथ्यप्रकरणोक्तदूषणेभ्यो विलक्षणः। २. दोषः—संसारमोक्षयोरविनाशित्वविनाशित्वरूपः। ३. तत्त्वम्—अबाधितं वस्तु किं भवतीति प्रश्नः। ४. सिद्धस्य—निश्चयरूपस्येत्यर्थः। ५. अजातत्वात्—वास्तवजन्माभावात्। ६. अन्यथात्वम्—परिवर्तनम्। ७. कूटस्थमिति—अजातस्वभावत्वापेक्षया, न तु संसारमोक्षाविति भावः। ८. तत्वम्—वस्तु। ९. अवच्छेदवर्जितस्येति—पूर्वकालवृत्त्यत्यन्ताभाववर्जितस्येत्यर्थः।

आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा।
[1]वितथैः सदृशाः सन्तोऽवितथा इव लक्षिताः ॥३१॥

[जो वस्तु आदि और अन्तमें असद् रूप है वह वर्तमान में भी असद् ही मानी जाती है। मृगतृष्णकादि असद् वस्तुओंके समान होते हुए भी अनात्मा-पुरुषों द्वारा वे सद्रूप में समझे जाते हैं ॥३१॥

वान्कश्चित्पदार्थो दृष्टो लोके। बीजाङ्कुरसंबन्धनैरन्तर्यविच्छेदो दृष्ट इति चेत्। न। [2]एकवस्त्वभावेनापोदितत्वात्। तथाऽनन्तताऽपि विज्ञानप्राप्तिकालप्रभवस्य मोक्षस्याऽऽदिमतो न [3]भविष्यति। घटादिष्वदर्शनात्। घटादिविनाशवद[4]वस्तुत्वाद[5]दोष इति चेत्। तथा च सतिमोक्षस्य परमार्थसद्भावप्रतिज्ञाहानिः असत्त्वादेव शशविषाणस्येवाऽऽदिमत्त्वाभावश्च ॥३०

नहीं। क्योंकि बीजांकुर की संतति कोई एक स्वतन्त्रपदार्थ नहीं है, जिसे कि हम अनादिभावरूप मानकर अनादिभाव रूप संसार की अन्तवत्तासिद्धि के लिये उदाहरण मान सके। इसीलिये बीजांकुर संतति का निराकरण हमने पहले कर दिया है। ऐसे ही विज्ञान प्राप्ति काल में उत्पन्न होने वाले सादिमोक्ष की अनन्तता भी सिद्ध नहीं होगी, क्योंकि जो भावपदार्थ आदिमान् होता है, वह अनन्त नहीं होता, किन्तु नाशवान् ही होता है। लोक में घटादि जन्य वस्तु में अनन्तता नहीं देखी गयी। यदि कहो कि घटादिध्वंस के समान बन्धध्वंसरूप मोक्ष को हम अवस्तु अर्थात् अभावस्वरूप मानते हैं। यदि सादिभावरूप मोक्ष को हम मानते होते, तो आपका दिया हुआ दोष हमारे पक्ष में आ सकता था। पर हमतो घटादिध्वंस के समान ही बन्धध्वंस को मोक्ष मानते हैं। अतः हमारे पक्ष में दोष नहीं है? तो ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि ऐसा मानने पर मोक्ष पारमार्थिक सद्भावरूप है, इस प्रतिज्ञा की हानि होगी। साथ ही शशविषाण के समान असद्रूप होने के कारण भी ऐसे मोक्ष में आदिमत्व का अभाव होने लगेगा। जैसे असत् शशविषाण का जन्म नहीं होता, वैसे ही असत् बन्धाभावरूप मोक्ष का भी जन्म नहीं होता है। यह इसका तात्पर्य है ॥ ३० ॥

नादिभावत्वेऽपि विच्छेदस्यान्तस्य [6]दृष्टत्वादनैकान्तिकतेति शङ्कते—बीजेति भवत्वविशेष्यांतस्य [7]तत्रावर्तनाश्च व्यभिचारशङ्केति दूषयति—नैकेति। द्वितीयार्थं व्याचष्टे—तथेति। यत्राऽऽदिमत्त्वं तत्र नानन्तत्वमिति व्याप्तिमूलिमाह—घटादिष्विति। यथा कृतकोऽपि घटादिध्वंसो नित्यस्तया बन्धध्वंसोऽपि भविष्यतीत्यनैकान्तिकत्वमाशङ्कते—घटादीति। मोक्षस्याभावत्वे सति परमार्थसत्त्वप्रतिज्ञा भज्येतेति दूषयति—तथा चेति। किंच प्रागसतः सत्तासमवायरूपं कार्यत्वं तदपि मोक्षस्यासत्त्वा सिध्यतीत्याह—असत्त्वादेवेति ॥३०॥

अस्तु [8]तर्हि मोक्षस्याऽऽद्यन्तवत्त्वं तत्राऽऽह—आदाविति। यदिःपूर्वोक्तादि गृह्यते। तथा वस्तुतो नास्त्येवेति यावत्। वितथैस्तैरेव मरीच्युदकादिभिः। सादृश्यादवास्तवत्वम्। [illegible] [9]मो क्षादयो न परमार्थसन्तो भवितुमर्ह-

१. तर्हि प्रतीतिः कथमित्यत आह—वितथैरिति। वितथमरीच्युदकादिवदित्यर्थः। २. एकवस्त्विति—एकस्य संतानस्येत्यर्थः। वस्तुत्वाभावेनेत्यर्थः। अपोदितत्वात्—निरस्तत्वात्। साध्याभाववति संताने हेतोरभावेन—व्यभिचाराभावादित्यर्थः। संतानोहि नैरन्तर्यं तच्चान्तरायाभावः इति भावः। ३. भविष्यतीति—मोक्षो नान्तः सादित्वात् घटादिवदिति भावः। ४. अवस्तुत्वात्—बन्धनिवृत्तिरूपत्वादित्यर्थः। ५. अदोष इति—मोक्षेनान्तवत्त्वापत्तिः हेतोर्व्यभिचारित्वेनासाधकत्वादिति। ६. दृष्टत्वादिति—बीजाङ्कुरयोर्भक्षणादिनानाशस्य न इति भावः। ७. तत्रेत्यादि—सन्ताने नैरन्तर्यस्यान्तरायाभावरूपत्वादिति भावः। ८. तर्हि—अनन्तत्वाभावे। ९. मोक्षादयः—वादिभिः फलत्वेनाभिमताः।

सप्रोजनता तेषां स्वप्ने विप्रतिपद्यते ।
तस्मादाद्यन्तवत्त्वेन मिथ्यैव खलु ते स्मृताः ॥३२॥
सर्वे धर्मा मृषा स्वप्ने [1]कायस्यान्तर्निदर्शनात् ।
संवृतेऽस्मिन्प्रदेशे वै भूतानां दर्शनं कुतः ॥३३॥

जाग्रत् के पदार्थों में सप्रयोजनता नहीं कह सकते, क्योंकि स्वप्न में उसके विपरीत देखा जाता है, (अर्थात् स्वप्न की वस्तु से जाग्रत् में काम नहीं चलता और जाग्रत् की वस्तु से स्वप्न में काम नहीं चलता)। अतएव आद्यन्तवत्व हेतु से निश्चय ही वे दोनों अवस्था के पदार्थ मिथ्या माने गये हैं ॥३२॥]

[शरीर के भीतर देखने के कारण जब स्वप्नावस्था में सभी पदार्थ मिथ्या है तो भला इस संकुचित निरवकाश ब्रह्मरूप स्थान में भूतों का दर्शन परमार्थिक कैसे हो सकता है ॥३३॥]

वैतथ्ये कृतव्याख्यानौ श्लोकाविह संसारमोक्षाभावप्रसङ्गेन पठितौ ॥३१॥३२॥

निमित्तस्यानिमित्तत्वमिष्यते भूतदर्शनादित्ययम[2]र्थः प्रपञ्च्यत एतैः श्लोकैः ॥३३॥

प्रपंच के मिथ्यात्व में हेतु ।

वैतथ्य प्रकरण में इन दोनों श्लोकों का व्याख्यान हो चुका है, यहाँ पर तो केवल संसार और मोक्ष के अभाव के प्रसंग से वे श्लोक पुनः पढ़ दिये गये हैं ॥३१॥३२॥

"निमित्तस्यानिमित्तत्त्वमीष्यते भूतदर्शनात्" इस श्लोक से कह दिये गये अर्थ का ही इन श्लोकों द्वारा विस्तार किया गया है। अर्थात् तेतीसवें श्लोक से प्रारंभ कर चवालिसवें श्लोक तक सभी का तात्पर्य इतना ही हैं कि "निमित्तस्यानिमित्तत्त्वम्" इस श्लोकोक्त अर्थ का विस्तार किया जाय ॥ ३३ ॥

न्त्याद्यन्तवत्त्वान्मरीच्युदकादिवदित्यर्थः। कथं तर्हि [3]मोक्षादीनामपि तथात्वप्रथेत्याशङ्क्याऽऽह—अवितथा इति। लक्षिता मूढैरविचारकैरिति शेषः। ऊषरोदकादीना स्नानपानादि[4]प्रयोजनानुपलम्भान्मोक्षस्वर्गादीनां तु सुखादिप्राप्तिप्रयोजनप्रतिलम्भान्न मोक्षादिवैतथ्यमित्याशङ्क्या[5]ऽऽह—सप्रयोजनतेति। तेषां [6]मोक्षादीनामिति यावत्। पुनरुक्तिशङ्कां वारयति—वैतथ्य इति ॥३१॥३२॥

किंच येन हेतुना स्वप्नस्य मिथ्यात्वमिष्टं तस्य जागरितेऽपि तुल्यत्वाज्जन्मादिरहितं संविन्मात्रं तत्त्वमेष्टव्यमिति विवक्षित्वाऽऽह—सर्व इति। यदि देहान्तर्दर्शनान्मिथ्यात्वं स्वप्नस्येष्टं [7]तर्हि वैराजदेहे सर्वस्य जागरितस्य दर्शनान्मिथ्यात्वं [8]दुर्वारमित्यर्थः। किंच योग्यदेशवैधुर्यान्मिथ्यात्वं स्वप्नस्य यद्यभीष्टं तर्हि [9]संवृते प्रदेशे प्रत्यग्भूते ब्रह्मण्यखण्डैकरसे भूतानां विद्यमानानां दर्शनं न कुतोऽपि स्याद्ब्रह्मणोऽनवकाशत्वादित्याह—संवृत इति। [10]अवता-

---

१. कायस्यान्तर्निदर्शनादिति—स्वाप्नाः भावाः वितथाभवितुमर्हन्ति, अन्तरुपलभ्यमानत्वात् दर्पणस्थोपलभ्यमाननगरादिवदित्यनुमानमत्र सूचितम्। २. अर्थः—बाह्यार्थसत्वाभावरूपः। ३. मोक्षादीनामपीति—अपि शब्दो दृष्टान्तार्थः। मरीच्युदकादिवन्मोक्षादीनामपि परमार्थत्वप्रतीतिर्न स्यादिति भावः। ४. प्रयोजनानुपलम्भादिति—तथा च निष्प्रयोजनत्वमुपाधिरिति भावः। ५. आह—उपाधेः साधनव्यापकत्वमाहेत्यर्थः। ६. मोक्षादीनाम्—स्वाप्नानामित्यर्थः। ७. तर्हीति—देहान्तर्दर्शनस्यमिथ्यात्वप्रयोजकत्वे। ८. दुर्वारमिति—जागृतप्रपञ्चोमिथ्या भवितुमर्हति देहान्तः प्रतीयमानत्वात् स्वाप्नप्रपञ्चवदित्यनुमेयम्। ९. संवृत्ते—निरवकाशे घन इति यावत् तथा च जागरितप्रपञ्चोमिथ्या योग्यदेश वैधुर्यात् स्वाप्नप्रपञ्चवदित्यनुमेयम्। १०. अवतारितेति—प्रदर्शिताभिप्रायेत्यर्थः।

न युक्तं दर्शनं गत्वा कालस्यानियमाद्गतौ ।
प्रतिबुद्धश्च वै सर्वस्तस्मिन्देशे न विद्यते ॥३४॥
[1]मित्राद्यैः सह संमन्त्र्य संबुद्धो न प्रपद्यते ।
गृहीतं चापि यत्किंचित्प्रतिबुद्धो न पश्यति ॥३५॥

[(जाग्रत में गमनागमन के लिए समय नियत है किन्तु स्वप्नावस्था में) काल का नियम न होने के कारण पदार्थों के पास जाकर देखना सम्भव नहीं है। इसके सिवा जागने पर कोई भी पुरुष स्वप्न वाले देश में विद्यमान नहीं रहता है ॥३४॥

[मित्रादि के पास मन्त्रणा करके स्वप्न से जगा हुआ पुरुष पुनः उसी मन्त्रणा को पाता नहीं और (उसने स्वप्न में हिरण्यादि) जो कुछ भी ग्रहण किया था, उसे भी जागने पर देखता नहीं ॥३५॥]

जागरिते गत्यागमनकालो नियतो [2]देशः प्रमाणतो यस्तस्यानियमान्नियमस्याभावात्स्वप्ने न देशान्तरगमनमित्यर्थः ॥३४॥

मित्राद्यैः सह [3]संमन्त्र्य तदेव मन्त्रणं प्रतिबुद्धो न प्रपद्यते। गृहीतं च यत्किंचिद्धिरण्यादि न

स्वप्न प्रपंच का मिथ्यात्व

जाग्रदवस्था में देशान्तर के लिये आने जाने का समय जो नियत है और प्रामाणिक देश नियत है। उनका स्वप्न में नियम न होने के कारण यही निश्चित होता है, कि स्वप्नद्रष्टा देशान्तर में गया नहीं ॥३४॥ इसके अतिरिक्त स्वप्नावस्था में मित्रादि के साथ अपने कर्तव्य की पर्यालोचना कर (विचार कर) जगा हुआ व्यक्ति पुनः उसी मन्त्रणा को प्राप्त नहीं करता, क्योंकि निद्रा से जगा हुआ कोई भी

रियश्लोकसहितानामुत्तरश्लोकानां जात्याभासमित्यस्मात्प्राक्तनानां तात्पर्यमाह—निमित्तस्येति ॥३३॥

उक्तमेवा[4]र्थं प्रपञ्चयति—न युक्तमित्यादिना। स्वप्ने देशान्तरगतौ [5]नियतकालाभावान्न गत्वा दर्शनमिष्टं तथा मरणादूर्ध्वमर्चिरादिमार्गेण [6]गत्वा ब्रह्मदर्शनमयुक्तं [7]कालानवच्छिन्नत्वादित्यर्थः। किं च यद्देशस्थः स्वप्नं पश्यति प्रतिबुद्धस्तस्मिन्देशे [8]नास्तीति मिथ्यात्वमभीष्टम्। तथा यस्मिन्देशे स्थितः संसारमनुभवति ब्रह्मभावं प्रतिपन्नस्तस्मिन्देहदेशे नास्ति परिपूर्णब्रह्मरूपेणावस्थानाद[9]तो [10]जागरितस्यापि मिथ्यात्वमे[11]ष्टव्यमित्याह—प्रतिबुद्धश्चेति। श्लोकस्य तात्पर्यार्थं कथयति—जागरित इति ॥३४॥

किंच यथा स्वप्ने [12]विसंवादादप्रामाण्यमिष्टं तथा जागरितेऽपि परं श्रेयोऽस्माभिः साधनीयमिति

१. मित्राद्यैः—सब्रह्मचारिभिर्मुमुक्षुभिर्ब्रह्मवादिभिर्वा। २. देशेति—स्वप्ने हि काश्यामस्मीत्यनुभवन् माथुरं पश्यतीति न तत्र देशनियमोऽपि, अन्यथा माथुरमवलोकयता मथुरायामस्मीत्येवानुभवनीयं, परं नैष नियम इति। ३. सम्मन्त्र्य—स्वकर्तव्यपर्यालोच्य। ४. अर्थम्—जागरितप्रपञ्चमिथ्यात्वरूपम्। ५. नियतेति—स्वप्नद्रष्टास्वप्नद्रष्टपदार्थवद्देशगमनाभाववान् तद्गमनोचितकालाभाववत्वात्, अद्यवाराणसीगमनाभाववद्देवदत्तवदित्यत्र विवक्षितः प्रयोगः। ६. गत्वेति—ब्रह्म गमनपूर्वकदर्शनाभाववत् कालानवच्छिन्नत्वात्, अन्वये आकाशादिवत् व्यतिरेकेघटादिवदिति प्रयोगोऽत्र विवक्षितः। ७. कालानवच्छिन्नत्वादिति—परिच्छेदत्रयशून्यत्वादित्यर्थः। ८. नास्तीति—स्वाप्नप्रपञ्चो मिथ्या वस्तुभूतप्रपञ्चवद्देशावृत्ति पुरुषदृष्टत्वात्। यद्वस्तु वस्तुभूतयद्वस्तुवद्देशावृत्तिपुरुषदृष्टं तद्वस्तु मिथ्या, यथा रजतवद्देशावृत्तिपुरुषदृष्टं शुक्तिरजतमित्यनुमानमत्राभिप्रेतम्। ९. अतः—दर्शनदेशेऽसत्त्वात्। १०. जागरितस्यापीति—जागरितं वस्तु मिथ्या स्वाश्रयावृत्तिब्रह्मविद्दृष्टत्वात् यद्वस्तु यद्देशावृत्तिपुरुषदृष्टं तद्वस्तुमिथ्या, यथा रजतवद्देशावृत्तिपुरुषदृष्टं शुक्तिरजतमित्यनुमानमत्राभिप्रेतम्। ब्रह्मविदः स्वमहिम्नि प्रतिष्ठितत्वेन जागरितवस्तुप्रति भूतलादौ वृत्त्यभावान्न हेतोर्विशेषणासिद्धिः। ११. एष्टव्यमिति—जागरितप्रपञ्चो, मिथ्या, व्यभिचारित्वात्स्वाप्नप्रपञ्चवदित्यूहाद्यनुमेयम्। १२. विसंवादादिति—स्वाप्नज्ञानमप्रमात्मकम्, विसंवादात् शुक्ताविदं रजतमितिज्ञानवदित्यनुमानमत्रविवक्षितम्, अत्र विसंवादादित्यस्य जाग्रत्प्रमाबाधित विषयकत्वादित्यर्थोऽवगन्तव्यः।

स्वप्ने चावस्तुकः कायः पृथगन्यस्य दर्शनात् ।
यथा कायस्तथा सर्वं चित्तदृश्यमवस्तुकम् ॥३६॥

क्योंकि उससे भिन्न एक अन्य शरीर (शय्या पर पड़ा हुआ) देखा जाता है, जैसे वह शरीर असत् है, वैसे ही जाग्रदवस्था के सारे चित्त दृश्य असत है ॥३६॥]

प्राप्नोति । गतश्च न देशान्तरं गच्छति स्वप्ने ॥३५॥

स्वप्ने चाटन्दृश्यते यः कायः सोऽवस्तुकस्ततोऽन्यस्य स्वापदेशस्थस्य पृथक्कायान्तरस्य दर्शनात् । यथा स्वप्नदृश्यः कायोऽसंस्तथा सर्वं चित्तदृश्यम[1]वस्तुकं जागरितेऽपि चित्तदृश्यत्वादित्यर्थः । स्वप्नसमत्वादसज्जागरितमपीति प्रकरणार्थः ॥३६॥

व्यक्ति अपने मित्रादि से यह नहीं कहता, कि आज मैंने आप से पहले यह बात की थी । इतना ही नहीं स्वप्न के समय उसने जो कुछ भी स्वर्णादि ग्रहण किया था, जगने पर उसे प्राप्त करता नहीं । अतः स्वप्न में स्वप्न द्रष्टा किसी देशान्तर को नहीं जाता, यहीं मानना युक्ति संगत है ॥३५॥

स्वप्न में पर्यटन करता हुआ जो शरीर दिखायी पड़ता है, वह मिथ्या है, क्योंकि उस स्वप्न देश में स्थित शरीर से भिन्न, एक दूसरा शरीर खाट पर पड़ा हुआ देखा जाता है । जैसे स्वप्न में दीखने वाला शरीर असत् है, वैसे ही जाग्रदवस्था में भी सम्पूर्ण चित्त दृश्य अतात्त्विक है, क्योंकि चित्त दृश्यत्व स्वप्न और जाग्रत के दृश्य में समान है । तात्पर्य यह है कि स्वप्न के समान होने से जाग्रदवस्था भी असत् ही है ॥३६॥

---

[2]स ब्रह्मवादिभिः सह समालोच्याविद्यानिद्रातः प्रतिबुद्धो नैव [3]श्रेयः साध्यत्वमालोचितं [4]प्रतिपद्यते । सर्वस्य नित्यमुक्तत्वनिश्चयात् । [5]अतो मुमुक्षुत्वं श्रवणादिकर्तव्यता च भ्रान्त्यैवेत्याह—मित्राद्यै रिति । किंच स्वप्नवदेव गृहीतमुपदेशादि [6]विद्वान्न पश्यति तत्साध्यफलाभावादित्याह—गृहीतं चेति । अथवा लोकदृष्ट्या यत्किंचित्गृहीतं वस्त्रान्नोदकादि[7]तद्विद्वान्नैव किंचित्करोमीति प्रतिबुद्धो[8]ऽन्यप्रत्ययबाधान्न स्वसंबन्धित्वेनाधिगच्छति । तेन तदाभासमात्रमेवेत्याह—गृहीतं चेति । उक्तमर्थं विवक्षित्वा श्लोकाक्षराणि योजयति—मित्राद्यै रित्यादिना ॥३५॥

किंच स्वप्नावस्थायां येन देहेन नाड्यादिषु पर्यटति स मिथ्या पृथग्भूतस्य निश्चलस्य देहस्य दर्शनात्, तथा जागरिते येन परिव्राजकादिशरीरेण लोकस्य पूज्यो द्वेष्यो वा दृश्यते [10]स मिथ्या कथ्यते । पृथगेव कूटस्थब्रह्माख्यशरीरस्यानुभवादित्याह—स्वप्ने चेति । किंच यथा स्वप्ने देहो मिथ्या तथा [11]चिराद्दृश्यं जडं सर्वमवस्तुकं मिथ्याभूतमेषितव्यमित्याह—यथेति । पूर्वार्धगतान्यक्षराणि योजयति—स्वप्न इति । उत्तरार्धगतानि व्याकरोति—यथेत्यादिना । प्रकरणार्थमुपसंहरति—स्वप्न इति ॥३६॥

---

१. अवस्तुकम्—अतात्त्विकम् । २. सः—विचारशीलो मुमुक्षुः, सब्रह्मेत्याद्येकं वा पदं सह विचारशीलैरिति तदर्थः । ३. श्रेयः साध्यत्वमिति —मोक्षो न साध्यः सिद्धत्वादुत्पन्नघटादिवदिति प्रयोगोऽत्रफलितः ।

४. प्रतिपद्यते—जानाति । ५. अतः—मोक्षस्य नित्यसिद्धत्वादिति । ६. विद्वान्नपश्यतीति—विद्वान् गृहीतोपदेशादिस्मरणाभाववान् तत्साध्यफलादर्शित्वात्, स्वप्नगृहीतोपदेशाद्यस्मर्तृदेवदत्तादिवदित्यभिमतः प्रयोगोऽत्र द्रष्टव्यः । विद्वान्नाभ्यस्यतीति भावः । ७. तद्विद्वान्नैवेति—विद्वान् गृहीतवस्त्रादिविषयकस्वसम्बन्धित्वदर्शनाभाववान् स्वभिन्नत्वेन तद्दर्शित्वाभावात् व्यतिरेकेस्वसम्बन्धित्वेन घटादिदर्शिदेवदत्तादिवदित्यभिमतः प्रयोगोऽत्रबोद्धव्यः । ८. प्रतिबुद्धः—निश्चयवान् । ९. अन्यप्रत्ययबाधादिति—द्वैतदर्शनस्याभावादप्रामाण्यनिश्चयाद्वेत्यर्थः । १०. स इति—परिव्राजकादि शरीर इत्यर्थः । 'अर्द्धर्चाः पुंसि चे'ति पुंस्त्वम् । ११. चित्तदृश्यम्—चिद्दृश्यमित्यर्थः ।

[1]ग्रहणाज्जागरितवत्तद्धेतुः स्वप्न [2]इष्यते ।
तद्धेतुत्वात्तु [3]तस्यैव सज्जागरितमि[4]ष्यते ॥३७॥

[जाग्रत् के सदृश (ग्राह्यग्राहक रूप में स्वप्न का ग्रहण होने के कारण स्वप्न जाग्रतत् का कार्य माना जाता है, परन्तु जाग्रत का कार्य होने से स्वप्न द्रष्टा के लिये ही जाग्रद्‌वस्था सत्य मानी गयी है (औरों के लिये नहीं) ॥३७॥

इतश्चासत्त्वं जाग्रद्वस्तुनो, जागरितवज्जागरितस्येव [5]ग्रहणाद्ग्राह्यग्राहकरूपेण स्वप्नस्य तज्जागरितं हेतुरस्य स्वप्नस्य स स्वप्नस्तद्धेतुर्जागरितकार्यमिष्यते। तद्धेतुत्वाज्जागरितकार्यत्वात्तस्यैव स्वप्नदृश एव सज्जागरितं न त्वन्येषाम्। यथा स्वप्न इत्यभिप्रायः। [6]यथा स्वप्नः स्वप्नदृश एव सन्साधारणविद्यमान-वस्तुवदवभासते तथा तत्कारणत्वात्साधारणविद्यमानवस्तुवद[7]वभासमानं न तु साधारणं विद्यमान-वस्तु स्वप्नवदेवेत्यभिप्रायः ॥३७॥

स्वप्न और जाग्रत् में व्यावहारिक दृष्टि से कार्य कारण भाव।

इसलिये भी जाग्रत की वस्तु मिथ्या है, क्योंकि जागरित के समान ही ग्राह्य ग्राहक रूप से स्वप्न का भी ग्रहण होता है। अतः इस स्वप्नावस्था का कारण जाग्रत् माना गया है। और इसीलिये स्वप्नावस्था तद्‌हेतुक है, अर्थात जागरित का कार्य मानी जाती है। जाग्रत् का कार्य होने के कारण केवल उसी स्वप्नद्रष्टा की दृष्टि में जाग्रत अवस्था सत्य है, औरों की दृष्टि में नहीं। औरों की दृष्टि में तो जाग्रत् भी वैसी ही है जैसा कि स्वप्न। यह इसका अभिप्राय है। जैसे स्वप्न केवल स्वाप्नद्रष्टा को ही स्वप्नकाल में सर्वसाधारण विद्यमान वस्तु के समान प्रतीत होता है, वैसे ही स्वप्न का कारण होने से जाग्रत् भी सर्वसाधारण विद्यमान वस्तु के समान ही भासता है, किन्तु वास्तव में स्वप्न सर्व-साधारण विद्यमान वस्तु नहीं है। अतएव मिथ्या है। ठीक वैसे ही जाग्रत् भी सर्वसाधारण विद्यमान वस्तु न होने के कारण मिथ्या ही है, यह इसका तात्पर्य है ॥ ३७ ॥

यथा जागरितं तथा स्वप्नो गृह्यते। [8]तथा च स्वप्नस्य [9]जागरितकार्यत्वाद्यः स्वप्नद्रष्टा [10]तस्यैव जाग-रितं [11]सदिति स्वप्नवन्मिथ्यात्वमित्याह—ग्रहणादिति। [12]किंच जागरितस्य विद्यमानत्वमनेकसाधारणत्वं च वस्तुनो नास्ति स्वप्नकारणत्वात्किन्तु तथा भासमानत्वमित्याह—तद्धेतुत्वादिति। जागरितस्य वस्तुनोऽसत्त्वे [13]हेत्व-न्तरपरत्वं श्लोकस्य दर्शयति—इतश्चेति। इतःशब्दार्थमेव स्फोरयन्पूर्वार्धं योजयति—जागरितवदिति। उत्तरार्धं

---

१. ग्रहणादिति—देवदत्तजागरितं मिथ्या देवदत्तद्रष्टृकत्वात् देवदत्तस्वप्नवदित्यनुमानमिह सूचितम्। २. इष्यते—स्वीक्रियते। ३. तस्यैव—स्वप्नदृश एव। ४. इष्यते—प्रतीयते। ५. ग्रहणात्—अनुभूयमानत्वात्। ६. यथास्वप्न इत्यादि—सति प्रमातरिबाध्यत्वाबाध्यत्वयोः स्वप्नेषु भानेऽपि मिथ्यत्वाविशेषात्। कार्यकारणयोर्मिथ्यात्वस्य च तत्र समव्याप्तत्वात्। सर्वसाधारण्यादि भानेऽपि मिथ्यात्वात् स्वप्न एव समाधानः इति भावः। ७. अवभासमानमिति—जागरितमिति शेषः। ८. तथा चेति—स्वप्नजागरयोरनेकप्रमातृप्रमाणप्रमेयघटितत्वसाम्ये चेत्यर्थः। ९. जागरितकार्यत्वात्—स्वप्नस्य प्रायशो जागरितवासनाधीनत्वात् तत्कार्यत्वमिव। १०. तस्यैवेति—जागरितस्येतरसाधारणत्वे तु स्वप्नस्यापि तथात्वं स्यादिति भावः। ११. सत्—विद्यमानम्। १२. किञ्चेत्यादि—यदि जागरितमनेक साधारणं विद्यमानं वा स्यात्तर्हि तत्कार्यभूतस्वप्नोऽपि तादृशः स्यात्, परं न चैवमस्ति। न च तदितरदृश्यत्वमुपाधि जागरितेऽपि तदितरदृश्यत्वा-निश्चयेन साधनव्यापकत्वात्। न च संदिग्धोपाधिरपि, तज्जागरितं तन्मात्रदृश्यं तद्दृश्यत्वात् तत्स्वप्नवदिति निश्चयादि-त्यवधेयम्। १३. हेत्वन्तरेति—स्वप्नकारणत्वरूपहेतिवत्यर्थः।

उत्पादस्याप्रसिद्धत्वादजं सर्वमुदाहृतम् ।
न च भूतादभूतस्य संभवोऽस्ति कथंचन ॥३८॥

[उत्पत्ति के प्रसिद्ध न होने के कारण सम्पूर्ण प्रपञ्च अजन्मा आत्मस्वरूप ही कहा गया है। सत् जाग्रत् से मिथ्या स्वप्न की उत्पत्ति माननी ठीक नहीं (क्योंकि सद्वस्तु से असद् शशशृङ्गादि उत्पत्ति किसी प्रकार हो ही नहीं सकती) ॥३८॥]

ननु स्वप्नकारणत्वेऽपि जागरितवस्तुनो न स्वप्नवदवस्तुत्वम्। अत्यन्तचलो हि स्वप्नो जागरितं तु स्थिरं लक्ष्यते। सत्यमेवमविवेकिनां स्यात्। विवेकिनां तु न कस्यचिद्वस्तुन उत्पादः प्रसिद्धोऽतोऽप्रसिद्धत्वादुत्पादस्याऽऽत्मैव सर्वमित्यजं सर्वमुदाहृतं वेदान्तेषु सबाह्याभ्यन्तरो ह्यज (मु० २।१।२) इति यद्यपि मन्यसे जागरितात्सतोऽसत्स्वप्नो जायत इति तदसत्। न [1]भूताद्विद्यमानादभूतस्यासतः संभवोऽस्ति लोके न ह्यसतः शशविषाणादेः संभवो दृष्टः कथंचिदपि ॥३८॥

पू०—स्वप्न के कारण होने पर भी जाग्रत् वस्तु में स्वप्न के समान मिथ्यात्व नहीं है, क्योंकि स्वप्न अत्यन्त चंचल है, और जाग्रत् स्थिर देखा जाता है।

सि०—ठीक है ? अविवेकियों के लिये चाहे ऐसा ही प्रतीत हो, किन्तु विवेकियों की दृष्टि में तो किसी भी वस्तु का जन्म प्रसिद्ध नहीं है। अतः उत्पत्ति के सिद्ध न होने से सम्पूर्ण जगत आत्मा ही है इसलिये वेदान्तों में "बाहर भीतर सब कुछ अजन्मा ही है" इत्यादि रूप से सब को अज ही कहा है। और तुम जो मानते हो कि विद्यमान जागरित से अविद्यमान स्वप्न उत्पन्न होता है ? वह भी ठीक नहीं, क्योंकि लोक में विद्यमान् सद्वस्तु से असत् का जन्म नहीं होता। अविद्यमान् शशविषाणादि असत्पदार्थों का जन्म सत् कारण असत् कारण से किसी भी प्रकार देखने में नहीं आता ॥३८॥

योजयति—तद्धेतुत्वादिति। [2]सति प्रमातरि बाध्यत्वं स्वप्नस्य मिथ्यात्वं जागरितस्य पुनस्तनुपलम्भात्परमार्थः सत्त्वम्। कार्यस्य मिथ्यात्वे कारणस्यापि मिथ्यात्वमिति मानाभावात्। न हि सर्वसाधारणं विद्यमानं न जागरितं मिथ्या भवितुं युक्तमित्याशङ्क्याऽऽह—यथेत्यादिना ॥३७॥

कार्यकारणभावेऽप स्वप्नजागतितयोर्न मिथ्यात्वमविशिष्टमत्यन्त[3]वैषम्यादित्याशङ्क्याऽऽह—उत्पादस्येति। यत्तु कार्यकारणत्वं सत्यासत्ययोरिव स्वप्नजागरितयोरित्युक्तं तदयुक्तमित्याह—न चेति। श्लोकव्यावर्त्यामाशङ्कामाह—नन्विति। किमिदं वैलक्षण्यमविवेकिनां प्रतिभाति किंवा विवेकिनामिति विकल्प्याऽऽद्यमङ्गी करोति—सत्यमिति। द्वितीयं प्रत्याह—विवेकिनां त्विति। द्वितीयभागमाकाङ्क्षाद्वारा विभजते—यद्यपीत्यादिना। संभवो नासतोऽस्तीत्येतद्दृष्टान्तेन साधयति—न हीति। कथंचिदपि सतोऽसतो वेत्यर्थः ॥३८॥

---

१. भूतादिति—पारमार्थिकादित्यर्थः। २. सति प्रमातरीति—स्वप्नो हि प्रमातुः सद्भावकाल एव बाध्यत इति सोऽस्तु मिथ्या, जागरितस्य तु प्रमातरि विद्यमाने बाधानुपलम्भान्न मिथ्यात्वं युक्तमित्यर्थः। ३. वैषम्यादिति—स्थिरत्वास्थिरत्वरूपादित्यर्थः।

[1]असज्जागरिते दृष्ट्वा स्वप्ने पश्यति [2]तन्मयः।
असत्स्वप्नेऽपि दृष्ट्वा च प्रतिबुद्धो न पश्यति ॥३९॥

[जीव जाग्रत् काल में (रज्जुसर्प के समान कल्पित) असद् पदार्थों को देखकर उनके संस्कार के साथ तन्मय हो स्वप्न में उन्हें देखता है तथा स्वप्न में भी असद् पदार्थों को देखकर जगा हुआ पुरुष उन्हें नहीं देखता (बस! इतने मात्र से जाग्रत् को कारण और स्वप्न को कार्य कहा गया है ॥३९॥]

ननूक्तं त्वयैव स्वप्नो जागरितकार्यमिति तत्कथमुत्पादोऽप्रसिद्ध इत्युच्यते। शृणु [3]तत्र यथा कार्यकारणभावोऽस्माभिरभिप्रेत इति। असदविद्यमानं रज्जुसर्पवद्विकल्पितं वस्तु जागरिते दृष्ट्वा तद्भावभावितस्तन्मयः स्वप्नेऽपि जागरितवद्ग्राह्यग्राहकरूपेण [4]विकल्पय[5]न्पश्यति तथाऽसत्स्वप्नेऽपि दृष्ट्वा च प्रतिबुद्धो न पश्यत्यविकल्पयन्। चशब्दात्तथा जागरितेऽपि दृष्ट्वा स्वप्ने न पश्यति कदाचिदित्यर्थः। तस्माज्जागरितं स्वप्नहेतुरुच्यते न तु परमार्थसदिति कृत्वा ॥३९॥

पू०—जब आपने स्वयं ही यह कहा, कि स्वप्न जागरित का कार्य है। फिर भला यह कैसे कह रहे हो कि उसकी उत्पत्ति अप्रसिद्ध है?

सि०—स्वप्न और जाग्रत् में जैसा कार्य कारण भाव हमें अभीष्ट है, वह तुम सुनो। जाग्रत अवस्था में अविद्यमान् विषय—रज्जु सर्प की भाँति विकल्पित असद्वस्तु को देखकर उसके संस्कार से संस्कृत हो तन्मयभाव से स्वप्न में भी जागरित की भाँति ग्राह्य ग्राहक भाव रूप से कल्पना करता हुआ देखता है तथा स्वप्न में भी भ्राँति विषय असद्वस्तु को देखकर जगा हुआ पुरुष विकल्प करने के कारण नहीं देखता हूँ। श्लोक में आये 'च' शब्द का अभिप्राय यह है कि ऐसे ही कभी जागरित में भी देखकर स्वप्न में उन पदार्थों को नहीं देखता। इसलिये प्रायशः स्वप्न जागरित के वासनाओं से होने के कारण ऐसा कह दिया जाता है, स्वप्न का कारण जागरित है जाग्रत को परमार्थ सत् मानकर स्वप्न का कारण जाग्रत् को नहीं कहा है ॥३९॥

यदुक्तमुत्पादस्याप्रसिद्धत्वं तदयुक्तम्। स्वप्नजागरितयोस्त्वया कार्यकारणत्वाङ्गीकरणादित्याशङ्क्याऽऽह—असदिति। जागरिते दृष्टस्य स्वप्ने दर्शनाज्जागरितस्य स्वप्नं प्रति कारणत्वं चेत्तर्हि स्वप्ने दृष्टस्य जागरितेऽपि दर्शनात्तस्य जागरितं प्रति कारणत्वं [6]किं न स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—असत्स्वप्नेऽपीति। श्लोकव्यावर्त्यामाशङ्कामुत्थापयति—नन्विति। पूर्वापरविरोधे चोदिते परिहारे कथ्यमाने मनःसमाधानं प्रार्थयते—शृण्विति। तमेव प्रकारं प्रकटयन्नक्षराणि योजयति—असदिति। तुच्छत्वं व्यवच्छिनत्ति—रज्ज्वेति। दर्शनस्याऽऽभासत्वं सूचयति—विकल्पितमिति। यथा जाग्रद्दृष्टस्य [7]विशेषस्य स्वप्ने दर्शनाज्जागरितवासनाधीनः स्वप्नो जागरितकार्यत्वेन व्यवह्रियते तथा स्वप्ने दृष्टस्य जागरितेऽपि दर्शनात्तत्कार्यत्वं जागरितस्य प्राप्तमित्याशङ्क्य द्वितीयार्धं व्याचष्टे—तथेति। यत्तु स्वप्नजागरितयोरुक्तं कार्यकारणत्वं तदपि न नियतमिति निपातार्थं कथयति—च शब्दादिति। तस्मात्प्रायशः स्वप्नस्य जाग्रद्वासनाधीनत्वादिति यावत्। जागरितस्य परमार्थसत्त्वात्कार्यस्य स्वप्नस्यापि तादात्म्यात्तथात्वं विवक्षित्वा कार्यकारणत्वप्रथा कथं न भवतीति व्यावर्त्यं कथयति—नन्विति ॥३९॥

---

१. असत्—अविद्यमानं भ्रान्तिविषयं वस्त्वित्यर्थः। २. तन्मयः—तत्संस्कारसंस्कृत इत्यर्थः। ३. तत्र—स्वप्नजागरोरित्यर्थः। ४. विकल्पयन्—भ्रमविषयवस्तुजातमारोपयन्। ५. पश्यति—इवेति शेषः। ६. किं न स्यादिति—उभयोः समानविषयकत्वमात्रस्यैव कार्यकारणभावप्रयोजकत्वादित्याशयः। ७. विशेषस्येति—वैलक्षण्योपेतवस्तुनः।

नास्त्यसद्धेतुकमसत्सदसद्धेतुकं तथा ।
सच्च सद्धेतुकं नास्ति सद्धेतुकमसत्कुतः ॥४०॥

[(आकाश पुष्प के सदृश न असत् पदार्थ ही असत् कारण वाला है और न घटादि सत् कारण वाला है और न घटादि सत् पदार्थ ही असत कारण वाला है। वैसे ही सत् पदार्थ भी सत् कारण वाला नहीं है, तो भला असत् पदार्थ सत् कारण वाला कैसे हो सकता है ॥४०॥]

परमार्थतस्तु न कस्यचित्केनचिदपि प्रकारेण कार्यकारणभाव उपपद्यते । कथम् । नास्त्यसद्धेतुकमसच्छशविषाणादि हेतुः कारणं यस्यासत एव खकुसुमादेस्तदसद्धेतुकमसन्न विद्यते तथा सदपि घटादिवस्तु असद्धेतुकं शशविषाणादिकार्यं नास्ति । तथा सच्च विद्यमानं घटादि विद्यमानघटादि वस्त्वन्तरकार्यं [1]नास्ति । सत्कार्यमसत्कुत एव संभवति । न चान्यः कार्यकारणभावः संभवति शक्यो वा कल्पयितुम् । [2]अतो विवेकिनामसिद्ध एव कार्यकारणभावः कस्यचिदित्यभिप्रायः ॥४०॥

इस प्रकार व्यवहारदृष्टि से स्वप्न और जाग्रत् में कार्यकारणभाव कहा गया है। परमार्थस्तु किसी भी प्रकार से कार्य कारण भाव संभव नहीं है, कैसे ? कार्य कारण के सम्बन्ध में प्रायशः चार प्रकार का मत देखा जाता है।

१ :—असत् कारण से असत् कार्य की उत्पत्ति ।

२ :—असत्कारण से सतकार्य की उत्पत्ति ।

३ :—सत् कारण से सत् कार्य की उत्पत्ति ।

४ :—सत् कारण से असत् कार्य की उत्पत्ति । इन चारों प्रकार के कार्यकारण का खण्डन इस कारिका से किया गया है—

१ :—असत् कारण वाला असत् कार्य भी नहीं है, यदि आकाशकुसुम आदि असत् पदार्थ का शशश्रृङ्गादि असत्कारण होता, तो असत् कारण वाला असत् कार्य मान लिया जाता, पर ऐसा कहीं भी कार्य कारण है नहीं

२ :—तथा घटादि सद्वस्तु भी शशविषाणादि असत् कारण का कार्य नहीं है।

३ :—ऐसे ही विद्यमान् सद्घटादि किसी अन्य वस्तु का कार्य नहीं है।

४ :—फिर भला सत् का कार्य असत हो, यह कैसे संभव हो सकता है। उक्त चतुर्धा कल्पना के अतिरिक्त कार्य कारणभाव संभव नहीं और न कल्पना ही की जा सकती है। इसीलिये ऐसा मानना ही उचित होगा, कि विवेकियों की दृष्टि में किसी भी वस्तु का कार्यकारणभाव निश्चित नहीं है, यह इसका तात्पर्य है ॥४०॥

व्यवहारदृष्टया कार्यकारणत्वं स्वप्नजागरितयोरुक्तम् । तत्त्वदृष्टया त्वप्रसिद्धमेव क्वचिदपि कार्यकारणत्वमिति वदन्वस्तुनो[3]ऽज्ञानादवस्त्वेव कार्यं भवतीति मतं व्यावर्तयति—नास्तीति । शून्यवादिनस्तु सदेव कार्यं जायते शून्यादिति । तथेत्यनेन नास्तीत्येतदनुकृष्यते । सांख्यादयस्तु कार्यकारणयोर्द्वयोरपि सत्त्वं संगिरन्ते तान्प्रत्युक्तम्—सच्चेति । सद्ब्रह्म कारणं मिथ्याप्रपञ्चसृष्टेरित्येके वर्णयन्ति तान्निराचष्टे—सद्धेतुकमिति । श्लोकस्य तात्पर्यमाह—परमार्थतस्त्विति । प्रसिद्धं कार्यकारणत्वं यया कया च प्रक्रियया प्रतिपादयितुमुचितमन्यथा प्रसिद्धिप्रकोपादित्याक्षिपति—

१. नास्तीति—सतः सद्धेतुकत्वे घटाद् घटान्तरोत्पादापातादिति भावः । २. अतः—केनापि प्रकारेण कार्यकारणभावस्य निरूपयितुमशक्यत्वात् । ३. अज्ञानादिति—वस्तुभूताद् ज्ञानाभावादित्यर्थः न तु वेदान्त्यभिमतभावरूपाज्ञानादितिभावः ।

[1]विपर्यासाद्यथा जाग्रद[2]चिन्त्या[3]न्भूतवत्स्पृशेत् ।
तथा स्वप्ने विपर्यासाद्धर्मांस्त[4]त्रैव पश्यति ॥४१॥

[जैसे कोई मनुष्य भ्रान्ति से जाग्रत् कालीन रज्जू सर्पादि अचिन्त्य पदार्थों को परमार्थ की भाँति ग्रहण करता है, वैसे ही स्वप्न में भी भ्रम से ही स्वप्नावस्था में ही स्वप्न कालीन पदार्थों को देखता है, (जाग्रत से उत्पन्न होवे हुए नहीं देखता ॥४१॥)]

पुनरपि जाग्रत्स्वप्नयोर[5]सतोरपि कार्यकारणभावाशङ्कामपनयन्नाह । विपर्यासादविवेकतो यथा जाग्रज्जागरितेऽचिन्त्यान्भावानशक्यचिन्तनीयान्रज्जुसर्पादीन्भूतवत्परमार्थवत्स्पृशन्निव विकल्पयेदित्यर्थः । [6]कश्चिद्यथा तथा स्वप्ने विपर्यासाद्धस्त्यादीन्धर्मान्पश्यन्निव विकल्पयति [7]तत्रैव पश्यति न तु जागरितादुत्पद्यमानादित्यर्थः ॥४१॥

ठीक है। जाग्रत् और स्वप्न दोनों ही असत् हैं फिर भी इनका कार्यकारणभाव सम्बन्ध बन सकता है। इस शंका को दूर करते हुए कहते हैं—रज्जुसर्पादि पदार्थ चिन्तन के योग्य न होने के कारण अचिन्तनीय हैं। ऐसे अचिन्तनीय रज्जुसर्पादि का जाग्रदवस्था में अविवेकरूपविपर्यास के कारण कोई २ पुरुष परमार्थ के समान स्पर्श करते हुए से कल्पना करता है। वैसे ही स्वप्न में भी भ्रम के कारण ही हाथी आदि पदार्थ को देखता हुआ सा कल्पना करता है। तात्पर्य यह है कि ऐसे स्वप्न के हाथी आदि को जाग्रत से उत्पन्न हुआ नहीं देखता, किन्तु केवल उसी अवस्था में अधिष्ठान की अविवेक के कारण देखता है। अधिष्ठानतत्त्व का साक्षात्कार होते ही उन कल्पित वस्तुओं का निःशेष विनाश हो जाता है। अतः असत् स्वप्न और जागरित में कार्य कारण भाव सर्वथा संभव नहीं है ॥४१॥

कथमिति । अनिर्वाच्यं मायामयं कार्यकारणत्वं प्रतीतिमात्रसिद्धमयौक्तिकमधिकृत्य प्रसिद्धिरविरुद्धेत्यभिसंधायाऽऽद्यं पादं विभजते—नास्तीत्यादिना । द्वितीयं पादं व्याचष्टे—तथेत्यादिना । तृतीयं पादं व्याकरोति—तथा सच्चेति । चतुर्थपादार्थमाह—असदिति । अस्तु तर्हि प्रकारान्तरेण कार्यकारणभाव इत्याशङ्क्य [8]योग्यानुपलब्धिविरुद्धत्वान्नैवमित्याह—न चेति ॥४०॥

स्वप्नजागरितयोर्वस्तुतो नास्ति कार्यकारणत्वमित्यत्रैव [9]हेत्वन्तरमाह—विपर्यासादिति । श्लोकस्य तात्पर्यमाह—पुनरपीति । अक्षरार्थं कथयति—विपर्यासादित्यादिना । कश्चिदित्यस्य पूर्वेण क्रियापदेन संबन्धः । दृष्टान्तमनूद्य दार्ष्टान्तिकमाह—यथेत्यादिना ॥४१॥

---

१. विपर्यासात्—अविवेकादविद्यावशादित्यर्थः । २. अचिन्त्यान्—अनिर्वाच्यरजतादिभावान् । ३. भूतवत् स्पृशेत्—सत्यानिव पश्यतीत्यर्थः । ४. तत्रैव—स्वप्न एव । ५. असतोः—प्रातिभासिकयोरित्यर्थः । ६. कश्चिद्—भ्रान्तः । ७. तत्रैवेति—स्वाप्नानेवेति यावत् तत्रैव स्वतन्त्रमाविद्यकान्न तु जागरवासनाधीमानितिभावः । ८. योग्यानुपलब्धिविरुद्धत्वादिति—योग्याचासावनुपलब्धिरितिविग्रहः । अनुपलब्धौ योगत्वं चाभावप्रतियोग्यापादनापादितप्रतियोगिकत्वम् । यथा यद्यत्र घटः स्यादिति घटाभावप्रतियोगिघटापादनेन तर्ह्युपलभ्येति, घटानुपलब्धिप्रतियोगिघटोपलब्ध्यापादनसम्भावितं घटानुपलब्धेर्योग्यत्वम् । ९. हेत्वन्तरम्—माविद्यकस्वरूपहेत्वित्यर्थः ।

उपलम्भात्समाचाराद्स्तिवस्तुत्ववादिनाम् ।
जातिस्तु देशिता बुद्धैर्[1]जातेस्त्रसतां सदा ॥४२॥

[पदार्थों की उपलब्धि (और वर्णाश्रमादि धर्मों के सम्यक् आचरण से जो लोग पदार्थों की सत्ता मानते हैं और अजातवाद से डरते भी हैं ऐसे लोगों के लिये ही अद्वैतवादी विद्वानों ने (अद्वैत में प्रवेश कराने के लिये) जाति का उपदेश किया है ॥४२॥]

याऽपि बुद्धैरद्वैतवादिभिर्जातिर्देशितोपदिष्टा । उपलम्भनमुपलम्भस्तस्मा[2]दुपलब्धेरित्यर्थः । [3]समाचाराद्वर्णाश्रमादिधर्मसमाचरणात् । ताभ्यां हेतुभ्यामस्तिवस्तुत्ववादिनामस्ति वस्तुभाव इत्येवंवदनशीलानां दृढाग्रहवतां [4]श्रद्दधानानां मन्दविवेकिनाम[5]र्थोपायत्वेन सा देशिता जातिः । तां गृह्णन्तु तावत् । वेदान्ताभ्यासिनां तु स्वयमेवाजाद्वयात्मविषयो विवेको भविष्यतीति न तु परमार्थबुद्ध्या । ते हि [6]श्रोत्रियाः स्थूलबुद्धित्वादजातेरजातिवस्तुनः सदा त्रस्यन्त्यात्मनाशं मन्यमाना अविवेकिन इत्यर्थः । उपायः सोऽवतारायेत्युक्तम् ॥४२॥

जगदुत्पत्ति का आदेश अविवेकियों के लिये है

अद्वैतवादी विद्वानों ने जो जगदुत्पत्ति का उपदेश किया है, वह अविवेकियों के लिये तत्त्वज्ञान के उपाय रूप से किया गया है। क्योंकि श्रद्धालु दृढ़ाग्रही मन्दविवेक वालों की ऐसी धारणा रही है कि जाग्रत् का उपलम्भ यानी अनुभूति तथा वर्णाश्रमादिधर्मों के सम्यक् आचरण से अर्थात् उन दोनों ही कारणों से पदार्थ का अस्तित्व है। इस प्रकार कहने वाले दृढ़ाग्रही उक्त मन्दविवेकियों के लिये ब्रह्मात्मैक्यबोध की प्राप्ति के उपाय रूप से उत्पत्ति का उपदेश किया गया है। श्रुति एवं तत्त्ववेत्ताओं का विश्वास है कि आज वे अविवेकी भले ही उस जगदुत्पत्ति को मान लें, किन्तु वेदान्त के अभ्यास करने वाले उन मन्दप्रयत्नशील साधकों को भी अजन्मा अद्वितीय आत्म विषय का विवेक हो ही जाता है। अतः परमार्थबुद्धि से जगदुत्पत्ति का उपदेश उन्होंने नहीं किया। वे अविवेकी इसीलिये कहे गये हैं, क्योंकि वे केवल श्रुतिपरायण हैं, स्थूलबुद्धि के कारण अपना नाश मानते हुए जन्मरहित वस्तु से सदा डरते हैं, यह इसका तात्पर्य है। यही बात आचार्य गौडपाद ने 'उपायः सोऽवताराय' इत्यादि अद्वैतप्रकरणस्थ पन्द्रहवें श्लोक में कही है ॥४२॥

तत्त्वदृष्ट्या कार्यकारणत्वस्याप्रसिद्धत्वे कथं जन्मादिसूत्रप्रमुखैः सूत्रैर्जगत्कारणं ब्रह्म सूत्रितमित्याशङ्क्याऽऽह—उपलम्भादिति । अविवेकिनां विवेकोपायत्वेन कार्यकारणत्वमुपेत्य सूत्रकारप्रवृत्तिरित्यर्थः । श्लोकाक्षराणि व्याचष्टे—याऽपीत्यादिना । अस्ति [7]वस्तुभावो द्वैतस्येति शेषः । कार्यकारणभावमुपेत्य जन्मोपदिशतामद्वैतवादिनां मन्दविवेकिषु विवेकदार्ढ्योपायत्वेन कथं [8]तदुपदेशः स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—तामिति । यदा ब्रह्मणः सकाशादशेषं जगद्भवतीत्यभ्युपेतं तदा तदतिरेकेण जगतोऽभावाद्ब्रह्मैव सर्वमिति निश्चितम् । तद्विषयेषु च वेदान्तेषु [9]पौर्वापर्येणाऽऽलोचितेषु तदभ्यासिनां तेषां तदभ्यास[10]प्रसादादेव कूटस्थाद्वितीयवस्तुविषयविवेकदार्ढ्यं सेत्स्यतीत्यभिप्रेत्याद्वैतवादिभिर्जातिरुपदिष्टा न तु

---

१. अजातेः—न किमप्य जन्यनेहत्रयेपि विष्णुपदमुखमित्येवंविधाजातेः, तदखिलाजन्योपलक्षितवस्तुन इति यावत् । २. उपलब्धेः—आकाशादिप्रपञ्चस्येति शेषः । ३. समाचरणात्—सम्यगनुष्ठानात् । ४. श्रद्दधानानाम्—सच्छास्त्रश्रद्धावताम् । ५. अर्थोपायत्वेनेति—कूटस्थाद्वितीयवस्तुरूपार्थविवेकदार्ढ्यप्रयोजकत्वेनेत्यर्थः । ६. श्रोत्रियाः—वेदपाठमात्रनिरताः न तु तत्तात्पर्यावगाहिनः, आपातार्थावबोधिनोऽपि ते इति भावः । ७. वस्तुभावः—पारमार्थिकत्वमिति । ८. तदुपदेशः—जात्युपदेशः । ९. पौर्वापर्येण—उपक्रमोपसंहारादिनेत्यर्थः । १०. प्रसादात्—सामर्थ्यात् ।

अजातेस्त्रसतां तेषामुपलम्भाद्वियन्ति ये ।
जातिदोषा न सेत्स्यन्ति दोषोऽप्यल्पो भविष्यति ॥४३॥

[द्वैत पदार्थों की उपलब्धि (और वर्णाश्रमादि के आचारों) के कारण जो अजातवाद से डरते हैं और द्वैतमान कर अद्वय आत्मा से विरुद्ध मार्ग में चलते हैं, ऐसे (श्रद्धालु और सन्मार्गावलम्बी) के लिये जाति दोष सिद्ध नहीं हो सकते, (क्योंकि वे विवेक मार्ग में प्रवृत्त हैं और यदि होगा तो सम्यक् दर्शन की अप्राप्ति के कारण होने वाला) दोष स्वल्प ही होगा ॥४३॥

ये चैवमुपलम्भात्समाचाराच्चाजातेरजातिवस्तुनस्त्रसन्तोऽस्ति [2]वस्त्विवत्यद्वयादात्मनो वियन्ति [1] विरुद्धं यन्ति द्वैतं प्रतिपद्यन्त इत्यर्थः । तेषामजातेस्त्रसतां श्रद्धधानानां सन्मार्गावलम्बिनां जातिदोषा [3]जात्युपलम्भकृता दोषा न सेत्स्यन्ति सिद्धिं नोपयास्यन्ति । विवेकमार्गप्रवृत्तत्वात् । यद्यपि कश्चिद्दोषः स्यात्सोऽप्य[4]ल्प एव भविष्यति । सम्यग्दर्शनाप्रतिपत्तिहेतुक इत्यर्थः ॥४३॥

सन्मार्गावलम्बी श्रद्धालु द्वैतवादियों की गति

इस प्रकार पदार्थों की उपलब्धि और वर्णाश्रमादि आचारों के उपदेश के कारण अजन्मा वस्तु से वे डरते हैं, अर्थात् द्वैत वस्तु है ऐसा मानकर अद्वय आत्मा से विरुद्ध चलते हैं, एवं द्वैत को मानते हैं। उन अजाति से भयभीत श्रद्धालु सन्मार्गावलम्बी साधकों को जाति की उपलब्धि से होने वाले जातिदोष नहीं लगेंगे यानी जाति स्वीकार करने के कारण वारम्बार जन्म मरणादि दोष को वे प्राप्त नहीं करेंगे, क्योंकि वे विवेकमार्ग में लगे हुए हैं। यदि कुछ दोष होगा भी, तो केवल सम्यक् दर्शन की अप्राप्ति से होने वाला वह दोष अल्प ही होगा। क्योंकि 'नहि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति' इस गीता वाक्य से उसके आत्यन्तिक पतन का अभाव वतलाया गया है ॥४३॥

द्वैतस्य [5]श्रुतितो न्यायतश्च निरूपयितुमशक्यस्य परमार्थत्वं गृहीत्वा जातिरुपदिष्टेत्यजातिरेव पारमार्थिकीत्यर्थः । चतुर्थपादार्थमाह—ते हीति । तेषां विवेकोपायत्वेन जातिरुपदिष्टेत्यत्रोपक्रममनुकूलयति—उपाय इति ॥४२॥

उदरमन्तरं [6]कुरुते । अथ तस्य भयं भवतीत्यादिश्रुतिभ्यो ब्रह्मणि विकारदर्शिनां भयप्राप्तिः श्रूयते । [7]तथा च श्रोत्रियाणामपि भेददर्शिनां नानुग्राह्यतेत्याशङ्क्याऽऽ[8]ह—अजातेरिति । न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छतीति स्मृतेस्तेषामा[9]त्यन्तिकपतनाभावेऽपि [10]निन्दानुपपत्त्या कश्चिद्दोषलेशः संभवतीत्याशङ्क्य सम्यग्दर्शनप्राप्तिप्रयुक्तं गर्भवासादिदोषमभ्यनुजानाति—दोषोऽपीति । अन्वयमादर्शयन्पादत्रयगतान्यक्षराणि योजयति—ये चेत्यादिना । चतुर्थपादं व्याचष्टे—यद्यपीति । कश्चिन्निन्दानुपपत्तिसूचित इति यावत् ॥४३॥

---

१. वियन्ति—विरुद्धं निश्चिन्वन्तीत्यर्थः । २. वस्त्विति—द्वैतं वस्तुपारमार्थिकमस्तीति । ३. जात्युपलम्भकृता—जातिनिश्चयकृताः । ४. अल्पः—नरकपाताद्यपेक्षयाल्पत्वम् । ५. श्रुतितः इति—नेह नानास्तीत्यादि श्रुतेः श्रुतिसामान्यस्य द्वैतनिषेध एव तात्पर्यावधारणादिति भावः । ६. कुरुते—पश्यतीत्यर्थः । ७. तथेति—भयार्हत्वे । ततश्च तदनुग्रहाय जात्युपदेशोऽपि न्याय्य एव बुद्धानामित्यभिप्रायेणाहेत्यर्थः । ८. आहेति—भेददर्शित्वेऽपि श्रोत्रियाणां सन्मार्गावलम्बित्वेन कल्याणकृत्वादस्त्येवानुग्राह्यत्वम् । ९. आत्यन्तिकपतनेति—नरकतिर्यगादिपतनेत्यर्थः । १०. निन्दानुपपत्त्येति—सर्वथादोषाभावे श्रुतिकृतभयप्राप्त्यादिरूपनिन्दानोपपद्यत इत्यर्थः ।

उपलम्भात्समाचारान्मायाहस्ती यथोच्यते ।
उपलम्भात्समाचारादस्ति वस्तु तथोच्यते ॥४४॥
जात्याभासं चलाभासं वस्त्वाभासं तथैव च ।
अजाचलमवस्तुत्वं विज्ञानं शान्तमद्वयम् ॥४५॥

[जिस प्रकार उपलब्धि और आचरण के कारण मायाजनित हाथी भी हाथी ही कहा जाता है, उसी प्रकार उपलब्धि और आचरण के कारण भेदरूप द्वैतवस्तु है ऐसा केवल कहा जाता है (वस्तुतः ये दोनों द्वैत वस्तु के सद्भाव के कारण नहीं है) ॥४४॥]

[(अजाति होता हुआ भी जातिवत् प्रतीत होने से) जिसे जात्याभास कहते हैं (अचल होते हुए जो) चल के समान प्रतीत होता है, (द्रव्य न होते हुए भी) वस्तु के समान भासता है, (वह परमार्थतः) अज, अचल और अवस्तु रूप शान्त एवं अद्वितीय विज्ञान ही है ॥ ४५ ॥]

ननूपलम्भसमाचारयोः प्रमाणत्वादस्त्येव द्वैतं वास्तवमिति । न । उपलम्भसमाचारयो[1]र्व्यभिचारात् । कथं व्यभिचार इत्युच्यते । उपलभ्यते हि मायाहस्ती । [2]हस्तीव हस्तिनमिवात्र समाचरन्ति । बन्धनारोहणादिहस्तिसंबन्धिभिर्धर्मैर्हस्तीति चोच्यतेऽसन्नपि यथा तथैवोपलम्भसमाचाराद्द्वैतं [3]भेदरूपमस्ति वस्त्वित्युच्यते । [4]तस्मान्नोपलम्भसमाचारौ द्वैतवस्तुसद्भावे हेतू भवत इत्यभिप्रायः ॥ ४४ ॥

किं पुनः परमार्थसद्वस्तु [5]यदास्पदा जात्याद्य[6]सद्बुद्धय इत्याह—अजाति सज्जातिवदवभासत

उपलब्धि और आचरण में व्यभिचार भी है

पू०—उपलब्धि और आचरण प्रमाण होने से द्वैत वस्तु है ही, फिर भला द्वैतवस्तु का अभाव कैसे कह रहे हो ?

सि०—ऐसा कहना ठीक नहीं । क्योंकि उपलब्धि और आचरण का व्यभिचार भी होता है। कैसे व्यभिचार होता है ? इस पर कहते हैं—वास्तविक हाथी के समान माया से बना हाथी भी देखा जाता है, क्योंकि हाथी के समान ही माया से बने हाथी के साथ भी बन्धन-आरोहणादि हस्तिसम्बन्धी धर्मों से व्यवहार करते हैं। जैसे—असत् होने पर भी वह हाथी है, ऐसा कहा जाता है। वैसे ही प्रतीति और आचरण के कारण भेदरूप द्वैतवस्तु है ऐसा कहा जाता है। अतः तात्पर्य यह है कि प्रतीति और आचरण द्वैतवस्तु की सत्ता में अव्यभिचारित नहीं है ॥४४॥

परमार्थतः क्या है ?

अच्छा तो जिसके आश्रित जाति आदि असत् बुद्धियाँ होती हैं, वह परमार्थ वस्तु वास्तव में

यत्तु हेतुभ्यां द्वैतस्यास्तित्वमुक्तं तद्दूषयति—उपलम्भादिति । श्लोकव्यावर्त्यामाशङ्कामनूद्य दूषयति—नन्वित्यादिना । व्यभिचारस्यासिद्धिमाशङ्क्य परिहरति—कथमित्यादिना । उपलम्भसमाचारौ मायामये हस्तिनि वस्तुत्वाभावेऽपि भवतः, तथा [7]द्वैतेऽपि न तयोरस्ति वस्तुत्वसाधकत्वमित्युपसंहरति—तस्मादिति ॥४४॥

---

१. व्यभिचारादिति—वस्तुत्वाभाववद्वृत्तित्वादित्यर्थः । २. हस्तीव—तव पारमार्थिकत्वेनाभिमतव्यावहारिकहस्तीवेत्यर्थः । ३. भेदरूपम्—आकाशादिविशेषरूपमित्यर्थः । ४. तस्मात्—व्यभिचारित्वादिति । ५. यदास्पदाः—य धिष्ठानिकाः । ६. असद्बुद्धय—आलयः । ७. द्वैतेऽपीति—आकाशादिभेदेऽपीतित्यर्थः ।

एवं न जायते चित्तमेवं धर्मा अजाः स्मृताः ।
एवमेव विजानन्तो न पतन्ति विपर्यये ॥४६॥

[इस प्रकार उक्त हेतुओं से चित्त उत्पन्न नहीं होता। अतएव ब्रह्मज्ञानियों ने जीवात्मा को अजन्मा माना है। ऐसे जानने वाले लोग ही भ्रान्ति में नहीं पड़ते ॥४६॥]

इति जात्याभासम्। तद्यथा [1]देवदत्तो जायत इति। चलाभासं चलमिवाऽऽभासत इति। यथा स एव देवदत्तो गच्छतीति। वस्त्वाभासं वस्तु द्रव्यं धर्मि तद्वदवभासत इति वस्त्वाभासम्। यथा [2]स एव देवदत्तो गौरो दीर्घ इति जायते देवदत्तः स्पन्दते दीर्घो गौर इत्येवमवभासते परमार्थतस्त्वजमचलम-वस्तुत्वमद्रव्यं च। किं तदे[3]वंप्रकारं विज्ञानं विज्ञप्तिः। जात्यादिरहितत्वा[4]च्छान्तम्। अत एवाद्वयं च तद्वित्यर्थः ॥ ४५ ॥

एवं यथोक्तेभ्यो हेतुभ्यो न जायते चित्तमेवं धर्मा आत्मानोऽजाः स्मृता ब्रह्मविद्भिः। धर्मा इति

क्या है? इस पर कहते हैं—जो वास्तव में है तो अजाति, पर जाति के समान प्रतीत होता है, उसे जात्याभास कहते हैं। यथा—देवदत्तपद उपलक्षितचेतन अजन्मा होता हुआ भी देवदत्त उत्पन्न होता है, ऐसा व्यवहार देखा जाता है। वैसे ही जो अचल होता हुआ भी चल के समान प्रतीत होता हो, उसे चलाभास कहते हैं। यथा—वही देवदत्त जाता है, एवं वस्तुधर्मी द्रव्य को वस्त्वाभास कहते हैं, क्योंकि वह वस्तु न होते हुए भी वस्तु के समान दीखता है। एवं जिस प्रकार वही देवदत्त गौर वर्ण और दीर्घ है। अतः वास्तव में जाति, गति, और वर्णादि से रहित होता हुआ भी देवदत्त उत्पन्न होता है, चलता है तथा वह गौर वर्ण एवं दीर्घ है, इस प्रकार भासता है। परन्तु परमार्थ दृष्टि से देवदत्त पद लक्ष्य चेतन, अजन्मा, अचल, अवस्तु और अद्रव्य ही है। इस प्रकार का वह है क्या? इस पर सिद्धान्ती कहता है कि वह है विज्ञान, यानी चिन्मात्र है। तथा वह जन्मादि से रहित होने के कारण शान्त है। इसीलिये वह अद्वय भी है। यही इसका भावार्थ है ॥४५॥

इस प्रकार पूर्वोक्त हेतुओं से चित्त उत्पन्न नहीं होता, वैसे ही आत्मा भी अजन्मा है। ऐसा ब्रह्म-वेत्ताओं ने कहा है। देहभेद के अनुसरण करने वाला होने से अद्वितीय आत्मा के लिये गौण दृष्टि से 'धर्माः' ऐसा बहुवचन का प्रयोग कर दिया गया है। ऐसे ही पूर्वोक्त विज्ञान रूप ब्रह्म को जाति आदि

भूतदर्शनावष्टम्भेन [5]निमित्तस्यानिमित्तत्वमुक्तमेतदन्तैः श्लोकैर्विप्रपञ्चितम्। संप्रतिभूतदर्शनमुपसंहरति—जात्याभासमिति। श्लोकाक्षराण्याकाङ्क्षाद्वारा विवृणोति—किं पुनरित्यादिना। गौरत्वदीर्घत्वोक्त्या देवदत्तस्य गुण-वत्त्वेन द्रव्यत्वं स्फुटी क्रियते। पूर्वार्धार्थानुवादेनापरार्धं योजयति—जायत इत्यादिना। विशेष्यं प्रश्नपूर्वकं विशदयति—किं तदित्यादिना ॥४५॥

ब्रह्मणश्चिद्रूपस्याजत्वमुपपादितमुपसंहरति—एवं नेति। चित्प्रतिबिम्बानां जीवानां बिम्बभूतब्रह्ममात्रत्वाद-जत्वमविशिष्टमित्याह—एवमिति। उक्तब्रह्मात्मैक्यज्ञानस्य फलमाह—एवमिति। श्लोकाक्षराणि व्याकरोति—एवमि-त्यादिना। कार्यकारणभावस्य [6]दुर्भगत्वादयो यथोक्ता हेतवः। चित्तं चैतन्यं ब्रह्मेति यावत्। एवमिति। प्रति-

---

१. देवदत्त इति—देवदत्तलक्ष्याचिदित्यर्थः। २. स एवेति—लक्ष्य एवेत्यर्थः। ३. एवं प्रकारम्—ईदृग् धर्मा-रोपाधिकरणम्। ४. शान्तम्—निःसामान्यविशेषमेकरसमिति यावत्। ५. निमित्तस्येत्यादि—प्रपञ्चविंशतितमकारि-कोत्तरार्द्धत आरभ्य द्वाविंशः श्लोकपर्यन्तं सार्द्धसप्तश्लोकैर्निमित्तस्यानिमित्तत्वमुक्तम्। त्रयस्त्रिंशतश्च चतुश्चत्वारिंशपर्यन्तं द्वादशभिः श्लोकैस्तत्प्रपञ्चितमित्यर्थः। ६. दुर्भगत्वादयः—जन्मदुर्निरूपत्वादयश्चादिनाग्राह्याः।

[1]ऋजुवक्रादिकाभासमलातस्पन्दितं यथा ।
ग्रहणग्राहकाभासं विज्ञानस्पन्दितं तथा ॥४७॥

[जिस प्रकार जलती हुई बनैती का घूमना ही (लोक में) सीधे टेढ़े रूपों में भासता है वैसे ही अविद्या के कारण स्पन्दन होता हुआ भी विज्ञान का स्पन्द ही ग्रहण और ग्रहकादि रूपों में प्रतीत होता है ॥४७॥]

बहुवचनं देहभेदानुविधायित्वाद्द्वयस्यैवो[2]पचारतः। एवमेव यथोक्तं विज्ञानं जात्यादिरहितम[3]द्वयमात्मतत्त्वं विजानन्त[4]स्त्यक्तवाह्यैषणाः पुनर्न पतन्त्यविद्याध्वान्तसागरे विपर्यये। "तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ई० ७" इत्यादिमन्त्रवर्णात् ॥४६॥

यथोक्तं [5]परमार्थदर्शनं प्रपञ्चयिष्यन्नाह—यथा हि लोक ऋजुवक्रादिप्रकाराभासमलातस्पन्दितमुल्काचलनं तथा ग्रहणग्राहकाभासं विषयिविषयाभासमित्यर्थः किं तद्विज्ञानस्पन्दितम्। स्पन्दितमिव स्पन्दितमविद्यया। न ह्यचलस्य विज्ञानस्य स्पन्दनमस्ति। अजाचलमिति ह्युक्तम् ॥४७॥

से रहित अद्वितीय आत्म तत्त्व रूप से जानने वाले सम्पूर्ण बाह्य ऐषणाओं से मुक्त मुख्याधिकारी पुनः अविद्यान्धकार रूप भ्रान्तिमय समुद्र में नहीं पड़ते। 'उस अवस्था में एकत्व आत्मदर्शी पुरुष को क्या मोह और क्या शोक हो सकता है' इत्यादि मन्त्र वर्ण से यही बात कही गयी है ॥४६॥

अलातस्पन्द का दृष्टान्त

पूर्वोक्त परमार्थ-दर्शन का विस्तार करते हुए कहते हैं—जैसे लोक में सीधे टेढ़े आदि प्रकार से भासने वाला अलातस्पन्द (उल्का चक्र) का भ्रमण ही है। वैसे ही ग्रहण और ग्राहक रूप से भासने वाला अर्थात् विषयी और विषय का आभास भी है। वह कौन है ? स्पन्दितविज्ञान ही है। जो अविद्या से स्पन्दित हुआ सा प्रतीत होता है। वास्तव में चल क्रियारहित कूटस्थस्वरूप विज्ञान में अविद्या के विना स्पन्दन संभव नहीं, क्योंकि अभी पैतालीसवें श्लोक में विज्ञान अज और अचल है, ऐसा हम कह आये हैं ॥४७॥

बिम्बानां बिम्बमात्रत्वं जीवानामपि प्रतिबिम्बकल्पानां बिम्बभूतब्रह्ममात्रत्वादित्यर्थः। [6]अद्वयस्य [7]बहुवचनभाक्त्वमयुक्तमित्याशङ्क्याऽऽह--धर्मा इतीति। उत्तरार्धं योजयति--एवमेवेति। विज्ञानं विज्ञप्तिरूपं ब्रह्मेत्यर्थः। यथोक्तज्ञाने मुख्यानधिकारिणो व्यपदिशति—त्यक्तेति। उक्तज्ञानवतां संसारसंत्रासाभावे प्रमाणमाह—तत्रेति ॥४६॥

विज्ञानमजमचलमेव जात्याभासं चलाभास चेत्युक्तं [8]तदिदानीं दृष्टान्तेन प्रपञ्चयति—ऋजुवक्रादिकेति। अप्रच्युतपूर्वस्वरूपस्यासत्यनानाकारावभासो विवर्त[9]स्तदत्र विज्ञानस्य स्पन्दितत्वम्। श्लोकस्य तात्पर्यमाह--यथोक्तमिति। तत्र दृष्टान्तभागं व्याचष्टे—यथा हीति। दार्ष्टान्तिकं योजयति—तथेति। किमित्यविद्यामन्तरेण [10]मुख्यमेव

---

१. ऋज्वित्यादि—अलातस्य ऋजुवक्राद्याकारैरवभासनं यत्तदालातस्पन्दितमेवालातस्पन्दननिमित्तकमेवेत्यर्थः। निमित्तकानिमित्तकयोरैक्यात्तु तत्स्पन्दनमेव तदित्युक्तं वेदितव्यम्। एवं ग्रहणं ज्ञानं ग्राहको विषय इत्याद्याकारैर्विज्ञानस्य चितोऽवभासनं यत्तद् विज्ञानस्पन्दितमेव विज्ञानविवर्तनिमित्तमेव चिद् विवर्तरूपमेवेति यावत्। २. उपचारतः—आरोपादित्यर्थः। ३. अद्वयमित्यादि—अद्वयं ब्रह्मात्मत्वेन जानन्त इत्यर्थः। ४. त्यक्तवाह्यैषणाः—त्यक्तानात्मपदार्थाभिलाषाः। ५. परमार्थदर्शनमिति—दृश्यते विद्वद्भिरनुभूयत इति दर्शनं परमार्थं चेदित्यबाधितात्मतत्त्वमित्यर्थः। ६. अद्वयस्येति—आत्मन इति शेषः। ७. बहुवचनभाक्त्वमिति—बहूक्तिविषयत्वमित्यर्थः। यद्वाद्वयात्मबोधकधर्मपदस्य बहुवचनान्तत्वमित्यर्थः। ८. तदिति—वास्तवस्वरूपमित्यर्थः। ९. तत्—विवर्तरूपम्। १०. मुख्यमेवेति—शब्दशक्त्या प्रतीयमानं चलनमेवे त्यर्थः।

[1]अस्पन्दमानमलातमनाभासमजं यथा ।
अस्पन्दमानं विज्ञानमनाभासमजं तथा ॥४८॥
अलाते स्पन्दमाने वै नाऽऽभासा अन्यतोभुवः ।
न ततोऽन्यत्र निस्पन्दान्नालातं प्रविशन्ति ते ॥४६॥

[जैसे स्पन्दन से रहित अलात (ऋजु वक्रादि आकारों में भासित न होने के कारण (अनाभास और अज है, वैसे ही (अविद्या से प्रतीत होने वाला विज्ञान स्पन्द अविद्या के निवृत्त होते ही) स्पन्दन रहित विज्ञान भी अज और अचल हो जाता है ॥४८॥

[अलात के स्पन्दित होने पर (सीधे टेढ़े आदि अकारों में) आभास कहीं अन्यत्र से नहीं उपस्थित हो जाते और न स्पन्द रहित अलात में ही प्रवेश करते हैं ॥४६॥]

अस्पन्दमानं स्पन्दनवर्जितं [2]तदेवालातमृज्वाद्याकारेण[3]जायमानमनाभासमजं यथा तथाऽविद्यया [4]स्पन्दमानमविद्योपरमेऽस्पन्दमानं जात्याद्याकारेण[5]नाभासमजमचलं भविष्यतीत्यर्थः॥४८॥

किंच तस्मिन्नेवालाते स्पन्दमान ऋजुवक्राद्याभासा अलातादन्यतः कुतश्चिदागत्यालातेनैव भवन्तीति नान्यतोभुवः । न च तस्मान्निस्पन्दादलातादन्यत्र निर्गताः । न च निस्पन्दमलातमेव प्रविशन्ति ते ॥४९॥

जैसे वही अलातस्पन्दन क्रिया से रहित होने पर सीधे टेढ़े आदि आकारों में भासित न होने के कारण अनाभास और अजन्मा ही रहता है, अर्थात जब उस अलात में स्पन्दन नहीं होता तब वह टेढ़े सीधे रूप में प्रतीत नहीं होता। ठीक वैसे ही अविद्या से स्पन्दित होने वाला जो विज्ञान है, वह अविद्या के निवृत्त हो जाने पर जाति आदि रूप से स्पन्दित न होता हुआ आभास जन्म तथा चलन-क्रिया से शून्य हो जायेगा। अतः निष्कल निरवयव विज्ञान के जात्यादिरूप से प्रतीत होने में अविद्या ही एकमात्र कारण है, यह इसका तात्पर्य है ॥४८॥

इसके अतिरिक्त उस अलात् स्पन्दन क्रिया वाले होने पर सीधे टेढ़े आदि आभास किसी अन्य से होने वाले नहीं हैं और न उस अलात के स्पन्दनरहित होने पर वे आभास अन्यत्र कहीं जाते ही हैं, एवं न उस निस्पन्द अलात में वे आभास प्रविष्ट ही होते हैं। अतः अलात में सीधे टेढ़े आदि आभास मिथ्या ही हैं ॥४६॥

स्पन्दनं विज्ञानस्य नेष्यते तत्राऽऽह—न हीति। निरवयवस्य विभुनो विज्ञानस्य वस्तुतश्चलनविकलस्यांविद्यमानमेव स्पन्दनमित्यत्र [6]वाक्योपक्रमानुकूल्यं कथयति—अजेति ॥४७॥

विज्ञानं शान्तमित्युक्तं दृष्टान्ते स्पष्टयति—अस्पन्दमानमिति। श्लोकाक्षराणि व्याकरोति—अस्पन्दमानमित्यादिना। तथाविद्ययेत्यत्राविद्ययेति च्छेदः ॥४८॥

अलातदृष्टान्ते कथमृजुवक्रादीनामसत्त्वमित्याशङ्कायां निरूपणासहत्वादित्याह—अलात इति। खल्वलातं स्पन्दमानमवतिष्ठते तदा तस्मिन्नन्यतो देशान्तरादागत्या[7]ऽऽभासा [8]भवन्तीति न शक्यं वक्तुमृजुवक्राद्याभासानां देशान्तरा-

---

१. अस्पन्दमानम्—विवर्तवर्जितम्। २. तदेवेति—स्पन्दकाले यदृज्वाद्याकारेण प्रतीतं तदेवेत्यर्थः। ३. अजायमानमिति—ऋज्वाद्याकारेणाप्रतीयमानत्वात्तदाकारेणाजायमानं तेन चाकारेणाजायमानत्वात्तदाकारेणाप्रतीयमानमित्यर्थः। ४. स्पन्दमानम्—विवर्तमानम्। ५. अनाभासम्—अप्रतीयमानमित्यर्थः। ६. जात्याभासमित्यादितो वाक्यारम्भ इत्याशयेनाह—वाक्येत्यादि। ७. आभासाः—ऋज्वाद्याकाराः। ८. भवन्तीति—तस्मिन्भवन्तीत्यन्वयः।

न निर्गता अलातात्ते द्रव्यत्वाभावयोगतः ।
विज्ञानेऽपि तथैव स्युराभासस्याविशेषतः ॥५०॥

[वस्तुत्व का अभाव होने से वे (घर से निकलने के समान) अलात से भी नहीं निकले हैं। ठीक ऐसे ही आभास की समानता होने से विज्ञान के विषय में भी समझना चाहिये ॥५०॥]

किंच न निर्गता अलातात्त आभासा गृहादिवदद्रव्यत्वाभावयोगतः। द्रव्यस्य भावो द्रव्यत्वम्। तदभावो द्रव्यत्वाभावः। द्रव्यत्वाभावयोगतो द्रव्यत्वाभावयुक्ते[1]र्वस्तुत्वाभावादित्यर्थः। वस्तुनो हि प्रवेशादि संभवति नावस्तुनः। विज्ञानेऽपि जात्याद्याभासा[2]स्तथैव स्युरा[3]भासस्याविशेषतस्तुल्यत्वात् ॥५०॥

इसके अतिरिक्त उस ऋज्वादि आभास में द्रव्यत्व तो है नहीं, क्योंकि द्रव्य के भाव को द्रव्यत्व कहते हैं और उसके अभाव को द्रव्यत्वाभाव कहते हैं। ऐसे द्रव्यत्वाभाव रूप युक्ति के कारण उस आभास में वस्तुत्व नहीं है। यदि उसमें वस्तुत्व होता, तो कदाचित् गृहादि से निकलने के समान अलात से वे आभास निकल आये हैं, ऐसा मान लेते। प्रवेश या निर्गमन वस्तु के ही हो सकते हैं, अवस्तु के नहीं। जैसे दृष्टान्त में आभास अवस्तु होने से उसमें प्रवेशादि संभव नहीं है। ठीक वैसे ही विज्ञान में प्रतीत होने वाले जात्यादि आभास भी ऐसे ही समझने योग्य है, क्योंकि अन्ततः ऋज्वादि-आभास में और जात्यादि-आभास में समानता होने के कारण दोनों की तुल्यता तो है ही। यह आभासत्व यानी दृश्यत्व हेतु दोनों के मिथ्यात्व का प्रयोजक है ॥५०॥

दागमनस्या[4]नवगमात्। यदा तदेवालातं निस्पन्दनं स्पन्दनवर्जितं वर्तते तदा ततोऽन्यत्राऽऽभासा [5]भवन्तीत्यपि न युक्तं वक्तुम[6]नुपलम्भाविशेषात्। न चाऽऽभासास्तस्मिन्नेवालाते लीयन्ते तदनुपादानत्वात्। यदि हि स्पन्दनंनिमित्तमलातमुपादानं तदा निमित्ताभावमात्रान्नैमित्तिकाभावादर्शनादृजुवक्राद्याकाराः स्पन्दनाभावेऽप्यलाते भवेयुरित्यर्थः। इतश्च दृष्टान्ते दृष्टानामाभासानां मिथ्यात्वमेष्टव्यमित्याह—किंचेति। हेत्वन्तरमेव स्पष्टयन्पूर्वार्धाक्षराणि व्याचष्टे–तस्मिन्नेवेति। आभासानां देशान्तरादागमनस्यानुपलम्भो हेतुः कर्तव्यः। अनुपलब्धिमेव हेतूकृत्य तृतीयपादार्थमाह—न चेति। चतुर्थपादार्थमाह—न च निस्पन्दमिति ॥४९॥

ऋजुवक्राद्याभासानां दृष्टान्ते निर्गमनप्रवेशयोरसंभवं साधयति—नेत्यादिना दृष्टान्तनिविष्टाभासवद्दार्ष्टान्तिकेऽपि जन्माद्याभासा मिथ्यैव भवेयुरित्याह—विज्ञानेऽपीति। ऋजुवक्राद्याकारेषु जन्माद्याकारेषु चा[7]ऽऽभासत्वस्य तुल्यत्वादिति हेतुमाह—आभासस्येति। इतश्च दृष्टान्ते मिथ्यात्वमाभासानामेष्टव्यमित्याह—किंचेति। [8]तदेव पूर्वार्धयोजनया विशदयति—नेति। ऋजुवक्राद्याभासानां [9]वस्तुतोऽभावेऽपि किमिति प्रवेशाद्यसिद्धिरित्याशङ्क्याऽऽह—वस्तुनो हीति। द्वितीयार्धं योजयन्दार्ष्टान्तिकमाचष्टे—विज्ञानेऽपीति ॥५०॥

---

१. वस्तुत्वाभावात्—सत्यत्वाभावात्। २. तथैवस्युरिति—मिथ्यैवभवेयुरित्यर्थः। ३. आभासस्येति—आभासत्वस्य, दृश्यत्वस्येति यावत्। ४. अनवगमात्—अनुपलब्धिबाधितत्वात्। ५. भवन्ति—यन्तीत्यर्थः। ६. अनुपलम्भाविशेषात्—अनुपलब्धेस्तुल्यत्वादित्यर्थः। ७. आभासत्वस्य—दृश्यत्वस्य। ८. तदेवेति—अवस्तुत्वरूपहेत्वन्तरमित्यर्थः। ९. वस्तुतोऽभावेऽपि—वस्तुत्वाभावेऽपीत्यर्थः।

विज्ञाने स्पन्दमाने वै नाऽऽभासा अन्यतोभुवः।
न ततोऽन्यत्र निस्पन्दान्न विज्ञानं विशन्ति ते ॥५१॥
न विर्गतास्ते विज्ञानाद्द्रव्यत्वाभावयोगतः।
[1]कार्यकारणताभावाद्यतोऽ[2]चिन्त्याः सदैव ते ॥५२॥

[विज्ञान के स्पन्दित होने पर भी ऋजु वक्रादि आभास कहीं अन्यत्र से नहीं आते तथा उसके स्पन्द रहित होने पर कहीं अन्यत्र नहीं चले जाते और न वे विज्ञान में ही प्रवेश करते हैं ॥५१॥]

[वस्तुत्व के अभाव होने से वे जीव विज्ञान से भी नहीं निकलते हैं, क्योंकि कार्य कारण भाव के न होने के कारण वे जात्याभासादि सदा ही अनिर्वचनीय हैं ॥५२॥]

---

[3]अलातेन समानं सर्वं विज्ञानस्य। सदाऽचलत्वं तु विज्ञानस्य विशेषः। जात्याद्याभासा विज्ञानेऽचले किंकृता [4]इत्याह। कार्यकारणताभावाज्जन्यजनकत्वानुपपत्तेर[5]भावरूपत्वादचिन्त्यास्ते यतः सदैव। यथाऽसत्स्वृज्वाद्याभासेषु ऋज्वादिबुद्धिर्दृष्टाऽलातमात्रे तथाऽसत्स्वेव जात्यादिषु [6]विज्ञानमात्रे जात्यादिबुद्धिर्मृषैवेति समुदायार्थः ॥ ५१ ॥ ५२ ॥

दोनों में तुल्यता किस प्रकार है? इस पर कहते हैं—अलात के समान ही जात्यादि-आभास सब कुछ विज्ञान ही है यानी प्रातीतिक होने से मिथ्या है। किन्तु सदा अचल रहना यह अलात की अपेक्षा विज्ञान में विशेष है। विज्ञान के अचल रहने पर जात्यादि आभास किस कारण से होते हैं? इसका उत्तर देते हैं—विज्ञान और जात्यादि-आभास में कार्यकारण भाव न होने के कारण उनमें जन्यजनक भाव भी नहीं हैं। इसलिये वे सदा अचिन्तनीय हैं। जैसे सीधे टेढ़े आदि आभासों के न होने पर भी केवल अलात में ऋज्वादिबुद्धि होती देखी गयी है। वैसे ही जात्यादि-आभास के न होने पर भी केवल विज्ञान मात्र में जो जात्यादिबुद्धि होती है, वह अचिन्तनीय होने से मिथ्या ही है। यही इन दोनों श्लोकों के समुदाय का अर्थ है ॥५१-५२॥

कथं तुल्यत्वमित्याह—

तुल्यत्वं सार्धेनोत्तरश्लोकेन साधयति—कथमित्यादिना। न हि तस्मिन्विज्ञाने [7]यथा कथंचिच्चलनवति ततोऽन्यस्मात्कस्माच्चिदागत्य जन्माद्याभासास्तत्र भवितुमर्हन्ति। तथाप्रथाभावान्न च तस्माद्विज्ञानादचलतयाऽवस्थिताद्न्यत्राऽऽभासा भवितुमुत्सहन्ते प्रतीत्यभावस्य तुल्यत्वान्नापि तदेव विज्ञानं प्रविशन्ति। तस्य [8]केवलस्य तदुपादानत्वानुपगमात्। न च ते विज्ञाने प्रवेष्टुं समर्थास्ततो निर्गन्तुं वा पारयन्ति। तेषामवस्तुत्वादित्यर्थः। कथं तर्हि विज्ञाने प्रथां (था) तेषामित्याशङ्क्य मृषैवेत्याह—कार्येति। आभासानां विज्ञानस्य च कार्यकारणताया दुर्वचत्वादाभासाः सर्वदैव निरूपयितुमशक्यत्वान्मायामयाः सन्तो मिथ्यैव भवन्तीत्यर्थः। सार्धश्लोकतात्पर्यमाह—अलातेनेति। [9]तर्हि सक्रिय-

---

१. कार्यकारणताभावादिति—आभासविज्ञानयोरिति शेषः। २. अचिन्त्याः—सत्वादिरूपेण निर्वक्तुमशक्या इत्यर्थः। ३. अलातेनेत्यादि—विज्ञानस्य—विज्ञाने प्रतीयमानम् सर्वम्—जात्याभासादिकम्। अलातेन—अलातवृत्तिवक्राद्याकारेण। समानम्—तुल्यम्। प्रातीतिकत्वेन मिथ्याभूतमित्यर्थः। ४. इतीति—इत्याशङ्क्येत्यर्थः। ५. अभावरूपादिति—असद्रूपत्वादित्यर्थः। जात्याद्याभासानामिति शेषः। तथा चाविद्यका एव ते, इति फलितमसत्वेऽपि प्रतीयमानत्वात्। तत्र च हेत्वन्तरमचिन्त्या इति सत्त्वादिनानिर्वक्तुमशक्या इत्यनिर्वचनीयास्ते आविद्यका इति। ६. विज्ञानमात्रे—जात्याद्यसंस्पृष्टविज्ञाने इत्यर्थः। ७. यथेत्यादि—औपाधिकविवर्तरूपेणेत्यर्थः। ८. केवलस्य—सजात्यादिकभेदरहितस्य। ९. तर्हीति—सर्वसाम्याभ्युपगमे इत्यर्थः।

[1]द्रव्यं [2]द्रव्यस्य हेतुः स्याद[3]न्यद न्यस्य चैव हि ।
द्रव्यत्वमन्यभावो वा धर्माणां नोपपद्यते ॥५३॥

[अन्य द्रव्य ही अन्य द्रव्य का कारण हो सकता है (न कि उस द्रव्य का वही कारण और जो वस्तु द्रव्य नहीं है वह किसी का स्वतन्त्र कारण होता लोक में देखा नहीं गया है) आत्माओं में द्रव्यत्त्व सम्भव नहीं है (अतः उनमें कारणत्व भी नहीं ॥ ५३ ॥]

अजमेकमात्मतत्त्वमिति स्थितं तत्र यैरपि कार्यकारणभावः कल्प्यते तेषां द्रव्यं द्रव्यस्यान्यस्यान्यद्धेतुः कारणं स्यान्न तु तस्यैव तत्। नाप्यद्रव्यं कस्यचित्कारणं स्वतन्त्रं दृष्टं लोके। न च द्रव्यत्वं धर्माणामात्मनामुपपद्यतेऽन्यत्वं वा कुतश्चिद्येना[4]न्यस्य कारणत्वं कार्यत्वं वा [6]प्रतिपद्येत। अतोऽद्रव्यत्वादनन्यत्वाच्च न कस्यचित्कार्यं कारणं वाऽऽत्मेत्यर्थः ॥५३॥

आत्मा में कार्यकारण भाव संभव नहीं

इस प्रकार अजन्मा एक आत्मतत्त्व है, ऐसा निश्चय हुआ। फिर भी उसमें जो लोग कार्यकारणभाव की कल्पना करते हैं उनके मत में भी अन्यद्रव्य का कारण अन्यद्रव्य ही हुआ करता है, न कि उस द्रव्य का कारण वही द्रव्य। इसके सिवा जो वस्तु नहीं है वह किसी का स्वतन्त्र कारण होता हुआ लोक में नहीं देखा गया है। आत्मा में न तो द्रव्यत्व ही है और न अन्यत्व ही किसी प्रकार से संभव है। जिससे कि वे आत्मा किसी अन्य द्रव्य के कारण या कार्य भाव को प्राप्त कर सकें। अतः द्रव्यत्वाभाव और अन्यत्वाभाव के कारण ही आत्मा किसी का भी न कार्य है, और न कारण ही है ॥५३॥

त्वमपि विज्ञानस्य प्रसज्येतेत्याशङ्क्याऽऽह—सदेति। यदि विज्ञानमचलमभीष्टं तर्हि तव जात्याद्याभासा हेत्वभावाच्च स्युरित्याशङ्क्यान्तिमार्धेन परिहरति—जात्याद्याभासा इत्यादिना। यतः सदैवाचिन्त्या अतो मृषैवेति शेषः। संक्षेपतस्तात्पर्यमाह—यथेत्यादिना ॥ ५१ ॥ ५२ ॥

यदुक्तं कार्यकारणताभावादिति तदिदानीमुपपादयितुमुपक्रमते—द्रव्यमिति। अवयवद्रव्यमवयविद्रव्यस्योपादानम्। [7]अवयवगुणाश्चावयविगुणेषु समानजातीयेष्वसमवायिनो दृष्टाः। न [8]चैवमात्मनो द्रव्यत्वं, येन समवायित्वम्। न च [9]तद्रूपाणां क्वचिद[10]समवायित्वं गुणगुणिभावस्यान्यत्वस्य तस्मिन्दुर्वचनत्वादित्यर्थः। श्लोकाक्षराणि योजयति—अजमित्यादिना। अवयवावयविविभागविरहित्वमजत्वम्। एकत्वं गुणगुणिभावशून्यत्वम्। तत्रेत्यात्मतत्त्वं परामृशते। तत्र कार्यकारणभावं दूषयितुं [11]सामान्यन्यायमाह—तेषामिति। अद्रव्यस्यापि रूपादेस्तन्त्वादिद्वारा पटशौक्ल्यादौ कारणत्वं दृष्टमित्यतो विशिनष्टि—स्वतन्त्रमिति। अस्तु तर्हि द्रव्यत्वेनान्यत्वेन चाऽऽत्मनि कार्यकारणत्वं नेत्याह—न चेति। न हि तत्र गुणवत्त्वेन द्रव्यत्वं, निर्गुणत्वान्नापि समवायित्वेन तथात्व[12]मन्योन्याश्रयत्वप्रसङ्गात्। न च तत्र कुतश्चिदन्यत्वं, सर्वस्य सन्मात्रत्वेनैकरूपत्वप्रतिभानात्। अतो न तत्र कारणत्वं कार्यत्वं वा प्रतिपत्तुं शक्यमिति फलितमाह—अत इति ॥ ५३ ॥

---

१. द्रव्यम्—कपालादि। २. द्रव्यस्य—घटादेः। ३. अन्यत्—घटादिभिन्नं कपालादि। ४. अन्यस्य—कपालाद्यन्यघटादेः। ५. अन्यस्य—स्वस्माद्भिन्नस्येत्यर्थः। ६. प्रतिपद्येत—आत्मेति शेषः। ७. द्रव्यग्रहणमुपलक्षणीकृत्याह—अवयवेत्यादि। ८. एवम्—कपालादिवत्। ९. तद्रूपाणाम्—आत्मीयगुणानामित्यर्थः। १०. असमवायित्वम्—असमवायिकारणत्वम्। ११. सामान्यन्यायम्—सामान्यव्याप्तिमित्यर्थः। १२. अन्योन्याश्रयत्वप्रसङ्गादिति—द्रव्यमेव हि समवायिकारणं नाद्रव्यमिति तार्किकनिर्णयस्तथा चद्रव्यत्वे निश्चिते समवायित्वं तस्मिंश्च द्रव्यत्वं पार्य्यं निर्णेतुमित्यन्योऽन्याश्रयः।

एवं न चित्तजा धर्माश्चित्तं वाऽपि न धर्मजम् ।
[1]एवं हेतुफलाजातिं [2]प्रविशन्ति मनीषिणः ॥५४॥

[इस प्रकार उक्त हेतुओं से बाह्य पदार्थ चित्त से उत्पन्न नहीं हुए हैं और न आत्मविज्ञान स्वरूप चित्त ही बाह्य पदार्थों से उत्पन्न हुआ है । (क्योंकि सभी पदार्थ चित्त के अभास मात्र हैं) अतः मनीषी हेतु और फल की अनुपत्ती का ही निश्चय करते हैं ॥५४॥]

एवं यथोक्तेभ्यो हेतुभ्यो आत्मविज्ञानस्वरूपमेव [3]चित्तमि[4]ति न चित्तजा बाह्यधर्मा नापि बाह्यधर्मजं चित्तम् । [5]विज्ञानस्वरूपाभासमात्रत्वात्सर्वधर्माणाम् । एवं न हेतोः फलं जायते नापि फलाद्धेतु[6]रिति हेतुफलयोरजातिं हेतुफलाजातिं प्रविशन्त्यध्यवस्यन्ति । आत्मनि हेतुफलयोरभावमेव प्रतिपद्यन्ते ब्रह्मविद इत्यर्थः ॥ ५४ ॥

इस प्रकार पूर्वोक्त हेतुओं से यह सिद्ध हुआ कि चित्तविज्ञानस्वरूप ही है । बाह्यपदार्थ न तो चित्त से उत्पन्न हुए हैं और न बाह्य भूत-भौतिक पदार्थों से चित्त ही उत्पन्न हुआ है, क्योंकि समस्त धर्म विज्ञान स्वरूप के केवल आभासमात्र ही तो हैं । ऐसे ही न तो धर्माधर्म हेतु से शरीर रूप फल उत्पन्न होता है और न शरीररूप फल से धर्माधर्म रूप हेतु ही उत्पन्न होते हैं । इसीलिये ब्रह्मतत्त्वदर्शी-पुरुष हेतु और फल की अनुत्पत्ति निश्चित करते हैं अर्थात् आत्मा में हेतु और फलभाव नहीं है, यही ब्रह्म ज्ञानियों का निश्चय है ॥५४॥

---

[7]चिकीर्षितकुम्भसंवेदसमनन्तरं कुम्भः संभवति । संभूतश्चासौ कर्मतया स्वसंविदं जनयतीति व्यवहारोऽपि नोप द्यते । कस्यचिदपि विद्वद्दृष्टयनुरोधेनानन्यत्वादित्याह—एवमिति । यश्च धर्मादेः शरीरादेश्च कार्यकारणभावो विद्वद्दृष्ट्या पुरस्तान्निरस्तः [8]सोऽप्य[9]न्यत्वाभावेन सिध्यतीत्याह—एवं हेरिवति । तत्र पूर्वार्धं योजयति—एवमित्या-दिना । [10]आत्मस्वरूपस्य निर्विकारत्वमद्रव्यत्वम[11]प्रसिद्धत्वमित्यादयो यथोक्ता हेतवः । बाह्या धर्मा घटादयो नाऽऽ-त्मनः । [12]न च धर्मशब्दितानां जीवानां चित्तशब्दितात्परस्मादात्मनो जन्मेति युक्तम् । तेषां [13]प्रतिबिम्बकल्पानां बिम्बभूतब्रह्ममात्रत्वादित्यभिप्रेत्याऽऽह—विज्ञानेति । उत्तरार्धं योजयति—एवं नेति ॥५४॥

---

१. एवमिति—यथाभेदाभावेन चित्तधर्मयोर्न परस्परं जन्यजनकभावस्तथेत्यर्थः । २. प्रविशन्ति—निश्चिन्वन्ती-त्यर्थः । ३. चित्तमिति—चित्तशब्देनात्मस्वरूपविज्ञानमेव विवक्षितमित्यर्थः । ४. इतीति—तेन तदभिधानाद्धेतोरि-त्यर्थः । ५. विज्ञानेत्यादि—तत्प्रतिबिम्ब कल्पतयातन्मात्रत्वादित्यर्थः । ६. हेतुफलयोरिति—भावप्रधाननिर्देशेन हेतुत्वफलत्वयोरित्यर्थो बोधव्यः । ७. ननु संवेदनरूपस्यात्मनः कार्यकारणभावानङ्गीकारे तस्यानुभूयमानघटादिकारणत्व च नोपपद्यते इत्याशङ्क्या इष्टापत्त्यापरिहारपरतया एवमित्यादि पद्यमवतारयति—चिकिर्षितेति । ८. सोऽपीति —निरासोऽपीत्यर्थः । ९. अनन्यत्वादिति—आनुकूल्येन विज्ञानभिन्नत्वाभावादित्यर्थः । १०. आत्मस्वरूप-स्येत्यादि—आत्मस्वरूपस्य निर्विकारत्वं जन्ममरणनिर्मुक्ता इत्यादावुक्तम्, तस्या द्रव्यत्वं द्रव्यत्वमन्यभावो वा इत्यत्रैवोक्तम्, अप्रसिद्धत्वं च धर्मादेः शरीरादेश्च मिथः कार्यकारणभावासम्भवे हेतुतया फलादुपपद्यमानः सन् इति पद्योक्ततुल्यन्यायेन संवेदनघटादीनामन्योन्यकार्यकारणभावेऽबाधकतयाऽनुमन्धीयमानं बोध्यम् ।

११. अप्रसिद्धत्वमिति—कार्यकारणभावे हि यत् कारणत्वाभिमतं तत्पूर्वत्वेनैव प्रसेद्धुमर्हति न परत्वेन, यच्च कार्यत्वाभिमतं तत्परत्वेनैव न पूर्वत्वेनेति, न परस्परं कार्यकारणभावो घटते हेतुफलयोश्चित्तधर्मयोर्वेति भावः । १२. धर्म-शब्देन जीवाभिधानमित्यभिप्रेत्य विज्ञानेत्यादि-भाष्यमित्यभिप्रायेण तदाशयमाह—न चेति । १३. प्रतिबिम्बकल्पाना-मिति—न तु वस्तुतः प्रतिबिम्बमात्रमपीत्यर्थः ।

यावद्धेतुफलावेशस्तावद्धेतुफलोद्भवः ।
क्षीणे हेतुफलावेशे नास्ति हेतुफलोद्भवः ॥५५॥
यावद्धेतुफलावेशः संसारस्तावदायतः ।
क्षीणे हेतुफलावेशे संसारं न प्रपद्यते ॥५६॥

[जब तक हेतु फल भाव का आरोप (आत्मा में) हो रहा है, तभी तक हेतु और फल की उत्पत्ति भी है (किन्तु जिस समय अद्वैत बोध से अविद्या जनित) हेतु फल भाव का आवेश क्षीण हो जाता है, उस समय (हेतु फल भाव रूप) संसार की उत्पत्ति भी नहीं होती ॥५५॥]

[जब तक हेतु और फल का आग्रह है तभी तक संसार विस्तृत होता जाता है। हेतु फलाग्रह के क्षीण हो जाने पर (विद्वान्) संसार को प्राप्त नहीं होता ॥५६॥]

ये पुनर्हेतुफलयोरभिनिविष्टास्तेषां [1]किं स्यादित्युच्यते—धर्माधर्माख्यस्य हेतोरहं कर्ता मम धर्माधर्मौ तत्फलं कालान्तरे कचित्प्राणिनिकाये जातो भोक्ष्य इति यावद्धेतुफलयोरावेशो हेतुफलाग्रह आत्मन्यध्यारोपणं तच्चित्ततेत्यर्थः। तावद्धेतुफलयोरुद्भवो धर्माधर्मयोस्तत्फलस्य चा[2]नुच्छेदेन प्रवृत्तिरित्यर्थः। यदा पुनर्मन्त्रौषधिवीर्येणेव ग्रहावेशो यथोक्ताद्वैतदर्शनेनाविद्योद्भूतहेतुफलावेशोऽपनीतो भवति तदा तस्मिन्क्षीणे नास्ति हेतुफलोद्भवः ॥५५॥

यदि हेतुफलोद्भवस्तदा को दोष इति तत्राऽऽह—यावत्सम्यग्दर्शनेन हेतुफलावेशो न निवर्तते[3]ऽक्षीणः संसारस्तावदायतो दीर्घो भवतीत्यर्थः। क्षीणे पुनर्हेतुफलावेशे संसारं न प्रपद्यते कारणाभावात् ॥ ५६ ॥

हेतु-फलभाव के अभिनिवेश का परिणाम

किन्तु जो हेतु और फल में अभिनिविष्ट हैं उनका परिणाम क्या होगा ? इस पर कहते हैं—धर्माधर्म नामक हेतु का मैं कर्ता हूँ, मेरे पुण्य और पाप हैं। किसी दूसरे समय में कहीं पर प्राणी के शरीरों में जन्म लेकर उनका फल मैं भोगूँगा। इस प्रकार जब तक हेतु और फल का आवेश अर्थात् हेतु और फल का आत्मा में आरोप करना, यानी तन्मयता बनी हुई है, तब तक हेतु और फल का उद्भव भी है; अर्थात् पुण्य और पाप एवं उनके फल की निरवच्छिन्न रूप से प्रवृत्ति बनी हुई है। पर जब मन्त्र तथा औषध की सामर्थ्य से जैसे ग्रहों का आवेश निवृत्त हो जाता है, वैसे ही पूर्वोक्त अद्वैत-तत्त्व के साक्षात्कार से अविद्याजनितहेतु और फल का आवेश दूर हो जाता है। तब उक्त आवेश के क्षीण हो जाने पर हेतु और फल की उत्पत्ति भी नहीं होती ॥५५॥

हेतु और फल के आग्रह में दोष

यदि हेतु और फल का उद्भव होता रहे, तो उनमें दोष क्या है ? इस पर कहते हैं—कि जब तक यथार्थ आत्मबोध से हेतु और फल का आग्रह मिट नहीं जाता, तब तक संसार क्षीण नहीं हो सकता,

---

न फलाद्धेतुर्जायते नापि फलं हेतोरिति तत्त्वदृष्टयोपदिष्टम्। इदानीं मुमुक्षूणां तदभिनिवेशव्यावर्त्यर्थं तदभिनिवेशभावाभावयोस्तदुद्भवानुद्भवौ दर्शयति—यावदिति। श्लोकाक्षराण्याकाङ्क्षाप्रदर्शनपुरःसरं विवृणोति—ये ये पुनरित्यादिना ॥५५॥

अभिनिवेशवशाद्धेतुफलोद्भवे [4]किं भवति तदाह—यावदिति। अभिनिवेशनिवृत्त्या तदनुद्भवे वा किं स्यादि-

---

१. किमिति—फलमनिष्टमित्यर्थः। २. अनुच्छेदेनेति—नैरन्तर्येणेत्यर्थः। ३. अक्षीणः—अनिवृत्तः।
४. किमिति—अनिष्टफलमित्यर्थः।

[1]संवृत्या जायते सर्वं शाश्वतं नास्ति [2]तेन वै।
[3]सद्भावेन ह्यजं सर्वमुच्छेदस्तेन नास्ति वै ॥५७॥

[सभी पदार्थ व्यावहारिक दृष्टि से उत्पन्न होते हैं। अतः (आविद्यक कोई वस्तु) शाश्वत नहीं है। परमार्थ दृष्टि से तो सब कुछ अजन्मा आत्मा ही है। अतएव किसी के उच्छेद का प्रसङ्ग ही नहीं आता ॥ ५७ ॥

नन्वजादात्मनोऽन्यन्नास्त्येव तत्कथं हेतुफलयोः संसारस्य चोत्पत्तिविनाशावुच्येते त्वया। शृणु। संवृत्या संवरणं [4]संवृतिरविद्याविषयो लौकिको व्यवहारस्तया संवृत्या जायते [5]सर्वं [6]तेनाविद्याविषये शाश्वतं नित्यं नास्ति वै। अत उत्पत्तिविनाशलक्षणः संसार आयत [7]इत्युच्यते। परमार्थ-[8]सद्भावेन त्वजं सर्वमात्मैव यस्मात्। अतो जात्याद्यभावादुच्छेदस्तेन नास्ति वै कस्यचिद्धेतु-फलादेरित्यर्थः ॥ ५७ ॥

उल्टे विस्तृत होता जायगा, किन्तु हेतु फलावेश के क्षीण हो जाने पर विद्वान् संसार को प्राप्त नहीं होता, क्योंकि संसार प्राप्ति का कारण अब नहीं रह गया है ॥५६॥

पू०—अजन्मा आत्मा से भिन्न जब कोई वस्तु आप मानते नहीं, फिर हेतु और फल एवं संसार के उत्पत्ति विनाश की चर्चा तुम कैसे कर रहे हो ?

सि०—सुनो! अविद्याविषय लौकिकव्यवहार को संवृत्ति या संवरण कहते हैं। उस संवृत्ति से ही सब उत्पन्न होते हैं। अतः अविद्याविषयसंसार में कोई भी शाश्वत, यानी नित्यवस्तु नहीं है। इसीलिये उत्पत्ति-विनाशरूप संसार अत्यन्त विस्तृत कहा जाता है, क्योंकि परमार्थ-सत्यात्मा की दृष्टि से तो सब कुछ अजन्मा आत्म-स्वरूप ही है। अतः जन्म का अभाव होने के कारण किसी भी हेतु या फलादि का उच्छेद भी नहीं होता। जब किसी वस्तु का जन्म ही नहीं होता, तो भला उसका नाश भी क्या होगा ? यह इसका अभिप्राय है ॥५७॥

त्याशङ्क्याऽऽह—क्षीण इति। आकाङ्क्षापूर्वकं पूर्वार्धं योजयति—यदीति। उत्तरार्धं व्याचष्टे-क्षीणे पुनरिति ॥५६॥

कूटस्थमद्वितीयमात्मतत्त्वमि[9]च्छता कुतो जन्मनाशौ व्यवह्रियेते तत्राऽऽह—संवृत्येति। अविद्यया सर्वस्य जायमानत्वे सत्य[10]विद्याविषये नित्यं नाम नास्त्येवेत्याह—शाश्वतमिति। परमार्थतस्तु सर्वमजं कूटस्थमात्मेष्यते [11]तेन कल्पनां विना विनाशो नास्त्येव हेतुफलादेरित्याह—सद्भावेनेति। पूर्वापरविरोधमाशङ्कते—नन्विति। न तावदात्मनो जन्मविनाशौ तस्य कूटस्थत्वान्नापि ततोऽन्यस्य तौ युक्तौ तस्याद्वितीयत्वात्। [12]तथा च हेत्वादेर्जन्मस्य जन्मनाशौ न त्वया वक्तव्यावित्यर्थः। उच्यमाने समाधाने मनःसमाधानमर्थयते—शृण्विति। तत्र पूर्वभागाक्षरार्थं कथयति—संवृत्येत्यादिना। अविद्याविषये नित्यस्य वस्तुनोऽभावे फलितमाह—अत इति। द्वितीयार्धाक्षरार्थमाह—परमार्थेति। जात्याद्यभावो जन्मादिविक्रियामावस्तमेवोच्छेदाभावे हेतुं कथयति—तेनेति। यथा [13]पुरोवर्तिनि भुजगाभावमनुभवन्निवेकी नास्ति भुजंगो रज्जुरेषां कथं वृथैव बिभेपीति भ्रान्तमभिदधाति। भ्रान्तस्तु स्वकीयाद[14]पराधादेव

---

१. संवृत्या—अविद्ययेत्यर्थः। २. तेनैव—सर्वस्याविद्यकत्वेनैव। ३. सद्भावेन—सदात्मत्वरूपेणेत्यर्थः। ४. संवृत्तिरविद्याविषयः—अविद्यावाचकः संवृत्तिशब्दोऽत्र तद्विषये लाक्षणिकोऽवगन्तव्यः। ५. सर्वमिति—तथा च व्यवहारमात्रं जन्मादीति भावः। ६. तेनेति—जन्मादेराविद्यकत्वमात्रेणेत्यर्थः। ७. इत्युच्यत इति—व्यवहारमात्रमेव जन्मादीत्यर्थः। ८. सद्भावेन—आत्मत्वेनेत्यर्थः। ९. इच्छता—त्वयावेदान्तिनेत्यर्थः। १०. अविद्याविषये—अविद्यादशायां प्रतीयमानवस्तु किञ्चिदपीत्यर्थः। ११. तेन—वस्तुतो जन्माभावेन। १२. तथा चेति—जन्मादेरसम्भवे चेत्यर्थः। १३. पुरोवर्तिनि—रज्जुशकले। १४. अपराधादेव—अधिष्ठानाज्ञानरूपादेवेत्यर्थः।

धर्मा य [1]इति जायन्ते जायन्ते ते न तत्त्वतः ।
जन्म मायोपमं तेषां सा च माया न विद्यते ॥५८॥

[जीव या अन्य पदार्थ जो उत्पन्न होते हैं वे वस्तुतः उत्पन्न नहीं होते । यह तो केवल कल्पना मात्र है, क्योंकि उनका जन्म माया सदृश है और वास्तव में यह माया भी नहीं है, क्योंकि अविद्यमान वस्तु को ही माया नाम से कहते हैं ॥५८॥]

येऽप्यात्मानोऽन्ये च [2]धर्मा जायन्त इति [3]कल्प्यन्ते त इत्येवंप्रकारा यथोक्ता संवृतिर्निर्दिश्यते । संवृत्यैव धर्मा जायन्ते न ते तत्त्वतः परमार्थतो जायन्ते । यत्पुनस्त[4]त्संवृत्या [5]जन्म येषां तेषां धर्माणां यथोक्तानां यथा मायया [6]जन्म तथा तन्मायोपमं [7]प्रत्येतव्यम् । [8]माया नाम वस्तु [9]तर्हि नैवम् । सा च माया न विद्यते मायेत्यविद्यमानस्याऽऽख्येत्यभिप्रायः ॥५८॥

सभी वस्तु का जन्म मायिक है

जो भी आत्मा या अन्य पदार्थ उत्पन्न होते हैं, ऐसी कल्पना किये जाते हैं । वे इस प्रकार के सभी पदार्थ व्यावहारिकदृष्टि से ही उत्पन्न होते हैं, तात्त्विक दृष्टि से नहीं । श्लोक में आये इति शब्द से पूर्व श्लोक में कही गयी संवृत्ति का निर्देश किया गया है । जब कि उन पूर्वोक्त धर्मोंका व्यावहारिक दृष्टि से जो जन्म होता है वह जन्म माया से होता है । इसीलिये उस जन्म को माया के सदृश्य समझना चाहिये ।

तब तो माया एक वस्तु सिद्ध हो जाती है ? ऐसी बात नहीं, वह माया भी वास्तव में है नहीं । अभिप्राय यह कि अविद्यमान वस्तु का नाम माया है ॥५८॥

भुजंगं परिकल्प्य भीतः सम्पलायते । न च [10]तत्र विवेकिनो वचनं मूढदृष्ट्या विरुध्यते । तथा परमार्थकूटस्थात्मदर्शनं व्यावहारिकजन्मादि[11]वचनेनाविरुद्धमिति भावः ॥५७॥

संवृत्या जायते सर्वमित्युक्तं तदिदानीं प्रपञ्चयति—धर्मा इति । तत्राऽऽद्यं पादं विभजते—येऽपीति । प्रसिद्धावद्योतकत्वमितिशब्दस्य दर्शयति—त इत्येवंप्रकारा इति । एवंप्रकारत्वमेव स्फोरयति—यथोक्तेति । अनन्तरप्रकृता संवृतिरिशब्देनोक्ता । तथा च संवृत्यैव ते धर्मा जायन्ते न तु तेषां तत्त्वतो जन्मास्तीत्यर्थः । न ते तत्त्वत इत्युक्तं प्रपञ्चयति—परमार्थत इति । संवृत्याऽपि जन्म पारमार्थिकमेवेत्याशङ्क्य तृतीयपादं योजयति—यत्पुनररिति । प्रत्येतव्यं जन्मेति शेषः । चतुर्थपादार्थमाकाङ्क्षाद्वार स्फोरयति—मायेत्यादिना ॥५८॥

---

१. इतीति—संवृत्यैवेत्यर्थः । २. धर्माः—घटादयोऽनात्मानः । ३. कल्प्यन्ते—व्यवह्रियन्ते । ४. तत्—अपारमार्थिकम् । ५. जन्मेति—भवतीति शेषः । ६. जन्मेति—इन्द्रजालजन्यहस्त्यादीनामिति शेषः । ७. प्रत्येतव्यम्—निश्चेतव्यम् । ८. मायानामवस्त्विति—मायाया अमायिकत्वादिति भावः । मायिकत्वं हि असद्रूपत्वे प्रयोजकं, तदभावात्सा तथेति । ९. तर्हि—जन्मनो मायिकत्वे । १०. तत्र—पुरोवर्तिनि भुजगाभावे तद्विषयकमिति यावत् । ११. वचनेनेति—श्रौतेनेत्यर्थः, तस्यानुवादित्वादिति ध्येयम् ।

यथा मायामयाद्बीजाज्जायते तन्मयोऽङ्कुरः।
नासौ नित्यो न चोच्छेदी तद्वद्धर्मेषु योजना ॥५६॥
नाजेषु सर्वधर्मेषु शाश्वताशाश्वताभिधा।
यत्र [1]वर्णा न वर्तन्ते [2]विवेकस्तत्र [3]नोच्यते ॥६०॥

[जैसे मायामय (आम्रादि के) बीज से मायामय अंकुर उत्पन्न होता है, वह अङ्कुर न नित्य ही है और न नाशवान् ही है। वैसे ही धर्मों के विषय में भी जन्म नाशादि की योजना समझनी चाहिये ॥ ५६ ॥]

[सभी अजन्मा आत्मरूप धर्मों में नित्य अनित्य ऐसे नाम की प्रवृत्ति नहीं है। जिस आत्मा में शब्द ही प्रवृत्त नहीं होते वहाँ पर नित्यानित्य विवेक भी नहीं कहा जा सकता ॥६०॥]

कथं मायोपमं तेषां धर्माणां जन्मेत्याह। यथा मायामयादाम्रादिबीजाज्जायते तन्मयो मायामयोऽङ्कुरो नासावङ्कुरो नित्यो न चोच्छेदी विनाशी वा[4]भूतत्वात्तद्वदेव धर्मेषु [5]जन्मनाशादियोजना युक्तिः। न तु परमार्थतो धर्माणां जन्म नाशो वा युज्यत इत्यर्थः ॥५६॥

परमार्थतस्त्वात्मस्वजेषु [6]नित्यै[7]करसविज्ञप्तिमात्रसत्ताकेषु शाश्वतोऽशाश्वत इति वा नाभिधाना[8]भिधानं प्रवर्तत इत्यर्थः। यत्र येषु वर्ण्यन्ते यैरर्थास्ते वर्णाः शब्दा न [9]प्रवर्तन्तेऽभिधातुं प्रकाशयितुं न प्रवर्तन्त इत्यर्थः। इदमेवमिति विवेको [10]विविक्तता तत्र नित्योऽनित्य इति नोच्यते। "यतो वाचो निवर्तन्ते" (तै० २।४।१) इति श्रुतेः ॥६०॥

कैसे माना जाय कि उन पदार्थों का जन्म माया के सदृश है? इसपर कहते हैं—जैसे मायामय आम्र आदि के बीज से मायामय अंकुर उत्पन्न होता है, वह अंकुर न नित्य है, न नाशवान् ही है। वैसी ही असत्य होने के कारण पदार्थों में जन्म नाशादि की योजना यानी युक्ति कही गयी है। अभिप्राय यह है कि परमार्थ दृष्टि से किसी भी पदार्थ का जन्म और नाश होना युक्ति संगत नहीं है ॥५६॥

आत्मा वाणी का विषय नहीं है

परमार्थस्तु जो आत्मा अजन्मा, नित्य, एक रस, विज्ञानमात्र सत्ता स्वरूप है। उनके विषय में नित्य, अनित्य, ऐसे शब्द की भी प्रवृत्ति नहीं होती। जहाँ जिन लोगों के बीच में जो भी पदार्थ बतलाते हैं, वे वर्ण अर्थात् शब्द भी वास्तव में नहीं है। अतः उन्हें बतलाने के लिये शब्दों की भी प्रवृत्ति नहीं होती। 'यह ऐसा ही है' यानी नित्य है या अनित्य है, इस प्रकार का विवेक भी संभव नहीं है। इसीलिये श्रुति भी कहती है 'जहाँ से वाणी लौट आती है' ॥६०॥

जन्म मायोपमं तेषामित्युक्तं तदेव दृष्टान्तावष्टम्भेन साधयति—यथेत्यादिना। श्लोकाक्षराण्याकाङ्क्षां वर्शयन्योजयति—कथमित्यादिना ॥५६॥

यदुक्तं सद्भावेन ह्यजं सर्वमिति तत्प्रपञ्चयति—नाजेष्विति। आत्मनि [11]नित्यानित्यकथा नावतरतीत्यत्र हेतुमाह—यत्रेति। श्लोकस्य पूर्वार्धं व्याचष्टे—परमार्थतस्त्विति। द्वितीयार्धं व्याकरोति—यत्रेत्यादिना। तत्रेति प्रकृतेषु धर्मेष्विति यावत्। आत्मसु नित्या नित्यकथाभावे शब्दागोचरत्वं हेतुस्तत्र प्रमाणमाह—यत इति ॥६०॥

---

१. वर्णाः—शक्त्या बोधकाः। २. विवेकः—इतरेतरभेदः। ३. नोच्यते—नोपपादयितुं शक्यते। ४. अमूतत्वात्—असद्रूपत्वात्। ५. जन्मनाशादीति—अत्रादिना विकारान्तरं ग्राह्यम्। ६ नित्येति—उत्पत्यादि शून्येत्यर्थः। ७. एकरसेति—निःसामान्य विशेषेत्यर्थः निर्धर्मक इति यावत्। ८. अभिधानम्—शब्दः। ९. प्रवर्तन्ते—प्रभवन्ति। १०. विविक्तता—मियोभेदः। ११. नित्यानित्यकथेति—नित्यानित्यशब्दप्रयोग इत्यर्थः।

यथा स्वप्ने [1]द्वयाभासं चित्तं [2]चलति मायया ।
तथा जाग्रद्द्वयाभासं चित्तं चलति मायया ॥६१॥
[3]अद्वयं च द्वयाभासं चित्तं स्वप्ने [4]न संशयः ।
अद्वयं च द्वयाभासं तथा जाग्रन्न संशयः ॥६२॥
स्वप्नदृक्प्रचरन्स्वप्ने दिक्षु वै दशसु स्थितान् ।
अण्डजान्स्वेजान्वाऽपि जीवान्पश्यति यान्सदा ॥६३॥

[जैसे स्वप्नावस्था में माया के द्वारा ही मन ग्राह्य ग्राहक द्वैताभास रूप से स्फुरित होता है वैसे ही जाग्रत काल में यह मन माया से (नाना रूपों में) स्फुरित होता है ॥ ६१ ॥]

जैसे स्वप्न काल में अद्वितीय मन ही ग्राह्य ग्राहकादि द्वैत रूप से भासता है इसमें सन्देह नहीं, ठीक जाग्रत काल में भी निस्सन्देह अद्वितीय मन ही ग्राह्यग्राहकादि द्वैत रूप से भासने वाला है ॥६२॥]

[स्वप्न द्रष्टा स्वप्न में घूमता हुआ दशोंदिशाओं में स्थित जिन स्वदेश या अण्डज प्राणियों को सदा देखता है, (वास्तव में वे स्वप्न द्रष्टा से भिन्न नहीं होते) ॥ ६३ ॥]

यत्पुन[5]र्वाग्गोचरत्वं परमार्थतोऽद्वयस्य [6]विज्ञानमात्रस्य तन्मनसः स्पन्दनमात्रं न परमार्थत इति उक्तार्थौ श्लोकौ ॥ ६१ ॥ ६२ ॥

इतश्च वाग्गोचरस्याभावो द्वैतस्य। स्वप्नान्पश्यतीति स्वप्नदृक्प्रचरन्पर्यटन्स्वप्ने स्वप्नस्थाने दिक्षु

इसके अतिरिक्त परमार्थतः अद्वय विज्ञानमात्र आत्मा में वाणी विषयत्व का होना भी मन का स्फुरण मात्र ही है। वह परमार्थदृष्टि से नहीं है। इसप्रकार इन दोनों श्लोकों का व्याख्यान पहले अद्वैतप्रकरण में हो चुका है ॥६१-६२॥

स्वप्न के समान द्वैत भी नहीं है

इसलिये भी वाणी का विषय द्वैत का अभाव है। जो स्वप्नों को देखता है, वह स्वप्नद्रष्टा कहा

आत्मनः शब्दागोचरत्वे कथमसौ व्याख्यातृभिः शब्दैरेव प्रतिपाद्यतामा[7]चरतीत्याशङ्क्य चित्तस्पन्दनमात्र[8]मविचारसुन्दरं प्रतिपाद्यप्रतिपादकरूपं द्वैतमिति सदृष्टान्तमाह—यथेति। स्वप्ने प्रतिपाद्यप्रतिपादकद्वैतस्य चित्तस्पन्दितमात्रत्वेऽपि जागरिते कथं तथा स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—अद्वयं चेति। पौनरुक्त्यं श्लोकयोराशङ्क्य [9]शङ्कान्तरनिरासार्थत्वान्मैवमिति मन्वानः सन्नाह—यत्पुनरिति ॥ ६१ ॥ ६२ ॥

वाचो गोचरीभूतस्य द्वैतस्यासत्त्वे [10]हेत्वन्तरमाचक्षाणो दृष्टान्तमाचष्टे—स्वप्नदृगिति। यान्पश्यति ते न विद्यन्ते पृथगित्युत्तरत्र संबन्धः। श्लोकस्य तात्पर्यमाह—इतश्चेति। इतःशब्दार्थमेव स्फुटयन्नक्षराणि व्याचष्टे—

---

१. द्वयाभासमिति—प्रतिपाद्यप्रतिपादकयोर्द्वयोराभासो यत्रेति क्रियाविशेषणं प्रतिपाद्यप्रतिपादकद्वैताकारेण प्रतिभानं यथा स्यात्तथा चित्तं मनः। २. मायया चलति—अविद्यया स्पन्दते परिणमत इत्यर्थः। ३. अद्वयम्—अधिष्ठानस्वरूपतयैकं स्वप्ने चलतीत्यनुवर्तते प्रतीयत इति तदर्थः। ४. न संशयः—वादिप्रतिवादिनोरुभयोरपि सम्मतमेतदित्यर्थः। ५. वाग्गोचरत्वम्—शब्दप्रतिपाद्यत्वम्। ६. विज्ञानमात्रस्य—प्रतिपाद्यत्वाद्यसंस्पृष्टस्येत्यर्थः। ७. आचरतीति—प्राप्नोतीत्यर्थः। ८. अविचारसुन्दरम्—विचारं विनैवमनोहरम्। ९. शङ्कान्तरेति—जन्मादिशङ्काभिन्नप्रतिपाद्यत्वादिशङ्केत्यर्थः। १०. हेत्वन्तरमिति—पूर्वोक्तमायामयत्वहेत्वपेक्षया चित्तव्यतिरेकेणासत्त्वरूपं हेत्वन्तरमित्यर्थः।

स्वप्नदृक्चित्तदृश्यास्ते न विद्यन्ते ततः पृथक्।
तथा तद्दृश्यमेवेदं स्वप्नदृक्चित्तमिष्यते ॥६४॥
चरञ्जागरिते जाग्रद्दिक्षु वै दशसु स्थितान्।
अण्डजान्स्वेदजान्वाऽपि जीवान्पश्यति यान्सदा ॥६५॥

स्वप्न द्रष्टा के चित्त से देखे जाने वाले वे दृश्य पदार्थ, उससे (स्वप्न द्रष्टा के चित्त से) पृथक नहीं है। उसी प्रकार उस स्वप्न द्रष्टा का यह चित्त भी उस स्वप्न द्रष्टा का दृश्य ही है। (अर्थात् स्वप्न द्रष्टा से भिन्न चित्त कुछ भी नहीं) ॥६४॥]

[जाग्रदवस्था में घूमता हुआ जाग्रत् का साक्षी दशों दिशाओं में स्थित जिन अण्डज या स्वेदज जीवों को सदा देखता है ॥६५॥]

वै दशसु स्थितान्वर्तमानाञ्जीवान्प्राणिनोऽण्डजान्स्वेदजान्वा यान्सदा पश्यतीति। यद्येवं ततः किम्। उच्यते ॥६३॥

स्वप्नदृशश्चित्तं स्वप्नदृक्चित्तम्। तेन दृश्यास्ते जीवास्ततस्तस्मात्स्वप्नदृक्चित्तात्पृथङ्न विद्यन्ते न सन्तीत्यर्थः। चित्तमेव ह्यनेकजीवादिभेदाकारेण [1]विकल्प्यते। तथा तदपि स्वप्नदृक्चित्तमिदं तद्-दृश्यमेव, तेन स्वप्नदृशा दृश्यं तद्दृश्यम्। अतः स्वप्नदृग्व्यतिरेकेण चित्तं नाम नास्तीत्यर्थः ॥६४॥

जाग्रतो दृश्या जीवास्तच्चित्ताव्यतिरिक्ताश्चित्तेक्षणीयत्वात्स्वप्नदृक्चित्तेक्षणीयजीववत्। तच्च

जाता है। वही स्वप्नद्रष्टा स्वप्नस्थानों में भ्रमण करता हुआ दशों दिशाओं में वर्तमान जिन किन्हीं स्वेदज या अण्डज प्राणियों को देखता है, वे वास्तव में स्वप्नद्रष्टा से भिन्न नहीं है ॥६३॥

यदि ऐसी बात है, तो इससे सिद्ध क्या हुआ ? इस पर कहते हैं—कि स्वप्नदृक् चित्त अर्थात् स्वप्नद्रष्टाका चित्त, उस चित्त से देखे जाने वाले वे जीव उस स्वप्नद्रष्टा के चित्त से पृथक् नहीं हैं, यह इसका अभिप्राय है। चित्त ही अनेक जीवादि भेदरूप से विकल्पित होता है। ऐसे ही जीवादि के समान वह स्वप्न द्रष्टा का चित्त भी उसका दृश्य ही है। क्योंकि उस स्वप्न द्रष्टा से वह चित्त भी देखा जाता है। इसीलिये अन्यवस्तु के समान चित्त भी स्वप्नद्रष्टा का दृश्य है। कल्पितदृश्य द्रष्टा से भिन्न नहीं होता। अतः भाव यह है कि स्वप्न द्रष्टा से भिन्न उसका चित्त कुछ भी नहीं है ॥६४॥

उक्तार्थ का दार्ष्टान्त में समन्वय

जगे हुए पुरुष को दीखने वाले जीव उसके चित्त से भिन्न नहीं हैं, क्योंकि वे सभी चित्त से देखे जाते हैं। स्वप्नद्रष्टा के चित्त से दीखने वाले जीव के समान अर्थात् जैसे स्वप्नद्रष्टा के चित्त से

स्वप्नानिति। न ते विद्यन्त इति पूर्ववदन्वयः। स्वप्नदृशो विषयभूतानां भेदानां तत्र दृश्यमानत्वेऽपि द्वैतमेदमिथ्यात्वे किमायातमिति पृच्छति—यदीति। उत्तरश्लोकेनोत्तरमाह—उच्यत इति ॥६३॥

श्लोकाक्षराणि योजयन्कर्मधारयं व्यावर्तयति—स्वप्नेति। जीवादिभेदानां स्वप्ने दृश्यमानानामुक्तानां चित्ता-त्पृथगसत्त्वं साधयति—चित्तमेवेति। तर्हि द्रष्टा चित्तं चेति द्वयं स्वप्न स्वीकृतम्, नेत्याह—तथेति। तच्छब्दस्य चित्त-विषयत्वं व्यावर्तयति—तेनेति। स्वप्नावस्थस्य चित्तस्य स्वप्नदृग्विषयत्वे फलितमाह—अत इति ॥६४॥

दृष्टान्तनिविष्टमर्थं दार्ष्टान्तिके योजयति—चरन्नित्यादिना। जाग्रदवस्थो हि पुरुषो याञ्जीवान्पश्यतीत्यत्र जीव-

---

१. विकल्प्यत इति—प्रतीयत इत्यर्थः।

जाग्रच्चित्तेक्षणीयास्ते न विद्यन्ते ततः पृथक् ।
तथा तद्दृश्यमेवेदं जाग्रतश्चित्तमिष्यते ॥६६॥
उभे ह्यन्योन्यदृश्ये ते किं तदस्तीति चोच्यते ।
लक्षणाशून्यमुभयं तन्मतेनैव गृह्यते ॥६७॥

[वे जाग्रद् चित्त के दृश्य (स्वप्न चित्त दृश्य के समान ही) जाग्रत् द्रष्टा के चित्त से पृथक नहीं है। वैसे ही यह जाग्रत् चित्त भी जाग्रत् द्रष्टा का दृश्य माना जाता है। अतः यह भी द्रष्टा से भिन्न नहीं है ॥६६॥]

[वे (चित्त और चित्त के विषय जीव) दोनों एक दूसरे के दृश्य हैं। वे क्या वस्तु हैं ? (इसके उत्तर में विवेकी लोग कहते हैं कि) कुछ भी नहीं कहा जा सकता (क्योंकि स्वप्न के हाथी और उसे ग्रहण करने वाला चित्त दोनों ही अनिर्वचनीय हैं) ये दोनों ही प्रमाण शून्य हैं और केवल तच्चित्तता से ही ग्रहण किये जाते हैं (भाव यह कि उनमें प्रमाण और प्रमेय के भेद की कल्पना असंभव है ॥६७॥]

जीवेक्षणात्मकं चित्तं द्रष्टुरव्यतिरिक्तं द्रष्टृदृश्यत्वात्स्वप्नचित्तवत्। उक्तार्थमन्यत् ॥ ६५ ॥ ६६ ॥

जीवचित्ते उभे [1]चित्तचैत्ये ते अन्योन्यदृश्ये [2]इतरेतरगम्ये। जीवादिविषयापेक्षं हि चित्तं नाम भवति। चित्तापेक्षं हि जीवादि दृश्यम्। अतस्ते अन्योन्यदृश्ये। [3]तस्मान्न किंचिदस्तीति [4]चोच्यते

देखे जाने वाले जीव में चित्त दृश्यत्त्व है और चित्त से अभिन्नत्व है, वैसे ही जाग्रत पुरुष के चित्त से दीखने वाले जीव में भी चित्तदृश्यत्व हेतु है। अतः उसमें भी उसके चित्त से अभिन्नत्व रूप साध्य की सिद्धि हो जायगी। जैसे चित्त दृश्य चित्त से अभिन्न है, वैसे ही जीवों को देखने वाला चित्त अपने द्रष्टा से अभिन्न है। क्योंकि अपने द्रष्टा का दृश्य वह भी है, स्वप्नचित्त के समान अर्थात् जैसे स्वप्न-चित्त में स्वप्न द्रष्टा का दृश्यत्त्व रूप हेतु है, एवं द्रष्टा से अभिन्नत्व रूप साध्य भी है। वैसे ही जीव को देखने वाले चित्त में द्रष्टृ दृश्यत्व हेतु के विद्यमान रहने से द्रष्टा से अभिन्नत्त्वरूप साध्य की सिद्धि हो जाती है। शेष अर्थ पहले दृष्टान्त व्याख्यान द्वारा स्पष्ट हो चुका है ॥६५-६६॥

चित्त से दीखने वाले जीव और उसका द्रष्टा चित्त (मन) यानी चित्त और चित्त के विषय ये दोनों ही परस्पर एक दूसरे से जानने योग्य है, क्योंकि जीवादि विषय की अपेक्षा से चित्त है और चित्त की अपेक्षा से जीवादि विषय हैं। अतः वे दोनों परस्पर दृश्य हैं। इसी अन्योऽन्य विषयत्व के कारण वस्तुतः वे कुछ भी नहीं हैं। इसीलिये जब कोई प्रश्न करता है, वे क्या हैं ? तो विवेकशील

शब्देन कार्यकरणसंघाता गृह्यन्ते। चेतनानां दृश्यत्वाभावादिति द्रष्टव्यम्। श्लोकद्वये विवक्षितमनुमानद्वयमारचयति—जाग्रत इति। अक्षरव्याख्यानं तु दृष्टान्तव्याख्यानेनैव स्पष्टत्वान्न पृथगपेक्षितमिति विवक्षित्वाऽऽह—उक्तार्थमिति।६५।६६।

दृश्यदर्शनव्यतिरेकग्राहक[5]प्रमाणप्रतिहतं हेतुद्वयमित्याशङ्क्याऽऽह—उभे हीति। दृश्यदर्शने परस्परापेक्षसिद्धिके दृश्ये सिद्धे [6]तदवच्छिन्नं दर्शनं सिध्यति तस्य च सिद्धौ तदवच्छिन्नं दृश्यं दर्शनं वा सिध्य[7]त्यतो विभागावगाहि [8]प्रमाणाभावान्न तद्बाधो हेतुद्वयस्येत्यर्थः। किंच [9]संभावनायां प्रमाणप्रवृत्तिर्वक्तव्या न च दृश्यदर्शनयोर-

---

१. चित्तचैत्ये—विषयविषयिणौ। २. इतरेतरगम्ये—अन्योन्यग्राह्ये। ३. तस्मात्—परस्परदृश्यत्वात्। ४. चोच्यत इति—अत्र चकार एवकारानुकारीत्यर्थः। ५. प्रमाणप्रतिहतमिति—घटतज्ज्ञानादेर्भेदग्राहकप्रमाणं घटमहं पश्यामीत्यनुभवात्मकं तद्बाधितमित्यर्थः। ६. तदवच्छिन्नम्—तद्विषयकम्। ७. अतः—दृश्यदर्शनयोरन्यतरस्यापि निरपेक्षसिद्ध्यभावादित्यर्थः। ८. प्रमाणाभावादिति—सिद्धयोरेव हि भेदः प्रमाणेन गृह्यते ज्ञानज्ञेययोश्च नोक्तरीत्या सिद्धिः सम्भवतीति नोक्तानुभवस्य तद्भेदेप्रमाण्यमिति भावः। ९. सम्भावनायाम्—प्रमेयसम्भावनार्थमिति भावः।

चित्तं वा चित्तेदृश्यं वा किं तदस्तीति विवेकिनानोच्यते। न हि स्वप्ने हस्ती हस्तिचित्तं वा विद्यते तथेहापि विवेकिनामि[1]त्यभिप्रायः। [2]कथम्। लक्षणाशून्यं लक्ष्यतेऽनयेति लक्षणा प्रमाणं प्रमाणशून्यमुभयं चित्तं चैत्यं द्वयं यतस्तन्मतेनैव [3]तच्चित्ततयैव तद्गृह्यते। न हि घटमतिं [4]प्रत्याख्याय घटो गृह्यते नापि घटं प्रत्याख्याय घटमतिः। न हि [5]तत्र प्रमाणप्रमेयभेदः शक्यते कल्पयितुमित्यभिप्रायः ॥६७॥

व्यक्ति को यही उत्तर देना पड़ता है कि चित्त या चित्तदृश्य दोनों में से एक भी सत्य नहीं है। जैसे स्वप्न में दीखने वाला हाथी और उसका देखने वाला चित्त है नहीं, ठीक वैसे ही जाग्रत् के सभी वस्तु और उसके देखने वाले चित्त के सम्बन्ध में विवेकशील पुरुषों को मिथ्यात्व बतलाना हो अभीष्ट है।

कैसे? क्योंकि वे चित्त और चैत्य उनके विषय दोनों ही प्रमाणशून्य हैं, जिससे कोई पदार्थ लक्षित होता हो उसे लक्षणा यानी प्रमाण कहते हैं। वे तन्मयता से ही गृहीत होते हैं, क्योंकि घट बुद्धि को त्यागकर न तो घट का ही ग्रहण होता है, और न घट को छोड़कर घट बुद्धि ही गृहीत होती है। ऐसी परिस्थिति में कौन प्रमाण है, और कौन प्रमेय है? ऐसे प्रमाण और प्रमेयभेद की कल्पना नहीं की जा सकती है ॥६७॥

न्यतरस्यापि नैरपेक्ष्येण संभावना भवत्यन्योन्याश्रयदोषात्। तथा च [6]परस्परपुरस्कारेण सिध्यदुभयं कल्पितमेव स्यादिति मत्वाऽऽह—किं तदिति। तद्दृश्यं दर्शनं वा किमस्तीति पृष्टे विवेकिना नास्तीत्येवोच्यते प्रागुक्तदोषादित्यर्थः। किंच प्रामाणिकस्यैव प्रामाणिको भेदः संभवति। न च दृश्यदर्शनयोः स्वरूपे प्रमाणमस्तीत्याह—लक्षणेति। कथं [7]तर्हि प्रमाणप्रमेयविभागो वादिभिर्गृह्यते [8]तच्चित्ततादोषेणेत्याह—तन्मतेनेति। तत्र प्रथमं पादं विभजते—जीवेति। ते जीवचित्ते [9]इति संबन्धः। अन्योन्यदृश्यत्वमितरेतरग्राह्यत्वं तदेव स्पष्टयति—जीवाविति। द्वितीयपादं व्याचष्टे—तस्मादिति। [10]तदेव स्फुटयति—चित्तं वेति। किं तदस्तीति पृष्टे सति न किंचिदस्तीत्युच्यते विवेकिनेति योजना। उक्तमेवार्थं दृष्टान्तेन विवृणोति—न हीति। इहेति जागरितोक्तिः। द्वितीयार्धं व्याचिख्यासतया पृच्छति—कथमिति। [11]तदेवावतार्य व्याकरोति—लक्षणेत्यादिना। यतस्ततो न तद्भेदस्य प्रामाणिकत्वमिति शेषः। कथं तर्हि लौकिकानां परीक्षकाणां च प्रमाणप्रमेयविभागप्रवृत्तिरित्याशङ्क्य चतुर्थपादार्थमाह—तन्मतेनेति। [12]तदेव प्रपञ्चयति—

---

१. इतीति—चैत्यं वा नास्तीति शेषः। २. कथमिति—तयोरभाव इति प्रश्नः। ३. तच्चित्ततयैव तद्गृह्यत इति—तच्छब्देनोभयत्र चित्तचैत्ये उच्येते चित्तशब्देनेतद्विषयकं ज्ञानमुच्यत इत्थं भावे तृतीया, तथा च अन्यतरविषयकज्ञानत्वविशिष्टेन ज्ञानेनैव चित्तं चैत्यं च गृह्यते, एकमपरस्यसाधकमिति भावः। चित्तज्ञाने हि चैत्यं शक्यं ज्ञातु चैत्यज्ञाने च चित्तमितीतरेतराश्रयणमिहाभिविवित्सितं वेदितव्यम्। ४. प्रत्याख्याय—अज्ञात्वेत्यर्थः। ५. तत्रेत्यादि—घटतज्ज्ञानयोः प्रमाणप्रमेयविभाग इत्यर्थः। ६. परस्परपुरस्कारेण—परस्परापेक्षयेत्यर्थः। ७. तर्हि—तयोः स्वरूपे प्रमाणाभाव इत्यर्थः। ८. तच्चित्ततादोषेण—दृश्यदर्शनसंस्कारवशादिति यावत्। ९. इति सम्बन्ध इति—तच्छब्दस्य विधेयान्वये ह्युद्देश्यान्वयी यच्छब्दोऽपेक्ष्येत न चासावस्तीति पूर्वोक्तपरामर्शकतयोद्देश्यान्वय्येव तच्छब्द इति भावः। १०. तदेव—चित्तचैत्याभावमेवेत्यर्थः। ११. तदेवावतार्य—द्वितीयार्धमेवानुवाद्येत्यर्थः। १२. तदेवेति—उभयस्मिन्नेकज्ञानविषयत्वमेव। घटज्ञानस्य प्रमाणाधीनत्वात् प्रमाणज्ञानस्य च विशिष्टबुद्धौ विशेषणबुद्धेः कारणतया घटज्ञानाधीनत्वे न तद्विशेषणभूत घटाधीनत्वस्यापि सत्त्वादिदमेवं तयोस्तत्त्वान्योऽन्यसापेक्षत्वम्।

यथा स्वप्नमयो जीवो जायते म्रियतेऽपि च ।
तथा जीवा अमी सर्वे भवन्ति न भवन्ति च ॥६८॥
यथा मायामयो जीवो जायते म्रियतेऽपि च ।
तथा जीवा अमी सर्वे भवन्ति न भवन्ति च ॥६९॥
यथा निर्मितको जीवो जायते म्रियतेऽपि वा ।
तथा जीवा अमी सर्वे भवन्ति न भवन्ति च ॥७०॥

[जैसे स्वप्न का जीव उत्पन्न होता और मरता भी है, वैसे ही ये जाग्रद् के जीव उत्पन्न होते और मरते हैं ॥६८॥]

[जैसे मायामय जीव उत्पन्न होता और मरता भी है, वैसे ही ये सब जीव उत्पन्न होते और मरते भी हैं ॥६९॥]

[जैसे (मन्त्र औषाधादि से) रचा हुआ जीव उत्पन्न होता और मरता भी है, वैसे ही ये जाग्रद के सभी मनुष्यादि जीव उत्पन्न होते और मरते भी हैं ॥७०॥

मायामयो मायाविना यः कृतो निर्मितको मन्त्रौपध्यादिभिर्निष्पादितः । स्वप्नमायानिर्मितका अण्डजादयो जीवा यथा जायन्ते म्रियन्ते च यथा मनुष्यादिलक्षणा अविद्यमाना एव [1]चित्तविकल्पनामात्रा इत्यर्थः ॥६८॥६९॥७०॥

मायावी ने जिस मायामय पदार्थ को रचा, मन्त्र और औषधी आदि से निर्मित्त जिस पदार्थ का संपादन किया। स्वप्न माया और मन्त्रादि से बने हुए अण्डज आदि जीव जैसे उत्पन्न होते और मरते भी हैं। वैसे ही मनुष्यादिरूप जीव अविद्यमान होते हुए भी चित्त की कल्पनामात्र ही हैं। यही तीनों श्लोकों का तात्पर्य है ॥६८-६९-७०॥

न हीति । घटे किं प्रमाणमित्युक्ते [2]ज्ञानमित्यनुत्तरमतिप्रसङ्गान्नापि घटज्ञानमन्योन्याश्रयप्रसङ्गाद[3]तो न घटतज्ज्ञानयोर्मानमेयभावः संभवतीत्यर्थः ॥ ६७ ॥

दृश्यानामण्डजादीनां दर्शनातिरिक्तानामसत्त्वानुमानस्य [4]भेदग्राहकप्रमाणबाधं परिहृत्य दर्शनातिरिकेण तेषामसत्त्वे जन्मादिप्रत्ययबाधः स्यादित्याशङ्क्य परिहरति—यथेत्यादिना । मायामयस्य निर्मितकस्य च जीवस्य विशेषं बुभुत्समानं प्रत्याह—मायेति । संविदतिरेकेणाण्डजादीनां परमार्थतः सत्त्वाभावानुमानस्य न जन्मादिप्रतिभासबाधः । सत्त्वाभावेऽपि स्वप्नादिषु [5]जन्मादिविकल्पबाहुल्योपलम्भादिति श्लोकत्रयस्य तात्पर्यमाह-स्वप्नेत्यादिना ।६८।६९।७०।

---

१. चित्तविकल्पनामात्राः—चित्तपरिणाममात्राः । २. ज्ञानमिति—ज्ञानसामान्यं ज्ञानविशेषो वेत्ति विकल्प्याद्यं निराकरोति—अतिप्रसङ्गादिति—पटज्ञानस्यापि घटे प्रामाण्यप्रसङ्गादित्यर्थः । द्वितीयमनूद्यदूषयति नापीति—अन्योन्याश्रयप्रसङ्गादिति घटतत्प्रमाणयोरन्योऽन्यज्ञानेऽन्योऽन्यसापेक्षत्वेनज्ञप्तावन्योऽन्याश्रयप्रसङ्गादितिसंक्षेपः । घटतज्ज्ञानयोः प्रमाण प्रमेयभावज्ञान प्रतितयोर्ज्ञानस्य कारणत्वं वाच्यम्, तद्धर्मिकज्ञानं प्रति तज्ज्ञानस्य कारणत्वात्तथा च तयोर्ज्ञसावन्योऽन्याश्रयः प्रमेयात्मक घटज्ञानं प्रतिप्रमाणतया घटज्ञानस्यकारणत्वं प्रमाणात्मकघटज्ञानज्ञानं प्रति च तद्विशेषणीभूतघटज्ञानस्यकारणतया घटस्यापि कारतावच्छेदकत्वेन प्रयोजकतारूपकारणतावत्त्वादिति विस्तरः । ३. अतः—पक्षद्वयस्यापि दुष्टत्वात् । ४. भेदग्राहकप्रमाणबाधमिति—प्रमाणप्रमेयविभागावगाहिप्रतीतिमूलकबाधमित्यर्थः । एतेन वक्ष्यमाणजन्मादिप्रतीतेरपि भेदग्राहकार्थापत्तिरूपप्रमाणसम्पादकतयैव बाधप्रयोजकतया भेदग्राहकप्रमाणबाधं परिहृत्येतीदमसंगतमित्यपास्तम् । ५. जन्मादिप्रत्ययबाध इति—जीवानां विज्ञानव्यतिरेकेण सत्त्वाभावे तेषु जन्मादि प्रत्ययो न स्यादिति जन्मादिप्रतीतिमूलकार्थापत्त्योक्तानुमानस्य बाधः स्यादित्यर्थः ।

न कश्चिज्जायते जीवः [1]संभवोऽ[2]स्य न विद्यते।
एतत्तदु[3]त्तमं सत्यं [4]यत्र किंचिन्न जायते ॥७१॥
[5]चित्तस्पन्दितमेवेदं [6]ग्राह्यग्राहकवद्द्वयम्।
चित्तं निर्विषयं नित्यमसङ्गं तेन कीर्तितम् ॥७२॥

[वास्तव में कोई जीव उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि उसके जन्म की संभावना ही नहीं है। उत्तम सत्य यही है कि जहाँ पर कोई भी वस्तु उत्पन्न नहीं होती ॥७१॥

[विषय और इन्द्रियों से युक्त यह सम्पूर्ण द्वैत चित्त का स्फुरण मात्र है। पर चित्त (परमार्थतः आत्मा होने से) निर्विषय है। अतएव वह चित्त नित्य असंग कहा गया है (जो सविषय होता है ऐसे चित्त का ही विषय के साथ सङ्ग हो सकता है) ॥७२॥]

[7]व्यवहारसत्यविषयजीवानां जन्ममरणादिः स्वप्नादिजीववदित्युक्तम्। उत्तमं तु परमार्थसत्यं न कश्चिज्जायते जीव इति। उक्तार्थमन्यत् ॥७१॥

सर्वं ग्राह्यग्राहकवच्चित्तस्पन्दितमेव द्वयं चित्तं परमार्थत आत्मैवेति निर्विषयं तेन निर्विषयत्वेन नित्यमसङ्गं कीर्तितम्। "असङ्गो ह्ययं पुरुषः बृ० ४।३।१५।१६" इति श्रुतेः। सविषयस्य हि विषये सङ्गः। निर्विषयत्वाच्चित्तमसङ्गमित्यर्थः ॥७२॥

सर्वोत्तमसत्य अजाति ही है

व्यावहारिक सत्ता में भी जीवों के जो जन्म मरणादि हैं, वे स्वप्नादि जीवों के समान ही हैं, ऐसा अभी कह आये हैं। सर्वोत्तमसत्य तो यही है कि कोई भी जीव उत्पन्न होता ही नहीं। अक्षरों का व्याख्यान अद्वैतप्रकरण के अन्तिम श्लोक में कर आये हैं। अतः शेष अंश की व्याख्या अनावश्यक है ॥७१॥

निर्विषय होने से चित्त असंग है

विषय और इन्द्रियों से युक्त सम्पूर्ण द्वैत चित्त का स्पन्दन ही है। वह चित्त परमार्थतः आत्मस्वरूप ही है। अतः वह निर्विषय है। उसी निर्विषयता के कारण वह चित्त सर्वदा असंग कहा गया है, क्योंकि 'यह पुरुष असंग ही है' ऐसा श्रुति भी कहती है। विषय युक्त चित्त का ही अपने विषय म संग हुआ करता है, यह तो निर्विषय है। अतएव यह चित्त असंग है। यह इसका तात्पर्य है ॥७२॥

यस्तु जन्मादि सत्यमिति मन्यते तं प्रति प्रागुक्तं स्मारयति—न कश्चिदिति। वृत्तानुवादपूर्वकं श्लोकतात्पर्यमाह—व्यवहारेति। अक्षराणि न व्याख्येयानि व्याख्यातत्वादित्याह—उक्तार्थमिति ॥७१॥

[8]संवेदनस्य [9]कल्पितदृश्योपहितरूपेण दृश्यत्वान्न द्रष्टृव्यतिरेकेण सत्त्वमिति स्वप्नदृष्टान्तेनोक्तमिदानीं तत्त्वतः संवेदनस्य [10]विषयसंबन्धाभावादात्मैव संवेदनमित्याह—चित्तेति। अक्षरार्थं कथयति—सर्वमित्यादिना। निर्विषयत्वेनासङ्गत्वे सिद्धे श्रुतिमपि संवादयति—असङ्गो हीति। श्रुतियुक्तिसिद्धमसङ्गत्वं [11]साधयति—सविषयस्येति ॥ ७२ ॥

१. सम्भवः—कारणम्। २. अस्य—अद्वितीयस्य। ३. उत्तममिति—उक्तव्यावहारिकसत्यमनोनिरोधाद्यपेक्षयोत्तममित्यर्थः। ४. यत्र—प्रत्यगभिन्ने ब्रह्मणि। ५. चित्तस्पन्दितमेव—चिद्विवर्तरूपमेव। ६. ग्राह्येत्यादि—दृश्यदर्शनात्मकं सर्वमेवद्वैतमित्यर्थः। ७. व्यवहारेत्यादि—व्यावहारिकसत्यस्य विषया आश्रया ये जीवास्तेषां व्यावहारिकसत्ताश्रयजीवानामिति यावत्। ८. संवेदनस्य-चित्तशब्दितचैतन्यस्य। ९. कल्पितेत्यादि—कल्पितवृत्त्युपहितरूपेण। १०. विषयेति—वृत्यादिविषयेत्यर्थः। ११. साधयति—द्रढयति।

[1]योऽस्ति [2]कल्पितसंवृत्या परमार्थेन नास्त्यसौ ।
[3]परतन्त्राभिसंवृत्या स्यान्नास्ति परमार्थतः ॥७३॥

[कल्पित व्यवहार से जो भी शास्त्रादि पदार्थ दीखता है, वह परमार्थ से नहीं है और यदि परमतावलम्बियों के शास्त्र व्यवहार से पदार्थ भी हो तो भी परमार्थतः निरुपण करने पर वह सिद्ध नहीं हो सकता (इससे उसकी असंगता युक्त ही है) ॥७३॥]

ननु निर्विषयत्वेन चेदसङ्गत्वं चित्तस्य न निःसङ्गता भवति यस्माच्छास्ता शास्त्रं शिष्यश्चेत्येवमादेर्विषयस्य विद्यमानत्वात्। नैष दोषः। कस्मात्। यः पदार्थः शास्त्रादिर्विद्यते स कल्पितसंवृत्या कल्पिता च सा परमार्थप्रतिपत्त्युपायत्वेन संवृतिश्च सा तया योऽस्ति परमार्थेन नास्त्यसौ न विद्यते। ज्ञाते द्वैतं न विद्यत इत्युक्तम्। यश्च परतन्त्राभिसंवृत्या परशास्त्रव्यवहारेण स्यात्पदार्थः स [4]परमार्थतो निरूप्यमाणो नास्त्येव। तेन युक्तमुक्तमसङ्गं तेन कीर्तितमिति ॥७३॥

पारमार्थिक दृष्टि से व्यावहारिक वस्तु मिथ्या ही है

पू०—यदि निर्विषय होने से ही किसी वस्तु में असंगता होती है तो चित्त की निःसंगता कभी भी हो नहीं सकती, क्योंकि गुरु, शास्त्र और शिष्य इत्यादि उसके विषय विद्यमान है ?

सि०—यह दोष नहीं है। क्योंकि जो भी शास्त्रादि पदार्थ हैं, वे कल्पित व्यावहारिक दृष्टि से ही हैं और परमार्थ तत्त्व की प्राप्ति के उपाय रूप से उस संवृत्ति की कल्पना मात्र की गयी है। ऐसे कल्पित व्यवहार से जो पदार्थ सत्ता वाला प्रतीत होता है, वह परमार्थ दृष्टि से सत्य नहीं हैं, क्योंकि परमार्थतत्त्व के ज्ञान हो जाने पर द्वैत नहीं रह जाता, ऐसा पहले आगम प्रकरण में कहा जा चुका है। इसके अतिरिक्त अन्य वैशेषिक के पारिभाषिक व्यवहारानुरोध से जो पदार्थ सिद्ध है, वह परमार्थदृष्टि से निरूपण किये जाने पर है ही नहीं। इसलिये यह कथन ठीक ही है कि 'वह असंग बतलाया गया है' कल्पितपरिभाषा के आधार पर कही गयी वस्तु की सत्ता परमार्थदृष्टि से जब सिद्ध ही नहीं होती तो चित्त का निर्विषय होना उचित ही है। इसीलिये इसे असंग बतलाना भी युक्तियुक्त ही है ॥७३॥

निर्विषयत्वेन चित्तस्यासङ्गत्वं संगीतं तदसंगतं शास्त्रादेर्विषयस्य सत्त्वादित्याशङ्क्याऽऽह—योऽस्तीति। ननु परमार्थतो वैशेषिकाः षट् पदार्थान्द्रव्यादिसमवायान्तानातिष्ठन्ते [5]तथा च चित्तस्य कथमसङ्गत्वं तत्राऽऽह—परेति। [6]वैशेषिकपरिभाषिकव्यवहारानुरोधेन पदार्थो यो द्रव्यादिः समवायान्तः स्यात्स परमार्थतोऽस्ति किंतु संवृत्या प्रतिभाति तस्मादविरुद्धमसङ्गत्वमित्यर्थः। व्यावर्त्यं चोद्यमुत्थापयति—नन्विति। तत्र यस्मादिति सामान्योक्तं हेतुं विशेषतो व्यक्ति—शास्तेति। आदिशब्देन प्रमाता प्रमाणं मेयमित्यादि गृह्यते। असङ्गत्वाक्षेपं परिहरति—नैष दोष इति। तत्र निर्विषयत्वहेतुं प्रश्नपूर्वकं पूर्वार्धयोजनया साधयति—कस्मादित्यादिना। परमार्थतो द्वैतस्यासत्त्वे वाक्योपक्रममनुगुणमादर्शयति—ज्ञात इति। द्वितीयार्धं योजयति—यश्चेति। न हि द्रव्यस्य लक्षणं गुणादिपञ्चकस्य [7]ततो व्यावर्तकप्रातिस्विकलक्षणप्रतिपत्तिमन्तरेण प्रकल्प्यते। तथा च तत्तल्लक्षणस्तत्प्रतिपत्तौ तदितरप्रतिपत्तिः। तत्प्रतिपत्तौ च तत्तल्लक्षणतस्तत्तद्व्यावृत्ततत्तत्प्रतिपत्तिरिति परस्पराश्रयान्न किंचिदपि वस्तुतः सिध्येदित्यर्थः। वस्तुतो निर्विषयस्यैव सिद्धत्वादसङ्गत्वं चित्तस्य प्रागुक्तं संगतमेवेत्युपसंहरति—तेनेति ॥ ७३ ॥

१. यः—शुक्तिरूप्यादिपदार्थः। २. कल्पितसंवृत्या—काल्पनिकव्यवहारेण। ३. परतन्त्रेत्यादि—परकीयशास्त्रानुरोधेन। ४. परमार्थतः—द्रष्टयानुपहितस्वीयरूपेणेत्यर्थः। ५. तथा चेति—तत्तत्पदार्थसत्त्वे चेत्यर्थः। ६. वैशेषिकेति—तदीय शास्त्रसंकेतमूलक व्यवहारेत्यर्थः। ७. ततः—द्रव्यतः।

अजः कल्पितसंवृत्या परमार्थेन नाप्यजः।
परतन्त्राभिनिष्पत्त्या संवृत्या जायते तु सः ॥७४॥

[शास्त्रादि कल्पित व्यवहार के कारण ही आत्मा "अज" कहा जाता है। परमार्थ दृष्टि से वह अज भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अन्य मतावलम्बियों के शास्त्रों से सिद्ध (भ्रान्ति जन्य) व्यवहार के कारण ही वह उत्पन्न होता है ऐसा माना गया है ॥७४॥]

ननु शास्त्रादीनां [1]संवृतित्वेऽज इतीयमपि कल्पना संवृतिः स्यात्। सत्यमेवम्। शास्त्रादिकल्पितसंवृत्यैवाज इत्युच्यते। परमार्थेन नाप्यजः। यस्मात्परतन्त्राभिनिष्पत्त्या परशास्त्रप्रसिद्धिमपेक्ष्य योऽजः इत्युक्तः स संवृत्याजायते। [2]अतोऽज इतीयमपि [3]कल्पना [4]परमार्थविषये नैव क्रमत इत्यर्थः ॥७४॥

कल्पित व्यवहार के कारण ही आत्मा में अजत्व की कल्पना

पू०—यदि शास्त्रादि को व्यावहारिक मानोगे, तो आत्मा 'अज है' ऐसी कल्पना भी व्यवहारिक ही सिद्ध होगी ?

सि०—यह बात तो ऐसी ही है। शास्त्रादि कल्पित व्यवहार के कारण ही आत्मा अज है ऐसा कहा जाता है, परमार्थ दृष्टि से तो वह अज भी नहीं है, क्योंकि जब अन्य दार्शनिक उसे जन्मने वाला मानते हैं तो इन शास्त्रों की सिद्धि की अपेक्षा से आत्मा अज है ऐसा कह दिया गया है जब उसका जन्म ही व्यवहार दृष्टि से होता है तो भला अजत्व कल्पना भी व्यावहारिक हो, इसमें क्या आपत्ति है। अतः वह अज है, ऐसी कल्पना परमार्थ विषय में प्रवेश ही नहीं करती। हाँ अजत्वादि व्यवहार से उपलक्षित स्वरूप चिन्मात्र तत्त्व अकल्पित अवश्य है, क्योंकि वह सम्पूर्ण कल्पनाओं का अधिष्ठान है ॥७४॥

शास्त्रादिभेदकल्पनायाः [5]संवृतिसिद्धत्वे तदधीनात्मन्यजत्वकल्पनाऽपि संवृतिसिद्धैव स्यादित्याशङ्क्याङ्गी करोति—अज इति। कल्पितमात्मन्यजत्वमित्यत्र हेतुमाह—परतन्त्रेति। परिणामवादप्रसिद्ध[6]जन्मना भ्रान्त्यैवाऽऽत्मा जायते जन्मनश्च विभ्रमत्वे तन्निषेधस्याजत्वस्यापि तथात्वं युक्तमित्यर्थः। श्लोकव्यावर्त्यामाशङ्कामाह—नन्विति शास्त्रादिभेदस्य कल्पितत्वे तत्प्रयुक्तमात्मन्यजत्वमपि कल्पितं स्यादित्यर्थः। किमजोऽयमात्मेति व्यवहारस्य कल्पितत्वं किंवा तदुपलक्षितस्य रूपस्येति विकल्प्याद्यमङ्गी करोति—सत्यमिति। अजोऽयमित्यभिधानस्य [7]संवृतिप्रयुक्तत्वात्तद्व्यवहारस्य [8]कल्पितत्वमिष्टमित्यर्थः। कैवल्यावस्थायामजोऽयमित्यभिधानाभावमभ्युपेत्य [9]व्यावर्त्यं दर्शयति—परमार्थेनेति। आत्मन्यजत्वव्यवहारस्य कल्पितत्वे द्वितीयार्धव्याख्यानेन हेतुमाह—यस्मादिति। परेषां परिणामवादिनां शास्त्रे या परिणामप्रसिद्धिस्तामपेक्ष्य तन्निषेधेन योऽज इत्यात्मोक्तः सः [10]संवृत्यैव यतो जायतेऽतश्च प्रतियोगिनो जन्मनः संवृतिसिद्धित्वात्तन्निषेधरूपमजत्वमपि तादृगेवेत्यर्थः। अजत्वादिव्यवहारोपलक्षितस्वरूपस्याकल्पितत्वम्। तस्य कल्पनाधिष्ठानत्वात्। न च कल्पितस्य शास्त्रादेरकल्पितेन प्रमितिहेतुत्वं प्रतिबिम्बादौ बिम्बादिप्रमितिहेतुत्वस्य संप्रतिपन्नत्वादिति द्रष्टव्यम् ॥७४॥

---

१. संवृत्तित्वे—व्यवहारमात्रत्वे। २. अतः—आत्मजन्मनः संवृत्तिसिद्धत्वात्। ३. कल्पना—संवृत्तिः स्यात्। ४. परमार्थविषये—परमार्थभूते वस्तुनि नैव प्रसरतीत्यर्थः। ५. संवृत्तिसिद्धत्वे—काल्पनिकव्यवहारसिद्धत्वे। ६. जन्मनेति—जन्मनिमित्तकयेत्यर्थः। ७. संवृत्तिप्रयुक्तत्वात्—भ्रान्तिमूलकत्वादित्यर्थः। ८. कल्पितत्वम्—कल्पितविषयत्वमित्यर्थः। ९. व्यावर्त्यमिति—अजत्वसंवृत्तिप्रयुक्तत्वकथनस्य व्यावर्त्यमित्यर्थः। १०. संवृत्यैव—भ्रान्त्यैवेत्यर्थः।

अभूताभिनिवेशोऽस्ति द्वयं तत्र न विद्यते।
द्वयाभावं स बुद्ध्यैव निर्निमित्तो न जायते ॥७५॥
यदा न लभते हेतूनुत्तमाधममध्यमान्।
तदा न जायते चित्तं हेत्वभावे फलं कुतः ॥७६॥

[असत्य द्वैत में लोगों का केवल आग्रह है वहाँ (परमार्थ वस्तु में) द्वैत की गन्ध भी नहीं, (क्योंकि मिथ्या आग्रह ही जीव के जन्म का कारण है) अतः द्वैतभाव को जानकर ही निमित्त रहित वह जीव फिर उत्पन्न नहीं होता ॥७५॥

[जब चित्त उत्तम (देवत्व आदि का कारण), मध्यम (मनुष्यत्त्वादि प्राप्ति के कारण) और अधम (पश्वादि योनि प्राप्ति के कारण) हेतुओं को प्राप्त नहीं करता तव (परमार्थ बोध हो जाने से) उसका जन्म भी नहीं होता, क्योंकि हेतु के अभाव में फल कहाँ से होगा ॥७६॥]

यस्मादसद्विषयस्तस्माद[1]सत्यभूते द्वैतेऽभिनिवेशोऽस्ति केवलमभिनिवेश आग्रहमात्रम्। द्वयं [2]तत्र न विद्यते। मिथ्याभिनिवेशमात्रं च जन्मनः कारणं यस्मात्तस्माद्द्वयाभावं बुद्ध्वा निर्निमित्तो निवृत्तिमिथ्याद्वयाभिनिवेशो यः स न जायते ॥७५॥

[3]जात्याश्रमविहिता [4]आशीर्वर्जितैरनुष्ठीयमाना धर्मा देवत्वादिप्राप्तिहेतव उत्तमाः [5]केवलाश्च धर्माः। अधर्मव्यामिश्रा मनुष्यत्वादिप्राप्त्यर्था मध्यमाः। तिर्यगादिप्राप्तिनिमित्ता अधर्म[6]लक्षणा प्रवृ-

---

द्वैताभिनिवेश से जन्म होता है

क्योंकि विषय असत्य है। अतः असत्यरूप द्वैत में केवल अविवेकी पुरुषों का अभिनिवेश (आग्रह) मात्र ही रहा है। परमार्थतस्तु द्वैत तो है ही नहीं। जब कि मिथ्याभिनिवेश मात्र ही जीव के जन्ममरणादि दुःख का कारण है। अतः द्वैताभाव को साक्षात् जानकर जो निमित्तरहित हो गया है अर्थात् मिथ्या द्वैत विषय में जिसका अभिनिवेश (आग्रह) मिट गया है, वह फिर जन्म नहीं लेता ॥७५॥

कामनारहित पुरुषों द्वारा वर्णाश्रमादिविहित धर्म का अनुष्ठान किये जाने पर जो केवल धर्म ही है अर्थात् अधर्म मिश्रित नहीं है, वे देवत्वप्राप्ति के हेतु माने जाते हैं और जो मनुष्यत्वादिप्राप्ति के कारण अधर्ममिश्रित धर्म हैं, वे मध्यम कोटि के कारण है एवं तिर्यगादियोनियों की प्राप्ति के निमित्त अधर्ममयी विशेष प्रवृत्तियाँ हैं वे अधम कोटि के हेतु हैं। जब सम्पूर्ण कल्पना से रहित एक अद्वितीय

ननु ज्ञानस्य कल्पितशास्त्रादिजन्यत्वे मिथ्यात्वाच्च पुनरावृत्तिफलसाधनत्वं तत्राऽऽह—अभूतेति। यदि [7]द्वितीयः संसारः सत्यः स्यात्तदा तन्निवृत्त्ये साधनमपि वस्तुभूतमभिधीयते मिथ्याभिनिवेशमात्रस्य तु मिथ्योपायजन्येनापि ज्ञानेन वस्तुनिष्ठेन निवृत्तिः सिध्यतीति श्लोकार्थं कथयति—यस्मादित्यादिना ॥७५॥

निर्निमित्तो न जायत इत्युक्तं [8]तदेतत्प्रपञ्चयति—यदेति। उत्तमान्हेतून्विभजते—जातीति। आशीर्वर्जितैः फलतृष्णारहितैरधिकारिभिरिति यावत्। देवत्वादीत्यादिशब्देनो[9]त्कृष्टं जन्म गृह्यते। केवलत्वं धर्माणां [10]प्राधान्यम्।

---

१. असत्यभूते—मिथ्याभूते। २. तत्रेति—विषयसप्तमी। तथा चाभिनिवेशविषयः द्वयं—द्वैताख्यः प्रपञ्चो न विद्यते नास्तीत्यर्थः। ३. जात्यादि—जातिर्ब्राह्मणत्वादिः, आश्रमो ब्रह्मचर्यादि, तदुद्देशेनविहिता इत्यर्थः। ४. आशीर्वर्जितैः—निष्कामैः। ५. उत्तमानामपि अधर्ममिश्रत्वेन मध्यमत्ववारणाय—केवलाश्चेति विशेषणम्। ६. लक्षणाः—प्राया इत्यर्थः। ७. द्वितीयः—अद्वितीयात्मापेक्षया द्वितीयः। ८. तदेतत्—जन्मनिमित्ताभाववतो जन्मराहित्यमित्यर्थः। ९. उत्कृष्टम्—ब्राह्मणादीत्यर्थः। १०. प्राधान्यम्—अधर्मापेक्षयात्याधिक्यरूपं बोद्धव्यम्।

अनिमित्तस्य चित्तस्य याऽनुत्पत्तिः समाऽद्वया ।
अजातस्यैव सर्वस्य चित्तदृश्यं हि तद्यतः ॥७७॥

[(इस प्रकार परमार्थ ज्ञान के द्वारा धर्माधर्मादि) निमित्त के निवृत हो जाने पर चित्त की जो मोक्ष नामक अनुत्पत्ति है, वह सर्वथा निर्विशेष और अद्वितीय है, (क्योंकि बोध से पूर्व भी) सभी अजात चित्त की अनुत्पत्ती समान ही थी। चित्त दृश्य का जन्म तो कल्पना मात्र है ॥७७॥]

त्तिविशेषाश्चाधमाः। तानुत्तममध्यमाधमानविद्यापरिकल्पितान्यदैकमेवाद्वितीयमात्मतत्त्वं सर्वकल्पनावर्जितं जानन्न लभते न [1]पश्यति यथा बालैर्दृश्यमानं गगन[2]तल[3]मलं विवेकी न पश्यति तद्वत्तदा न जायते नोत्पद्यते चित्तं देवाद्याकारैरुत्तमाधममध्यमफलरूपेण। न ह्यसति हेतौ फलमुत्पद्यते बीजाद्यभाव इव सस्यादि ॥७६॥]

हेत्वभावे चित्तं नोत्पद्यत इति ह्युक्तम्। सा पुनरनुत्पत्तिश्चित्तस्य कीदृशीत्युच्यते। परमार्थदर्शनेन निरस्तधर्माधर्माख्योत्पत्तिनिमित्तस्यानिमित्तस्य चित्तस्येति या मोक्षाख्याऽनुत्पत्तिः सा सर्वदा सर्वावस्थासु समा निर्विशेषाऽद्वया च। [4]पूर्वमप्यजातस्यैवानुत्पन्नस्य चित्तस्य सर्वस्याद्वयस्येत्यर्थः। यस्मा-

आत्मतत्त्व का ज्ञान हो जाता है उस समय उत्तम, मध्यम और अधम अविद्या परिकल्पित उन हेतुओं को साधक वैसे ही नहीं प्राप्त करता, जैसे गगन में अज्ञानियों के द्वारा देखी गयी तलमलीनता को विवेकी पुरुष नहीं देखता। अतएव उस समय उत्तम, मध्यम और अधम फल रूप से देवादिशरीरों में तत्त्वज्ञानी पुरुष जन्म नहीं लेता। जैसे बीजादि के अभाव में अन्नादि उत्पन्न नहीं होते, वैसे ही हेतु के न रहने पर फल की उत्पत्ति भी नहीं होती। इस प्रकार अज्ञानियों के द्वारा देखे गये हेतु ज्ञानियों को सर्वथा नहीं दीखते, इस बात को सिद्ध कर दिया गया है ॥७६॥

हेतु के अभाव में चित्त उत्पन्न नहीं होता, ऐसा पहले कहा जा चुका है। पर वह चित्त की अनुत्पत्ति कैसी है ? इस पर कहते हैं—परमार्थ तत्त्व के अपरोक्षानुभव से जन्म का कारण धर्माधर्म जिसका निवृत्त हो गया है, उस निमित्त रहित चित्त की जो मोक्ष नामक अनुत्पत्ति है, वह निर्विशेष अद्वितीय रूप से सर्वदा सभी अवस्थाओं में समान ही है। तात्पर्य यह है कि उत्पत्ति रहित सर्वाधिष्ठान अद्वितीय चित्त की अनुत्पत्ति रूप मोक्ष पूर्व से ही सिद्ध है, क्योंकि तत्त्व ज्ञान से पूर्व भी जो चित्त

मनुष्यत्वादीत्यादिशब्देन [5]मध्यमयोनयो गृह्यन्ते। तिर्यगादीत्यादिशब्देना[6]धमं जन्म संगृह्यते। वाक्यीयज्ञानादज्ञाननिवृत्तौ [7]तन्निवृत्त्यर्थं विशिनष्टि—अविद्येति। अविदुषां प्रतीयमाना हेतवो विदुषां न प्रतिभान्तीत्येतद्दृष्टान्तेन स्फुटयति—यथेति। उक्तेऽर्थे हेतुत्वेन चतुर्थपादं व्याचष्टे—न हीति ॥७६॥

तदा न जायते चित्तमिति कालपरिच्छेदप्रतीतेरा[8]गन्तुकत्वमाशङ्क्य परिहरति—अनिमित्तस्येति। चित्तस्य हि निमित्तवर्जितस्य नित्यसिद्धस्य या सर्वदाऽनुत्पत्तिः सा [9]निर्विशेषाऽद्वितीया चेत्यत्र हेतुमाह—अजातस्येति। सर्वस्य द्वैतस्य चित्तदृश्यत्वेन मिथ्यात्वान्नित्यसिद्धस्य परिपूर्णस्य चित्ताख्यस्य स्फुरणस्य जन्मायोगात्तदनुत्पत्तिरु[10]क्तलक्षणा युक्तेत्यर्थः। उक्तमनूद्याऽऽकाङ्क्षापूर्वकं श्लोकमवतार्य व्याकरोति—हेत्वभाव इत्यादिना। यथा रूप्यकल्पनाकालेऽपि शुक्तेररूप्यत्वं स्वाभाविकं [11]तथा जन्मकल्पनाकालेऽपि संविदो निर्विशेषाद्वितीयब्रह्मता स्वाभाविकी जन्मभ्रमनिवृ-

१. पश्यति—निश्चिनोति। २. तलम्—तलत्वम्, कटाहकारत्वमित्यर्थः। ३. मलम्—मलत्वं नीलादिरूपमितियावत। ४. पूर्वमपीति—अधिष्ठानज्ञानात् प्रागपीत्यर्थः। ५. मध्यमयोनयः—गवादियवः पशूनामुत्तमाः ग्राह्याः। ६. अधमम्—चाण्डालादेरित्यर्थः। ७. तन्निवृत्त्यर्थम्—जन्महेतुनिवृत्त्यर्थम्। ८. आगन्तुकत्वम्—जन्माभावस्येत्यर्थः। ९. निर्विशेषाः—कादाचित्कत्वादिरूपागन्तुकधर्मशून्याः। १०. उक्तलक्षणा—निर्विशेषा—अद्वयाचेत्यर्थः। ११. तुरेवार्थकः।

बुद्ध्वाऽनिमित्ततां सत्यां हेतुं पृथगनाप्नुवन् ।
वीतशोकं तथाकाममभयं पदमश्नुते ॥७८॥

[अनिमित्तता को ही परमार्थ रूप जानकर और देवादि योनियों की प्राप्ति के लिये किसी) अन्य धर्मादि कारण को न प्राप्त कर विद्वान् शोक और काम से मुक्त हो अभय पद को प्राप्त कर लेता है ॥७८॥]

त्प्रागपि विज्ञानाच्चित्तदृश्यं तद्द्वयं जन्म च तस्मादजातस्य सर्वस्य सर्वदा चित्तस्य समाऽद्वयैवानुत्पत्तिर्न पुनः कदाचिद्भवति कदाचिद्वा न भवति । सर्वदैकरूपैवेत्यर्थः ॥७७॥

यथाक्तेन न्यायेन जन्मनिमित्तस्य द्वयस्याभावादनिमित्ततां च सत्यां परमार्थरूपां बुद्ध्वा हेतुं धर्मादिकारणं देवादियोनिप्राप्तये पृथगनाप्नुवन्ननुपाददानस्त्यक्तबाह्यैषणः सन्कामशोकादिवर्जितमविद्यादिरहितमभयं पदमश्नुते पुनर्न जायत इत्यर्थः ॥७८॥

दृश्य उत्पन्न हो रहा था वह वस्तुतः अद्वितीय रूप ही था। अतः उत्पत्ति रहित सभी चित्त की सर्वदा समान ही अद्वय रूपता और अनुत्पत्ति है। ऐसा नहीं कि कभी उत्पत्ति होती है और कभी नहीं होती। भाव यह है कि चित्त की अद्वय रूपता और अनुत्पत्ति सभी अवस्थाओं में समान ही है। अतः रज्जु-सर्प की भाँति द्वैत और उसका जन्म मिथ्या है ॥७७॥

तत्त्वज्ञानी अभयपद प्राप्त करता है

जब कि पूर्वोक्त न्याय से जन्म के निमित्त द्वैत का अभाव है। अतः निमित्त रहित सत्य को ही पारमार्थिक रूप जानकर और देवादि योनियों की प्राप्ति में किसी अन्य धर्मादि को कारण न मानता हुआ सम्पूर्ण बाह्य ऐषणाओं से मुक्त तत्त्वज्ञानी कामना एवं शोकादि से रहित, अविद्या से शून्य अभय पद को प्राप्त कर लेता है। तात्पर्य यह कि त्रिकालाबाधित सत्य में जन्म का कोई निमित्त नहीं है और जन्म के हेतु वादियों से स्वीकृत धर्माधर्मादि भी सिद्ध न हो सके। ऐसी स्थिति में उक्त रहस्य को जानने वाले विद्वान का फिर जन्म नहीं होता, किन्तु वह अभयपद को प्राप्त कर लेता है ॥७८॥

त्यपेक्षया तु तदा न जायत इत्युक्तमित्याह—सर्वदेति । न केवलं मोक्षावस्थस्यैव चैतन्यस्याजत्वं किंतु [1]घटाद्युपरक्तस्यापीत्यभिप्रेत्याऽऽह—सर्वावस्थास्विति । सर्वस्यैव चित्प्रतिबिम्बस्य बिम्बकल्पब्रह्मरूपत्वादिति हेतुमभिप्रेत्याऽऽह—अद्वया चेति । तृतीयपादार्थं कथयति—पूर्वमपीति । तत्र हेतुमाह—यस्मादिति । तस्माद्रज्जुसर्पवद्द्वैतस्य जन्मनश्च दृश्यत्वाद्वस्तुतोऽसत्त्वादिति यावत् ॥७७॥

द्वयाभावे स बुद्ध्वैव निर्निमित्तो न जायत इत्युक्तं [2]तदिदानीं प्रपञ्चयति—बुद्ध्वेति । [3]द्वैताभावोपलक्षितां

---

१ घटाद्युपरक्तस्य—घटाद्यधिष्ठानस्येत्यर्थः । २. तदिदानीं प्रपञ्चयति—द्वैताभावस्य प्राप्तामागन्तुकत्वशङ्कां परिहृत्य उपक्रान्तद्वैतदर्शनाभाववतो जन्मराहित्यमेव इदानीं प्रपञ्चयतीत्यर्थः । ३. अत्र संविदमिति शेषं कल्पयित्वा संविज्जन्मनिमित्तस्य धर्माधर्मादिरूपद्वैतस्य अभावोऽनिमित्तं तस्य भावोऽनिमित्तता तां द्वैताभावस्वरूपां संविदमिति वर्णयन्ति केचित् । अपरे पुनः द्वैताभावत्वस्य द्वैताभावधर्मतया संविदश्चाद्वैताभावधर्मरूपत्वाभावात्तदसङ्गतं मन्वाना द्वैताभावत्वोपलक्षितत्वस्य विवक्षितार्थत्वं समर्थयन्तः स्वस्य स्वोपलक्षितत्वं नादर्शीति द्वैताभाववासनैः संविदीतरैनं श्रदधीयन्त, तैश्चततो द्वैताभावत्ववत्त्वमभ्युपगच्छद्भिः संविदोऽधिकरणरूपतामाश्रित्याभावस्य तदनाश्रयिपक्षापेक्षमसमीचीनत्वमुररीकृत्यमित्यखिलमाविलमवलोक्य प्रत्ययार्थमनर्थीकृत्य प्रकृत्यर्थोपलक्षितत्वमाह—द्वैताभावोपलक्षितामिति, कदाचिद्द्वैताभाववतीमिति यावत् । कादाचित्कत्वस्यैवोपलक्षणत्वमुपगन्तव्यं नादर्शीति ... टीका कारैरिति ।

[1]अभूताभिनिवेशाद्धि [2]सदृशे तत्प्रवर्तते ।
वस्त्वभावं स बुद्ध्यैव निःसङ्गं विनिवर्तते ।।७६।।

[असत्य द्वैत के सत्यत्त्वाग्रह से ही चित्त तदनुरूप विषयों में प्रवृत्त होता है और द्वैत वस्तु के अभाव को जानकर ही (मिथ्याभिनिवेश जन्य विषय से) वह निस्संगत होकर लौट आता है।७६।]

यस्मादभूताभिनिवेशादसति द्वयेऽद्वयास्तित्वनिश्चयोऽभूताभिनिवेशस्तस्माद्[3]विद्याव्यामोहरूपाद्धि सदृशे तदनुरूपं तच्चित्तं प्रवर्तते । तस्य द्वयस्य वस्तुनोऽभावं यदा बुद्धवांस्तदा [4]तस्मान्निःसङ्गं निरपेक्षं सद्विनिवर्ततेऽभूताभिनिवेश[5]विषयात् ।।७६।।

क्योंकि द्वैत वस्तुतः असत् है, ऐसे मिथ्या द्वैत में सत्यत्त्व का आग्रह ही अभूताभिनिवेश है। इस अविद्याजनितमोहरूप अभूताभिनिवेश के कारण ही वह चित्त अपने अनुरूप (अभूतानिविवेश) विषयों में प्रविष्ट होता है, किन्तु जब वह उस अद्वैत वस्तु के अभाव को समझ लेता है, तब उस मिथ्याभिनिवेश जन्य विषय से निःसंग यानी निरपेक्ष हो सर्वदा के लिये लौट आता है ।।७६।।

---

[6]सत्तामनाद्यनन्तां परमार्थभूतां [7]प्रतिपद्य देवादियोनिप्राप्तो धर्मादिहेतुमसांकर्येणानुतिष्ठन्यदा विद्वानवतिष्ठते तदा [8]सर्वसंसारकारणरहितं पदम श्नुवानो न पुनः शरीरं गृह्णातीत्यर्थः । श्लोकं व्याचष्टे—यथोक्तेनेति—दृश्यत्वादिना हेतुना द्वैतस्य रज्जुसर्पादिवदेव कल्पितत्वं यथोक्तो न्यायस्तेन चैतन्यस्य जन्मनि यद्द्वयं निमित्तं [9]तस्याभावताम[10]भावोपलक्षितां सत्तां निमित्ताभावात्क्वनाद्यनन्तां तस्मादेव सत्यां बुद्ध्वेति योजना । पृथगिति देवतादिप्रकृष्टजन्मप्राप्तये धर्मं मनुष्यत्वप्राप्तये धर्माधर्मौ तिर्यगाद्यधमयोनिप्राप्तये चाधर्ममसांकर्येणानुतिष्ठन्निति यावत् । प्रकृतस्य ज्ञानवतो धर्माद्यनुष्ठानायोगे हेतुं सूचयति—त्यक्तेति । कार्यभूतसर्वानर्थराहित्यमुक्त्वा पुनरभयमित्यस्यार्थमाह—अविद्येति ।।७८।।

[11]यथोक्तपदप्राप्तिः सदाऽस्तीत्याशङ्क्याऽऽह—अभूतेति । व्यभिचारित्वादिहेतुभिर[12]द्वयात्मदर्शनेन वा साध्यंसाधनात्मनो द्वैतस्य वस्तुनोऽभावं यदा पुमान्बुद्धवांस्त[13]दावस्त्वभावं पुरुषो बुद्ध्यैव [14]निःसङ्गं चित्तं यथा पुनर्न प्रवर्तते तथा तन्निवृत्तिमनुनिवृत्तो भवतीत्यर्थः । अक्षराणि विभजते—यस्मादित्यादिना । यस्मादभूताभिनिवेशात्तदनुरूपे चित्तं प्रवर्तते [15]तस्मा[16]न्निःसङ्गं विनिवर्तते इति संबन्धः । अभूताभिनिवेशमेव विशदयति—असतीति । अभिनिवेशस्याविद्याव्यामोहरूपत्वमन्वयव्यतिरेकसिद्धमिति वक्तुं हीत्युक्तम् । तदनुरूप इत्यत्र तच्छब्देनाभिनिवेशो गृह्यते । तस्येति । अभिनिवेशविषयस्येत्यर्थः ।। ७६ ।।

---

१. अभूतेत्यादि—मिथ्याद्वैताभिनिवेशादिति । २. सदृशे—अभूताभिनिवेशविषयभूतद्वैते इत्यर्थः । ३. अविद्येत्यादि—अविद्याजन्यभ्रान्तिरूपादित्यर्थः । ४. तस्मान्निःसङ्गमिति—स्वविषयेऽद्वैते प्रवृत्तिप्रयोजकादभूताभिनिवेशात् विश्लिष्टमित्यर्थः । ५. विषयात्—द्वैतात् ।

६. सत्तामिति—अत्र च संविदमिति विशेषस्य पदस्याध्याहृतत्वेन टीकायामुभयत्र सत्तापदस्थाने सत्यामिति पाठोबोध्यः । ७, प्रतिपद्य—निश्चित्येत्यर्थः । ८, सर्वसंसारकारणरहितमिति—शोकादिसंसाररहितं कामादितत्कारणरहितं चेत्यर्थः । ९. तस्याभावतामिति—अनेननिमित्तस्याभावोऽनिमित्तं तस्य भावोऽनिमित्ततेति विग्रहो ध्वनितः । १०. अभावोपलक्षितां सत्तामिति—अभावस्य च भावोऽधिष्ठानतया तदनुगता ब्रह्मसत्त्वैव तयेति भावः । ११. यथोक्तपदेति—अभयपदेत्यर्थः । १२. अद्वयात्मदर्शनेनेति—'नेहनानास्ति' इत्यादि श्रुत्येत्यर्थः । १३. तदेत्यादि—यथोक्तपदप्राप्तेः स्वरूपत्वात् वस्तुतः सदातनत्वेऽपि तद्बोधसापेक्ष एव तत्र कालपरिच्छेदव्यवहार इति भावः । १४. निःसङ्गं चित्तमिति —द्वैतसंसर्गविधुरं चैतन्यमित्यर्थः । १५. तस्मादिति—स्वविषये द्वैते प्रवृत्तिप्रयोजकादभूताभिनिवेशादित्यर्थः १६ निःसङ्गमिति—विश्लिष्टं सत् विनिवर्तते यत्र प्रवृत्तं चित्तं ततो विनिवर्तते ।

निवृत्तस्या [1]प्रवृत्तस्य निश्चला हि तदा स्थितिः ।
विषयः स हि बुद्धानां तत्साम्यमजमद्वयम् ॥८०॥
अजमनिद्रमस्वप्नं प्रभातं भवति स्वयम् ।
[2]सकृद्विभातो ह्येवै[3]ष धर्मो [4]धातुःस्वभावतः ॥८१॥

[उस समय द्वैत विषय से निवृत्त और विषयान्तर में अप्रवृत्त चित्त की निश्चल ब्रह्म स्वरूपा स्थिति हो जाती है। तत्त्वदर्शी पुरुषों का ही वह विषय है और वह निर्विशेष अज एवं अद्वितीय है ॥८०॥]

[वह अज निद्रा रहित, स्वप्न रहित और (आदित्यादि की अपेक्षा न रखने वाला) स्वयं प्रकाश है। यह (आत्मा नामक) धर्म वस्तु स्वभाव से ही सदा भासमान है ॥८१॥

निवृत्तस्य [5]द्वैतविषया[6]द्विषयान्तरे चाप्रवृत्तस्या[7]ऽदर्शनेन [8]चित्तस्य निश्चला चलनवर्जिता ब्रह्मस्वरूपा स्थितिश्चित्तस्या[9]द्वयविज्ञानैकरसघनलक्षणा। स हि यस्माद्विषयो गोचरः परमार्थदर्शिनां बुद्धानां [10]तस्मा[11]त्तत्साम्यं परं [12]निर्विशेषमजमद्वयं च ॥८०॥

पुनरपि कीदृशश्चासौ बुद्धानां विषय इत्याह—स्वयमेव तत्प्रभातं भवति नाऽऽदित्याद्यपेक्षं

मनोवृत्तियों की सन्धिकाल में ब्रह्मतत्त्व का दर्शन

जिस समय द्वैतविषय से चित्त निवृत्त हो जाता है और विषयान्तर में प्रवृत्त नहीं होता। उस समय द्वैताभाव का निश्चय हो जाने के कारण चित्त की स्थिति निश्चल, चलन क्रिया से शून्य ब्रह्म-स्वरूप ही हो जाता है। यह जो ब्रह्मस्वरूपा अद्वय विज्ञानैकरसघनरूपा ब्रह्ममयी चित्त की स्थिति है वह परम साम्य, निर्विशेष, अज और अद्वय रूप है, क्योंकि यह केवल परमार्थ तत्त्वदर्शी ज्ञानियों का ही विषय है ॥८०॥

आत्मा का पारमार्थिक स्वरूप

वह ज्ञानियों का ही विषय किस प्रकार है ? इस पर फिर से कहते हैं—क्योंकि वह स्वयं ही प्रकाशित होता है। यानी वह अपने प्रकाश के लिये आदित्यादि की अपेक्षा नहीं रखता। इसलिये वह

अभयं पदमश्नुत इत्यत्र हेतुमाह—निवृत्तस्येति। विद्वदनुभवैकगम्यत्वादशेषकल्पनातीतत्वाच्च सिद्धं मोक्षस्याभयादिरूपत्वमित्याह—विषय इति। अक्षरार्थं कथयति—निवृत्तस्येत्यादिना ॥८०॥

यो गोचो विदुषां विषयो दर्शितस्तमेव पुनर्विनष्टि—अजमिति। स्वयंप्रभातत्वे हेतुमाह—सकृदिति। कल्पितस्य सर्वस्य धारणाद्धर्मो [13]नासौ कथमपि परतन्त्रो भवितुमर्हत्यनवस्थानादतः स्वयंज्योतिरित्याह—धर्म इति। किंच धीयते निधीयन्ते सर्वं [14]निक्षिप्यते सुषुप्तावस्मिन्निति धातुरात्मोच्यते। [15]तथा च सर्वस्य ज्ञानसाधनस्योप-

---

१. निवृत्तेरात्यन्तिकत्वं विवक्षित्वाह—अप्रवृत्तस्येति, प्रवृत्त्यन्तरप्रागभावासमानकालिकत्वं तस्यास्तत्वं विवक्षितमिति भावः। २. सकृद्विभातः—एकवारमेवाभिव्यक्तः पुनरनावृतत्त्वादित्यर्थः। ३. एषः—नित्यापरोक्षः। ४. धातुस्वभावत इति—वस्तुस्वाभाव्यादेव असावेवंविध इत्यर्थः। ५. द्वैतविषयात्—वर्तमानिकादित्यर्थः। ६. विषयान्तरे—विषयान्तरे अद्वैतात्मकस्वरूपविषये वा। ७. अभावदर्शनेन—द्वैताभावनिश्चयेन। ८. चित्तस्य—चित्तः। ९. अद्वयेत्यादि—द्वैतशून्यविज्ञप्तिमात्रानन्दाखण्डस्वरूपेत्यर्थः। १०. तस्मात्—विद्वद्विषयत्वात्। ११. परमार्थज्ञानसम्भवः इत्याशयेनाह—तत्साम्यम्—उक्तस्थितिरूपं वस्तु। १२. निर्विशेषम्—निखिलधर्मशून्यम्। १३. ननु धर्मपदस्यवृत्तिमत्परतया कथमधिकरणपरतया व्याख्यायते इत्यत आह—[illegible]विति। १४. निक्षिप्यते—विलीयते। १५. तथा च—आत्मनः सर्वलयाधिष्ठानत्वे च।

सुखमाव्रियते नित्यं दुःखं विव्रियते सदा।
यस्य कस्य च धर्मस्य ग्रहेण भगवानसौ ॥८२॥

[वह अद्वय आत्मा जिस किसी द्वैत वस्तु के मिथ्याभिनिवेश के कारण सहज ही आवृत हो जाता है और (परमार्थ बोध दुर्लभ होने के कारण) सदा कठिनाई से प्रकट होता है ॥८२॥

स्वयंज्योतिःस्वभावमित्यर्थः। सकृद्विभातः सदैव विभात इत्येतत्। एष एवंलक्षण आत्माख्यो धर्मो धातुस्वभावतो वस्तुस्वभावत इत्यर्थः ॥८१॥

एवमुच्यमानमपि परमार्थतत्त्वं कस्मा[1]ल्लौकिकैर्न गृह्यत इत्युच्यते—यस्मा[2]द्यस्य कस्यचिद्-द्वयवस्तुनो धर्मस्य ग्रहेण ग्रहणावेशेन मिथ्याभिनिविष्टतया सुखमाव्रियते[3]ऽनायासेनाऽऽच्छात इत्यर्थः। द्वयोपलब्धिनिमित्तं हि [4]तत्राऽऽवरणं न यत्नान्तरमपेक्षते। दुःखं च विव्रियते प्रकटी क्रियते। [5]परमार्थज्ञानस्य [6]दुर्लभत्वात्। भगवानसावात्माऽद्वयो देव इत्यर्थः। अतो वेदान्तैराचार्यैश्च बहुश उच्यमानोऽपि नैव ज्ञातुं शक्य इत्यर्थः। "आश्चर्योवक्ता कुशलोऽस्य लब्धा" क० १।२।७ इति इति श्रुतेः ॥८२॥

स्वयं प्रकाश स्वभाव वाला है। यह ऐसे लक्षण वाला आत्मानामक धर्म धातु स्वभाव यानी वस्तु स्वभाव से ही 'सकृद्विभात' अर्थात् सदा प्रकाशमान् है ॥८१॥

आत्मदर्शन में मिथ्याभिनिवेश ही बाधक है

इस प्रकार श्रुति और आचार्य द्वारा बतलाये जाने पर भी उस परमार्थतत्त्व को लौकिक पुरुष क्यों नहीं जान पाते ? इस पर कहते हैं—क्योंकि जिस किसी द्वैत वस्तु रूप धर्म में आग्रह कर लेने से मिथ्याभिनिवेश के कारण ही अद्वय आत्मदेव रूप भगवान् अनायास ही ढक जाता है अर्थात् सहज में आवृत हो जाता है, क्योंकि द्वैत की उपलब्धि ही इसके आवरण में निमित्त है। वहाँ किसी अन्य यत्न की अपेक्षा नहीं होती और परमार्थज्ञान प्राप्त करना अत्यन्त कठिन होने के कारण आवरण के हटाने में बड़ा कष्ट करना पड़ता है। इसीलिये वेदान्ताचार्यों के अनेक प्रकार से कहने पर भी वह जाना नहीं जाता यही इसका अभिप्राय है। इसीलिये ये 'इसका वर्णन करने वाला आश्चर्य रूप हैं तथा इसे जानने वाला भी कोई-कोई कुशल पुरुष ही होता है' इस श्रुति से भी आत्म दर्शन की दुर्लभता ही सिद्ध होती है ॥८२॥

संहारेऽपि सुषुप्तादौ साक्षितयाऽऽत्मनः सिद्धेः स्वयंज्योतिष्ट्वमेष्टव्यमित्याह—धातुरिति। किंचाऽऽत्मत्वादेवाऽऽत्मनः स्वयंज्योतिष्ट्व[7]मन्यथा घटवदनात्मत्वप्रसङ्गादित्याह—[8]स्वभावत इति। आकाङ्क्षापूर्वकं श्लोकमवतार्य तदक्षराणि योजयति—पुनरित्यादिना। धातुस्वभावत इत्येकं पदं गृहीत्वा व्याचष्टे—वस्त्विति। विवक्षितार्थस्तु पूर्वस्मान्नातिरिच्यते ॥ ८१ ॥

आत्मा चेदु[9]क्तलक्षणो विवक्षितस्तर्हि किमित्यसौ श्रुत्याचार्योपदिष्टस्तथैव [10]सर्वैर्न गृह्यते तत्राऽऽह—सुखमिति। मिथ्याभिनिवेशादात्मतत्त्वस्वरूपसुखं सदैवाऽऽच्छाद्यते तस्मादेव वस्तुतोऽसदपि दुःखं सर्वदा प्रकटी क्रियते

---

१. लौकिकैः—मन्दमध्यमाधिकारिभिः। २. यस्य—रागविषयस्येत्यर्थः। ३. अनायासेनेति—निमित्तान्तरमनपेक्ष्य मिथ्याभिनिवेशमात्रेणेत्यर्थः। ४. तत्र—सुखात्मनि। ५. ननु संसारदशायां दुःखविवरणस्य सदैवसत्वात् परमार्थज्ञानं कदापि न स्यादित्याशङ्क्य 'शान्तोदान्त' इत्यादिश्रुत्या साधनसंपत्यन्तरं दुःखविवरणसत्वेऽपि परमार्थज्ञानस्य दुर्लभत्वादिति—तत्साधनानां दुःसंपाद्यत्वादिति भावः। ६. दुर्लभत्वात्—मिथ्याभिनिवेशप्रयुक्तसुखावरणदुःखविवर्णकाले दुर्लभत्वा तद्दर्शनसाधनाभावादिति यावत्। ७. अन्यथ.—स्वयंज्योतिष्ट्वाभावे। ८. स्वभावतः—आत्मत्वादित्यर्थः। ९. उक्तलक्षणः—स्वयंज्योतिष्ट्वादि। १०. सर्वैः मन्दमध्यमाधिकारिभिः।

अस्ति नास्त्यस्ति नास्तीति नास्ती नास्तीति वा पुनः ।
चलस्थिरोभयाभावैरावृणोत्येव बालिशः ॥८३॥

[(कोई वादी कहता है) आत्मा है, (दूसरा वैनासिक कहता है) आत्मा नहीं है, (तीसरा अर्धवैनासिक दिगम्बर कहता है) है और नहीं भी है और (शून्य वादी कहता है कि) 'नहीं है नहीं है'। इनमें क्रमशः इस प्रकार) चल, स्थिर, उभय रूप और अभाव रूप कोटियों से विवेक हीन पुरुष (अद्वय आत्मा को) आच्छादित ही करते हैं ॥८३॥]

अस्ति नास्तीत्यादि[1]सूक्ष्मविषया अपि पण्डितानां ग्रहा भगवतः परमात्मन आवरणा एव किमुत मूढजनानां [2]बुद्धिलक्षणा इत्ये[3]वमर्थं प्रदर्शयन्नाह—अस्तीति। अस्त्यात्मेति वादी कश्चि-[4]त्प्रतिपद्यते। नास्तीत्यपरो वैनाशिकः। [5]अस्ति नास्तीत्यपरोऽर्धवैनाशिकः। सदसद्वादी दिग्वासाः। नास्ति नास्तीत्यत्यन्तशून्यवादी। तत्रा[6]स्तिभावश्चलः, घटाद्यनित्यविलक्षणत्वात्। नास्तिभावः स्थिरः

मिथ्याभिनिवेश ही परमार्थ का आवरक है

आत्मा है, नहीं है, इत्यादि जो सूक्ष्म विषय में पण्डितों के आग्रह हैं, ये सब भी जब परमात्मा के आवरण करने वाले ही हैं फिर शरीरादि को ही आत्मा मानना इत्यादि बुद्धि रूप—मूर्ख लोगों के आग्रहों की तो बात ही क्या? इसी कैमुतिकन्यायरूप अर्थ को दिखलाते हुए कहते हैं—'आत्मा है' ऐसा कोई वादी कहता है। दूसरा वैनाशिक कहता है कि 'आत्मा नहीं है'। तीसरा अर्द्ध वैनासिक सदसद्वादी दिगम्बर कहता है कि 'आत्मा है और नहीं भी है'। अत्यन्त शून्यवादी कहता है कि 'आत्मा नहीं है नहीं है'। इनमें 'आत्मा है' इस प्रकार अस्तिभाव चल है, क्योंकि वह घटादि अनित्य वस्तु से विलक्षण है। चल शब्द का अर्थ परिणामी होता है। घटादि का जानने वाला सुखादिरूप विशेष धर्मों

तेनासौ भगवानात्मा श्रुत्याचार्योपदिष्टोऽपि न विस्पष्टो भवतीत्यर्थः। श्लोकव्यावर्त्यां शङ्कां दर्शयन्नि—एवमिति। स्वयंज्योतिष्ट्वादिप्रागुपदिष्टप्रकारेणेति यावत् श्रुत्याचार्योपदेशस्य तात्पर्यशून्यत्वं वारयति—बहुश इति। तत्र श्लोक-मवतार्य व्याकरोति—उच्यत इत्यादिना। द्वैते गृह्यमाणेऽपि कथमात्मस्वरूपस्य सुखस्यानायासेनाऽऽच्छाद्यमानत्वं तत्राऽऽह—द्वयेति। इतश्चाऽऽत्मतत्त्वं यथावन्न प्रतिभातीत्याह—दुःखं चेति। यथावदात्मप्रथाभावे हेतुमाह—परमार्थेति। देवो याथातथ्येन [7]न भातीति शेषः। सुखस्य विद्यमानस्याऽऽवरणमविद्यमानस्य दुःखस्य विवरणमिति स्थिते फलित-माह—अत इति। श्रुत्याचार्योपदेशस्य तात्पर्यशून्यत्वं वारयति—बहुश इति। आत्मनि प्रवचनस्य च दुर्लभत्वे प्रमाह-माह—आश्चर्य इति ॥८२॥

[8]परीक्षकाभिनिवेशानामप्यात्मावरणत्वे सति लौकिक पुरुषाभिनिवेशानां तदावरणत्वं किमु वक्तव्य[9]मिति साधयति—अस्तीत्यादिना। श्लोकस्य तात्पर्यमाह—अस्तीति। प्रमाता देहादिव्यतिरिक्तोऽस्तीत्यादौ वैशेषिकादिपक्षः। देहादिव्यतिरिक्तोऽपि नासौ बुद्धेर्व्यतिरिच्यते क्षणिकस्य विज्ञानस्यैवाऽऽत्मत्वादिति द्वितीयो विज्ञानवादिपक्षः। तृतीयो दिगम्बरपक्षः। चतुर्थे तु शून्यवादिपक्षे शून्यस्याऽऽ[10]त्यन्तिकत्वद्योतनाया वीप्सा। द्वितीयार्धं विभजते—तत्रेत्यादिना।

१. सूक्ष्मविषयाः—सूक्ष्मं देहाद्यतिरिक्तात्मा विषयो येषःमिति विग्रहः। २. बुद्धिलक्षणाः—शरीरादिरूपात्मवि-षयकज्ञानरूपाः। ३. एवमर्थम्—कैमुत्तिकन्यायरूपमर्थमित्यर्थः। ४. प्रतिपद्यते—निश्चिनोति। ५. अस्तिनास्तीति—शरीरादौ अस्ति पाषाणादौ नास्ति इत्यवच्छेदकभेदेन सत्वासत्ववादीत्यर्थः। ६. अस्तीति—अस्तिशब्दोक्तः प्रमाता। ७. न भातीति—असम्पादितसाधनानामिति शेषः। ८. परीक्षकाभिनिवेशानाम्—विचारकुशलदुराग्रहाणाम्। ९. इतीति—लौकिकपुरुषीयदुराग्रहाणामात्माऽवरणत्वंकैमुत्तिकन्यायेनेत्यर्थः। १०. आत्यन्तिकत्वद्योतनार्थाः—अधिष्ठानान-वशेषत्वमात्यन्तिकत्वं तथा च शून्यं निरधिष्ठानं निःसाक्षिकं चेति भावः।

कोट्यश्चतस्र एतास्तु ग्रहैर्यासां सदाऽऽवृतः।
भगवानाभिरस्पृष्टो येन दृष्टः स सर्वदृक् ॥८४॥

[जिनके मिथ्याभिनिवेश से सदा ही आत्मा आच्छादित रहता है, वे ही ये चार कोटियाँ हैं। इनके स्पर्श से शून्य अद्वय आत्मा को वेदान्तों में जिसने देखा है, वही परमार्थ को जानने वाला है ॥ ८४ ॥]

सदाविशेषत्वात्। उभयं [1]चलस्थिरविषयत्वा[2]त्सदसद्भावोऽभावोऽत्यन्ताभावः। [3]प्रकारचतुष्टयस्यापि तैरेतैश्चलस्थिरोभयाभावैः सदसदादिवादी सर्वोऽपि भगवन्तमा[4]वृणोत्येव बालिशोऽविवेकी। यद्यपि [5]पण्डितो बालिश एव परमार्थतत्त्वानवबोधात्किमु स्वभावमूढो जन इत्यभिप्रायः ॥८३॥

कीदृक्पुनः परमार्थतत्त्वं यदवबोधादबालिशः [6]पण्डितो भवतीत्याह—कोट्यः [7]प्रावादुकशास्त्रनिर्णयान्ता एता उक्ता अस्ति नास्तीत्याद्याश्चतस्रो यासां कोटीनां ग्रहैर्ग्रहणैरु[8]पलब्धिनिश्चयैः सदा

से युक्त होने के कारण परिणामी कहा गया है। नास्ति भाव द्वितीय कल्प स्थिर है, क्योंकि अभाव सदा अविशेष रूप से रहता है। परिणामी और स्थिर दोनों को विषय करने के कारण सदसद्भाव उभय रूप है एवं अभाव अत्यन्ताभाव है। इस प्रकार इन चल, स्थिर, उभय और अभाव रूप चारों प्रकार से सभी सदसद्वादी छोटे बालक के समान अविवेकी भगवान् को ढकते ही हैं। यद्यपि ये पण्डित हैं, तो भी परमार्थतत्त्व को न जानने के कारण वास्तव में मूर्ख ही हैं। फिर भला स्वभाव से ही मूर्ख लोगों की तो बात ही क्या? ॥८३॥

जिसके बोध होने से मनुष्य अबालिश (पण्डित) हो जाता है, वह आखिर परमार्थतत्त्व कैसा है? इस पर कहते हैं—प्रावादुकों के शास्त्र द्वारा निर्णय की हुई ये अस्ति, नास्ति आदि चार कोटियाँ हैं। जिन कोटियों के ग्रहण से ही यानी उन प्रावादुकों के इस उपलब्धि जन्य निश्चय से जो भगवान्

अनित्येभ्यो घटादिभ्यः सुखाद्याकारपरिणामितया वैलक्षण्यावस्तिभावो योऽयं प्रमातोक्तः स चलः [9]सविशेषः सत्परिणामीत्यर्थः। देहाद्यतिरिक्तोऽपि प्रमाता बुद्ध्यतिरिक्तो नास्ती[10]ति यो नास्तिभावः स [11]स्थिरो [12]निर्विशेषत्वा-[13]त्तदभावस्येत्याह—नास्तिभाव इति। प्रकारचतुष्टयस्यास्तित्वस्य नास्तित्वस्यास्तिनास्तित्वस्य चेति यावत् बालिशत्वे सिद्धे फलितं [14]न्यायमुपसंहरति—किम्वित ॥८३॥

आत्मनो यदावरणमुक्तं तदुपसंहरति—कोट्य इति। यासां कोटी [15]परीक्षकपरिकल्पितनिर्णयनिरूपणीयानां ग्रहैरभिनिवेशविशेषैरात्मा सदा समावृतस्ताः खल्वेताश्चतस्रः कोट्यः सन्ति। [16]तया चाऽऽत्मनो न यथावत्प्रथनमित्यर्थः। यदि सदाऽऽत्मा समावृतो न तर्हि तस्य ज्ञानं ज्ञाने वा नास्ति [17]नैराकाङ्क्ष्यं ज्ञातव्यान्तरपरिशेषाद्वित्या-

---

१. चलस्थिरविषयत्वात्—संसारदशायां परिणामी मोक्षदशायां चापरिणामीति परिणाम्यपरिणामिवस्तुत्वादित्यर्थः। २. सदसद्भावः—भावाभावात्मकः। ३. प्रकारचतुष्टयस्य—प्रकारचतुष्टयघटकीभूतैरिति घटकत्वं षष्ठ्यर्थः। ४. आवृणोति—यथार्थं न जानातीत्यर्थः। ५. पण्डित इति तथापीति शेषः। ६. पण्डितः—यथार्थपरमार्थपण्डितः। ७. प्रावादुकेत्यादि—प्रावादूकानां शास्त्राणि तज्जन्यनिश्चयविषया इत्यर्थः। ८. उपलब्धिनिश्चयैः—प्रत्यक्षभ्रान्त्यात्मकनिश्चयैरित्यर्थः। ९. सविशेषः सन् परिणामीति—अनेकक्षणसम्बन्धी सन् स्ववृत्तिधर्माकारेण परिणामवानित्यर्थः। १०. इतीति—एवं प्रतिपादित इत्यर्थः। ११. स्थिरः—स्ववृत्तिधर्माकारेण परिणामशून्यः। १२. निर्विशेषत्वादिति—क्षणिकत्वेनानेकक्षणसम्बन्धित्वाभावादित्यर्थः। १३. तदभावस्येति—अस्तिभावाभावस्य नास्ति भावस्येति यावत्। यद्वा तदभ्युपगतनास्तिभावस्येत्यर्थः। १४. न्यायम्—कैमुतिकन्यायमित्यर्थः। १५. परीक्षकैस्तार्किकैः परिकल्पिता वस्तुनिर्णयाय च स्वयं निरूपणीयास्तासाम्। १६. तया च आवृतत्वे च। १७. नैराकाङ्क्ष्यम्—आवृतस्य ज्ञानं हि परोक्षमेव स्यादिति नाकाङ्क्षाशयः।

प्राप्य सर्वज्ञतां कृत्स्नां ब्राह्मण्यं पदमद्वयम् ।
अनापन्नादिमध्यान्तं किमतः परमीहते ॥८५॥

[पूर्वोक्त सर्वज्ञता और आदि, मध्य तथा अन्त से रहित अद्वितीय ब्रह्मण्य पद को प्राप्त करके भी क्या फिर कोई चेष्टा कर सकता है ? ॥ ८५ ॥]

सर्वदाऽऽवृत आच्छादितस्तेषामेव प्रावादुकानां यः स भगवानाभिरस्तिनास्तीत्यादिकोटिभिश्चतसृभिरप्यस्पृष्टोऽस्त्यादि[1]विकल्पनावर्जित इत्येतत् । येन मुनिना दृष्टो [2]ज्ञातो वेदान्तेष्वौ[3]पनिषदः पुरुषः स सर्वदृक्सर्वज्ञः परमार्थपण्डित इत्यर्थः ॥८४॥

प्राप्यैतां यथोक्तां कृत्स्नां समस्तां सर्वज्ञतां ब्राह्मण्यं पदं स ब्राह्मणः (बृ० ६।८।१०) "एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य (बृ० ४।४।२३)" इति [4]श्रुतेः । आदिमध्यान्ता उत्पत्तिस्थितिलया अनापन्ना अप्राप्ता यस्याद्वयस्य पदस्य न विद्यते तदनापन्नादिमध्यान्तं ब्राह्मण्यं पदम् । तदेव प्राप्य लब्ध्वा किमतः परमस्मादात्मलाभादूर्ध्वमीहते चेष्टते निष्प्रयोजनमित्यर्थः । "नैव तस्य कृतेनार्थः (गी० ३।१८)" इत्यादिस्मृतेः ॥८५॥

सदा ढका हुआ है, उसे अस्ति, नास्ति आदि चारों कोटियों से विकल्प रहित जो वादी देखते हैं ऐसे जिस मुनि से उपनिषद के समधिगम्य पुरुष रूप से वेदान्तों में जाना गया है। वही सर्वद्रष्टा सर्वज्ञ यानी परमार्थतत्त्व का पण्डित हैं ॥८४॥

तत्त्वज्ञानी की शान्ति ।

"जो इस अक्षर को जानकर इस लोक से जाता है वह ब्राह्मण है" "वह ब्राह्मण की शाश्वत महिमा" इत्यादि श्रुतियों के आधार पर जो ब्रह्मण्य पद को और पूर्वोक्त सम्पूर्ण सर्वज्ञता को प्राप्त करता है। वह ब्रह्मवित् पुरुष किसी वस्तु की चेष्टा नहीं करता है, क्योंकि जिस अद्वयपद के आदि मध्य और अन्त अर्थात् उत्पत्ति, स्थिति और लय नहीं होता, वह ब्राह्मण्य पद अनापन्नादिमध्यान्त कहा गया है। उसको पाकर इस लाभ के अनन्तर कोई प्रयोजन न रह जाने पर क्या वह विद्वान् कुछ चेष्टा करता है ? अर्थात् नहीं करता। इसी को "उस तत्त्ववेत्ता का किसी कार्य से प्रयोजन नहीं रहता है" इत्यादि स्मृति वाक्य भी प्रमाणित कर रहा है ॥८५॥

शङ्कघाऽऽह—भगवानिति । आत्मा हि वस्तुतोऽस्तीत्यादि[5]कल्पनारहितो येनोपनिषत्प्रवणेन [6]प्रतिपन्नः स सर्वज्ञो ज्ञातव्यान्तरमपश्यन्परमार्थपण्डितो निराकाङ्क्षो भवतीत्यर्थः । श्लोकनिरस्यामाकाङ्क्षां दर्शयति—कीदृगिति किमिति परमार्थतत्त्वं जिज्ञास्यते, तज्ज्ञानात्पाण्डित्यसिद्धयर्थमित्याह—यदवबोधादिति । तत्र श्लोकमवतार्य व्याकरोति—आहेत्यादिना । तेषामेव प्रावादुकानामुपलब्धिनिश्चयैरिति संबन्धः । यो भगवानुक्तविशेषणः स येनेति योजना ॥८४॥

ज्ञानवतोऽपि यावज्जीवादिश्रुतिवशादग्निहोत्रादि [7]कर्तव्यमित्याशङ्कयाऽऽह—प्राप्येति । यथोक्तां चतुष्कोटिविनिर्मुक्तामिति यावत् । समस्तत्वं ज्ञातव्यशेष[8]शून्यत्वं सर्वज्ञत्वं परिपूर्णज्ञप्तिरूपत्वम् । [9]तत्र ब्राह्मण्यपदप्रयोगे प्रमाणमाह—स ब्राह्मण इति । स विद्वानपरोक्षीकृतब्रह्मसतत्त्वः सन् [10]फलावस्थो मुख्यो ब्राह्मणो भवतीत्यर्थः ।

---

१. विकल्पनावर्जितः—विविधकल्पनाऽनाश्रितः । २. ज्ञातः—अपरोक्षीकृतः । ३. औपनिषदः उपनिषदेकगम्यः । ४. श्रुतेरिति—अनापन्नादिमध्यान्तमिति पाठः । ५. कल्पनारहितः—बुद्धिदोषत एव कल्पना नासौ वस्तुतस्तदाश्रितः इतिः भावः । ६. प्रतिपन्नः—ज्ञातः । ७. कर्त्तव्यम्—जीवनैकनिमित्तत्वादेतच्छ्रुतिप्रतिपाद्यस्येति भावः । अत्रैकपदं फलकामनामपनु दति । ८. शून्यत्वमिति—सर्वज्ञत्वमिति शेषः । ९. तत्र—उक्तसर्वज्ञतायाम् । १०. फलावस्थः—परिपूर्णानन्दात्मनाऽवस्थितः ।

विप्राणां विनयो ह्येष शमः प्राकृत उच्यते।
दमः प्रकृतिदान्तत्वादेवं विद्वाञ्शमं व्रजेत् ॥८६॥
सवस्तु सोपलम्भं च द्वयं लौकिकमिष्यते।
अवस्तु सोपलम्भं च शुद्धं लौकिकमिष्यते ॥८७॥

[(आत्म स्वरूप में स्थित होना रूप) यह विनय ब्राह्मणों का स्वाभाविक है। यही स्वाभाविक शम भी कहा जाता है और स्वभाव से ही जितेन्द्रिय होने के कारण यही उनका दम भी है। इस प्रकार विद्वान् पुरुष ब्रह्म स्वरूपा शान्ति को प्राप्त कर लेता है ॥८६॥]

[व्यावहारिक सद् वस्तु और उपलब्धि इन दोनों के सहित जो ग्राह्य ग्रहण रूप द्वैत है, (वेदान्तों में) लौकिक (जाग्रत्) कहा जाता है तथा जो द्वैत वस्तु के बिना केवल उपलब्धि के सहित हैं, वह शुद्ध लौकिक (स्वप्न) कहा जाता है ॥८७॥]

विप्राणां ब्राह्मणानां विनयो विनीतत्वं स्वाभाविकं यदेतदात्मस्वरूपेणावस्थानम् एष [1]विनयः शमोऽप्येष एव प्राकृतः स्वाभाविकोऽकृतक उच्यते। दमोऽप्येष एव [2]प्रकृतिदान्तत्वात्स्वभावत एव चोपशान्तरूपत्वाद्ब्राह्मणः। एवं यथोक्तं स्वभावोपशान्तं ब्रह्म विद्वाञ्शममुपशान्तिं स्वाभाविकीं ब्रह्मस्वरूपां व्रजेद्ब्रह्मस्वरूपेणावतिष्ठत इत्यर्थः ॥८६॥

एवमन्योन्यविरुद्धत्वात्संसारकारणानि [3]रागद्वेषदोषास्पदानि प्रावादुकानां दर्शनानि। अतो

जो यह स्वरूप से स्थितिरूप विनय है यही ब्रह्मवित् पुरुष का स्वाभाविक विनीतत्व है। उनका यह विनय ही स्वाभाविक शम भी कहा गया, क्योंकि ब्रह्म स्वभाव से ही उप शान्त हैं। यही प्राकृतिक दान्त होने से उनका दम भी यहीं है। इस प्रकार पूर्वोक्त स्वभाव से शान्त ब्रह्म को जानने वाला पुरुष ब्रह्म स्वरूपा स्वाभाविक उपशान्ति रूप सम को प्राप्त कर लेता है। तात्पर्य यह कि ऐसा तत्त्ववित पुरुष ब्रह्मरूप से ही स्थित हो जाता है ॥८६॥

विद्वानों की ज्ञेयवस्तु तीन प्रकार की है।

इस प्रकार परस्परविरुद्ध होने के कारण प्रावादुकों के दर्शन ऐसे राग द्वेषादि दोषों के केन्द्र हैं

ब्राह्मणस्य ब्रह्मविदो विद्याफलावस्थस्यैव [4]स्वभावो महिमेत्युक्तो निर्विकारो वृद्धिह्रासाभावादेकरूपो भवतीति वाक्यान्तरस्यार्थः। तदेव पदं विशिनष्टि—अनापन्नादिमध्यान्तमिति। तद्व्याकरोति—आदिति। अन्वयं दर्शयन्नवशिष्टं व्याचष्टे—तदेव प्राप्येति। ज्ञानवान्फलावस्थः सङ्कृतकृत्यो न तस्य किंचिदस्ति कर्तव्यमित्यस्मिन्नर्थे भगवद्वाक्यं प्रमाणयति—नैव तस्येति ॥८५॥

यावज्जीवादिश्रुतेरविद्वद्विषयत्वाद्विदुषो नाग्निहोत्रादि कर्तव्यमित्युक्तम्। इदानीं तस्यापि [5]नियोगतोऽस्ति [6]कर्तव्यमित्याशङ्क्याऽऽह—विप्राणामिति। ब्रह्मविदां ब्राह्मणानामेष विनयः स्वभावोऽतो न नियोगाधीनां कर्तव्यताम[7]धिकरोति। शमोऽपि स्वाभाविको न नियोगेन क्रियते। दमोऽपि स्वभावसिद्धत्वान्न नियोगमपेक्षते। एवं कूटस्थमात्मतत्त्वं विद्वान्पुमानशेषविक्रियाशून्यब्रह्मस्वरूपेण तिष्ठतीत्यर्थः। अक्षरार्थं कथयति—विप्राणामित्यादिना। तमेव स्वाभाविकं विनयं विवृणोति—यदेतदिति। एष एवेत्यात्मस्वभावो गृह्यते ॥८३॥

---

१. विनयः—विशेषेणनयत्यवनत्यवधीरयत्यविद्यातत्प्रयुक्तमिति व्युत्पत्तेर्विनयः स्वरूपावस्थानम्। २. प्रकृतिदान्तत्वादिति—स्वभावत एव शब्दादिविषयेष्वप्रवर्तमानत्वात्। ३. रागेत्यादि—तज्जनकत्वात्तदास्पदानीत्यर्थः। ४. स्वभावः—स्वरूपभूतः। ५. नियोगतः—'शान्तोदान्त' इत्यादि विधितः। ६. कर्तव्यम्—शमादिकमिति यावत्। ७. अधिकरोति—आश्रयति।

[1]मिथ्यादर्शनानि तानीति तत्तद्युक्तिभिरेव दर्शयित्वा चतुष्कोटिवर्जितत्वाद्रागादिदोषानास्पदं स्वभावशान्तमद्वैतदर्शनमेव [2]सम्यग्दर्शनमित्युपसंहृतम्। अथेदानीं स्वप्रक्रियाप्रदर्शनार्थं आरम्भः—सवस्तु [3]संवृत्ति। सता वस्तुना सह वर्तत इति सवस्तु। यथा [4]चोपलब्धि[5]रुपलम्भस्तेन सह वर्तत इति सोपलम्भं च [6]शास्त्रादिसर्वव्यवहारास्पदं ग्राह्यग्राहकलक्षणं द्वयं लौकिकं [7]लोकादनपेतं लौकिकं जागरितमित्येतत्। एवंलक्षणं जागरितमिष्यते वेदान्तेषु। अवस्तु [8]संवृत्तेरप्यभावात्। सोपलम्भं वस्तुवदुपलम्भनमुपलम्भोऽसत्यपि वस्तुनि तेन सह वर्तत इति सोपलम्भं च शुद्धं केवलं प्रविविक्तं जागरितात्स्थूलाल्लौकिकं सर्वप्राणिसाधारणत्वादिष्यते स्वप्न इत्यर्थः ॥८७॥

जो दोष संसार जन्म मरणादि के कारण माने गये हैं। अतः वे सभी मिथ्या दर्शन हैं। यह बात उन्हीं की युक्तियों से दिखाकर उक्त चारों कोटियों से रहित होने से जो राग द्वेषादि दोषों का आश्रय नहीं है, जो स्वभाव से शान्त है। वह अद्वैत दर्शन ही सम्यक् दर्शन है। इस प्रकार इस प्रसंग का उपसंहार किया जाता है, और इसके बाद अब अपनी प्रक्रिया दिखलाने के लिये आगे का ग्रन्थ प्रारम्भ किया जाता है। व्यावहारिक सद्वस्तु के सहित जो रहता हो, उसे सवस्तु कहते हैं तथा उपलब्धि के सहित जो रहता हो उसे सोपालम्भ कहते हैं। ऐसा शास्त्रादि सम्पूर्ण व्यवहार का आधार शिलाग्राह्य ग्रहणात्मक जो द्वैत है, वह लौकिक है। यानी लोक से दूर न रहने वाला जाग्रत् कहलाता है। ऐसे लक्षण वाले को वेदान्त में जागरित माना है। व्यावहारिक वस्तु का अभाव होने के कारण जो अवस्तु रूप है, किन्तु सोपलम्भ है यानी वस्तु के न रहने पर भी वस्तु के समान उपलब्ध होने को उपलम्भ कहा गया है। ऐसे उपलम्भ के सहित जो रहता है, इसीलिये उसे सोपलम्भ कहते हैं। सम्पूर्ण प्राणियों के लिये साधारण होने के कारण वह केवल शुद्ध है, अर्थात् जाग्रत् रूप स्थूल लौकिक से भिन्न यह लौकिक माना जाता है। भाव यह है कि वह स्वप्नावस्था है। जाग्रदवस्था में व्यावहारिकवस्तु और उसका ज्ञान दोनों ही होते हैं। इसलिये वह लौकिक कहा गया है। किन्तु वस्तु के विना ही उपलम्भ के सहित होने से स्वप्न को शुद्ध लौकिक कहा गया है यह इसका अभिप्राय है ॥८७॥

परमतनिराकरणमुखेनाऽऽत्मतत्त्वम[9]वधारितम्। अधुना स्वप्रक्रिययाऽवस्थात्रयोपन्यासमुखेनापि तदवधारयितुमवस्थाद्वयमुपन्यस्यति—सवस्त्विति। वृत्तानुवादपूर्वकं प्रकरणशेषस्य तात्पर्यं दर्शयति—एवमिति। [10]शिष्यस्याध्यारोपदृष्टिमाश्रित्य जाग्रदादिपदार्थपरि[11]शुद्धिपूर्वको बोधप्रकारः स्वप्रक्रिया तया तस्यैवाऽऽत्मतत्त्वस्य प्रदर्शनपरो ग्रन्थशेष इत्यर्थः। तत्र जागरितमुदाहरति—सवस्त्विति। यद्धि प्रातिभासिकं व्यावहारिकं च स्थूलमर्थजातमादित्यादिदेवतानुगृहीतैरिन्द्रियैरुपलभ्यते तज्जागरितमित्यर्थः। द्वयमित्यस्यार्थमाह—शास्त्रादिति। [12]तत्र श्लोके लोकप्रसिद्धमित्येतदुच्यते—लौकिकमिति। तद्व्याचष्टे—लोकादिति। न केवलमिदं जागरितं लोकप्रसिद्धम्। किंतु वेदान्तेष्वपि [13]परम्परया ज्ञानोपायत्वेन प्रसिद्धमित्याह—एवं लक्षणमिति। स्वप्नोपन्यासपरमुत्तरार्धं योजयति—अवस्त्विति। बाह्येन्द्रियप्रयुक्तो व्यवहारः संवृत्तिशब्दार्थः सोऽपि [14]स्थूलार्थवन्न स्वप्ने संभवति। [15]तथा च बाह्येषु करणेषू-

---

१. मिथ्यादर्शनानि—वाधितविषयाणीति भावः। २. साम्यग्दर्शनम्—अबाधितवस्तुविषयकम्। ३. संवृत्तिसतेति—संवृत्तो व्यवहारकाले सत् तेन व्यावहारिकसद्वस्तुनेत्यर्थः। ४. च—एवार्थकः। ५. उपलम्भः—प्रतीतिमात्रशरीरं शुक्तिरूप्यादिकम्। ६. शास्त्रादीति—अत्रादिना गुर्वादीनादत्ते। ७. लोकादनपेतम्—लोकसम्बद्धं तत्प्रसिद्धमिति यावत्। ८. संवृत्तेरपीति—व्यावहारिकवस्तुनोऽपीत्यर्थः। ९. अवधारितम्—एतत्प्रकरणीयतृतीय कारिकात आरभ्यषडशीतितमान्त ग्रन्थेनेति बोध्यम्। १०. शिष्येत्यादि—शिष्याश्रितारोपितजाग्रदादिप्रतीतिमित्यर्थः। ११. शुद्धीति—परस्परं वैविक्त्येत्यर्थः। १२. तत्रेति—व्याख्येयतया बुद्ध्यारूढे इत्यर्थः। १३. परम्परया—गुरुशास्त्रप्राप्तिद्वारेत्यर्थः। १४. स्थूलार्थवदिति—स्थूला अर्था यत्र तत्र जागरित-इवेति सप्तम्यन्तात् वृत्तिः। स्थूला अर्था यथा न सम्भवन्ति तथा तद्व्यवहारोऽपीतिभावः। १५. तथा च स्वप्ने संवृत्त्यभावे च।

अवस्त्वनुपलम्भं च लोकोत्तरमिति स्मृतम् ।
ज्ञानं ज्ञेयं च विज्ञेयं सदा बुद्धैः प्रकीर्तितम् ।।८८।।

[जो वस्तु और उपलब्धि इन दोनों ग्राह्य ग्रहण से रहित लोकोत्तर अवस्था है वह सुषुप्ति मानी गयी है । इस प्रकार विद्वानों ने सदा ही अवस्थात्रय रूप ज्ञान, ज्ञेय तथा विज्ञेय (तुरीय संज्ञक अद्वय, अजन्मा, आत्मतत्त्व) का निरूपण किया है (अर्थात् लौकिक से लेकर विज्ञेय पर्यन्त तत्त्वों का निरूपण सदा ही विद्वानों ने किया) ।।८८।।]

अवस्त्वनुपलम्भं ग्राह्यग्रहणवर्जितमित्येतल्लोकोत्तरम् । अत एव लोकातीतम् । ग्राह्यग्रहणविषयो हि लोकस्तदभावा[1]त्सर्वप्रवृत्तिबीजं सुषुप्तमित्येतदेवं [2]स्मृतं [3]सोपायं परमार्थतत्त्वं लौकिकम् । शुद्धलौकिकं लोकोत्तरं क्रमेण येन ज्ञानेन ज्ञायते तज्ज्ञानं ज्ञेयमेतान्येव त्रीणि एतदव्यतिरेकेण ज्ञेयानुपपत्तेः । सर्वप्रावादुककल्पितवस्तुनोऽत्रैवान्तर्भावाद्विज्ञेयं [4]परमार्थसत्यं तुर्याख्यमद्वयमजमात्मतत्त्वमित्यर्थः । सदा सर्वदैतल्लौकिकादिविज्ञेयान्तं बुद्धैः परमार्थदर्शिभिर्ब्रह्मविद्भिः प्रकीर्तितम् ।।८८।।

जहाँ वस्तु और उपलम्भ दोनों ही नहीं हो, ऐसे ग्राह्य और ग्रहण से रहित जो अवस्था है वह लोकोत्तर कही जाती है । अतएव लोकातीत अवस्था यही कहलाती है क्योंकि जहाँ ग्राह्य और ग्रहण विषय हों ऐसे को ही लोक कहते हैं । उसके अभाव होने से सम्पूर्ण प्रवृत्तियों की बीजभूता वह सुषुप्तावस्था है, ऐसा कहा गया है । साधनसहित परमार्थतत्त्व, लौकिक, शुद्धलौकिक और लोकोत्तर अवस्था को क्रमशः जिस ज्ञान के द्वारा जाना जाता है, उसी को वस्तुतः ज्ञान कहते हैं । इनमें से जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति ये तीनों ही अवस्थाएँ ज्ञेय हैं, क्योंकि सभी वादियों के द्वारा कल्पित वस्तुओं का अन्तर्भाव इन्हीं में हो जाता है । इनके अतिरिक्त किसी अन्य वस्तुको ज्ञेय होना असिद्ध है और जो परमार्थ सत्य तुरीय नामक अद्वय, अजन्मा आत्मतत्त्व है केवल वही विज्ञेय है, ऐसा भावार्थ है । ये लौकिक से लेकर विज्ञेयपर्यन्त सम्पूर्ण वस्तुएँ परमार्थदर्शी ब्रह्मज्ञानी विद्वानों द्वारा सदासर्वदा ही अच्छी प्रकार से बतलायी गयी हैं ।।८८।।

संहृतेषु जागरितवासनानुसारेण मनसस्तदर्थाभासाकारावभासनं स्वप्नशब्दितमित्यर्थः । शुद्धमित्यस्य केवलमिति गृहीत्वा विवक्षितमर्थमाह प्रविविक्तमिति । तस्यापि लोकप्रसिद्धत्वं लौकिकमित्यनेनोक्तं तद्विवृणोति-सर्वप्राणिति ।८७।

संप्रति सुषुप्तं दर्शयति—अवस्त्विति । स्थूलं सूक्ष्मं च वस्तु विषयभूतं यत्र न विद्यते तत्तथा । इन्द्रियार्थसंप्रयोगजन्यो वा स्थूलार्थविषयी [5]वासनात्मको वा यत्रोपलम्भो न संभवति तदशेषविशेषविज्ञानशून्यं सुषुप्तमिति विशिनष्टि—अनुपलम्भं चेति । नन्वि[6]दं कारणात्मना बुद्धेरवस्थानम् । न च कारणं लोके प्रसिद्धम् । कार्यस्यैवावस्थाद्वयात्मकस्य तत्त्वादित्यभिप्रेत्याऽऽह—लोकोत्तरमिति । तस्य साक्षिप्रसिद्धत्वं विवक्षित्वोक्तम्—इति [7]स्मृतमिति । ज्ञानज्ञेयात्मकावस्थात्रयं तुरीयं च परमार्थं तत्त्वं विद्वदनुभवसमधिगम्यमित्याह—ज्ञानामिति । श्लोकगतं पदद्वयमनूद्य विवक्षितमर्थं कथयति—अवस्त्विति । ग्राह्यग्रहणविभागवर्जितत्वादेव कुतो लोकातीतत्वमित्याशङ्क्याऽऽह—ग्राह्येति । सुषुप्तं चेदं लौकिकं कथं तदवगम्यतामित्याशङ्क्याऽऽह—सर्वप्रवृत्तीति । अवस्थाद्वयबीजं सुषुप्तमित्येतत्प्रसिद्धं शास्त्रविदामित्याह—एवमिति । अवस्थात्रयमेवमुक्त्वा ज्ञानपदार्थं कथयति—सोपायमिति । ज्ञानमत्र[8]मनोवृत्तिरूपं

---

१. सर्वप्रवृत्तिबीजमिति—तथा च कार्यानुमेयं तदिति भावः । २. स्मृतम्—स्मृत्वोपदिष्टम् । ३. सोपायम्—श्रवणादिसाधनसहितम् । ४. परमार्थसत्यमिति—तथा चावस्थात्रयस्य परमार्थसत्यत्वाद्यभावात् तुरीयस्यावस्थात्रयातिरिक्तत्वमिति भावः । ५. वासनात्मकः—वासनासहकृतमनःपरिणामरूप इत्यर्थः । ६. इदम्—सुषुप्तम् । ७. स्मृतमिति—साक्षिरूपाऽनुभवजन्यस्मृतिविषयमित्यर्थः । ८. मनोवृत्तिरूपम्—सुषुप्तस्यापि स्मृतिरूपमनोवृत्तिविषयत्वाभिप्रायेणेदम् ।

ज्ञाने च त्रिविधे ज्ञेये क्रमेण विदिते स्वयम् ।
सर्वज्ञता हि सर्वत्र भवतीह महाधियः ॥८९॥

[तीन प्रकार के ज्ञान और ज्ञेय वस्तु को इस प्रकार क्रमशः जान लेने पर इस लोक में उस महान् विद्वान को सर्वत्र सर्वज्ञता स्वयं प्राप्त होती है। (अर्थात् वह सर्वरूप चैतन्य ब्रह्म स्वरूपता को सहज में प्राप्त कर लेता है) ॥८९॥

ज्ञाने च लौकिकादिविषये। ज्ञेये च लौकिकादौ त्रिविधे। पूर्वं लौकिकं [1]स्थूलम्। तदभावेन [2]पश्चाच्छुद्धं लौकिकम्। तदभावेन [3]लोकोत्तरमित्येवं क्रमेण स्थानत्रया[4]भावेन परमार्थसत्ये तुर्येऽद्वयेऽजेऽभये विदिते स्वयमेवाऽऽत्मस्वरूपमेव सर्वज्ञता सर्वश्चासौ ज्ञश्च सर्वज्ञस्तद्भावः सर्वज्ञता। इहास्मि[5]ल्लोंके भवति महाधियो महाबुद्धेः। [6]सर्वलोकातिशयवस्तुविषयबुद्धित्वादे[7]वंविदः सर्वत्र

उक्तत्रिविध ज्ञेय और ज्ञान को जानने वाला ही सर्वज्ञ है।

लौकिकादिविषय के प्रकाशक ज्ञान और लौकिकादि तीन प्रकार के ज्ञेय को क्रमशः जान लेने पर पुरुष सर्वज्ञ हो जाता है अर्थात् पहले स्थूल लौकिक को उसके अभाव में फिर शुद्ध लौकिक को तथा उसके भी अभाव हो जाने पर सुषुप्ति रूप लोकोत्तर को जाने। इस प्रकार क्रमशः तीनों अवस्थाओं के अभाव हो जाने पर परमार्थ सत्य, अद्वय, अजन्मा और अभय स्वरूप तुरीय को जान लेने पर इस लोक में उस महापण्डित को सर्वदा स्वयं (आत्म स्वरूप) ही सर्वज्ञता प्राप्त हो जाती है। जो सर्वरूप होता हुआ चेतन हो, उसे सर्वज्ञ कहते हैं, तथा उसी के भावरूप को सर्वज्ञता कही है। इस प्रकार सम्पूर्ण लोकों से श्रेष्ठवस्तु को विषय करने वाली बुद्धि होने के कारण पूर्वोक्त तत्त्वज्ञानी को सभी काल में सर्वज्ञता सिद्ध ही है। भाव यह है कि अपना रूप एक बार विदित हो जाने पर उसका कभी भी

विवक्षित अवस्थात्रयातिरिक्तमपि परीक्षकपरिकल्पितं ज्ञेयं संभवतीत्याशङ्क्याऽऽह—सर्वैरिति। सर्वैरेव प्रावादुकैः शुष्कतर्कजल्पनशीलैः परिकल्पितस्य कार्यकारणादिरूपवस्तुनोऽवस्थात्रये नियमेनान्तर्भावाज्ज्ञेयान्तरं नास्तीत्यर्थः। ज्ञेयमेव विशेषेण ज्ञेयं विज्ञेयमुच्यते [8]तेन तदपि नावस्थात्रयातिरिक्तमस्तीत्याशङ्क्याऽऽह—विज्ञयमिति। [9]उपायोपेयभूते यथोक्तेऽर्थे विदुषामभिमतिमादर्शयति—सदेति ॥८८॥

आत्मनि विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवतीति श्रुत्या यत्प्रतिज्ञातं तदुक्तवस्तुज्ञाने फलतीति कथयति—ज्ञाने चेति। ज्ञानज्ञेयवेदने विवक्षितं क्रममनुक्रामति—पूर्वमित्यादिना। यत्पुनरवस्थात्रयातीतं तुरीयं तत्पारज्ञान विवक्षितं क्रमं दर्शयति—स्थानेति। तुर्ये विदिते सतीति संबन्धः। तस्य स्थानत्रयात्मद्वैताभावोपलक्षितत्वमाह—अद्वय इति। जन्मादिसर्वविक्रियारहितत्वेनकौटस्थ्यं कथयति—अज इति। कार्यसंबन्धस्तत्र नास्तीति वक्तुं कारणभूताविद्यासंबन्धाभावमभिदधाति—अभय इति। यथोक्ततत्त्वज्ञानस्य परिपूर्णब्रह्मरूपेणावस्थानं फलमाह—स्वयमेवेति। ज्ञानवतो यथोक्तं फलमचिराद्विमार्गायत्तमिति शङ्कां वारयति—इहेति। उक्तज्ञानवतो महाबुद्धित्वे हेतुमाह—सर्वलोकेति। ज्ञानवतो

---

१. स्थूलम्—जागरितम्। २. पश्चाच्छुद्धं लौकिकम्—जागरितानन्तरं स्वप्नः। ३. लोकोत्तरम्—सुषुप्तम्। ४. अभावेनेति—अभावनिश्चयेनेत्यर्थः। ५. लोके—शरीरे। ६. सर्वलोकेति—अभ्यस्तवस्तुजातेत्यर्थः। ७. एवंविदः—तुरीयमात्मत्वेन जानतः। ८. तेनेति—विज्ञेयस्यापि ज्ञेयविशेषरूपत्वेनेत्यर्थः। ९. उपायोपेयभूते—ज्ञानं ज्ञेयं चोपायः विज्ञेय वस्तूपेयं तस्मिन्नित्यर्थः, ज्ञानज्ञेयात्मकावस्थात्रयस्य च दृष्टान्तादिद्वारा गुरुशास्त्रादिप्राप्त्याश्रयत्वद्वारा च, उपेयभूतविज्ञेयात्मवस्तुप्रति उपायत्वमितिबोध्यम्।

हेयज्ञेयाप्यपाक्यानि विज्ञेयान्यग्रयाणतः ।
तेषामन्यत्र विज्ञेयादुपलम्भस्त्रिषु स्मृतः ॥ ९० ॥

[(जाग्रदादि तीन) हेय, (सत्य ब्रह्मरूप) ज्ञेय, (पाण्डित्य बाल्य और मौन नामक) प्राप्य साधन और रागद्वेष मोहादि कषाय) जीर्ण करने योग्य दोष—ये साधन पहले ही जानने योग्य हैं। इनमें से ज्ञेय ब्रह्म को छोड़कर अवशेष तीनों में मायामयत्व ही विद्वानों ने माना है ॥९०॥]

सर्वदा भवति। सकृद्विदिते स्वरूपे [1]व्यभिचाराभावादित्यर्थः। न हि परमार्थविदो ज्ञानिनः ज्ञानोद्भवाभिभवौ स्तो यथाऽन्येषां [2]प्रावादुकानाम् ॥८९॥

लौकिकादीनां क्रमेण ज्ञेयत्वेन निर्देशादस्तित्वाशङ्का परमार्थतो मा भूदित्याह—हेयानि च लौकिकादीनि त्रीणि जागरितस्वप्नसुषुप्तान्यात्मन्य[3]सत्त्वेन रज्ज्वां सर्पवद्धातव्यानीत्यर्थः। ज्ञेयमिह चतुष्कोटिवर्जितं परमार्थतत्त्वम्। आप्यान्याप्तव्यानि त्यक्तबाह्यैषणात्रयेण भिक्षुणा [4]पाण्डित्यबाल्यमौनाख्यानि साधनानि। पाक्यानि रागद्वेषमोहादयो दोषाः कषायाख्यानि पक्तव्यानि। सर्वाण्येतानि

व्यभिचार नहीं होता। इसीलिये उसकी सर्वज्ञता सदा बनी रहती है, क्योंकि जैसे अन्यवादियों के ज्ञान उत्पन्न होते और अस्त होते रहते हैं। उस प्रकार परमार्थतत्त्वदर्शी ज्ञानी के ज्ञान का जन्म और नाश नहीं होता ॥८९॥

लौकिकादि वस्तु को क्रमशः ज्ञेय रूप से निर्देश किया गया है। ऐसी स्थिति में परमार्थतः उसके अस्तित्त्व की आशंका न होने लग जावे, इसीलिये कहते हैं। लौकिकादि तीन हेय है, क्योंकि जैसे रज्जु में कल्पित सर्प त्याग ने योग्य है, ऐसे ही जागरित, स्वप्न और सुषुप्ति—ये तीनों अवस्थाएँ आत्मा में असत् होने के कारण त्याग ने योग्य है तथा पूर्वोक्त चारों कोटियों से रहित परमार्थ तत्त्व ही यहाँ पर ज्ञेय कहा गया है, और जिन्होंने लोकैषणा, वित्तैषणा, पुत्रैषणा ऐसे बाह्य एषणात्रय का त्याग कर दिया है। उन मोक्षाभिलाषी यतियों के द्वारा श्रवण रूप पांडित्य, मननरूपबाल्य, और निदिध्यासन रूप मौन नामक साधन प्राप्त करने योग्य है, तथा राग द्वेष और मोहादि कषाय नामक

यथोक्तं ज्ञानं कदाचिद्भवे (वदपि) कालान्तरेऽभिभूतमसत्कल्पं भविष्यतीत्याशङ्क्याऽऽह—एवंविद इति। [5]श्रुत्याचार्यप्रसादाद्विदिते स्वरूपे स्वरूपस्फुरणस्य [6]व्यभिचाराभावात्परिपूर्णज्ञप्तिरूपता विदुषो भवतीत्युक्तं स्फुटयति—न हीति ॥ ८९ ॥

अवस्थात्रयस्य ज्ञेयत्वनिर्देशात्परमार्थतोऽ[7]स्तित्वमाशङ्क्य परिहरति—हेयेति शङ्कोत्तरत्वेन श्लोकमवतार्य हेयशब्दार्थं व्याचष्टे—लौकिकादीनामिति। तान्येव त्रीणि विभजते—जागरितेति। पाण्डित्यं वेदान्ततात्पर्याभिज्ञत्वम-

१. व्यभिचाराभावादिति—पुनरज्ञानविषयत्वाभावेनाविदितत्वाभावादित्यर्थः। २. प्रावादुकानामिति—तेषामनात्मैकगोचरज्ञानवत्त्वात् अनात्मज्ञानानां च घटज्ञान समये पटज्ञानाभावात् व्यभिचारित्वम्। विदुषः स्वरूपभूतज्ञानमनारतमेवानावृत्तमित्यव्यभिचारीति ध्येयम्। ३. असत्त्वेनेति—त्रैकालिकाभावप्रतियोगित्वेनेत्यर्थः। ४. पाण्डित्येत्यादि—श्रवणमनननिदिध्यासनानीत्यर्थः। पक्वफलवत् पतनोन्मुखीकरणीयानीत्यर्थः। अङ्कुराक्षमसंभृष्टं बीजवद्वा भर्जनीयानीति। यावच्छरीरं स्वरूपतो नष्टुमपार्यतया कार्याक्षमत्वमापादनीयानीति यावत्। ५. श्रुतेरेवसर्वप्रमाणप्रबलतयातज्जनितज्ञानस्य प्रमाणान्तरेण विषयानपहारादेव तस्याव्यभिचारित्वमित्याशयेनाह—श्रुतीत्यादि। ६. व्यभिचाराभावात्—अज्ञानविषयत्वाभावादित्यर्थः। ७. अस्तित्वमाशङ्क्येति—परमार्थसत्यपि विज्ञेयत्वकथनात्तेनैव हेतुनावस्थात्रयेऽपि परमार्थसत्यमाशङ्कास्पदीभवितुमर्हतीति भावः।

प्रकृत्याऽऽकाशवज्ज्ञेयाः सर्वे धर्मा अनादयः ।
विद्यते न हि नानात्वं तेषां क्वचन किंचन ॥९१॥

[सभी जीव को स्वभाव से आकाश के समान और अनादि समझना चाहिए। उनमें कहीं पर अणु मात्र भी नानात्व नहीं है। (आपाततः प्रतीत होने वाले औपाधिक भेद को लेकर ही जहाँ कहीं बहुवचन का प्रयोग किया गया है) ॥९१॥]

हेयज्ञेयाप्यपाक्यानि विज्ञेयानि भिक्षुणो[1]पायत्वेनेत्यर्थः। अग्रयाणतः प्रथमतस्तेषां हेयादीनामन्यत्र विज्ञेयात्परमार्थसत्यं विज्ञेयं ब्रह्मैकं वर्जयित्वा। उपलम्भनमु[2]पलम्भोऽविद्याकल्पनामात्रम्। हेयाप्य-पाक्येषु [3]त्रिष्वपि स्मृतो ब्रह्मविद्भिर्न परमार्थसत्यता त्रयाणामित्यर्थः ॥९०॥

परमार्थतस्तु प्रकृत्या [4]स्वभावत आकाशवदाकाशतुल्याः सूक्ष्म[5]निरञ्जनत्वसर्वगतत्वैः सर्वे

दोष ही उक्त मुमुक्षु के लिये नष्ट करने योग्य होने के कारण पाक्य (पकाने योग्य) है। भाव यह है कि मुमुक्षु को हेय ज्ञेय, आप्य और पाक्य इन सभी को सर्व प्रथम अपने साधन रूप में जानने चाहिये। उन हेयादि में से केवल विज्ञेय एक परमार्थसत्य ब्रह्म को छोड़कर शेष हेय, आप्य और पाक्य इन तीनों को ब्रह्मवेत्ताओं ने केवल उपलम्भन अर्थात् अविद्यामय कल्पना मात्र ही माना है। तात्पर्य यह है कि इन हेयादि तीनों की परमार्थ सत्ता ब्रह्मवित् पुरुषों ने स्वीकार नहीं की है ॥९०॥

जीव आकाशवत् अनादि और एक है

परमार्थ दृष्टि से तो मुमुक्षुओं को यही समझना चाहिए कि सभी जीव स्वभावतः सूक्ष्मत्व निरञ्जनत्व और सर्वगतत्वादि के कारण आकाश के समान हैं और अनादि अर्थात् नित्य है। श्लोक में आये बहुवचन के कारण जीवात्माओं के भेद की आशंका हो सकती थी उसे दूर करते हुए, आचार्य गौडपाद कहते हैं कि उनका कहीं कुछ लेशमात्र भी नानात्व नहीं है, किसी भी देश, काल या

द्वितीयवस्तु[6]विचार[7]चातुर्यपरिनिष्पन्नं श्रवणम्। [8]बाल्यं दम्भदर्पाहंकारादिराहित्यम्, युक्तितः श्रुतार्थानुसंधान-कुशलत्वम्। मौनं [9]मुनेः कर्म ज्ञानाभ्यासलक्षणं निदिध्यासनशब्दितम्। तान्येतान्याप्यानि। यद्यपि ज्ञेयस्य विज्ञेयत्वं [10]युक्तं तथाऽपि कथं हेयादीनां विज्ञेयत्वमित्याशङ्कयाऽऽह—उपायत्वेनेति। [11]तदेव प्रकटयितुं प्रथमत इत्युक्तम्। उत्तरार्धं व्याचष्टे—तेषामिति। हेयादीनां रज्जुसर्पवदविद्याकल्पितत्वान्नास्ति परमार्थत्वशङ्केत्यर्थः ॥९०॥

[12]यदुक्तं ज्ञेयं चतुष्कोटिवर्जितं परमार्थतत्त्वमिति तदिदानीं स्फुटयति—प्रकृत्येति। बहुवचनप्रयोगप्राप्त

---

१. उपायत्वेनेति—आप्यानां साक्षाद्ब्रह्मज्ञानोपायत्वेन विज्ञेयत्वम्। हेयानां हातव्यतया विज्ञेयत्वं नह्यज्ञातस्य हानं संभवति। पाक्यानां निवर्तनीयत्वेन विज्ञेयत्वं न ह्यज्ञातो निवर्तयितुं शक्यः इति भावः। २. उपलम्भः स्मृत इति—अविद्याकल्पितभ्रान्तिमात्रत्वमुद्दिष्टम्। ३. त्रिष्वपि—त्रयाणामपीत्यर्थः। ४. स्वभावतः—स्वरूपतः। ५. निरञ्जनत्वम्—निर्लेपत्वम्। ६. विचारेति—देहेन्द्रियादिभ्यः आत्मत्वेन विवेचनेत्यर्थः। ७. चातुर्येति—बुद्धिनिष्ठवैलक्षण्येत्यर्थः। ८. बालस्य भावो बलमेव वा इति व्युत्पत्तिमाश्रित्य विवक्षितमर्थ-द्वयं संगृह्णाति—बाल्यमिति। ९. मुनेरिति—संपादितमननस्येत्यर्थः। १०. युक्तमिति—ज्ञेयस्यात्मतत्त्वस्य विज्ञानं तु पुरुषार्थापादकत्वादापादयितुमर्हमपि कथं हेयादीनां तत्तथात्वाभावादिति समुदायार्थः। ११. तदेवेति—उपायत्वमेवेत्यर्थः, उपायो ह्युपेयतः प्राच्यो भवतीति भावः। १२. यदुक्तम्—भगवानाभिरस्पृष्टः इत्यत्रोक्तमित्यर्थः।

[1]आदिबुद्धाः प्रकृत्यैव सर्वे धर्माः [2]सुनिश्चिताः।
यस्यैवं भवति [3]क्षान्तिः सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥९२॥

(सूर्य के समान) स्वभाव से ही सभी आत्मा नित्य प्रकाशस्वरूप तथा सुनिश्चित है। जिस मुमुक्षु को आत्मा के विषय में ऐसी शान्ति (निरपेक्ष बोध की दक्षता) रहती है, वह मोक्ष प्राप्ति के योग्य माना जाता है ॥९२॥

धर्मा आत्मानो ज्ञेया मुमुक्षुभिरनादयो नित्याः। बहुवचनकृतभेदाशङ्कां निराकुर्वन्नाह—क्वचन किंचन किंचिद[4]णुमात्रमपि तेषां च विद्यते नानात्वमिति ॥९१॥

ज्ञेयताऽपि धर्माणां [5]संवृत्यैव न परमार्थत इत्याह—यस्मादादो बुद्धा आदिबुद्धाः प्रकृत्यैव एव यथा नित्यप्रकाशस्वरूपः सवितेवं नित्यबोधस्वरूपा इत्यर्थः। सर्वे धर्माः सर्व आत्मानः। [6]न च तेषां निश्चयः कर्तव्यो नित्यनिश्चितस्वरूपा इत्यर्थः। न संदिह्यमानस्वरूपा एवं नैवं चेति। यस्य मुमुक्षोरेवं [7]यथोक्तप्रकारेण सर्वदा बोधनिश्चयनिरपेक्षताऽऽत्मार्थं परार्थं वा यथा सविता नित्यं प्रकाशा-

---

अवस्था में कार्यकारणभाव से अथवा अंशांशी भाव से कहीं भी अणुमात्र भी भेद नहीं है। बहुवचन का प्रयोग तो केवल कल्पितभेद को लेकर किया गया है ॥९१॥

आत्माओं में ज्ञेयता भी व्यवहारिक दृष्टि से कही गयी है परमार्थतः नहीं। इसीलिये कहते हैं—जैसे सूर्य नित्यप्रकाश रूप है, वैसे ही सम्पूर्ण आत्मा स्वभाव से ही आदि बुद्ध अर्थात् आरम्भ से ही जाने हुए नित्य बोध स्वरूप हैं। उनका निश्चय भी करना नहीं है अर्थात् वे नित्य निश्चित स्वरूप हैं। यह ऐसा ही है या ऐसा नहीं है, इसप्रकार सन्देह ग्रस्त स्वरूप नहीं है। जिस मुमुक्षु में इस पूर्वोक्त प्रकार से अपने या अन्य के लिये सदा सर्वदा बोध निश्चय सम्बन्धी निरपेक्षता है। जैसे सूर्य अपने या अन्य के प्रकाश के लिये किसी दूसरे प्रकाश की अपेक्षा नहीं रखता। वैसे ही जिसे सदा अपने

---

[8]दोषं प्रत्यादिशति—विद्यत इति। कल्पितभेदनिबन्धनं बहुवचनमित्यर्थः। क्वचनेति देशकालावस्थाग्रहणम्। अणुमात्रमपीति [9]कार्यकारणभावस्यांशांशिभावस्य चोपादानाम् ॥ ९१ ॥

ज्ञेयशब्दप्रयोगा[10]न्मुख्यमेव ज्ञेयत्वं प्राप्तं प्रत्युदस्यति—आदिबुद्धा इति। [11]यथोक्तरीत्या समुत्पन्नस्य ज्ञानस्य फलमाह—यस्येति। प्रथमपादस्य तात्पर्यमाह— ज्ञेयताऽपीति। [12]उक्तमर्थं दृष्टान्तेन स्पष्टयति—यथेति। [13]पादान्तरस्यार्थं कथयति—न चेति। निश्चितस्वरूपत्वमेव व्यतिरेकद्वारा स्फोरयति—नेत्यादिना। न खल्वात्मा स्वसत्तायामे[14]वं नैवमिति संदिह्यमानस्वरूपो भवितुमलम्। तस्य स्फुरणाव्यभिचारात्तद्रूपत्वस्य [15]प्रागेव साधितत्वादित्यर्थः। द्वितीयार्धं व्याकरोति—यस्येत्यादिना। आत्मस्वरूपस्य स्फुरद्रूपत्वं यथोक्तप्रकारः [16]बोधाख्यो निश्चयो बोधनिश्चयस्त

---

१. आदिबुद्धाः—प्रमाणप्रवृत्तितः प्रागेवप्रकाशरूपाः। २. सुनिश्चिताः—नित्यविज्ञप्तिरूपाः। ३ क्षान्तिः—आत्मनि सर्वथानिरपेक्षता। ४. अणुमात्रमपीति—घटपटादीनां हि अत्यन्तं नानात्वं पारस्परिकभेदः। उपादानोपादेययोः समुदायसमुदायिनोश्च नानात्वस्याभेदसमानाधिकरणत्वात् अणुमात्रत्वम्। तथा च धर्माणां परस्परमुपादानोपादेयभावस्य समुदायसमुदायिभावस्य वाऽभावात् नाणुमात्रमपि नानत्वमिति भावः। नानात्वं=भेदः। ५. संवृत्यैव—आविद्यकव्यवहारेणैव। ६. न च तेषामिति—न ते निश्चयविषया इत्यर्थः। ७. यथोक्तप्रकारेण—स्वप्रकाशत्वादिनेत्यर्थः। ८. दोषमिति—नानात्वरूपं दोषमित्यर्थः। ९. कार्यकारणभावस्येति—समुदायसमुदायिभावप्रयुक्तस्य नानात्वस्येत्यर्थः। १०. मुख्यम्—स्वप्रकाशत्वरूपम्। ११. यथोक्तरीत्या—स्वाभिन्नादिबुद्धत्वादिरूपेणेत्यर्थः। १२. उक्तमर्थम्—स्वप्रकाशत्वरूपम्। १३. सर्वेधर्मा इत्यस्योभयान्वयित्वादाह—पादान्तरस्येति। १४. एवमिति—अस्तिनास्ति वा इत्येवम्। १५. प्रागेव—अष्टाविंशादिकारिकासु। १६. बोधाख्यः—निश्चयात्मको बोधः।

[1]आदिशान्ता ह्यनुत्पन्नाः [2]सुनिर्वृताः ।
सर्वे धर्माः [3]समाभिन्ना अजं साम्यं विशारदम् ॥९३॥

[सभी आत्मा सदा ही शान्त स्वरूप, अजन्मा, स्वभाव से अत्यन्त उपरत सम और अभिन्न हैं। इस प्रकार आत्मतत्त्व अजन्मा समता रूप और विशुद्ध है (अतः नित्य मुक्तैक सर्वभाव आत्मा के लिये मोक्ष कर्तव्य नहीं है ॥९३॥]

न्तरनिरपेक्षः स्वार्थं परार्थं चेत्येवं भवति क्षान्तिर्बोधकर्तव्यतानिरपेक्षता सर्वदा स्वात्मनि सोऽमृतत्वाया- मृतभावाय कल्पते । मोक्षाय समर्थो भवतीत्यर्थः ॥९२॥

तथा नापि शान्तिकर्तव्यताऽऽत्मनीत्याह—यस्मादादिशान्ता नित्यमेव [4]शान्ता अनुत्पन्ना अजाश्च प्रकृत्यैव सुनिर्वृताः सुष्ठुपरतस्वभावः इत्यर्थः । सर्वे धर्माः समाश्चाभिन्नाश्च समाभिन्ना अजं साम्यं विशारदं विशुद्धमात्मतत्त्वं यस्मात्तस्मा[5]च्छान्ति[6]र्मोक्षो वा नास्ति कर्तव्य इत्यर्थः । न हि [7]नित्यैकस्वभावस्य कृतं किंचिदर्थवत्स्यात् ॥९३॥

आत्मा में शान्ति है। अतः स्वात्मबोध के लिये किसी अन्य की अपेक्षा नहीं रखता। वही अमृतभाव अर्थात् मोक्ष के लिये समर्थ होता है ॥९२॥

वैसे ही आत्मा में शान्ति के लिये कोई कर्तव्य नहीं है। इसे कहते हैं—क्योंकि सभी जीव सदा सर्वदा ही शान्त स्वरूप, अजन्मा स्वभाव से ही अत्यन्त उपरत स्वरूप सम एवं अभिन्न हैं। इस प्रकार आत्मतत्त्व अजन्मा, साम्य रूप तथा विशुद्ध है। अतएव उसे मोक्षरूप शान्ति कर्तव्य नहीं है, किन्तु नित्य सिद्ध है, यह इसका तात्पर्य है। जो नित्य एक स्वभाव है, उसके लिये कुछ करना प्रयोजन नहीं रखता ॥९३॥

स्मिन्निरपेक्षत्वं स्वार्थमन्यार्थं वा यस्य भवति सोऽमृतत्वाय कल्पत इति संबन्धः । [8]तदेव दृष्टान्तेन साधयति—यथेत्यादिना । इतिशब्दो यथेत्यनेन [9]संबध्यते ॥९२॥

सोऽमृतत्वायेत्यादिवचनादागन्तुकममृतत्वं प्राप्तं तत्प्रत्युदस्यति—आदिशान्ता इति । श्लोकस्य तात्पर्यमक्षरार्थं च निर्दिशति—तथा नापीत्यादिना । उक्तमेवार्थं चतुर्थपादेन संक्षिप्य दर्शयति—अजमिति । श्लोकार्थमुपसंहरति—विशुद्धमिति । उक्तरूपतानङ्गीकारे मोक्षस्यापुरुषार्थता स्यादित्याह—न हीति । संसारदुःखोपशमनं सुखजन्म वा यदि क्रियेत तदा कृतकस्या[10]नित्यत्वमवश्यंभावीत्यर्थः ॥ ९३ ॥

---

१. आदिशान्ताः—स्वरूपत एव शान्ताः । २. सुनिर्वृताः—अविद्याद्यखिलानर्थशून्याः । ३. समाः—निःसामान्य- विशेषा निर्धर्मका इति यावत् । अभिन्नाः—नानात्वरहिताः ।

४. शान्ता इति—प्राप्तनिरतिशयानन्दा इत्यर्थः । ५. शान्तिः—निरतिशयानन्दावाप्तिः । ६. मोक्षः—निखि- लानर्थनिवृत्तिः । ७. नित्यैकस्वभावस्येत्यादि—नित्यैकस्वरूपस्यमोक्षस्य सम्बन्धितया कृतं—तदुद्देश्येनानुष्ठितं किञ्चित्- कर्मादीत्यर्थः । ८. तदेव—निरपेक्षत्वमेव । ९. सम्बध्यते—तथा चेति यथा दृष्टान्त इत्यर्थः । १०. अनित्यम् —तथा च मोक्षस्यापुरुषार्थत्वं स्यादिति भावः ।

वैशारद्यं तु वै नास्ति भेदे विचरतां सदा ।
भेदनिम्नाः पृथग्वादास्तस्मात्ते कृपणाः स्मृताः ॥६४॥
अजे साम्ये तु ये केचिद्भविष्यन्ति सुनिश्चिताः ।
ते हि लोके महाज्ञानास्तच्च लोको न गाहते ॥६५॥

[सदा अविद्या कल्पित द्वैत में ही विचरणे वाले वादियों की विशुद्धि निश्चय ही नहीं होती, क्योंकि भेद वादी भेद की ही ओर प्रवृत्त होते देखे गये हैं। अतएव वे दीन माने गये हैं ॥६४॥]

[उस अज और साम्य रूप पदार्थ तत्त्व में जो कोई स्त्री, पुरुष ("यह ऐसा ही है" इस प्रकार) पूर्ण रूप से निश्चित होंगे, वे ही लोग में निरतिशय तत्त्ववेत्ता हैं। उनसे ज्ञात परमार्थ तत्त्व का अवगाहन सामान्य बुद्धि वाला पुरुष नहीं कर सकता ॥६५॥]

ये यथोक्तं परमार्थतत्त्वं [1]प्रतिपन्नास्त एव [2]कृपणा लोके कृपणा एवान्य इत्याह—यस्माद्भेदनिम्ना भेदानुयायिनः [3]संसारानुगा इत्यर्थः। के। पृथग्वादाः पृथङ् नाना [4]वस्त्वित्येवं वदनं येषां ते पृथग्वादा द्वैतिन इत्यर्थः। तस्मात्ते कृपणाः क्षुद्राः [5]स्मृता यस्माद्वैशारद्यं विशुद्धिर्नास्ति तेषां भेदे विचरतां द्वैतमार्गेऽविद्याकल्पिते सर्वदा वर्तमानानामित्यर्थः। अतो युक्तमेव तेषां कार्पण्यमित्यभिप्रायः ॥६४॥

यदिदं परमार्थतत्त्वममहात्मभिरपण्डितैर्वेदान्तबहिष्ठैः क्षुद्रैरल्पप्रज्ञैरनवगाह्यमित्याह—अजे साम्ये परमार्थतत्त्व [6]एवमेवेति ये केचित्स्त्र्यादयोऽपि [7]सुनिश्चिता भविष्यन्ति चेत्त एव हि लोके

आत्मज्ञानी दीन नहीं होता

जो पूर्वोक्त परमार्थ तत्त्व को समझ चुके हैं, लोक में वे ही केवल अकृपण हैं। उनसे भिन्न सभी दीन ही हैं। इसी बात को कहते हैं—क्योंकि भेद की ओर जाने वाले सांसारिक हैं। कौन ? जो भेदवादी हैं, नाना वस्तु है ऐसा जिनका कथन है, वे पृथक् वादी या द्वैती कहे गये हैं। इसीलिये वे भेदवादी कृपण यानी क्षुद्र माने गये हैं। क्योंकि अविद्यापरिकल्पितभेदवाद रूप द्वैत मार्ग में सदा विचरने वाले उन लोगों की विशुद्धि नहीं हो पाती। बस बस ! इसी कारण से उनको कृपण कहा जाना भी ठीक ही है ॥६४॥

आत्मज्ञानी महान् पण्डित है

जो यह परमार्थतत्त्व है वह तुच्छ-बुद्धि, अविवेकी तथा वेदान्त के अनधिकारी, क्षुद्र और अल्प बुद्धि वाले पुरुषों से जानना अशक्य है। इसी अभिप्राय से कहते हैं—

इदानीं मुमुक्षु[8]प्ररोचनार्थमविद्वन्निन्दां दर्शयति--वैशारद्यं त्विति। श्लोकस्य तात्पर्यं दर्शयति—ये यथोक्त-
मिति। उत्तरार्धमादौ योजयति—यस्मादिति। तस्मादित्युत्तरेणास्य संबन्धः। प्रथमार्धमुक्तेऽर्थे हेतुत्वेन व्याचष्टे—
यस्मादित्यादिना। समनन्तरोक्तस्य यस्मादित्यस्यापेक्षितं पूरयति—अत इति ॥ ६४ ॥
एवमविद्वन्निन्दां प्रदर्श्य विद्वत्प्रशंसां प्रसारयति—अज इति। कूटस्थे वस्तुनि निर्विशेषे येषामसंभावनाविपरीत-

---

१. प्रतिपन्नाः—ज्ञातवन्तः। २. अकृपणाः—अदुःखिनः। ३. संसारानुगा=संसारानुरागिणः। ४. वस्त्विति—सत्यमित्यर्थः। भिन्नं सत्यं चेत्यर्थः। ५. स्मृताः—विद्वद्भिः स्मृत्वोपदिष्टा इत्यर्थः। ६. एवमिति—नित्यमुक्तत्वादिप्रकारेणेत्यर्थः। ७. सुनिश्चिताः—तादृक्तत्त्वमहमस्मीति असम्भावनाद्यनास्कन्दितज्ञानवन्तः। ८. प्ररोचनार्थम्—मोक्षवस्तुनि—उत्तमानुरागोत्पत्त्यर्थम्।

महाज्ञाना निरतिशयतत्त्वविषयज्ञाना इत्यर्थः तच्च तेषां वर्त्म विदितं परमार्थतत्त्वं सामान्यबुद्धिरन्यो लोको न गाहते नावतरति न [1]विषयीकरोतीत्यर्थः ।

"सर्वभूतात्मभूतस्य सर्वभूतहितस्य च ।
देवा अपि मार्गे मुह्यन्त्य[2]पदस्य पदैषिणः ॥
शकुनीनामिवाऽऽकाशे [3]गतिर्नैवोपलभ्यते" । (महा० शा० २३९।२३-२४)

इत्यादिस्मरणात् ॥९५॥

यह परमार्थ तत्त्व ऐसा ही है । इस प्रकार अजन्मा साम्यरूप परमार्थ तत्त्व में जो कोई स्त्री आदि भी यदि अच्छी प्रकार से निश्चित हो जायेंगे तो, निःसन्देह वे लोक में महाज्ञानी अर्थात् निरतिशय तत्त्व विषयक यथार्थ बोध वाले माने जायेंगे । उनके उस मार्ग यानी उनके द्वारा विदित परमार्थ तत्त्व में सामान्य बुद्धि वाले अन्य मनुष्य अवतरण नहीं कर सकते । यानी उस विषय को समझ नहीं सकते हैं । "जो सम्पूर्ण भूतों का आत्मभूत और सभी प्राणियों का हित कारक है उस आप्तकाम महात्मा के पद को जानने की इच्छा वाले देवता भी उस मार्ग में मोहित हो जाते हैं और जैसे पक्षियों के पद चिह्न आकाश में नहीं दीखते । इसी प्रकार उस तत्त्ववेत्ता की गतिका सर्वथा पता नहीं चलता" इत्यादि स्मृति वाक्य से भी उक्त अर्थ ही प्रमाणित होता है ॥९५॥

भावनाविरहि निर्धारणरूपं विज्ञानं [4]सभावनोपनीतमस्ति ते हि व्यवहारभूमौ महति निरतिशये तत्त्वे परिज्ञानवत्त्वा-[5]न्महानुभावा भवन्तीत्यर्थः । ननु तत्त्वविषयज्ञानस्य सर्वलोक[6]साधारणत्वात्तत्त्वज्ञानवतां किमिति प्रशंसा प्रस्तूयते तत्राऽऽह—तच्चेति । श्लोकस्य तात्पर्यमाह—यदिदमिति । यदित्युपक्रमात्तदमहात्माभिरनवगाह्यमिति योजनीयम् । अमहात्मत्वं क्षुद्रहृदयत्वम् । तत्र हेतुः—अपण्डितैरिति । अपाण्डित्यं विवेकरहितत्वम् । तत्र हेतुर्वेदान्तेत्यादिना सूच्यते । [7]तेषां [8]पौर्वापर्येण पर्यालोचना[9]परिचयपराङ्मुखैरित्यर्थः । विचारचातुर्याभावादेव [10]पदार्थ[11]वाक्यार्थविभागावगमशून्यत्वमाह—अल्पप्रज्ञैरिति । [12]तर्हि पारमार्थिके तत्त्वे केष[13]मेवं [14]मनीषा समुन्मिषेदित्याशङ्क्य येषां केषांचिदेव [15]तन्निष्ठानामित्याह—ये केचिदिति । स्त्र्या[16]दीना[17]मुपनिषद्द्वारा ज्ञानाधिकाराभावेऽपि [18]द्वारान्तर-प्रयुक्तस्तदधिकारः संभवतीत्यभिप्रेत्यापीत्युक्तम् । तत्त्वज्ञानस्य दुर्लभत्वमभ्युपेत्य चेदित्युक्तम् । चतुर्थपादं व्याचष्टे—तच्चेति । ज्ञानवतां विज्ञातं परमार्थतत्त्वमन्येषामनवगाह्यमित्यत्र प्रमाणमाह—सर्वभूतेति । सर्वेषां भूतानां ब्रह्मादीनां स्तम्बपर्यन्ताना[19]मात्मा परं ब्रह्म तद्भूतस्य विदुषः सर्वात्मभूतस्य सर्वेषु भूतेषु [20]निरुपचरितस्वरूपत्वादेव [21]परमहितस्य परमप्रेमास्पदत्वादेव परमसुखात्मकस्य [22]प्राप्यपुरुषार्थविरहिणो मार्गे देवा [23]विद्यावन्तोऽपि [24]पदमन्वे-

---

१. विषयीकरोतीति—अपरोक्षीकरोतीत्यर्थः । २. अपदस्येति—विदुषः इति शेषः । ३. गतिर्नैवोपलभ्यते—गमनक्रिया न दृश्यते पादचिन्हाभावादित्यर्थः । ४. संभावनोपनीतमिति—निदिध्यासनसंजनितमिति, यद्वा भविष्यन्तीति भविष्यत्वसूचनमेवेदम् । ५. महानुभावाः—उदाराशयाः । ६. साधारणत्वात्—अहमस्मीति अखिलोप्यात्मानं वेत्तीति भावः । ७. तेषाम्—वेदान्तानाम् । ८. पौर्वापर्येण—उपक्रमोपसंहारादिनेत्यर्थः । ९. परिचयप्राङ्मुखैः—कौशलरहितैः । १०. पदार्थेति—तत्त्वं पदार्थेत्यर्थः । ११. वाक्यार्थेति—अखण्डार्थेत्यर्थः । १२. तर्हि—परमार्थतत्त्वस्याल्पज्ञैरनवगाह्य । १३ एवम्—अजत्वादिप्रकारेणेत्यर्थः । १४. मनीषा—परमार्थतत्त्वधी । १५. तन्निष्ठानाम्—तत्रानन्यव्यापारवताम् । १६. आदि—पदं शूद्राद्यर्थम् । १७. उपनिषद्द्वारेति—साक्षान्महावाक्यद्वारेत्यर्थः । १८. द्वारान्तरेति—भाषानिबन्धपुराणादीत्यर्थः । १९. आत्मेति—अधिष्ठानतया परमार्थस्वरूपमित्यर्थः । २०. निरूपचरितस्वरूपत्वादिति—अनारोपितस्वरूपत्वात् मुख्यात्मत्वात् न तु पुत्रमित्रकलत्रादिवत् गौणात्मत्वात् नापि शरीरवन्मिथ्यात्मत्वादिति भावः । २१. परमहितस्य—परमप्रेमास्पदस्य । २२. प्राप्यपुरुषार्थविरहिण इति—उपासकवद् गन्तव्यपदरहितस्येत्यर्थः । आप्तकामस्येति वा । २३. विद्यावन्तः—अन्तर्हितावेक्षणान्तर्धानादि विद्यानिपुणाः । २४. पदम्—पादचिह्नम् ।

[1]अजे[2]ष्वज[3]मसंक्रान्तं [4]धर्मेषु [5]ज्ञानमिष्यते ।
यतो [6]न क्रमते ज्ञानमसङ्गं तेन कीर्तितम् ॥९६॥

[अजन्मा आत्माओं में (सूर्य में उष्णता और प्रकाश के समान) अचल ज्ञान (सदा अर्थान्तर में) संक्रान्त न होने वाला माना जाता है । क्योंकि वह ज्ञान दूसरे विषयों में संक्रान्त नहीं होता । इसीलिए (वह आकाश के समान) असंग कहा गया है ॥९६॥]

कथं महाज्ञानत्वमित्याह—अजेष्वनुत्पन्नेष्वचलेषु धर्मेष्वात्मस्वजमचलं च ज्ञानमिष्यते सवितरीवौष्ण्यं प्रकाशश्च यत्त[7]स्मादसंक्रान्तमर्थान्तरे ज्ञानमजमिष्यते । यस्मान्न क्रमतेऽर्थान्तरे ज्ञानं तेन कारणेनासङ्गं तत्कीर्तितमाकाशकल्पमित्युक्तम् ॥९६॥

वे महाज्ञानी कैसे है ? इस पर कहते हैं—जैसे सूर्य में उष्णता और प्रकाश स्वाभाविक एवं अचल है वैसे ही न उत्पन्न होने वाले अचल आत्माओं में ज्ञानी भी अजन्मा अर्थात् अचल ही माना गया है । अतः किसी दूसरे विषय में इस ज्ञान का संक्रमण यानी अनुप्रवेश नहीं होता । ऐसे विषयान्तर के साथ संसर्ग न रखने वाले इस ज्ञानको अजन्मा अर्थात् नित्य माना गया है, क्योंकि वह ज्ञान दूसरे विषय में संसर्ग नहीं रखता । इसीलिये उसे आकाश के समान असंग कहा गया है ॥९६॥

षमाणा विविधं मोहमुपगच्छन्तीत्यर्थः । महात्मनो ज्ञानवतो गन्तव्यपदरहितस्य परिपूर्णस्य गतिरवगन्तुम[8]शक्येति निदर्शनवशेन वि[ ]दयति—शकुनीनामिति ॥९५॥

अजं साम्यमित्युक्तं प्रमेयम् । तद्विषयनिश्चयवान्प्रमाता । प्रमाणं तथाविधनिश्चयज्ञानमिति । वस्तुपरिच्छेदे कथं [9]महाज्ञानत्वमित्याशङ्क्याऽऽह—अजेष्विति । अजाधर्माश्चिद्प्रतिबिम्बा जीवा विवक्ष्यन्ते । [10]तेष्वजं ज्ञानं कूटस्थदृष्टिरूपं बिम्बकल्पं ब्रह्मा[11]चलमात्मभूतमभ्युपगम्यते । [12]तथा च मानमेयादिभावस्य कल्पितत्वेऽपि वस्तुतो वस्तुपरिच्छेदाभावादुपपन्नं तज्ज्ञानवतां महाज्ञानत्वमित्यर्थः । किंचास्मन्मते ज्ञानस्य यदसङ्गत्वमङ्गीकृतं तदपि विषयाभावादेव सिध्यति । ततश्च मुक्तौ निर्विषयं मन इति यदुच्यते तदप्यविरुद्धमित्याह—यतो नेति । आकाङ्क्षापूर्वकं पूर्वार्धं योजयति—कथमित्यादिना । उत्तरार्धं व्याचष्टे—यस्मान्नेति । नित्यविज्ञप्तिरूपस्याऽऽत्मनोऽसङ्गत्वं प्रागपि सूचितमित्याव—आकाशेति ॥९६॥

---

१. अजेषु—जन्मादिविक्रियारहितेषु । २. अजम्—कूटस्थम् । ३. असंक्रान्तम्—स्वातिरिक्तविषयासंस्पृष्टम् ४. धर्मेषु—जीवेषु । ५. ज्ञानम्—ब्रह्मस्वरूपम् । ६. न क्रमते—स्वभिन्नविषयेषु न संसृज्यते । ७. तस्मादित्यादि—असंसर्गि, स्वातिरिक्तविषयेज्ञानम्—ब्रह्मस्वरूपमित्यर्थः । अध्यस्ताखिलस्य वस्तुतोऽभावादसङ्गं जीवानां ब्रह्माभिन्नत्वात् । ८. अशक्येति – अशक्यत्वमिति । ९. महाज्ञानत्वम्—अपरिच्छिन्नगोचरज्ञानवत्वम् । १०. तेष्वजम्—ब्रह्मेति । ११. अचलम्—विषयासंसर्गीत्यर्थः । १२. तथा चेति—ज्ञानात्मकब्रह्मणो जीवाभिन्नत्वे तदभिन्नमित्यर्थः । प्रमात्रादीनाञ्च तदभिन्नत्वे, चेत्यर्थः । एवञ्चाद्वितीयचिद्वस्तुनः एव सत्वात् मानादिभानं [illegible] कल्पितत्वमित्यर्थः ।

अणुमात्रेऽपि वैधर्म्ये जायमानेऽविपश्चितः ।
असङ्गता सदा नास्ति किमुताऽऽवरणच्युतिः ॥९७॥
अलब्धावरणाः सर्वे धर्माः प्रकृतिनिर्मलाः ।
आदौ बुद्धास्तथा मुक्ता [1]बुध्यन्त इति नायकाः ॥९८॥

[(इससे भिन्न वादियों के मतानुसार थोड़ी भी विधर्मी वस्तु की उत्पत्ति मानने पर अविवेकी पुरुष की असंगता भी सदा सिद्ध नहीं हो सकती, फिर भला उसके बन्धनाश की बात तो दूर ही रही ॥९७॥]

[सभी आत्मा अविद्यादि रूप बन्धन से शून्य, स्वभाव से ही विशुद्ध, नित्य बुद्ध और मुक्त स्वरूप है। फिर भी वेदान्त के प्रवर्तक आचार्य लोग "आत्मा जान जाते हैं" ऐसा (नित्य प्रकाश स्वरूप होने पर भी सूर्य प्रकाशमान् है,) आत्मा के विषय में कहते हैं ॥९८॥]

इतोऽन्येषां वादिनामणुमात्रेऽल्पेऽपि [2]वैधर्म्ये वस्तुनि [3]बहिरन्तर्वा जायमान उत्पाद्यमानेऽविवेकिनोऽसङ्गताऽसङ्गत्वं सदा नास्ति किमुत वक्तव्यमावरणच्युतिर्बन्धनाशो नास्तीति ॥९७॥

तेषामावरणच्युतिर्नास्तीति ब्रुवतां स्वसिद्धान्तेऽभ्युपगतं [4]तर्हि धर्माणामावरणम् । नेत्युच्यते । अलब्धावरणाः । अलब्धमप्राप्तमावरणमविद्यादिबन्धनं येषां ते धर्मा अलब्धावरणा बन्धनरहिता

उत्पत्तिपक्ष में दोष

अजातवादी से भिन्न जो भी अन्यवादी हैं, उनके मतानुसार थोड़ी सी भी विधर्मी वस्तुका बाहर या भीतर किसी प्रकार से भी उत्पन्न होना माना जाय तो, वह अविवेक ही माना जायगा। ऐसी अविवेकियों की—असंगता स्थिर नहीं रह सकती, क्योंकि वस्तु को उत्पत्ति मानने पर उसके साथ ज्ञान का संसर्ग मानना ही पड़ेगा। फिर तो उसकी आवरणच्युति अर्थात् ऐसे अविवेकियों के बन्ध का नाश भी नहीं होता। इस विषय में तो कहना ही क्या है। भाव यह कि अजातवाद के अनुसार ही ज्ञानस्वरूप ब्रह्म की असंगता सिद्ध होती है, इसके विपरीत ब्रह्म से भिन्न किसी वस्तु की अणुमात्र भी उत्पत्ति मानें, तो ऐसे विषय के साथ ज्ञान का संसर्ग अवश्य मानना होगा। फिर संसर्ग मानने पर मोक्ष की आशा ही दुराशा है ॥९७॥

आत्मा का परमार्थस्वरूप

यदि कोई शंका करे, कि उनके आवरण का ध्वंस नहीं होता है, ऐसा कहने वाले तुम अजात-

---

कूटस्थं ब्रह्मैव तत्त्वमि[5]ति स्वमते ज्ञानमसङ्गं सिध्यतीत्युक्तम् । मतान्तरे पुनः सविषयत्वाज्ज्ञानस्यासङ्गत्वसंयतं प्रसज्येतेत्याह—अणुमात्रेऽपीति । अविद्वद्दृष्ट्या कस्यचिदपि पदार्थस्य जन्माङ्गीकारे ज्ञानस्य [6]तदनुषङ्गित्वेनासङ्गत्वायोगो बन्धध्वंसलक्षणं प्रयोजनं दूरापास्तं भवतीत्याह—किमुतेति । श्लोकाक्षराणि व्याकरोति—इत इति । विद्वानद्वैतवादी पञ्चम्या परामृश्यते ॥९७॥

न चिदावरणच्युतिरिष्यते तर्हि स्वीकृतमावरणमित्याशङ्क्याऽऽह—अलब्धेति । [7]बोद्धृत्वं [8]तर्हि कथमित्या-

---

१. बुद्ध्यन्ते इति—तात्पर्याभिज्ञस्वामिनो बुद्ध्यन्ते धर्मा इति व्यवहरन्तीत्यर्थः । २. वैधर्म्य इत्यादि—आत्मवैलक्षण्योपेते तद्भिन्ने इति यावत् । ३. बहिरन्तः—बहिर्घटादिवस्तुनि अन्तःसुखादिवस्तुनि च जायमानत्वेनाभ्युपगते नास्त्यसङ्गता सति विषये अवश्यं संसर्ग इत्यर्थः । ४. तर्हि—आवरणाभावस्वीकारे । ५. इतीति—इतरविरहादित्यर्थः । ६. तदिति—जायमानवस्त्विति । ७. बोद्धृत्वम्—[illegible] । ८. तर्हि—आत्मनो ज्ञानस्वरूपत्वे स्वीकृते ।

इत्यर्थः। प्रकृतिनिर्मलाः स्वभावशुद्धा आदौ बद्धास्तथा मुक्ता यस्मान्नित्य[1]बुद्धशुद्धमुक्तस्वभावाः। [2]यद्येवं [3]कथं तर्हि बुध्यन्त इत्युच्यते। नायकाः स्वामिनः [4]समर्था बोद्धुं [5]बोधशक्तिमत्स्वभावा इत्यर्थः। [6]यथा नित्यप्रकाशस्वरूपोऽपि सविता प्रकाशत इत्युच्यते यथा वा नित्यनिवृत्तगतयोऽपि नित्यमेव शैलास्तिष्ठन्तीत्युच्यते तद्वत् ॥९८॥

वादियों ने अपने सिद्धान्त में भी आखिर आत्माओं का आवरण मान ही लिया ?

इस पर सिद्धान्ती कहता है—कि नहीं। सभी आत्माओं में सर्वथा अविद्या रूप बन्धन है ही नहीं। इसीलिये आत्मा तो स्वभाव से अलब्धावरण अर्थात् बन्धन रहित है। ये आत्मा निर्मलप्रकृति होने के कारण स्वभाव से ही शुद्ध और नित्य बोध स्वरूप हैं। इसीलिये वे नित्य मुक्त हैं, क्योंकि वे नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, स्वभाव कहे गये हैं।

पू०—यदि आत्मा स्वभाव से ऐसे हैं, तो फिर "वे जाने जाते हैं" ऐसा उनके विषय में कैसे कहा जाता है ?

सि०—जैसे नित्य प्रकाश स्वरूप होता हुआ भी सूर्य प्रकाशता है, ऐसा सूर्य के विषय में कहा जाता है और जैसे सदा सर्वदा गति शून्य होते हुए भी "पर्वत खड़े हैं" ऐसा पर्वत के विषय में कहा जाता है। ठीक वैसे ही नायक (स्वामी लोग) जानने में समर्थ अर्थात बोध शक्ति सम्पन्न स्वभाव वाले व्यक्ति उनके विषय में "बुद्ध्यन्ते" ऐसा कहते हैं। श्लोक में "बुद्ध्यन्ते" इस आये हुए पद का अर्थ भाष्यकार ने "बोधशक्तिमत्स्वभावा" इस पद से कर दिया है अर्थात् आत्मा का स्वभाव ही बोध शक्तियुक्त है, ऐसा अर्थ किया गया है ॥९८॥

शङ्क्य [7]बोधनशक्तिमत्त्वादित्याह—बुध्यन्त इति। शङ्कोत्तरत्वे श्लोकमवतारयति—तेषामित्यादिना। अविद्वद्दृष्टंच-याविद्यावरणं सिध्यति न तत्त्वदृष्टयेत्यभिप्रेत्य व्याचष्टे—अलब्धेति। [8]उक्तेऽर्थे हेतुकथनार्थं विशेषणत्रयमित्याह—यस्मादिति। तस्माद्बन्धनरहिता इति पूर्वेण संबन्धः। आत्मनो यथोक्त[9]स्वभावत्वे बोद्धृत्वं न सिध्यतीत्याक्षिपति—यद्येवमिति। पाठान्तरेणोत्तरमाह—उच्यत इति। मुख्यावेव क्रियाकर्तारौ प्रकृतिप्रत्ययाभ्यामभिधेयावित्याशङ्क्य नियमनमुदाहरणाभ्यां निरस्यति—यथेत्यादिना ॥ ८॥

---

१. बुद्धाः—सदैवज्ञानस्वरूपाः। २. यद्यैवम्—नित्यशुद्धादिस्वरूपत्वम्। ३. कथं तर्हीति—बोधाश्रया भवन्तीति व्यवहारः कथं सिध्येदित्यर्थः। ४. समर्थाः—बुद्ध्यन्ते इत्यादि प्रयोगाणां तात्पर्यं ज्ञातुं समर्थाः। ५. बोधशक्तिमत्स्वभावा इति—वृत्तौप्रतिबिम्बरूपतयाज्ञानत्वसंपादकशक्तिमत्स्वभावा न तु ज्ञानक्रिया कर्तारः इति तात्पर्यम्। नायकबोद्धयतयोक्तम्। ६. यथेति—प्रकाशते इत्यस्य हि प्रकाशं करोतीति, प्रकाशाश्रयो भवतीति मुख्यार्थः। सूर्यप्रकाशस्य कादाचित्कत्वा भावान् न संभवति तत्रेति स औपचारिक एवं तिष्ठतीत्यस्य च गतिनिवृत्याश्रयो भवतीति मुख्यः स शैलेऽसंभवीति तथा। ७. बोधनेत्यादि—वृत्तौज्ञानत्वसंपादकसामर्थ्यवत्वात्। ८. उक्ते—आवरणराहित्यरूपे। ९. स्वभावत्वे—नित्यशुद्धबुद्धादिस्वरूपत्वे।

क्रमते न हि [1]बुद्धस्य [2]ज्ञानं [3]धर्मेषु [4]तापिनः ।
सर्वे धर्मास्तथा ज्ञानं नैतद्बुद्धेन भाषितम् ॥९९॥

[व्यापक ज्ञान वाले परमार्थ तत्त्वदर्शी का ज्ञान विषयान्तर में संक्रान्त नहीं होता और न (उसके मत में आकाश के सदृश) सभी आत्मा ही अर्थान्तर में संक्रान्त होते हैं, पर ऐसा ज्ञान उपदेश बौद्ध ने कहीं भी नहीं कहा । (अर्थात् बौद्ध दर्शन में कहीं पर भी इस तरह की बात नहीं कही गयी है, यह तो औपनिषद सिद्धान्त है) ॥९९॥]

यस्मान्न हि क्रमते बुद्धस्य परमार्थदर्शिनो ज्ञानं विषयान्तरेषु धर्मेषु [5]धर्मसंस्थं सवितरीव प्रभा । तापिनः, तापोऽस्यास्तीति तापी, संतानवतो [6]निरन्तरस्याऽऽकाशकल्पस्येत्यर्थः । पूजावतो वा प्रज्ञावतो वा सर्वे धर्मा आत्मानोऽपि तथा ज्ञानवदेवाऽऽकाशकल्पत्वान्न क्रमते क्वचिदप्यर्थान्तर इत्यर्थः । यदादावुपन्यस्तं ज्ञानेनाऽऽकाशकल्पेनेत्यादि तदिदमाकाशकल्पस्य तापि(यि)नो बुद्धस्य तदनन्यत्वादाकाशकल्पं ज्ञानं न क्रमते क्वचिदप्यर्थान्तरे तथा धर्मा इति । आकाशमिवाचलमविक्रियं निरवयवं नित्यमद्वितीयमसङ्ग[7]मदृश्य[8]मग्राह्य[9]मशनायाद्यतीतं [10]ब्रह्मात्मतत्त्वम् । "न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो

अजातवाद प्रच्छन्नबौद्धदर्शन नहीं है

जिसका ताय अर्थात् विस्तार हो, उसे तायी कहते हैं, क्योंकि ऐसे तायी आकाश सदृश सन्तान वाले परमार्थदर्शी बुद्ध का ज्ञान विषयान्तररूपधर्मों में वैसे ही संश्लिष्ट नहीं होता, जैसे सूर्य की प्रभा किसी भी विषय के दोष गुण से संश्लिष्ट नहीं होती, यानी सदा सूर्य प्रभा के समान अजातवादी परमार्थदर्शी का ज्ञान आत्मनिष्ठ ही रहता है । वह परमार्थदर्शी आकाश के सदृश्य असंग है, इतना ही नहीं अपितु पूजावान् और प्रज्ञावान् भी है । न केवल ज्ञान आकाश के समान असंग है, किन्तु ज्ञान के समान ही सम्पूर्ण धर्म (आत्मा) भी आकाश सदृश होने के कारण कभी भी अर्थान्तर में संक्रमण नहीं करते यानी जाते नहीं । इस प्रकरण के प्रारम्भ में "ज्ञानेनाकाशकल्पेन" इत्यादि श्लोक द्वारा जो पहले कहा गया था । उस आकाश सदृश निरन्तर बोध युक्त ज्ञानी से उसका ज्ञान अभिन्न होने के कारण आकाश के सदृश है । इसीलिये यह ज्ञान कभी विषयान्तर में संक्रमित नहीं होता । और ऐसे ही जीव भी है, यानी वे भी आकाश के समान अचल निर्विकार निरवयव नित्य द्वैत शून्य

किमिति मुख्ये बोद्धृत्वे संभाविते तदेव नेष्टमित्याशङ्क्य [11]ज्ञानस्य विद्वद्दृष्ट्या विषयसंबन्धासंभवादित्याह—क्रमत इति । [12]किंच जीवानां ब्रह्मात्मना विभुत्वादाकाशवत्क्रियासमवायायोगाच्च मुख्यं बोद्धृत्वं सेद्धुमलमित्याह—सर्व इति । ज्ञानमात्रं पारमार्थिकं तत्रैव ज्ञातृज्ञेयादि कल्पितमिति सौगतमतमेव भवताऽपि संगृहीतमित्याशङ्क्याऽऽह—ज्ञानमिति । तत्र पूर्वार्धाक्षराणि व्याकरोति—यस्मादिति । यद्धि परमार्थदर्शिनो ज्ञानं तन्न विषयान्तरेषु क्रमते किंतु सवितरि प्रकाशवदात्मन्येव प्रतिष्ठितं [13]यस्मादिष्यते तस्मादस्मिन्मुख्यं बोद्धृत्वं सेद्धुमर्हतीत्यर्थः । परमार्थदर्शिनो विशेषणम्—तापिन इति । तद्व्याचष्टे—तापोऽस्येत्यादिना । आत्मनो मुख्यस्य बोद्धृत्वस्याभावे हेत्वन्तरम्—सर्वे

१. बुद्धस्य—विदुषः । २. ज्ञानम्—स्वरूपभूतम् । ३. धर्मेषु—स्वातिरिक्तविषयेषु । ४. तापिनः—स्वाभाविकमनइन्द्रियाद्यप्रचरूपतपस्विनः । ५. धर्मसंस्थम्—स्वमहिमप्रतिष्ठितम् । ६. निरन्तरस्य—सर्वात्मकत्वात्सर्वाव्यवहितस्येत्यर्थः । ७. अदृश्यम्—ज्ञानेन्द्रियाविषयम् । ८. अग्राह्यम्—कर्मेन्द्रियागोचरम् । ९. अशनायाद्यतीतम्—षडूर्मिरहितमित्यर्थः । १०. ब्रह्मात्मस्वरूपम् । ११. भवन्मते निर्विषयज्ञानाभावात् विषयसंसृष्टज्ञानाश्रयत्वमेव बोद्धृत्वं वाच्यम् तच्च न संभवतीतीत्याशयेनाह—ज्ञानस्येति । १२ यथा विभोराकाशस्य घटाद्यसंसृष्टत्वं तथाविभूणां जीवानामसंसृष्टस्वभावत्वात् न ज्ञानक्रियाश्रयत्वरूपं मुख्यबोद्धृत्वं संभवतीत्याह —किञ्चेति । १३. यस्मात्—विषयसंसर्गाभावात् ।

[1]दुर्दर्शमतिगम्भीरमजं [2]साम्यं [3]विशारदम् ।
बुद्ध्वा [4]पदमनानात्वं नमस्कुर्मो यथाबलम् ॥१००॥

इति गौडपादाचार्यकृता माण्डूक्योपनिषत्कारिकाः संपूर्णाः । ॐ तत्सत् ।

[दुर्दर्श (अत्यन्त कठिनता से दीखने वाला, अतएव) अति गंभीर अजन्मा निर्विशेष विशुद्ध और भेद रहित पद को यथावत जानकर हम यथा शक्ति नमस्कार करते हैं ॥१००॥]

विद्यते" (बृ० ४।३।२३) इति श्रुतेः। ज्ञानज्ञेयज्ञातृभेदरहितं परमार्थतत्त्वमद्वयमेतन्न बुद्धेन भाषितम्। यद्यपि बाह्यार्थनिराकरणं ज्ञानमात्रकल्पना चा[5]द्वयवस्तुसामीप्यमुक्तम्। इदं तु परमार्थतत्त्वमद्वैतं वेदान्तेष्वेव विज्ञेयमित्यर्थः ॥९९॥

शास्त्रसमाप्तौ परमार्थतत्त्ववस्तुत्यर्थं नमस्कार उच्यते। दुर्दर्शं दुःखेन दर्शनमस्येति दुर्दर्शम्। अस्ति नास्तीति चतुष्कोटिवर्जितत्वाद्दुर्विज्ञेयमित्यर्थः। अत एवातिगम्भीरं दुष्प्रवेशं महासमुद्रवद्-

---

असंग अदृश्य अग्राह्य और क्षुधा पिपासा से रहित ब्रह्मात्मतत्त्व भी है। "ऐसे ही द्रष्टा की दृष्टि का कभी भी लोप नहीं होता" यह श्रुति भी सिद्ध कर रही है। ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता के भेद से रहित इस अद्वितीय परमार्थ तत्त्व का गौतम बुद्ध ने तो निरूपण ही नहीं किया। यद्यपि बाह्यवस्तु का निराकरण और केवल ज्ञानमात्र की कल्पना, जो कि अद्वयवस्तु के समीपवर्ती है ऐसे विषय का उपदेश तो उन्होंने किया है। फिर भी ज्ञातादिभेदशून्य चिन्मात्र नित्य अद्वितीय परमात्मतत्त्व का उपदेश बुद्ध ने नहीं किया है और इसी अद्वैत परमार्थ तत्त्व को वेदान्तों में अपना विषय कहा है। यह इसका तात्पर्य है ॥९९॥

परमार्थतत्त्व की वन्दनाव्याज से ग्रन्थान्त में मंगल

अब शास्त्र की समाप्ति में परमार्थतत्त्व की स्तुति के लिये नमस्कार कहा जाता है, जिसका दर्शन कठिनता से हो सके, ऐसे अस्ति, नास्ति इत्यादि चारों कोटियों से रहित होने के कारण दुर्विज्ञेय

धर्मास्तथेति। तद्विभजते—सर्व इत्यादिना। प्रकरणादावु[6]क्तमेव किमर्थं पुनरिहोच्यते तत्राऽऽह—यदादाविति। तदिव-मिहोपसंहृतमिति शेषः। क्रमते न हीत्यादेरक्षरार्थमुपसंहरति—आकाशकल्पस्येति। सर्वे धर्मास्तथेत्यस्यार्थं निगमयति—तथेति। धर्मा न क्रमन्ते क्वचिदपीति शेषः। [7]तथा च नाऽऽत्मनि मुख्यं [8]बोद्धृत्वं किन्त्वौ[9]पचारिकमिति [10]प्रकृत-मुपसंहर्तुमितिशब्दः। पूर्वार्धस्य तात्पर्यमाह—आकाशमिति। ज्ञानमित्यादि व्याचष्टे—ज्ञानेति। सकलभेदविकलं परि-पूर्णमनादिनिधनं [11]ज्ञप्तिमात्रमुपनिषदेकसमधिगम्यं तत्त्वमिह प्रतिपाद्यते। मतान्तरे तु नैव[12]मिति कुतो मतसांकर्या-शङ्काऽवकाशमासादयेदित्यर्थः ॥९९॥

प्रकरणचतुष्टयविशिष्टस्य शास्त्रस्याऽऽदाविवान्तेऽपि परदेवतातत्त्व[13]मनुस्मरंस्तन्नमस्काररूपं मङ्गलाचरणं संपाद-यति—दुर्दर्शमिति। दुर्विज्ञेयत्वे प्रत्यक्षादिप्रमाणानधिगम्यत्वं हेतुं विवक्षित्वा विशिनष्टि—[14]अतिगम्भीरमिति। प्रत्यक्षा-

---

१. दुर्दर्शम्—दुर्विज्ञेयम्। २. साम्यम्—निःसामान्यविशेषम्। ३. विशारदम्—शुद्धमसङ्गमिति यावत्। ४. पदम्—पद्यते इति व्युत्पत्या मुक्तोपसृप्यतत्वम्। ५. अद्वयवस्तुसामीप्यम्—अद्वैते बुद्धचवतारानुगुणत्वमिहसा-मीप्यम्। ६. उक्तमेवेति आकाशकल्पत्वमिति शेषः। ७. तथा चेति—आत्मनोऽसंसृष्टत्वे चेति। ८. बोद्-धृत्वम्—ज्ञानक्रियासमवायित्वरूपम्। ९. औपचारिकम्—आरोपितम्। १०. प्रकृतम्—आकाशकल्पत्वम्। ११. ज्ञप्तिमात्रम्—मात्रोक्त्याविषयो व्यवच्छिद्यते। १२. इतीति—प्रतिपाद्यभेदादित्यर्थः। १३. अन्विति—प्रतिपादनानन्तर मित्यर्थः। १४. अतिगम्भीरम्—प्रत्यक्षाद्यविषयम्।

अजमपि जनियोगं प्रापदैश्वर्ययोगादगति दगति च गतिमत्तां प्रापदेकं ह्यनेकम् ।
विविधविषयधर्मग्राहिमुग्धेक्षणानां प्रणतभयविहन्तृ ब्रह्म यत्तन्नतोऽस्मि ॥१॥

[1]कृतप्रज्ञैः । अजं साम्यं विशारदम् । ईदृक्पदमनानात्वं नानात्ववर्जितं बुद्ध्वाऽवगम्य तद्भूताः सन्तो नमस्कुर्मस्तस्मै पदाय । अव्यवहार्यमपि व्यवहारगोचरमापाद्य यथाबलं यथावलं यथाशक्तीत्यर्थः ॥१००॥

वस्तु को दुर्दर्श कहते हैं। अतएव मन्दबुद्धियों के लिये समुद्र के समान दुःप्रवेश होने से जो अतिगम्भीर है तथा अजन्मा, साम्य रूप और विशुद्ध है। ऐसे भेदरहित पद को जानकर तद्रूप हो और उस व्यवहारातीतपद को भी व्यवहार का विषय बनाकर हम उसे यथा शक्ति नमस्कार करते हैं। जो परमार्थतः व्यवहारातीत है, ऐसे परमार्थ तत्त्व को माया शक्ति का अनुसरण कर व्यवहार का विषय मानकर स्तुति रूप फल के लिये नमस्कार किया गया है, ऐसा इसका तात्पर्य है ॥१००॥

ग्रन्थ के अन्त में भाष्यकारकी की हुई वन्दना

जो ब्रह्म वास्तव में अजन्मा है, फिर भी अपनी ईश्वरीय शक्ति के योग के कारण आकाशादि रूप से जन्म ग्रहण किया है। कूटस्थ और व्यापक होने के कारण गति रहित होता हुआ भी पूर्वोक्त-

दिभिरनवगाह्यत्वे कूटस्थत्वं निर्विशेषत्वं सर्वसंबन्धविधुरत्वं चेति हेतुत्रयमभिप्रेत्याऽऽह—अजमित्यादि । विशेषणत्र [2]र्तर्हि कुतश्चिदवगतं [3]तन्नास्त्येवेति निश्चेतुं युक्तम्, प्रमाणाधीनत्वात्प्रमेयसिद्धेरित्याशङ्क्योपनिषद्भिर्[4]तद्धर्माध्यासा-[5]पाकरणद्वारेणावगम्यमानत्वान्नैवमित्याह—पदमिति । तत्र [6]तर्हि सकलविभागविकले [7]कुतो नमस्कारक्रिया स्वीक्रियमार्हतीत्याशङ्क्याऽऽह—अनानात्वमिति । यद्यपि वस्तुतस्तस्मिन्नानात्वं नावकल्प्यते तथाऽपि यथासामर्थ्यं माया-बलमवलम्ब्य काल्पनिकं नानात्वमनुसृत्य नमस्कारक्रिया [8]प्रचयादिप्रयोजनवती प्रामाणिकैरभिप्रेतेत्यर्थः । श्लोकस्य तात्पर्यमाह—शास्त्रेति । यदि परमार्थतत्त्वं शास्त्रस्याऽऽदाविवान्तेऽपि नमस्क्रियेत तदा तस्याऽऽद्यन्तमध्येष्वनुसंधेयतया [9]स्तुतिः सिध्यतिः । [10]तेन तदर्थमादाविवावसानेऽपि ब्रह्मीभावस्तद्विषयः श्लोकेनोपदिश्यते । [11]तथा च प्रतिपाद्यस्य ब्रह्मणो महामहिमत्वं समधिगतमित्यर्थः । दुर्दर्शत्वमुक्तं व्यनक्ति अस्तीति । सर्वेषामेव यथोक्ते परमार्थतत्त्वे प्रवेशानुप-पत्तिमाशङ्क्य [12]संप्रदायरहितानां तथात्वेऽपि तद्वतां नैवमित्याह—अक्लेति । कौटस्थ्यादिसिद्ध्यर्थं व्याख्यातमेव पद-त्रयमनुवदति—अजमिति । उक्तं वेदान्तैकगम्यं तत्त्वं द्वैताभावोपलक्षितमित्याह—ईदृगिति । यथोक्तं ब्रह्म ज्ञात्वा ज्ञान-सामर्थ्याद्ब्रह्मीभूतश्चेदाचार्यस्तर्हि कथं तस्मै नमस्कर्तुं प्रवर्तते । न हि परिपूर्णं वस्तु वस्तुतो व्यवहारगोचरतान्[13]चर-तीत्याशङ्क्याऽऽह—अव्यवहार्यमिति । परमार्थतो व्यवहारगोचरत्वेऽपि परमार्थतत्त्वस्य मायाशक्तिमनुसृत्य व्यवहार-गोचरतां [14]परिकल्प्य नमस्कारक्रिया तस्मि[15]न्प्रयोजनवशादाश्रितेत्यर्थः ॥१००॥

इदानीं भाष्यकारोऽपि भाष्यपरिसमाप्तौ शास्त्रप्रतिपादितपरदेवतातत्त्व[16]मनुस्मृत्य तन्नमस्काररूपं मङ्गला-

१. अकृतप्रज्ञैः—असंस्कृतमतिभिः । २. तर्हि—प्रत्यक्षाद्यविषयत्वे । ३. तदिति—परदेवतातत्त्वमिति । ४. धर्मेति—अनात्मधर्मेत्यर्थः । ५. अपाकरणद्वारेणेति—निषेधमुखेनेत्यर्थः । ६. तर्हीति—परदेवतातत्त्वस्य सकलधर्मराहित्येन स्वाभिन्नत्वे सतीत्यर्थः । ७. कुत इत्यादि—नमस्करणं स्वावधिकोत्कर्षाविष्करणम्, तच्च स्वाभिन्ने न संभवतीति भावः । ८. प्रचयः—पठनपाठनद्वारानानाजनसम्बन्धः । ९. स्तुतीत्यादि—स्तुतिः प्राशस्त्यं तच्चपुनः पुनः स्मरणात् सिद्ध्यतिव्यज्यते । प्रशस्तं हि पुनः पुनः स्मर्यते । १०. तेनेति—शास्त्रस्यान्ते तदर्थाभिवन्दनस्य स्तुत्यतिशयप्रयोजकत्वेनेत्यर्थः । ११. तथा च—परमार्थतत्त्वस्यादिमध्यावसानेषु ब्रह्मीभावविषयत्वे इत्यर्थः । १२. संप्रदायेति—गुरुशिष्यपारम्पर्येणोपदेशः सम्प्रदायः । १३. आचरति—आश्रयति । १४. परिकल्प्य—समारोप्य । १५. प्रयोजनवशादाश्रितेति—स्तुतिरूपफलायाङ्गीकृतेत्यर्थः । १६. अन्विति—शास्त्रव्याख्यानसमाप्तेः पश्चादित्यर्थः ।

प्रज्ञावैशाखवेधक्षुभितजलनिधेर्वेदनाम्नोऽन्तरस्थं
भूतान्यालोक्य मग्नान्यविरतजननग्राहघोरे समुद्रे।
कारुण्यादुद्दधारामृतमिदममरैर्दुर्लभं भूतहेतो-
र्यस्तं पूज्याभिपूज्यं परमगुरुममुं पादपातैर्नतोऽस्मि ॥ २ ॥

शक्तियोग से हिरण्यगर्भ भाव को प्राप्तकर जिसने गति स्वीकार की है तथा वस्तुतः एक अद्वितीय होता हुआ भी नानाप्रकार के विषय रूप धर्मों को ग्रहण करने वाले मूढदृष्टि के लोगों के विचार से जो अनेक हो गया है। एवं जो शरणागतों के भय को दूर करने वाला है, उस ब्रह्म को मैं नमस्कार करता हूँ ॥१॥

परम गुरु को नमस्कार

निरन्तर जन्म धारण रूप ग्रहों के कारण जो अत्यन्त भयानक जान पड़ता है, ऐसे संसार समुद्र में डूबे हुए प्राणियों को देखकर दयावश अपने विशुद्ध बुद्धि रूप मथानी के आघात से क्षुभित हुए

चरणमाचरति—अजमपीति। यद्ब्रह्माशेषोपनिषत्प्रसिद्धं सर्वथा परिच्छेदरहितं तदहंप्रत्ययभूतं नमस्येतद्विषयं प्रह्वीभावं करोमीति संबन्धः। प्रणामप्रयोजनमाह—प्रणतेति। ये हि प्रणता ब्रह्मणि प्रकटीभूतास्तच्चिष्टारितष्टन्ति तेषां यदविद्यातत्कार्यात्मकं भयं तदाचार्योपदेशजनितबुद्धिवृत्ति[1]फलकारूढं ब्रह्मैव हन्ति न खलु जडा बुद्धिवृत्ति[2]र्वस्तुसामर्थ्यमन्तरेणाज्ञानं सकार्यमपनेतुमलम्। [3]बुद्धिद्धो बोधो बोधेद्धा वा बुद्धिरुक्तं फलमावधातीत्यर्थः। [4]तस्यैव ब्रह्मणः संप्रति तटस्थलक्षणं विवक्षति—अजमित्यादिना। यद्यपि जन्मादिसर्वविक्रियाशून्यं वस्तुतो ब्रह्म कूटस्थमास्थीयते तथाऽपि तदैश्वर्येण तदीयशक्त्यात्मकेनानिर्वाच्याज्ञानवैभवेन [5]योगादाकाशादिकार्यात्मना जन्मसंबन्धं प्राप्य जगतो निदानमिति व्यपदेशभाग्भवति। [6]तथा च श्रुतिसूत्रयोर्ब्रह्मणो जगत्कारणत्वं प्रसिद्धमित्यर्थः। यद्यपि चेदं ब्रह्म कूटस्थतया विभुतया च [7]गतिवर्जितमवतिष्ठते तथाऽपि यथोक्ताज्ञानमाहात्म्या[8]त्कार्यब्रह्मतां प्राप्य गतिमत्तां गन्तव्यतां [9]बादर्यधिकरणन्यायेन प्रतिपद्यते तदाह—अगति चेति। यद्यपि चेदं ब्रह्म वस्तुतो [10]निरस्तसमस्तनानात्वमेकरसमद्वितीयमुपनिषद्भिरभ्युपगम्यते तथाऽपि जीवो जगदीश्वरश्चे[11]त्येतद्यदनाद्यनिर्वाच्याविद्यावशादनेकमिव प्रतिभातित्याह—एकमिति। केषां दृष्ट्या पुनरनेकत्वं ब्रह्मणोऽवगम्यते तदाह—विविधेति। विविधाश्च ते [12]विषयधर्माश्च तद्ग्राहितया मुग्धं विपर्यस्तं विवेकविकल[13]मक्षिणं येषां दृष्ट्या ब्रह्मणोऽनेकत्वधर्नं तु तत्त्वतः [14]शान्तदृष्ट्या तु तस्मिन्नेकत्वमेव प्रामाणिकमित्यर्थः ॥ १ ॥

संप्रति ग्रन्थप्रणयनप्रयोजनप्रदर्शनपूर्वकं परमगुरु[15]नागमशास्त्रस्य व्याख्यातस्य प्रणेतृत्वेन [16]व्यवस्थितं प्रणयति—प्रज्ञेति। यो हि कारुण्यादिदं ज्ञानाख्यममृतं भूतहेतोस्तदुपकारार्थ[17]मुद्दधार तं परमगुरुं नतोऽस्मीति संबन्धः।

---

१. फलकारूढम्—फलकं फालमायसो लाङ्गलावयवम् तदारूढोऽनलो यथा दाहादिकं करोति तद्वदित्यर्थः। २. वस्तुसामर्थ्यमिति—चिद्रूपं सामर्थ्यम्, तन्निष्ठाज्ञान, तत्कार्यनाशानुकूलाशक्तिः। ३. बुद्धीद्धः—बुद्धिफलित इत्यर्थः। ४. तस्यैव—प्रणतिविषयस्यैवेत्यर्थ। ५. योगात्—अनादितादात्म्यरूपसम्बन्धादित्यर्थः। ६. तथा च—अस्मदुक्तरीत्यैवेत्यर्थः। ७. गतिवर्जितम्—विभुत्वेन सर्वत्र प्राप्तत्वाद्गन्तव्यत्वशून्यम्। ८. कार्यब्रह्मताम्—हिरण्यगर्भतामवाप्योपसकाप्यतांधत्त इत्यर्थः। ९. बादर्यधिकरणन्यायेनेति—'कार्यं तु बादरिरस्य गत्युपपत्ते'रिति' बादरायणसूत्रे कार्यं ब्रह्मैवोपासकगम्यं परिच्छिन्नत्वात् तस्य गन्तव्यत्वमुपपद्यते तेन परं ब्रह्मेति स्थितं सोऽयं बादर्यधिकरणन्यायः। १०. निरस्तसमस्तनानात्वम्—सकलभेदशून्यम्। ११. इत्येतदिति—इत्येवमाकारेण जीवादिरूपेणेति यावत्। १२. विषयधर्माः—शब्दादीनां सौन्दर्यादि-धर्मा इत्यर्थः। तद्ग्राहितया—तदासक्ततया। १३. ईक्षणम्—अन्तःकरणम्। १४. शान्तदृष्ट्या—विवेकिदृष्ट्या। १५. आगमशास्त्रस्य—उपनिषत्प्रधानशास्त्रस्य। १६. व्यवस्थितान्—महितान्। १७. उद्धार—प्रकटयामास।

यत्प्रज्ञा[1]लोकभासा प्रतिहतिमगमत्स्वान्त[2]मोहान्धकारो
मज्जोन्मज्जच्च घोरे ह्यसकृदुपजनोदन्वतित्रासने मे ।
यत्पादा[3]वाश्रितानां श्रुतिशमविनयप्राप्तिरग्र्या ह्यमोघा
तत्पादौ पावनीयौ भवभयविनुदौ सर्वभावै[4]र्नमस्ये ॥ ३ ॥

इति श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यस्य परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्य शंकरभगवतः कृतौ गौडपादीयागमशास्त्रविवरणेऽलातशान्त्याख्यं चतुर्थप्रकरणं समाप्तम् ॥४॥

ॐ तत्सत् ।

वेद नामक महासमुद्र के भीतर स्थित, देवताओं के लिये भी दुर्लभ इस ज्ञानामृत को जिन्होंने प्राणियों के कल्याण के लिये निकाल लिया है, उन पूज्यों के भी पूज्य परम गुरु श्री आचार्य गौड़पाद को उनके चरणों में पड़कर मैं नमस्कार करता हूँ ॥२॥

सद्गुरुदेव की वन्दना

जिनके ज्ञानालोक की प्रभा के द्वारा मेरे अन्तःकरण में भरा हुआ मोहान्धकार नष्ट हो गया और इस भयंकर संसार समुद्र में बारम्बार डूबना उछलना रूप मेरी व्यथाएँ भी शान्त हो गयी हैं।

अमुमिति तस्य पुरोदेशे संनिहितत्वेना[5]परोक्षत्वं सूचितम् । परमगुरुत्वं पूज्यानामपि गुरूणामतिशयेन पूज्यत्वादाचार्यस्य [6]समधिगतमित्याह—पूज्येति । नमस्कारप्रक्रियां प्रकटयति—पादपातैरिति । पादौ तदीयौ पादौ तयोः स्वकीयस्योत्तमाङ्गस्य पाता भूयो भूयो नम्रीभावास्तैरिति यावत् आचार्यो ज्ञानाख्यममृतं कथंभूतमुद्धृतवानित्यपेक्षायामुक्तम्—अन्तरस्थमिति । कस्यान्तरस्थमिति [7]विवक्षायामाह—वेदेति । [8]कथमित्यत्राऽऽह—प्रज्ञेति । [9]मेधासहिता प्रज्ञैव वैशाखो मन्थास्तस्य वेधो वेधनं क्षेपणं तेन क्षुभितो [10]विलोडितो जलनिधिर्वेदनाम। तस्यान्तरेऽभ्यन्तरे स्थितमिदममृतमिति यावत् । उक्तस्य ज्ञानामृतस्य प्रसिद्धादमृताद[11]वान्तरवैषम्यमादर्शयति—अमरैरिति । यद्धि भगवता नारायणेन क्षीरसागरान्तरावस्थितममृतं समुद्धृतं तदेव कथंचिदमरा लेभिरे । इदं तु तैरनायासलभ्यं न भवति । ज्ञानसामग्रीसंपन्नैरेव लभ्यत्वादित्यर्थः । यदि कारुण्यादिदममृतमाचार्येण वेदोदधेर्भूतोपकारार्थ मुद्धृतं [12]कथं [13]तर्हि कारुण्यं तस्य प्रादुरभूदित्याशङ्क्याऽऽह—भूतानीति । योऽयं समुद्रवद्दुरुत्तारः संसारस्तस्मिन्नविरतमनवरतं संततमेव यानि जननानि विग्रहमेवग्रहणानि तान्येव ग्राहा जलचरास्तैर्घोरे क्रूरे भयंकरे [14]मग्नानि [15]परवशानि भूतान्युपलभ्य कारुण्यमाचार्यस्य प्रादुरासीत । [16]ततश्चेदममृतमुद्धृत्य भूतेभ्यो दत्त्वा तानि रक्षितवानित्यर्थः ॥ २ ॥

अथा[17]धुना स्वगुरुभक्तेर्विद्याप्राप्तावन्तरङ्गत्वमङ्गीकृत्य तदीयपादसरसीरुहयुगलं प्रणमति—यत्प्रज्ञेति । तेषा

---

१. आलोकमासेति—आलोकः प्रकाशवरूप आदित्यस्तदीय भासा इत्यर्थः । २. मोहान्धकारः—मोहोऽविवेकोऽन्धकारस्तत्कारणमज्ञानम् । ३. आश्रितानाम्—मदितरेषामपीत्यर्थः । ४. नमस्येति—'नमो वरिवश्चित्रङः क्यजित्यत्र' द्वन्द्वान्ते श्रुतस्यानुबन्धस्य विवक्षावशादेव प्रत्येकं सम्बन्धाभ्युपगमादात्मने पदमविरुद्धमित्यवध्येयम् । ५. अपरोक्षत्व सूचितमिति—अमुं पुरः पश्यसि देवदारुमित्यदः शब्दस्यापरोक्षार्थत्वं दृष्टम्, तच्छन्दसामानाधिकरणत्वात्र तस्यापरोक्षार्थत्वमिति भावः । ६. समधिगतम्—निश्चितम् । ७. विवक्षायाम्—वीक्षायामित्यर्थः । ८. कथम्—केन प्रकारेण उद्धारेति प्रश्नः । ९. मेधासहिता—त्यक्तविशेष्यांशो मेधाशब्दार्थः, इह, धारणाशक्तिः तत्सहिता प्रज्ञा प्रतिभाशालिनी धीरिति भावः । १०. विलोडितः—पर्यालोचितः । ११. अवान्तरवैधर्म्यम्—अमृतत्वसमानाधिकरणं वैषम्यमित्यर्थः, प्रसिद्धामृतवैलक्षण्यमिति यावत् । १२. कथमिति—केनहेतुनेत्यर्थः । १३. तर्हीति—तदुद्धारस्य कारुण्य हेतुकत्वेऽपीत्यर्थः । १४ भग्नसङ्कल्पानि—भग्नस्तत्साधनीभूतस्य ज्ञानस्य दुःसाध्यतया विहतः संसारोत्तरणसङ्कल्पो येषांतानि साधनदौर्लभ्यात् ततो निराशानीति भावः । १५. परवशानि—कामकर्माद्यायत्तानि । १६. ततश्च—कारुण्यादेव । १७. अधुना—परमगुरुप्रणामानन्तरम् ।

इतना ही नहीं, जिनके चरणों का आश्रय लेने वाले शिष्यों के लिये वेदान्तजन्य ज्ञान, उपरामता और विनय की प्राप्ति, श्रेष्ठ एवं सफल होने वाली है, उन श्री सद्गुरुदेव के जन्म मरणादि भयनाशक परम पवित्र चरण युगलों को मैं सर्वतो भावेन नमस्कार करता हूँ ॥३॥

ॐ भद्रं कर्णेभिरिति शान्ति पाठः ॥

इति श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्यंयतीन्द्रकुलतिलक कैलासपीठाधीश्वर महामण्डलेश्वर
स्वामी विद्यानन्दगिरि विरचिता माण्डूक्यकारिका शाङ्करभाष्यस्य-
विद्यानन्दी मिताक्षरा समाप्ता।

॥ श्री शङ्करः प्रीयताम् ॥

—०*०—

अस्मद्गुरूणां पादौ सर्वभावैर्वाङ्मनोदेहानां प्रह्वीभावैर्नमस्ये [1]नम्रीभवामीति संबन्धः। तौ च जगतः सर्वस्यापि पावनीयौ पवित्रतया पवित्रत्वमापाद्य निर्वृणाते तौ च स्वसंबन्धिनां सर्वेषां भवः संसारस्तत्प्रयुक्तं भयं स्वकारणेन सहापनुद्य [2]पुरुषार्थपरिसमाप्तिं कुर्वाते। तानेव गुरून्विशिनष्टि—यत्प्रज्ञेति। मे मम स्वान्तमन्तःकरणं तस्मिन्मोहो व्याकुलताहेतुरविवेकस्तस्य कारणं यदनाद्यज्ञानं तद्येषां प्रज्ञैवाऽऽलोकस्तस्य भा दीप्तिस्तया प्रतीति विनाशमगमद्भगवत्त्पादाविति संबन्धः। न केवलमज्ञानमेवाऽऽचार्यप्रसादादपगच्छत्तुच्छी भवति किंतु तत्कार्यमनर्थजातमपि कारणनिवृत्तौ स्थितिमलभमानमा[3]भासीभवतीत्याह—मज्जोन्मज्जदिति। असकृदनेकशो देवतिर्यगादियोनिषु योऽयमुपजतो नानाविधदेहभेदसंग्रहोऽसावेवोदन्वानुदधिस्तस्मिन्नतित्रासने भयावहे [4]कदाचिद्यथोक्तमज्ञानं कार्यरूपेण मज्जदनभिव्यक्तमवतिष्ठते तदेव चावस्थाविशेषे तद्रूपेणोन्मज्जदभिव्यक्तमनर्थफरं परिवर्तते तदेवमतिक्रूरे संसारसागरे परिवर्तमानमज्ञानं सकार्यमाचार्यप्रसादादपनीतमासीदित्यर्थः। न केवलमेकस्य ममैव [5]यथोक्तफलप्राप्तिराचार्यप्रसादादाविरभूत्किंतु तच्चरणपरिचर्यापरायणानामन्येषामपि भूयसामित्याह—यत्पादाविति। येषां गुरूणांपादद्वयमाश्रितानामन्येषामपि शिष्याणां तदीयशुश्रूषा[6]प्रणयि[7]मनीषाजुषां श्रुतिर्मननिदिध्यासनसहकृतं [8]श्रवणज्ञानम्। शमः शान्तिरिन्द्रियो[9]परतिः। विनयोऽवनतिरनौद्धत्यं तेषां प्राप्तिरग्र्या श्रेष्ठा [10]प्रतिष्ठिता सिध्यति। यस्मादमोघा सफला श्रवणादीनां प्राप्तिस्तस्मादन्यत्वं तस्यां संभाव्यते तदेवमाचार्यप्रसादादात्मनोऽन्येषां च बहूनां पुरुषार्थे परिसमाप्तिसंभवादाचार्यपरिचरणं पुरुषार्थकामैराचरणीयमित्यर्थः ॥ ३ ॥

विष्णुं कृष्णं [11]स्वमायाविरचितविविधद्वैतवर्गं [12]निसर्गा-
[13]दुत्खातानर्थसार्थं [14]निरवधिमधुरं सच्चिदे[15]कस्वभावम्।
[16]आज्ञायाऽऽत्मानमेकं [17]विधिमुखविमुखं [18]नेति नेतीति गीतं

---

१. नम्रीभवामीति—वागादिनम्रीभावाभिन्ननम्रीभावाश्रयो भवामीत्यर्थः। २. पुरुषार्थपरिसमाप्तिः—पुरुषाभीष्ट परिपूर्णतामित्यर्थः। ३. आभासीभवति—जन्मादिकार्यक्षमीभवतीति। ४. कदाचिदिति—सुषुप्तिप्रलयादावित्यर्थः। ५. यथोक्तफलेति—अज्ञानतत्कार्यनिवृत्तिरूपफले इत्यर्थं। ६. प्रणयीति—अनुरक्तेत्यर्थः। ७. मनीषाजुषाम्—मनीषावतामित्यर्थः। ८. श्रवणज्ञानम्—वेदान्ततात्पर्यनिश्चयरूपम्। ९. उपरतिः—विषयेभ्यः इत्यार्थिकम्। १० प्रतिष्ठिता—फलपर्यन्तस्थायिनी भवतीत्यर्थः। प्रतिष्ठिता सिद्ध्यतीत्येतत् अमोघेत्यस्य व्याख्यानं वेदितव्यम्। ११. स्वमायेति—माययाद्वैतवत्त्वमुक्त्वा स्वरूपतः शुद्धिमाह—निसर्गादुत्खाते इत्यादिना। १३. उत्खातानर्थसार्थम्—समूलोच्छिन्नार्थसंघमित्यर्थः। १४. निरवधिमधुरम्—निरतिशयानन्दम्। १५. एकस्वभावम्—असाधारणरूपम्। १६. आज्ञाय इत्यादि—प्रत्यगभिन्नं ज्ञात्वेत्यर्थः। मदभिन्नं ज्ञात्वैववन्दे न भिन्नमिति। १७. विधीत्यादि—विधिमुखवाक्याप्रतिपाद्यमित्यर्थः। १८. नेतीति—निषेधमुखवाक्यप्रतिपाद्यमित्यर्थः। [12.] स्वाश्रयविषयेत्यर्थः। तः शक्त्याऽबोध्यमिति यावत्।

वन्दे [1]वाचां [2]धियां [3]चापरमपि जगता[4]मास्पदं कल्पितानाम् ॥१॥
गौडपादीयभाष्यस्य व्याख्या व्याख्यातृ[5]संमता ।
[6]संमिता निर्मिता सेयमर्पिता पुरुषोत्तमे ॥२॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीशुद्धानन्दपूज्यपादशिष्यभगवदानन्दज्ञान-
विरचितायां गौडपादीयभाष्यटीकायामलातशान्त्याख्यं
चतुर्थप्रकरणम् ॥ ४ ॥

ॐतत्सत् ।

---

१. ननु कल्पिताश्रयत्वे बुद्ध्यादिविषयत्वं स्यात् लोके ज्ञातस्यैव शुक्त्यादेरधिष्ठानत्वदर्शनात् इत्यत आह—वाचामिति । तथा च वस्तुनः प्रकाश एवाधिष्ठानत्व प्रयोजकः, स च स्वतः परतो वा इत्यनाग्रह इति भावः । वाचामिति कर्मेन्द्रियोपलक्षणम् । २. धियामिति—ज्ञानेन्द्रियाणामुपलक्षणम् । ३. चापरमिति—अगोचरमित्यर्थः । ४. आस्पदम्—अधिष्ठानम् । ५. सम्मताः—स्वीकृताः । ६. सम्मिता—संक्षिप्तेत्यर्थः । अन्यूनानधिकेत्यर्थः ।

प्रायशोऽत्र गुरुप्रोक्तमात्मसंकल्पितं क्वचित् । टिप्पणं विष्णुदेवाख्यभिक्षुणा लिखितं शुभम् ॥

इति श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्री स्वामी गोविन्दानन्दगिरि महामण्डलेश्वर पूज्यपादशिष्य विद्यावाचस्पति
श्री स्वामि विष्णुदेवानन्दगिरि महामण्डलेश्वरविरचितायां गोविन्दप्रसादिन्याख्य
टिप्पण्यामलातशान्तिनाम चतुर्थं प्रकरणम् ॥४॥

समाप्तेयमानन्दगिरिकृतटीकासंवलितशांकरभाष्यसमेता सगौडपादीयकारिकाथर्ववेदीय-माण्डूक्योपनिषत् ।
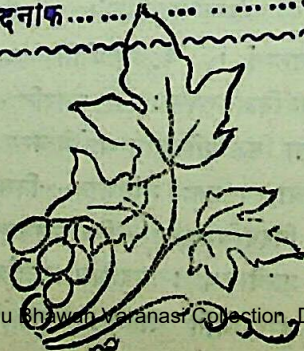
कैलासपीठाधीश्वर अनन्त श्री विभूषित परमपूज्य महामण्डलेश्वर श्रीविद्यानन्दगिरिजी महाराज की अनुपम कृतियाँ

१. वेदान्त परिभाषा (अर्थदीपिका एवं सुबोधिनी व्याख्या)
२. ब्रह्मसूत्र (सानुवाद विद्यानन्दवृत्ति)
३. ईशावास्योपनिषद शाङ्करभाष्यान्विता भाष्यार्थदीपिका हिन्दीव्याख्यासमलङ्कृत
४. शङ्करवचनामृत
५. मानस सूक्ति सुधा
६. ईशावास्य तत्त्वदर्शन
७. द्वादशोपनिषद् विद्यानन्दीमिताक्षरा (हिन्दी व्याख्या)
८. शिवमहिम्न स्तोत्र (सान्वय व्याख्या)
९. वैदिक दश शान्ति मन्त्राः (राष्ट्रभाषानुवाद)
१०. श्रुतिसार समुद्धरणम्
११. सगौडपादीयकारिकाथर्ववेदीयमाण्डूक्योपनिषत् (विद्यानन्दीमिताक्षरा सटिप्पणशाङ्करभाष्ययुता)

श्री कैलास आश्रम के अन्य प्रकाशन

प० प० अनन्तश्रीविभूषित श्रीप्रकाशानन्दपुरी महामण्डलेश्वर द्वारा विरचित ग्रन्थ

१२. ब्रह्मसूत्र शाङ्करभाष्य व्याख्या न्यायनिर्णय मङ्गलस्य व्याख्यानं अमुद्रित
१३. चित्सुखीटीकास्थ महाविद्यानुमान विवरणम् अमुद्रित "
१४. शिवानुसन्धान हिन्दी पद्यमय

प० प० अनन्तश्रीविभूषित श्रीविष्णुदेवानन्द महामण्डलेश्वर द्वारा विरचित ग्रन्थ

१५. वेदान्त रत्नाकर, टीकाकार (शास्त्रीजी)
१६. आचार्य द्वय स्मृति (मूल तथा संस्कृत टीका)
१७. अद्वैतमुक्तावली मूलपञ्जाबी का संस्कृत श्लोकात्मक अनुवाद ।
१८. वैराग्य पञ्चकम् (कुञ्जिका व्याख्या)

प० प० अनन्त श्रीविभूषित श्री श्री महामण्डलेश्वर श्री चैतन्यगिरिजी (शास्त्री जी द्वारा विरचित ग्रन्थ

१९. भजन संग्रह (प्रथम भाग)
२०. शिवानुसंधान
२१. मोक्ष सोपान
२२. सागर सेतु
२३. वेदान्त डिण्डिम घोष हिन्दी टीका १०८ श्री स्वामी नारायण गिरिजी
२४. वेदान्द संज्ञा प्रकरम् स० श्लो० स्वामी श्री आदित्यपुरीजी